

उस गोरे अंग्रेज के पीछे ही चल रहा था एक बंगाली किशोर जतीन। वह अभी ही एक गली से निकल कर आया था। अंग्रेज को गिनती गिन कर डण्डा मारते हुये देखा तो यकायक तो समझ में नहीं आया परन्तु जब यह अच्छी तरह जान लिया कि चूँकि गोरो का राज है इसलिए वे चाहे जो मनमानी कर सकते हैं तो कुछ ही क्षण हुए होंगे पीछे चलते हुये कि जतीन से रहा न गया। वह दौड़ कर डण्डेबाज के पास पहुँचा और एक जोर का धक्का दिया गोरा गिर पड़ा। जतीन ने उसके हाथ से डण्डा छीन लिया और उसी के सिर पर कसकर मारते हुए कहा- ले तिरपेन।''

आस-पास बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। अपना अधिकार मद भूलकर अंग्रेज ऐसा भागा कि पीछे मुड़कर तक नहीं देखा। उस समय अंग्रेजों से बातें करने में भी लोग डरते थे। पता नहीं गोरे मालिक कब खफा हो जायें। ऐसे युग में किसी किशोर द्वारा इतना प्रबल प्रतिरोध अदम्य साहस का ही काम था। जतीन कोई जन्मजात ही साहसी पैदा नहीं हुआ था। बचपन में तो वह चूहों से भी डर जाया करता था, परन्तु पाँच वर्ष की आयु में ही दुर्दैव के प्रकोप और संघर्षमय परिस्थितियों ने उसे साहसी बना दिया था।

जन्म के पाँच साल बाद ही पिता का स्वर्गवास हो गया। उसके कुछ ही दिनों उपरान्त माँ भी चल बसी। जतीन का पालन-पोषण उसके मामा के यहाँ हुआ। मामा और नाना अपनी बेटी की अन्तिम निशानी समझकर उसे बड़े लाड़-प्यार से रखते थे। फिर भी जिसका पूरा नाम ज्योतिन्द्र मुखर्जी था- अपने माता-पिता को भूल नहीं सका। निदान उसका ध्यान बटाया गया और पढ़ाई के बच्चों को जतीन को साथ खिलाने के लिए कहा गया। उस समय आस-पास के सभी बच्चे कसरत करने जाया करते थे, अखाड़े में कुश्तियाँ भी चलतीं। जतीन भी उन बच्चों के साथ जाने लगा। दण्ड बैठक और कसरत कुश्ती में उसका मन अच्छी तरह लगा। व्यायाम और शारीरिक गठन के प्रति यह जागरूकता इतनी विकसित हो गयी कि जतीन ने किशोरावस्था में ही घुड़सवारी, तैराकी और लाठी तथा तलवार चलाना अच्छी प्रकार सीख लिया।

बल संवर्धन की प्रक्रिया मनुष्य को सहज ही आत्म विश्वासी बना देती है और वह सभी भयों से मुक्त हो जाता है। भयमुक्ति की सिद्धि ही साधक में साहस का संचार भी कर देती है। जतीन के नाना-मामा ने माता-पिता को भुलाने के लिए इस ओर प्रवृत्त किया तो वह डरपोक से साहसी और दुर्बल से सबल बन गया। पाँच सात वर्ष पूर्व जो जतीन घर से बाहर के व्यक्ति की उपस्थिति से भी झेंप जाता था, वही जतीन दूर देश के

आक्रमक शासक वर्ग के लोगों को भी इस प्रकार ललकार सकता था। प्रगति की दिशा में उठाया गया कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता। वह व्यक्ति के आत्मविकास में किसी न किसी प्रकार का सहायक ही सिद्ध होता है।

जतीन की शिक्षा-दीक्षा भी चलती रही। वहाँ भी गोरे अंग्रेज बच्चों की ज्यादातरियाँ सहन करने के बजाय उन्हें पटखनी देने में ही मजा आता था। अंग्रेजों के प्रति घृणा से भर उठने का एक बड़ा कारण और भी था। सन् १९०५ की बात है, प्रिंस ऑफ वेल्स उन दिनों भारत आये हुए थे। कलकत्ता में उनकी सवारी निकलने जा रही थी। हजारों नर-नारी फुटपाथों पर जमा थे। एक गली के नुक्कड़ पर एक बग़ी खड़ी थी जिसमें कुछ महिलाएँ थीं। उन औरतों को परेशान करने के लिए पाँछ छः गोरे युवक बग़ी की छत पर चढ़ गये और औरतों के मुँह के सामने पाँव लटकाकर बैठे सीटियाँ बजाने लगे। जतीन भी सामने फुटपाथ पर खड़ा था। औरतों के साथ उनके परिवार वाले भी थे परन्तु वे डर के कारण कुछ भी नहीं कह रहे थे। जतीन ने देखा और उससे नारी-जाति का, भारतीय समाज की मातृ-शक्ति का यह अपमान सहा नहीं गया। वह तुरन्त लपका और छत पर छहों गोरे युवकों के बीच चढ़ गया। इस अप्रत्याशित घटना से युवक सहम गये। वे कुछ समझने की स्थिति में आये इसके पूर्व जतीन ने सबको बग़ी की छत से गिरा दिया।

उन सबने जतीन को पीटने और मजा चखाने की कोशिश की तथा धमकियाँ भी दीं परन्तु वह अप्रभावित ही रहा और बड़ी निडरता के साथ उनकी पिटाई करता रहा। निदान गोरे युवक अपमान का घूँट पीकर रह गये और भाग खड़े हुए। इस घटना के कुछ ही समय की बात है कि जतीन रेल से रानाघाट जा रहा था। उसके पास वाले डिब्बे में एक वृद्ध अपनी बेटी के साथ बैठा हुआ था। रास्ते में दो अंग्रेज उसी डिब्बे में चढ़े और लड़की के आस-पास बैठ गये। हालांकि डिब्बा काफी खाली था। वे लड़की के पास खिसककर उसे भीचने लगे। बेचारा वृद्ध व्यक्ति उनके सामने गिड़-गिड़ाने लगा परन्तु अधिकार मद से उन्मत्त गोरे आदिमियों पर इसका कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो जतीन नीचे उतरा और सारा दृश्य देखा। वह समझ गया कि बात क्या है और लपककर उस डिब्बे में चढ़ गया। गोरे लोग अभी भी वही हरकतें कर रहे थे। डिब्बे में बैठे अन्य दूसरे यात्री बीच में बोलकर आपत्ति मोल नहीं लेना चाहते थे। परन्तु जतीन जो अन्याय और गर्वोन्मत्त के अनाचार के खिलाफ कोई भी खतरा उठाने का साहस रखता था, उन दोनों गोरो के पास गया और जोर से घूँसे मारे। गोरे फर्श पर लुढ़क गये।

अनाचारी पागलपन की हरकतों को चुपचाप सहते रहने से दुष्ट की उन्मत्तता भड़कती है। इन कृत्यों के प्रति उदासीनता आग में घी का काम करती है। जतीन इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह समझता था इसी कारण उसने अपनी आँखों के सामने कभी न होने योग्य काम नहीं होने दिया।

शरीर बल और सामर्थ्य की सार्थकता भी तो यही है। दुर्बल और पीड़ित व्यक्ति की अनाचारी और प्रमत्त आततायी से रक्षा करना ही शक्तिशाली का धर्म है। यह निष्ठा उसके व्यक्तित्व में चार चाँद लगा देती है। परन्तु अक्सर देखा यही गया है कि अच्छे-अच्छे लोग भी ऐसे अवसरों पर किनारा काट जाते हैं। जतीन में यह बात नहीं थी। इसीलिए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में उसे चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा।

जतीन-ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी के जीवन का पूर्वाह्न इसी प्रकार बीता। अपनी सत्ता, अपना राज और अपने अधिकार के गर्व में अंग्रेज लोग निरपराध भारतीय जनता पर अत्याचार करते रहते थे। जतीन अपनी उपस्थिति में ऐसा होते देखकर बिना आगा-पीछा सोचे-विचारे बीच में कूद पड़ते थे और अंग्रेजों को ऐसी सीख देते कि उन्हें जीवनभर याद रहती। भले ही वह कोई सिपाही हो या अफसर। एक बार वे दार्जिलिंग जा रहे थे। जिस ट्रेन में वे सफर कर रहे थे उसी में चार अफसरों की देखरेख में एक सैनिक टुकड़ी भी जा रही थी। रेल के स्टेशनों पर उतरकर ये लोग बड़ी शान के साथ टहलते और यात्रियों को परेशान करने का मजा लेते।

एक स्टेशन पर जतीन अपने बीमार सहयात्री के लिए पानी लेने उतरा। पानी का लोटा भरकर वह डिब्बे की ओर चल ही रहा था कि एक अफसर उससे टकरा गया। इस कारण जतीन के लोटे से थोड़ा-सा पानी गिर गया। अंग्रेज ने कसकर उसकी पीठ पर अपनी छड़ी भी जमा दी। जतीन ने उस समय तो कुछ नहीं कहा। पानी का लोटा रोगी साथी तक पहुँचाकर वे वापस आये और उस अंग्रेज अफसर की कलाई पकड़ कर मरोड़ दी। अन्य गोरे युवकों ने भी जतीन पर आक्रमण किया। परन्तु उनके तेज तर्रार और बलिष्ठ बदन के सामने किसी की भी न चली। इस बात पर तो मुकदमा भी चला था परन्तु अंग्रेज न्यायाधीश ने पहली ही सुनवायी में उसे खारिज कर दिया क्योंकि इससे भारतीय नागरिकों का दूटा हुआ मनोबल बढ़ जाने की संभावना थी।

ऐसी अनगिनत घटनाएँ हैं जो जतीन के स्वाभिमान की व्यक्तित्व से परिचित कराती हैं। अब उनकी साहसिकता देश-भक्ति में परिणित होने लगी। किशोरावस्था में ही वे भगिनी निवेदिता के संपर्क में आये। भगिनी ने इस स्वाभिमान, साहसी और पराक्रमी वीर को स्वामी

विवेकानन्द के सामने प्रस्तुत किया। स्वामी जी ने इस होनहार किशोर की प्रशंसा की और प्रोत्साहित किया कि उन जैसे निडर लोग ही देश को आततायी अंग्रेजी शासन के पंजे से मुक्त करवायेंगे।

स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर वे राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों में भाग लेने लगे। बाद में आध्यात्मिक जागरण के प्रणेता, राष्ट्रवाद के मसीहा और क्रान्तिकारी अरविंद घोष के सम्पर्क में आकर उन्होंने राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की पतली धारा को तेज बहाव में बदला। श्री अरविंद ने देश के युवकों को आह्वान किया और कहा कि- "भारत जमीन का एक टुकड़ा नहीं, यहाँ की भूमि हमारी माता है। सिन्धु, हिमालय विस्तीर्ण भारत देश की भूमि हमारा जननी और माँ है। मातृ-सत्ता के रूप में ही हमें इसकी प्रतिष्ठापना करनी होगी।"

जतीन ने इन विचारों को पूरी तरह अपने हृदय में बिठा लिया और वे क्रान्ति दृष्टा अरविन्द के निकटतम सम्पर्क में आते गये। इन दोनों महामानवों में गुरु शिष्य का सा सम्पर्क स्थापित हो गया। अरविंद अपने सभी साथियों से अधिक विश्वास जतीन पर करते थे। अपनी आशा आकांक्षाओं को पूरी करने की सामर्थ्य उन्हें इन्हीं में दीख पड़ी थी। राजनीति के आकाश पर जब अरविंद का सितारा सूर्य की भाँति चमकने लगा तो उन्होंने अपनी बाह्य गतिविधियों को समेटकर तपश्चर्या द्वारा जनमानस के आलोड़न की राह ली। जिस समय उन्होंने पाण्डिचेरी जाने का निर्णय लिया तो उनके साथी बड़े क्षुब्ध और निराश हुए। वे अनुभव करने लगे कि "हम अब नेतृत्व विहीन हो गये हैं।" किसके मार्गदर्शन में अब काम करेंगे यह समस्या उन्हें कचोटने लगी।

अपनी व्यथा और समस्या को सभी साथियों ने अरविंद के सामने रखा तो समाधान मिला- मैं जा रहा हूँ परन्तु इसके कारण तुम लोगों को चिन्तित नहीं होना चाहिए और न ही निराश। क्योंकि अब तुम्हें एक योग्य, साहसी, वीर और देशभक्त नेता का अनुशासन मिलेगा और वह नेता है ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी। जतीन को ही तुम अपना नेता मानो।"

अरविंद के निर्णय से उनके व्यक्तित्व को पूजने वाले जतीन का भी व्यथित होना स्वाभाविक था। उन्होंने भी अपने नेता के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की तो प्रेरणा मिली- हर मोर्चे पर जूझने के लिए सभी साथियों को अलग-अलग उत्तरदायित्व सौंपना और निभाना आवश्यक है। महाभारत के अर्जुन की तरह स्वातंत्र्य समर में अनीति के विरुद्ध नीति और अन्याय के खिलाफ न्याय की लड़ाई पर मोर्चा लेना ही जतीन की निर्धारित साधना है। जतीन

के अन्तःकरण ने प्रतिपादन को स्वीकार किया और क्रान्तिकारियों का नेतृत्व सम्हाला।

योगी अरविंद उन्हें बाद में भी कर्मयोगी कहकर प्रोत्साहित करते रहे। स्वयं जतीन भी अपने को कर्मयोग की भट्टी में तपाकर इस योग्य बन गये थे कि वे अपने साथियों के विश्वासपात्र और बड़े भाई समझे जाते रहे। उनके एक अतरंग सहयोगी ने अपने दादा का रेखाचित्र बनाते हुए लिखा है। हम उन्हें बस 'दादा' कहते थे। वे अपने जमाने के सबसे अद्वितीय व्यक्ति थे।

योगीराज अरविंद के अज्ञातवास में जाते ही विदेशी शासकों की षड्यन्त्र भरी बंग-भंग योजना सामने आयी। इस दुरभिसन्धि को विफल बनाने के लिए जनता ने सम्मिलित प्रतिरोध करने की ठानी। क्रान्तिकारियों ने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। उस समय जनता में विदेशी शासकों के प्रति विद्रोह का भाव अपने चरम-बिन्दु पर था। देश भर में आंदोलन चला। ज्यों-ज्यों आंदोलन जोर पकड़ता गया सरकार का दमन चक्र भी क्रूर और दानवी होता गया।

जन भावनाओं का दमन वह भी आतंक के बल पर कोई भी सरकार सफल नहीं रही है। इतिहास इस बात का साक्षी है। मन की पाशविक प्रक्रिया विद्रोह की आग को कुछ क्षणों के लिये भले ही कम कर दे, परन्तु वह अन्दर ही अन्दर तो सुलगती रहती है और जब विस्फोट होता है तो बड़ी से बड़ी संहारक शक्तियाँ और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

शताब्दियों से भारतीय समाज पर किये जाने वाले अत्याचारों की भी प्रतिक्रिया अन्दर ही अन्दर सुलगती रही और बंग-भंग योजना का प्रतिरोध करते समय फूट पड़ी। उस समय देश का बच्चा-बच्चा आततायी के सामने खुल कर मुकाबला करने के लिए आ खड़ा हुआ। निःसंदेह उनके प्रेरणा-स्रोत यही क्रान्तिकारी रहे थे जो लुक-छुप कर अपनी देशमाता की बेड़ियाँ काट फेंकने के प्रयास कर रहे थे। जतीन और उनके साथियों ने इस हवा में अपनी गतिविधियाँ और भी तेज कीं। सरकार भी उन लोगों के पीछे हाथ धोकर पड़ गयी।

सरकारी जासूसों ने मानिकतला में अरविन्द का बम कारखाना पकड़ लिया और उन पर मुकदमा चलाया। उनके कई साथी पकड़े गये, जतीन भी गिरफ्तार हुए और उन्हें जेल में ठूस दिया गया।

पन्द्रह महीनों तक उन्हें जेल में तरह-तरह की यंत्रणायें दीं। परन्तु जतीन ने स्वाभिमान के साथ अपना सिर ऊँचा रखा और इन यंत्रणाओं की पीड़ा में कभी मुँह से उफ तक नहीं किया और न ही क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठन के लिए जुबान खोली। यंत्रणाएँ देने वाले अधिकारी परेशान हो गये और उन्होंने दूसरी युक्ति से काम

लिया, मुकदमे में सरकारी गवाह बनाने, खूब सारा इनाम देने, अच्छी नौकरी दिलवाने और सरकार से मैडल प्रदान करने का प्रलोभन दिया परन्तु जतीन के लिए तो जैसे ये सब कुछ बेकार था।

एक प्रेम-योगी भक्त जिस प्रकार अपने आराध्य इष्टदेव के लिए किसी भी सिद्धि-प्रलोभन को ठुकरा देता है, जतीन भी अपने इष्टदेव के लिए प्रलोभनों को ठुकारते हुए ठुकराते चले गये। अविचल और चुप रहकर किसी भी प्रकार का बयान या स्वीकारोक्ति न देने के कारण पुलिस उनके खिलाफ कोई भी अभियोग सिद्ध नहीं कर पायी। इसलिये न्यायाधीश ने उन्हें २१ फरवरी, १९११ को रिहा कर दिया।

अब जतीन ने भूमिगत रहकर अपनी गतिविधियाँ चलाना आरम्भ किया। उन्होंने एक व्यापारिक फर्म खोल ली और पुलिस की निगाह में दुनियादार बन गये। उन अधिकारियों को जो उनके कारण बड़े चिंतित रहते थे थोड़ी राहत मिली। परन्तु जतीन तो इस सबकी आड़ में उग्र विचारों वाले लोगों से संपर्क साध रहे थे।

भूमिगत रहकर ही उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम की दो सूत्री योजना बनाई। जिसके पहले सूत्र में भारतीय जनता को मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम करने और विदेशी शासन का जूआ उतार फेंकने के लिए प्रेरित करने की व्यापक योजना थी। दूसरे सूत्र में उन विदेशी-इंग्लैण्ड विरोधी-भारतीय क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने वाले राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करने की योजना थी। इन दोनों कार्यक्रमों पर उन्होंने तत्काल अमल किया और सन् १९०६ में ही विदेश में बसे भारतीय लोगों तथा वहाँ की सरकारों से संपर्क साधना आरम्भ किया।

जतीन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि खूब सोच विचार करने के बाद बनाई गई योजना को वे तुरन्त क्रियान्वित कर डालते थे। इस विशेषता ने उन्हें बड़ी-बड़ी सफलताओं का उपहार दिया। कई प्रतिभाशीली और समर्थ लोग भी योजनाएँ बनाकर ठण्डे पड़ जाते हैं, शायद वे नहीं जानते कि इस प्रकार वे अपनी क्रिया शक्ति और उत्साह को शिथिल बनाये दे रहे हैं।

जतीन ने क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधियों को जर्मनी, रूस, अमेरिका और कई यूरोपीय देशों में भेजा। वे स्वयं भी कई अधिकारियों से मिले। इस सम्पर्क अभियान में उन्होंने काफी शस्त्र सहायता प्राप्त की और आर्थिक सहयोग भी मिला।

इस सहायता और स्वयं बनाये शस्त्रास्त्रों द्वारा जतीन और उनके साथियों ने युवकों को जो देशभक्तिपूर्ण भावनाओं से भरे हुए थे- प्रशिक्षित करना आरम्भ कर दिया और साथ ही शस्त्रास्त्र क्रान्ति का बिगुल भी बजाया। इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए विदेशों में कई संगठन बनाये गये थे जो गुप्त रूप से धन, सूचनाएँ और शस्त्रास्त्र- कलकत्ता में इसी उद्देश्य से खोली गयी

‘हेरी एण्ड कम्पनी’ नामक आयात-निर्यात कम्पनी के माध्यम से यहाँ भेजते रहते थे ।

२१ फरवरी, १९१५ को विद्रोह की पहली मुहिम चलायी गयी । रासबिहारी बोस ने फोर्ट विलियम के सैनिकों को अपनी ओर मिला लिया । देशभर के क्रान्तिकारियों को इसकी सूचना दे दी गयी । किन्तु बोस के ही एक साथी ने धोखा दिया और सारी योजना विफल हुई । पुलिस ने षड्यन्त्रकारियों को गिरफ्तार कर लिया । बोस तो भाग निकले परन्तु जतीन के ही एक अनन्य सहयोगी एम. एन. राय पकड़ लिये गये । जतीन किसी भी प्रकार अपने इस बायें हाथ को गँवाना नहीं चाहते थे । इसलिए उन्होंने बड़े साहस से काम लिया और अपने साथी को छुड़वा लिया । उस समय पुलिस बड़ी सरगर्मी से उनकी तलाश कर रही थी । एम. एन. राय को छुड़वा लेने में जतीन का ही हाथ था यह जानकर पता चला कि वे कलकत्ता में ही हैं । उस समय वे इस मुत्तैदी और सतर्कता के साथ अपने काम में लगे हुये थे कि किसी को भी अब तक उनके बारे में ऐसी शंका नहीं हुई ।

पुलिस खोजने को कदम उठाये इसके पूर्व ही वे कलकत्ता की सीमा से बाहर निकल गये । उस समय कुछ विदेशी जहाजों द्वारा गोला-बारूद भी आने वाला था । इसके लिए भी उनका पहुँचना जरूरी था । इस जहाज से माल उतारने के लिए वे उड़ीसा पहुँचे और बालासोर में उहरे जो काष्टीपाड़ा के निकट है । कलकत्ता पुलिस को इसका सुराग मिल गया कि जतीन अपने साथियों सहित उड़ीसा पहुँच गये हैं और वह पुलिस सूँघती-सूँघती काष्टीपाड़ा पहुँच गयी ।

जिस समय पुलिस उनके निवास स्थान पर पहुँची वे वहाँ नहीं थे तो सभी सिपाही चारों ओर दौड़ाये गये और गाँवों में भी यह खबर फैला दी कि कुछ भयंकर डाकू निकल भागे हैं । ८ सितम्बर, १९१५ को आखिर पुलिस से मुठभेड़ हो ही गयी और वे शहीद हो गये । यद्यपि उनके साथियों ने उन्हें बचकर भाग निकलने के लिए कहा परन्तु जतीन ने कहा- “हम उस वीर परम्परा के अनुयायी हैं जिसके अनुसार सब लोगों को खतरे में छोड़कर स्वयं भाग निकलना घोर पाप है ।”

निःसन्देह इस भ्रामक-प्रचार के कारण जतीन को मार देने में ग्रामीण लोगों ने भी सहयोग दिया कि वे भयंकर डाकू हैं । बाद में जब उन लोगों को पता चला कि यह आदमी मुक्ति का मसीहा था तो उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ ।

ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी को लोग जतीन के नाम से ही जानते हैं । वे एक ऐसे युग में, ऐसे सत्पुरुष के रूप में सामने आये जब देश को उनकी बहुत आवश्यकता थी । मातृभूमि को आराध्य मानकर, ईश्वर समझकर उसकी

पूजा करने वाले ज्योतिन्द्र सच्चे आस्तिक और ईश्वर भक्त के रूप सदैव याद किये जाते रहेंगे ।

शौर्य और पराक्रम के प्रतीक

बाघा जतीन्द्र

स्वाभिमानी जतीन्द्रनाथ मुखर्जी अच्छे डील-डौल के स्वामी थे, इष्ट-पुष्ट काया और शक्तिशाली भुजाओं के मालिक थे, साथ ही साथ उनमें साहस भी गजब का था । इसी कारण उनका नाम बाघा जतिन पड़ा था । बाघा नाम पड़ने की एक रोचक कहानी है । इन दिनों वे अपनी माँ के साथ मामा के गाँव में रहते थे । ननिहाल एक छोटा-सा गाँव था जिसके आस-पास घने वन भी थे । उन वनों में व्याघ्र, चीते और शेर आदि हिंस्र पशु खूब थे ।

वे किसी काम-काज और दायित्व से तो मुक्त ही थे । एक ही काम था पढ़ना-लिखना और मौज-मजे उड़ाना । अक्सर वे मनोरंजन के लिए जंगल में निकल जाया करते थे । एक बार उन्होंने चीते के बच्चे देखे और मन रीझ गया कि इन्हें पालना चाहिए । बस फिर क्या था, वे चीते के तीन बच्चे जंगल में से पकड़ लाये और घर आ गये । माँ ने देखा तो यतीन्द्र को एक डाँट पिलाई और बड़ी मुश्किल से चीते के बच्चों को वापस जंगल में रखवाने के लिए राजी किया ।

एक और दूसरी घटना है । मामा के गाँव कोया के पास वाले वन में कोई बाघ नरभक्षी हो गया था । जिस हिंसक पशु की डाढ़ में मनुष्य का खून लग गया हो वह फिर दूसरे जानवरों को अपना आहार बनाना पसन्द नहीं करता । इसलिए वह नरभक्षी बाघ आये दिन गाँव में घुस कर लोगों के बच्चे उठा ले जाता, इक्के-दुक्के कोई आदमी मिल जाता तो उसे भी मार डालता । गाँव वाले बड़े त्रस्त हो उठे और यतीन्द्रनाथ से यह सब देखा नहीं गया । एक दिन वे बिना कोई हथियार लिए निकल पड़े-नरभक्षी बाघ का शिकार करने हेतु । कुछ दूर जाने पर ही बाघ दिखाई दिया । बाघ ने भी उन्हें देखा और झपट पड़ा । यतीन्द्र बाबू एक शक्तिशाली और बलवान काया के स्वामी तो थे ही । वे भी बाघ से जुझ पड़े और दोनों की खूब कुश्ती हुई । बाघ ने बड़ी कोशिश की कि यतीन्द्र को मार डाले और अपना आहार बना ले पर उसकी एक न चली और यतीन्द्र बाबू ने बड़े साहसपूर्वक बाघ का काम तमाम कर दिया । इस कुश्तम-पछाड़ में उन्हें बड़ी चोटें आयीं और महीनों तक उन्हें अस्पताल में रहना पड़ा पर इस घटना ने उन्हें पूरे क्षेत्र भर में विख्यात कर दिया । खाली हाथ नरभक्षी बाघ का शिकार करने के कारण उनका नाम बाघा जतीन्द्र पड़ गया ।

राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति के सूत्रसंचालक—

मास्टर अमीरचंद्र

जैसा कि उन दिनों की सामान्य परम्परा थी, उनका विवाह बचपन में ही छोटी आयु में हो गया था। उन्हें तब इतनी समझ ही नहीं थी कि वे विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कार के दायित्वों और उपयोगिता को समझ सकें या अपना मत प्रकट कर सकें। उनके लिए तो यह भी एक तमाशा भर था। बैठक बाजे, भोज, बारात, घुड़चढ़ी, बिनोली, सप्तपदी, सुन्दर-सुन्दर-सजीले-भड़कीले वस्त्र, भीड़-भाड़ और उत्सव उनके बाल मन को कौतूहल मात्र लगे थे और जैसा उनके माता-पिता कहते गये थे वे करते गये थे और इस प्रकार खाने-खेलने की आयु में ही वे परिवार वाले हो गये थे।

विधि का विधान कुछ ऐसा था कि युवावस्था में ही उनकी सहधर्मिणी दिवंगत हो गई तो लोगों ने उन्हें दूसरा तमाशा करने के लिए प्रेरित किया किन्तु अब तो वे बच्चे नहीं थे। समझते थे सब कुछ, अतः वे बोले—“जब स्त्रियों का पुनर्विवाह नहीं होता तो मुझे क्या अधिकार कि मैं पुनर्विवाह कर लूँ। विधवाओं का विवाह प्रचलित हो तो मेरा विवाह करना न्यायसंगत है।”

लोगों ने समझाया—“कैसी बातें करते हो। अभी तो तुम्हें लड़का बच्चा भी नहीं हुआ। पच्चीस वर्ष की उम्र ही क्या उम्र होती है। क्या जीवन भर अकेले ही रहोगे? औरतें तो औरतें हैं उन्हें मर्दों का बराबरी का हक कैसे मिल सकता है?”

“मैं दोनों को बराबर समझता हूँ। हमारे देश में भी पहले स्त्रियों को पुरुषों के समान ही माना जाता था। मैं तो समता के इस मानवीय अधिकार का हनन नहीं कर सकता। मेरी मृत्यु हो जाती तो मेरी पत्नी को जीवन भर अकेला ही रहना पड़ता—वैधव्य काटना पड़ता तो मैं कैसे पुनर्विवाह कर लूँ!”

समता के मानवीय अधिकार के ये पक्षधर थे दिल्ली नगर निवासी मास्टर अमीरचन्द्र, जिन्हें भारतवर्ष के महान क्रान्तिकारियों में माना जाता है। २३ दिसम्बर, १९१२ के दिन लार्ड हार्डिंज पर बम फेंकने के षड्यंत्र के अपराध में उन्हें ८ मई, १९१५ को दिल्ली में भाई बालमुकुन्द और अवधबिहारी के साथ फाँसी की सजा दी गई। ये भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के वे रत्न हैं जिनकी कांति आज भी क्षीण नहीं हुई है और न भविष्य में होगी।

क्रान्ति को मास्टर साहब ने अपने धर्म के रूप में स्वीकारा था। वे राजनैतिक क्रान्तिकारी के रूप में तो

स्मरणीय हैं ही, उन्होंने सामाजिक क्रान्ति भी कम नहीं की। पिताजी अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे। भाई आदि कोई उत्तराधिकारी था नहीं उनकी सम्पदा का, पत्नी युवावस्था में ही उन्हें पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर गई थी। अब उनके पास पूरा जीवन था और पिता की पर्याप्त सम्पत्ति भी थी। इनका सदुपयोग क्या हो? इस सम्बन्ध में विचारने पर उन्हें दो ही मार्ग नजर आये एक तो सामाजिक क्रान्ति और दूसरा राजनैतिक क्रान्ति, इन्हीं को उन्होंने पिता और पत्नी का श्राद्ध समझा।

उन्होंने विधवा सभा नामक एक संस्था का गठन किया, जिसका उद्देश्य विधवाओं की आर्थिक स्थिति सुधारना, समाज में उन्हें सम्मानित स्थान दिलाना और विधवा-विवाह का प्रचलन करना था। उन्होंने कई आदर्शवादी नवयुवकों और विधुरों को विधवा-विवाह करने के लिए तैयार किया और विधवा-विवाह सम्पन्न करवाये। उन्होंने इसी उद्देश्य से एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया।

उस समय विवाह तथा भोज आदि के अवसरों पर जनसामान्य में वेश्याओं का नाच कराने का रिवाज प्रचलित था। इससे धन हानि और चरित्र हानि दोनों ही होती थी। मास्टर साहब ने इस अविवेकपूर्ण प्रचलन को बन्द करने के लिए बहुत काम किया। सार्वजनिक क्षेत्र में उनके द्वारा किए गये ये शक्तिभर प्रयास अपनी कम अहमियत नहीं रखते उस समय के संदर्भ में।

मास्टर अमीरचंद्र का जन्म सन् १८६९ में हुआ था। आपके पिता हुकुमचन्द हैदराबाद दक्षिण रियासत की लेजिस्लेटिव असेम्बली के सेक्रेटरी थे। उनकी कानूनी जानकारी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कहते हैं उनकी लिखी हुई पुस्तकें वकीलों और बैरिस्टरों के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त होती थीं। वे कई बार राज्य की ओर से ब्रिटिश साम्राज्यी विक्टोरिया से मिलने भी गये थे।

ऐसे रियासती और ब्रिटिश साम्राज्यवादी रंग में रंगे हुए पिता के पुत्र का इस प्रकार क्रान्तिकारी हो जाना एक आश्चर्य की बात थी। उनका अपना राष्ट्रवादी और समाजवादी दृष्टिकोण ही था कि वे अपने पिता की तरह किसी स्टेट के दीवान या ब्रिटिश साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी बनने की अपेक्षा क्रान्तिकारी और समाज सुधारक बने। उन्होंने अपने अकेले की प्रगति की ओर ध्यान देने की बजाय देश और समाज के सामान्य जन की प्रगति की ओर ध्यान केन्द्रित किया।

उन्होंने दिल्ली के मिशन स्कूल और मिशन कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करने के बाद वहीं के एक स्कूल में अध्यापक बनना पसंद किया। उनके पिता ने उन्हें बहुत समझाया कि वे अध्यापकी का काम करने की बजाय किसी राजा या अंग्रेज सरकार की सेवा में रहकर उच्च पद

प्राप्त करें पर वे तो अपनी अध्यापकी में स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना करना चाहते थे। अध्यापक के काम में उन्हें इतनी आय हो जाती थी कि उनका खर्च भी चल सके और कभी-कभार किसी जरूरतमन्द की सहायता भी कर सकें।

इन्हीं दिनों पता चला कि संस्कृत स्कूल नामक एक विद्यालय बन्द होने जा रहा है तो उन्होंने मिशन स्कूल का अच्छा वेतन छोड़कर उसका प्रशासक प्रधानाध्यापक बनना स्वीकार कर लिया अल्प वेतन में। उनके पुण्य प्रयास से बन्द होता संस्कृत स्कूल पुनः चल निकला। जब दिल्ली में रामजस स्कूल खुला तो उसमें भी उन्होंने अवैतनिक अध्यापक का काम किया। इसी कारण उनके नाम के साथ 'मास्टर' का सम्मानसूचक विशेषण जुड़ गया। शिक्षा प्रसार में ही वे सामाजिक और राजनीतिक जागरण के बीजांकुर देखते थे। अतः मास्टरी उनके लिये पेट पालने का साधन नहीं आत्मा की भूख मिटाने जैसा, ईश्वरोपासना जैसा सुकृत्य था। अध्यापक वर्ग के लिए उनका यह जीवन गौरव की वस्तु भी है और प्रेरणा का स्रोत भी।

अंग्रेज साम्राज्य के प्रतिनिधियों और पदाधिकारियों ने समझा था १८५७ की क्रान्ति का दमन हो जाने के कारण भारतीय जनता हार मान गई है। उसकी क्रान्ति की शक्ति समाप्त हो चुकी है किन्तु यह उनकी भूल थी। क्रान्ति कभी समाप्त नहीं हो सकती। रात्रि के बाद सूर्योदय सुनिश्चित है, इस तथ्य को जानने वाले क्रान्तिधर्मी जाग्रत विवेक पुरुष सूर्योदय होने से पूर्व ही प्रभात फेरी करने लगते हैं। उनका 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई' का खबरे जाने कितनों को ही नव प्रभात के आगमन के साथ ही अपना जीवन क्रम चला देने के लिए जाग्रत कर देता है।

राख में दबी चिंगारी की तरह १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन के रूप में वह फिर भड़की। उस आन्दोलन को दबाने के सरकारी प्रयासों के समानान्तर वहाँ क्रान्तिकारियों की गुप्त गतिविधियाँ तेज होती गईं। १९१२ में वायसराय की भव्य शोभायात्रा पर फेंके गये बम और उनके भयंकर विस्फोट ने इस तथ्य को उजागर करके रख दिया कि अन्धकार में भी प्रकाश के सृजेता बैठे रहते हैं और उनकी विद्युत प्रभाई जब प्रकट होती है तो लोग चमत्कृत रह जाते हैं।

इतिहास दोहराता है अपने आपको। दिल्ली की पुरानी सेन्ट्रल जेल से थोड़ी ही दूर जिस स्थान पर कप्तान हडसन ने १८५७ में मुगल शहजादों-मिर्जा मुगल, मिर्जा खिजर सुल्तान और मिर्जा अबूबकर को गोली का निशाना बनाया था, जिस स्थान पर शाही खानदान के इक्कीस व्यक्तियों को फाँसी दी थी, उसी स्थान पर १९१५ में मास्टर

अमीरचन्द, भाई बालमुकुन्द और अवध बिहारी नामक भारत माँ के लाइलों ने हैंसते-हैंसते फाँसी के फन्दों को चूमा। क्रान्ति का एक निखरा हुआ रूप और सामने आया इस दिन।

मास्टर अमीरचन्द का यह बलिदान एक सामयिक जोश मात्र नहीं था। वे वर्षों से लोगों में स्वाधीनता की भावना का नवोन्मेष करने के लिए व्यापक, व्यवस्थित और योजनाबद्ध तरीके से इस दिशा में काम करते आ रहे थे। १९०७ में जब दिल्ली में ट्राम चली तो उन्होंने अपने साथियों सहित उसका विरोध किया, क्योंकि ट्राम चलाने वाली कम्पनी विदेशी थी, साथ ही इससे ब्रिटिश शासन के पाँव मजबूत होते थे।

बंग-भंग के आन्दोलन के साथ ही स्वदेशी आन्दोलन चला तो दिल्ली नगर में उसका पृष्ठपोषण करने वाले मास्टर जी ही थे। उन्हीं के प्रयासों से किनारी बाजार में स्वदेशी स्टोर खुला और वे शिक्षा के क्षेत्र के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र में भी उतर आये।

स्वदेशी स्टोर तो एक शुभारंभ था। लोगों में स्वदेश प्रेम की भावनाएँ जगाने और विदेशी दासता का जुआ उतार फेंकने की उमंग, उत्साह और संकल्प जगाने के लिए उन्हें नेशनल वाचनालय खोलना पड़ा, जहाँ देश-भक्तिपूर्ण साहित्य रखा जाता था। यों ऐसी थोड़ी-सी पुस्तकें और राष्ट्रीय नेताओं के चित्र स्वदेशी स्टोर में भी रखे गये थे, पर वे पर्याप्त नहीं थे। इसीलिये इस नेशनल वाचनालय की स्थापना करनी पड़ी थी।

वाचनालय स्थापना के साथ ही उनके सामने दो समस्याएँ आयीं। एक तो लोगों को वाचनालय में पढ़ने आने की रुचि व अभ्यास ही नहीं था और दूसरी बात यह थी कि हिन्दी-उर्दू में ऐसे साहित्य की भी बहुत कमी थी जो कि पाठकों के दिल में देश-भक्ति और क्रान्ति का जोश उत्पन्न कर सके। सरकार तो ऐसे कार्यों के विरुद्ध थी ही। घर-घर जाकर लोगों को पुस्तकें देने और लाने का काम और उन्हें उनके सहारे वाचनालय में आकर पढ़ने के लिए तैयार करने का काम भी मास्टर साहब और उनके साथियों को करना पड़ा। धीरे-धीरे लोगों को वाचनालय में आकर विचारोत्तेजक और देश-भक्तिपूर्ण साहित्य पढ़ने की आदत पड़ने लगी।

अब-तक हिन्दी-उर्दू में दो प्रकार का साहित्य ही मुख्य था। एक तो बाजारू जो घटिया और कुरुचिपूर्ण था, दूसरा धर्म और भक्ति का जो क्रान्तिकारी भावनाएँ जगाने के लिए उपयुक्त नहीं था। सो उन्हें अभीष्ट साहित्य प्रकाशन का काम भी स्वयं ही करना पड़ा। नेशनल वाचनालय की ओर से कुछ पुस्तकें छापी गईं। किन्तु यह क्रम भी आगे नहीं चल सका क्योंकि सरकार ऐसे

प्रकाशकों और मुद्रकों को परेशान करती थी जो देश-भक्तिपूर्ण साहित्य छापते थे। 'आफताब' पत्र और 'आफताब' प्रेस को सरकार द्वारा बन्द कर दिए जाने पर तो यह भय और भी गहरा हो गया और मुद्रकों ने नेशनल वाचनालय की पुस्तकें छापने से पूरी तरह इन्कार कर दिया।

अब क्या किया जाय ? प्रेस वाले पुस्तकें छापने को तैयार नहीं और इसका अर्थ था अपने काम को बन्द कर देना, जिसे वे किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने अपना प्रेस खोल लिया-नेशनल प्रेस। पर समस्याओं का अन्त यहाँ भी नहीं हुआ। सरकार की कोप दृष्टि के शिकार नेशनल प्रेस में हर कोई अपना छपाई का काम करवाने से डरता था और केवल नेशनल वाचनालय की पुस्तकों से प्रेस का पेट नहीं भरता था। इस कारण गणेशलाल खासता के सम्पादकत्व में मास्टर जी ने 'आकाश' नाम का देशभक्तिपूर्ण पत्र निकाला।

नेशनल प्रेस में भी उन्होंने अपनी पैतृक पूँजी लगाई थी। पहले ही नेशनल वाचनालय में वे उसका बड़ा अंश लगा चुके थे। पत्रकारिता और विशेषकर निष्पक्ष और सरकार विरोधी-स्वतंत्रता समर्थक पत्रों का प्रकाशन तो घाटे का सौदा था ही। आदर्शवादी मास्टर साहब पत्र में विज्ञापन छापने के भी विरुद्ध थे। स्वाभाविक ही था पत्र घाटे में चलता। वे इस घाटे का पेट भरने के लिए स्वयं नौकरी करते और अपनी निजी पूँजी से उसे पूरा करते और सम्पादन का श्रेय दूसरे सहयोगियों को देते।

चन्दा माँग कर घाटे को पूरा करना भी एक तरीका था पर वे जब तक अपने पास पैसा है तब तक दूसरे से न माँगने की नीति के समर्थक थे। पहले स्वयं को लुटाने के बाद ही कोई दूसरे से चन्दा माँगने का अधिकारी होता है- यह सोचकर वे घाटे को सहते रहे।

वे स्वामी रामतीर्थ के ओजस्वी भाषणों से बहुत प्रभावित थे। उन्हें उनके अध्यात्म में वे सब तत्व दिखाई पड़ते थे जो उस समय के समाज-शरीर के विकास के लिए आवश्यक थे। उनके भाषणों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया, 'ईश्वर उपलब्धि अरण्यों में' के नाम से।

१९०९ में उन्होंने एक स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया। जिसमें देश भर के व्यावसायिक, कला, कौशल और हस्तशिल्प की वस्तुओं की दुकानें लगाई गयीं थी। इसका उद्घाटन लाला लाजपत राय करने वाले थे। उनके इस आगमन से प्रदर्शनी की कार्यकारिणी समिति आर्थिक लाभ उठाना चाहती थी। उन्होंने उनके भाषण सुनने वालों के लिए प्रवेश शुल्क रखा। आदर्शवादी मास्टर जी को यह औचित्यपूर्ण नहीं लगा सो वे स्वयं भी उनके भाषण सुनने से वंचित रहे।

१९११ में अंग्रेजों ने अपनी राजधानी कलकत्ता से दिल्ली बदल दी। जनता पर रौब गालिब करने के लिए तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज ने २३ दिसम्बर, १९१२ के दिन एक विशाल शोभायात्रा निकालने की योजना बनाई। यह सब बड़ी तैयारी और योजना के साथ हुआ, पर उनकी इस योजना के समानान्तर मास्टर अमीरचन्द, रास बिहारी बोस, भाई मुकुन्दी लाल आदि भी अपनी योजना बना चुके थे इस रोग को समाप्त करने के लिए।

निश्चित दिन निश्चित समय पर ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि का जुलूस निकला, अपनी शान के अनुरूप ही। आखिर था भी किसका जुलूस-उस सम्राट के प्रतिनिधि का जिसके राज्य में सूर्यास्त कभी नहीं होता था। भारत के राजे, महाराजे तथा नवाब ही नहीं आस-पास के द्वीपों के प्रतिनिधि भी अपनी पूरी शान के साथ उपस्थित थे। जनता भी तमाशबीन की तरह यह सब देख रही थी, किन्तु यह क्या! चाँदनी चौक की ओर बढ़ते हुए जुलूस में एक भयंकर धमाके के साथ ही भगदड़ मच गई। सम्राट के प्रतिनिधि पर बम फेंका गया था। चंद क्रांतिकारियों द्वारा महामहिम सम्राट और उसके प्रतिनिधि के अन्याय, अत्याचार पूर्ण शासन के विरोध में भारतीय जनता की तरफ से यह एक बड़ा जोरदार और प्रत्यक्ष प्रदर्शन था। पुलिस विभाग ने इस षड्यन्त्र का पता लगाने और इसके मुखिया को पकड़ने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया, पर मास्टर अमीरचन्द और उनके संगी-साथी ऐसे गायब हुए कि महीनों तक पुलिस को कुछ भी पता नहीं लगा, पर धीरे-धीरे कई शहरों में उन्होंने छोटे-मोटे कार्यकर्ताओं को पकड़ा और उनको धमकाकर तथा यन्त्रणा देकर कुछ भेद की बातें मालूम कीं। तब कहीं जाकर मास्टर अमीरचन्द और उनके मुख्य साथी पुलिस की गिरफ्त में आ सके। यद्यपि अदालत में फिर भी पुलिस मास्टर साहब का दोष पूरी तरह सिद्ध नहीं कर सकी, पर मुकदमे के महत्व को देखते हुये और जनता की भावनाओं को दबाने के उद्देश्य से सभी अभियुक्तों को कठोर दण्ड दिया गया। मास्टर अमीरचन्द अपने दो देशभक्त मित्रों सहित फाँसी के तख्ते पर झूल गये पर उन्होंने अन्तिम क्षण में भी 'भारत माता की जय' का नारा लगाते हुए भी अपनी जीवन लीला समाप्त की।

मास्टर अमीरचन्द जैसे देशभक्त समाज-सेवियों और समाज सुधारकों की आज इस देश की बड़ी आवश्यकता है।

एक और भगतसिंह-

हेमूकलानी

पुराने सक्कर(सिन्ध) में एक विख्यात कलानी परिवार रहता था। गरीब किसान किन्तु देश-भक्त परिवार। इसी परिवार का एक बारह-तेरह वर्ष का किशोर अपने एक

कमरे में स्टूल पर खड़ा था। ऊपर एक रस्सी का फन्दा झूल रहा था। किशोर ने फन्दा गले में पहन लिया। देखने से लगता था शायद वह आत्महत्या का प्रयास कर रहा है।

अचानक पिता ने कमरे में प्रवेश किया। देखा तो हक्का-बक्का रह गया। दौड़कर अपने बेटे को स्टूल से उतारा और गले से लगा लिया। गदगद कंठ से पूछा-
“क्या हुआ बेटा! यह क्या कर रहा था।”

“कुछ नहीं पिताजी”- किशोर ने सहज मुस्कान लुटाते हुए कहा।

“फिर यह सब क्या नाटक है?”- पिता ने उसी आश्चर्य से पूछा?

“फौसी लगने पर कैसा महसूस होता है, मैं यह देख रहा था।”

“फौसी! तुझे फौसी कौन लगायेगा मेरे बच्चे!”

“आखिर मुझे भी एक दिन फौसी पर चढ़ना होगा। अपने देश के लिए, आजादी के लिये, शहीदे आजम भगतसिंह की तरह”- गौरव के साथ सीना फुलाकर एक ही साँस में किशोर ने यह कह दिया और पिता ने अपने लाड़ले को छाती से भींच लिया।

इस किशोर का नाम था-हेमूकलानी। इस घटना के तीन-चार वर्ष बाद ही सचमुच वह फौसी के फन्दे पर झूल गया ब्रिटिश राज के सक्रिय विरोध के अपराध में।

अपने आदर्श शहीदे आजम का चेहरा उसकी आँखों के आगे रह-रहकर घूम जाता और मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठते। मैं भी देश की स्वतंत्रता के लिये, जातीय गौरव के लिए हँसते-हँसते फौसी का फन्दा घूम लूँगा, मेरा बलिदान ही जीवन को सार्थक बनायेगा। पुण्य-भूमि भारत पर अंग्रेजी राज को अधिक नहीं चलने दिया जा सकता। सात वर्ष की आयु में हेमूकलानी को डी. ए. वी. स्कूल में भर्ती करा दिया गया। छठी कक्षा पासकर जब वह तिलक म्युनिसिपल हाईस्कूल में भर्ती हुआ तो पता चला कि अपने जन्म-सिद्ध अधिकार आजादी के लिए भगतसिंह फौसी पर चढ़ गए।

२३ मार्च, १९३९ को भगतसिंह और उसके साथियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया। तब तक देश में पर्याप्त राष्ट्रीय चेतना आ चुकी थी। जनसाधारण में यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया था कि अंग्रेजी शासन अब किसी प्रकार का समझौता न करने पर आमादा है तथा इधर शासक वर्ग में यह धारणा बल पकड़ती जा रही थी कि अब किसी भी प्रकार ज्यादा दिन टिके रहना मुश्किल है। बच्चे-बच्चे के मन में आततायी गोरी सरकार को उखाड़ फेंकने की भावना जोर पकड़ने लगी थी।

किशोर हेमू भी इन सब घटनाओं से अप्रभावित कैसे रह सकता था? उस समय तक महात्मा गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन भी चलकर स्थगित हो चुका था। आन्दोलन

स्थगित होने की घोषणा सुनकर हेमू बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसके बाल मन में अंग्रेजों को शक्ति के बल पर, ईंट का जबाब पत्थर से देकर खदेड़ने की बात जम चुकी थी।

हेमू ने सोचा स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा का निवास हो सकता है। इसके लिए शरीर को बलवान और पुष्ट बनाना बहुत जरूरी है। अतः अपने गाँव के कृष्ण मण्डल जिमखाने में वह व्यायाम व उसकी प्रतियोगिताओं में भाग लेने लगा। इन सब बातों में उसका खूब मन लगा। कोई भी ध्येय चुनकर उसके प्रति समर्पित हो जाने से साधन जुटाने और श्रम करने में न तो थकान आती है और न ही असफलता मिलती है। हेमू कलानी ने प्रतियोगिताओं में निरन्तर विजयश्री का वरण किया।

हेमू अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण ‘स्वराज्य मण्डल’ नामक गुप्त संस्था के सम्पर्क में आया। इसके सूत्रधार थे डॉक्टर मंधाराम। संस्था का लक्ष्य था भारत में ब्रिटिश राज्य का अन्त। इसकी एक विद्यार्थी शाखा भी गठित की गई जिसका नेतृत्व भार हेमूकलानी को सौंपा गया। विद्यार्थियों और नवयुवकों ने अपने दल का नाम रखा ‘स्वराज्य सेना’। पुष्ट शरीर, बलिष्ठ भुजाएँ, ऊँची और मजबूत कद-काठी तथा आकर्षक चेहरे वाले हेमू में नेता के सभी गुण मौजूद थे। एकान्त के क्षणों में वह ‘भगतसिंह’ की भाव-भंगिमाओं का अभ्यास करता रहता।

८ अगस्त, १९४२ को बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन में अंग्रेजों! भारत छोड़ो, प्रस्ताव पारित हुआ। दूसरे दिन भोर में ही महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आजाद जैसे चोटी के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया फिर भी प्रस्ताव के अनुसार कार्यक्रम क्रियान्वित किया जाने लगा। काँग्रेस के आन्दोलन की बागडोर डॉ. लोहिया, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन और श्रीमती अरुणा, आसफ अली जैसे युग नेताओं ने सम्हाली। गाँधी, नेहरू, मौलाना आजाद और सरदार पटेल की गिरफ्तारी से सारे देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई।

गाँव-गाँव सुलग उठा। जगह-जगह से ‘अंग्रेजों भारत छोड़ो’ की आवाज उठने लगी। सरकार ने बड़ी तेजी से दमन चक्र चलाया। निहत्थी और अहिंसक जनता पर गोली-लाठी की बौछारें होने लगीं। भारतीय देश-भक्तों ने सब कुछ सहा। फिर भी आततायी सरकार के नारकीय अत्याचार उस आवाज को दबा नहीं पाये। उसी वर्ष के २३ अक्टूबर की बात है, भारत छोड़ो आन्दोलन अपने शिखर पर था। क्रान्तिकारियों के दमन के लिए अस्त्र-शस्त्रों से लैस एक सैनिक रेलगाड़ी सख्खर जा रही थी। हेमू को इस बात की खबर लगी। उसने अपने दो साथियों को साथ लिया और नगर सीमा के बाहर जा पहुँचा- रेल की पटरियाँ उखाड़ने। उस समय पुलिस बड़ी सतर्क थी। तीनों साथी पटरियों की एकाध ही फिशप्लेट उखाड़ पाये थे कि हथौड़ी की आवाज गश्त देते हुए पुलिस के जवानों ने सुन ली।

आवाज सुनकर पुलिस दौड़ी आई। हेमू ने अपने साथियों को भाग जाने के लिये कहा। आरम्भ में तो उन्होंने साथ छोड़ने से इन्कार कर दिया पर हेमू ने जोर देकर कहा तो वे भाग गये। वह अकेला पकड़ा गया।

गिरफ्तारी के बाद उसे कठोर यन्त्रणाएँ दी गईं। पूछा गया उसके साथियों का नाम पता परन्तु हेमू उन यन्त्रणाओं को चुपचाप सहता रहा और सारा अपराध अपने सर ले लिया। पुलिस को लगा कि यह किसी गुप्त क्रान्तिकारी संस्था की करामात हो सकती है परन्तु वह हेमू के होठों पर स्वराज्य सेना और स्वराज्य मण्डल का एक शब्द भी नहीं ला सकी।

अदालती कार्यवाही शुरू हुई। १८ वर्ष के इस तरुण किशोर पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया। दया का स्वाँग भरने के लिए हेमू को वकील की सुविधा लेने की छूट दी गई परन्तु उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया। अदालत ने पूछा- 'तुमने किसलिए यह अपराध किया?'

“अपने जन्म सिद्ध अधिकार को प्राप्त करने के लिए।”

“क्या तुम अपनी गलती के लिए पछता रहे हो?” न्यायाधीश ने पूछा।

“नहीं, मुझे गर्व है। अफसोस भी है कि मैं असफल हो गया।”

न्यायाधीश ने कहा- “तुम्हें यह कार्य करने के लिए किसने कहा?”

“मेरी आत्मा ने।”

“क्यों?”

“अंग्रेज सेना अस्त्र-शस्त्र की मदद से स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों को कुचल सकती है तो उन शस्त्रों को नष्ट करना अनुचित नहीं है।”- हेमू ने दृढ़ता के साथ कहा।

जिसकी नस-नस में माटी का गौरव समा गया हो उसे बदला नहीं जा सकता। इसीलिए सैनिक अदालत ने उसे आजीवन कारावास का दण्ड सुना दिया। परन्तु हैदराबाद स्थित सैनिक मुख्यालय के कमाण्डर लार्ड रिचर्डसन ने इस दण्ड को मृत्यु-दण्ड में बदल दिया।

मृत्यु की वह मुदित मन से प्रतीक्षा करने लगा। फैसला सुनाने से दण्ड मिलने तक उसका वजन लगभग ८ पौण्ड बढ़ गया। २१ जनवरी, १९४३ को उसे फौसी घर की ओर ले जाया गया। “भारत माता की जय-इन्क्लाब जिन्दाबाद” के नारे लगाता हुआ हेमू फौसी घर की ओर चल पड़ा। जब उससे अंतिम इच्छा पूछी गई और पूरी की जाने का आश्वासन मिला तो वचनबद्ध जिला मजिस्ट्रेट को भी ‘भारत माता की जय’ जय बोलनी पड़ी थी।

विप्लवी वीर-

भाई बालमुकुन्द

अछूतों की छाया पड़ जाने पर भी जिन दिनों घर में चूल्हे-चौके तक पहुँचने के लिए दसियों प्रायश्चित्त-अनुष्ठान करने पड़ते हों, उन दिनों किसी उच्च कुल के व्यक्ति का अछूत बस्तियों में रहना, अछूतों के पास बैठना और उनके बीमार पड़ने पर उनकी सेवा-सुश्रूषा करना लोक-निन्दा का कारण ही बन सकता था और इसी कारण पंजाब के बेटे बालमुकुन्द को भी जाति निष्कासन जैसे दण्ड देने पर लोग विचार कर रहे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

विचार करना इसलिए आवश्यक था कि भाई बाल-मुकुन्द जी जिस परिवार और जिस वंश से सम्बन्ध रखते थे परम्परागत रूप से वह लोक श्रद्धा का भाजन और जन आदर का पात्र था। वह भी इसलिए कि उनके पूर्वजों ने समाज और जाति के लिए एक से एक बढ़-चढ़कर बलिदान प्रस्तुत किए थे। सिक्ख गुरु तेगबहादुर ने जब देश की आन-बान की रक्षा के लिए बलिदान और उत्सर्ग की भावना रखने वाले धर्मवीरों से शीशदान का आह्वान किया, उस समय अपना सिर भी देने के लिये आगे आने वालों में एक थे-मतिराम जी।

मतिराम जी तथा उनकी सन्तानों को तभी से भाई का सम्बोधन मिला था। इसे कहना चाहिए समाज की ओर से मिलने वाली उपाधि। उन्हीं सन्तानों की परम्परा में एक थे बालमुकुन्द जी। इसलिए जब तक बात नहाने-धोने से ही पूरी हो जाती हो तब तक यह अपराध कर्म क्षम्य भी था परन्तु जब साथ-साथ उठने-बैठने और साथ-साथ खाने-पीने भी लगे तो धर्म और संस्कृति के ठेकेदारों के लिए बात अवश्य विचारणीय हो गई।

यद्यपि सिक्ख समुदाय में ऊँच-नीच और जातिवाद मूलक भेदभाव इतना चिन्तनीय नहीं था फिर भी जिस क्षेत्र में वे रहते थे वहाँ के हिन्दू ब्राह्मण और उच्च जाति के लोग जो भाईजी को भी उच्च वर्ण का मानते थे, यह कैसे सहन कर सकते थे। उस समय भाईजी लाला लाजपत राय के निर्दिष्ट मार्गदर्शन में अछूतोद्धार के लिये काम कर रहे थे।

लेकिन कुछ ही दिनों में उन्होंने अपनी जीवन दिशा बदल दी और पूर्णतया भारत माता की उस पुकार को सुनने और पूरा करने के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया जो देश के कोने-कोने से आ रही थी। स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकार को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया और उस अधिकार पर अपने खूनी पंजे जमाये बैठी अंग्रेजी सरकार से संघर्ष के मार्ग पर चल पड़े। अन्त तक वे इसी मार्ग से इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते रहे और

लड़ते-लड़ते शहीद हो गये । जिस समय उन्हें फाँसी की सजा दी गई उस समय उन्होंने बड़े आत्मसंतोष और आत्मगौरव के साथ कहा था-“इसी दिल्ली में एक दिन मेरे पूर्व पुरुष भाई मतिरामजी ने मुगलों से लोहा लेने के लिए अपने शरीर को आरे से चिरवाया था । इसी पवित्र भूमि पर आज मैं भारत माता के पाँवों में पड़ी अंग्रेजों की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे रहा हूँ ।”

भारत माँ की दासता की जंजीरों को काटने के लिये शहीद हुए इस अमर सेनानी का जन्म १८५५ ई. में झेलम के तट पर अवस्थित ग्राम चकवाल में हुआ था । उनका परिवार आर्थिक दृष्टि से खासा सम्पन्न भी नहीं था तो दीन दरिद्र भी नहीं । परिवार का निर्वाह आसानी से और साधारण ढंग से सरलतापूर्वक चलता रहता । घर में दो भाई थे, एक विधवा बहिन थी जो अपने पति का देहान्त हो जाने के बाद पिता के घर ही आकर रहने लगी थी । इस छोटे से सीमित परिवार में भाई जी का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार के साथ चलता रहा ।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा चकवाल में ही सम्पन्न हुई । माध्यमिक कक्षाओं के बाद लाहौर के डी. ए. वी. कॉलेज से हाईस्कूल और बी. ए. की परीक्षाएँ पास कीं । अध्ययनशील और परिश्रमी स्वभाव के होने के कारण वे अपनी कक्षाओं में सदैव ही अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते रहे । सन् १९१० में लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज से उन्होंने बी. टी. की परीक्षा में भी पूरे प्रान्त भर में द्वितीय स्थान प्राप्त किया । बी. टी. की परीक्षा पास करने के बाद वे ऐबटाबाद के एल्बर्ट विक्टर एंग्लो संस्कृत हाईस्कूल में अध्यापक हो गये ।

अध्यापन काल में ही उन्होंने समाज सेवा का उपरोक्त कार्य आरम्भ किया, परन्तु जब वे बनबाहा के बरसाती नाले की गुफाओं में रहने वाले एक साधु तपसीराम जी के संपर्क में आये तो देश भक्ति का रुका हुआ बाँध जैसे फूट कर बह निकला । साधु तपसीराम एक अच्छे खाते-पीते जमींदार परिवार के व्यक्ति थे । भगवान का दिया सब कुछ था उनके पास, परन्तु देश-सेवा की उमंग ने उन्हें सब कुछ छोड़-छुड़ाकर संन्यासी बना दिया और यों भभूत रमाकर अपने हृदय की चिंगारी और दूसरे हृदयों तक पहुँचाने में लग गये ।

उनके निकट संपर्क से वह चिंगारी भाई जी के हृदय में भी प्रवेश कर गई और भाईजी नौकरी छोड़कर आ कूटे विप्लवी आन्दोलन में । अब तक तो उनका कार्यक्षेत्र मात्र पंजाब प्रान्त ही था परन्तु अब सारा देश और एक अर्थ में सारा विश्व बन गया । क्योंकि समूची मानवता की पुकार थी यह- “विश्व का आध्यात्मिक नेतृत्व करने में समर्थ भारतवर्ष आजाद हो ।” मास्टर अमीरचन्द्र ने लाला

हनुमन्त सहाय तथा महात्मा हंसराज के सुपुत्र श्री बलराज जैसे नेताओं के नेतृत्व में रहकर अपने विप्लवी हृदय की आग को क्रान्ति की दिशा दी ।

भाईजी को नौकरी छोड़कर विप्लवी आन्दोलन में भाग लेता देखकर परिवार के सदस्यों को चिन्ता हुई और उन्होंने अपने इस प्रिय आत्मीय को घर परिवार से ही बाँधे रखने के लिए जाना माना पैतरा अपनाया । उनके भाई जयरामदास जी ने मणिगाँव की एक सुन्दर कन्या रामरक्खी से भाईजी का विवाह कर दिया । परन्तु यह दाँव सफल न रहा । देश सेवा के लिए कृत संकल्प आजादी के दीवाने भाईजी को सुन्दर पत्नी का मोह न बाँध सका । पंजाब से निकल कर वे सीधे दिल्ली आये, यहाँ उन्होंने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अवध बिहारी के साथ क्रान्तिकारी पत्रों और पुस्तिकाओं के प्रकाशन तथा वितरण का काम सम्हाला । ऐसे पत्रों रोज हजारों की संख्या में निकलते । वितरण व्यवस्था ऐसी चाक-चौबन्द रखी गई थी कि ये पत्रें देहरादून, कसौली, अम्बाला, फिरोजपुर, लाहौर जैसे बड़े-बड़े और दूर-दूर के नगरों तक पहुँच जाते लेकिन कानों-कान किसी को खबर तक नहीं होती यद्यपि अंग्रेजी सरकार इन पत्रों से परेशान अवश्य थी ।

इन्हीं दिनों भाईजी ने रासबिहारी बोस के साथ बम बनाने का अभ्यास किया । दिसम्बर, १९१२ में वायसराय की दिल्ली में सवारी निकलनी थी । तब भारत की राजधानी भी कलकत्ता से बदलकर दिल्ली आ रही थी । उस समय क्रान्तिकारियों की ओर से निश्चित यह किया गया कि इस अवसर पर वायसराय को बम से उँड़ा दिया जाय । इस निश्चय को कार्यरूप में परिणित करने की तैयारियाँ हुई और उधर ऐसे किसी भी खतरे से वायसराय की सुरक्षा की भी व्यवस्था की गई ।

दोनों ही पक्ष अपनी तैयारियाँ पूरी कर चुके थे । २३ दिसम्बर को जैसे ही वायसराय की सवारी निकली, सारा काम योजनाबद्ध ढंग से चलता रहा । सवारी का जुलूस मीलों लम्बा था । जैसे ही वह चाँदनी चौक के फण्डारे के निकट पहुँचा लार्ड हार्डिंग के हाथी पर एक बम आकर गिरा । संयोगवश लार्ड हार्डिंग तो बच गये परन्तु अंग्रेज सरकार आतंकित हो गई । इतनी सुदृढ़ और किलेबन्दी जैसी व्यवस्था को बेधकर भी यह कृत्य आतंककारी ही था । बम फेंकने वाले दो युवा क्रान्तिकारियों में से एक स्वयं भाईजी भी थे । यद्यपि इस घटना के बाद भाईजी गुप्त रूप से काम करने लगे थे परन्तु खुफिया पुलिस सूँघते-सूँघते उन तक आखिर पहुँच ही गई और १६ फरवरी, १९१४ को उन्हें वर्षभर से भी अधिक समय के बाद गिरफ्तार कर लिया गया ।

उस समय वे जोधपुर में थे। दिल्ली का चूका वार जोधपुर में और भी मुस्तैदी से दोहराया जाने वाला था। उन दिनों वायसराय का वहाँ आगमन होने वाला था, परन्तु इसके पूर्व ही वे गिरफ्तार कर लिए गये। परिणाम जो होना था वही हुआ। बिना सफाई का मौका दिये उन्हें ८ मई, १९१५ को फाँसी दे दी गई और यह अजेय विप्लवी वीर हँसते-हँसते अपनी वीरोचित मर्यादा के अनुसार फाँसी का फन्दा चूम गया और दिखा गया एक ऐसी अनन्त राह जिस पर कितने ही चलकर अमर हो गए और कितनों को अभी चलना शेष है।

जो राष्ट्रहित में बलिदान हो गये—

सूफी अम्बा प्रसाद

“सूफी साहब चलिए आपका समय हो गया।” जेलर ने मृत्यु दण्ड देने के लिए बन्दी को पुकारा। कोठरी खोली। बन्दी पद्यासन लगाये बैठा था नीरव, निस्पन्द, निष्प्राण। शरीर को वस्त्रों की तरह त्याग देने वाले ये जीवन्त आत्मा थे— देशभक्त सूफी अम्बाप्रसाद। भारत में इनका रहना कठिन हो गया था। इनके यहाँ रहने से इन्हें प्राण-दण्ड से कम सजा अंग्रेज देने वाले नहीं थे। अतः इनके मित्रों ने इनसे विदेश जाने का आग्रह किया तो ये ईरान चल गये। प्रथम विश्व युद्ध में वे ईरान की तरफ से लड़े। अंग्रेजों ने इन्हें पकड़ लिया। सैनिक न्यायालय ने इन्हें गोली मारने की सजा सुनाई। सूफी साहब उनके गोली मारने से पहले ही अपना नश्वर शरीर छोड़ गये।

पानी की धारा के साथ तो जड़ तिनका भी बह लेता है किन्तु प्रवाह के विपरीत तैरने का साहस मछली ही कर सकती है। समय के साथ चलने वाले तो बहुत होते हैं पर समय को बदलने का प्रयास जीवित-जाग्रत आत्माएँ ही कर पाती हैं। जिनकी आत्मा सोई हुई है— उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ, वे विवेकहीन मनुष्य पशु तुल्य जीवन ही जीते रहते हैं। सूफी अम्बाप्रसाद समय की धारा को पलटने वाले जीवित जाग्रत आत्माओं की कोटि में गिने जाते हैं।

भारतवर्ष अंग्रेजी दासता की चक्की में पिसा जा रहा था। साधारण जनता को जमींदार लूटते थे और अंग्रेज भी लूटते थे। इस दुहरी मार से भारतवासी बुरी तरह तड़प रहे थे। सामान्य जन जीवन नारकीय हो चला था। सूफी अम्बाप्रसाद को यह स्थिति सहा नहीं हो सकी। इस अन्याय से देशवासियों को छुड़ाने के लिए उनकी आत्मा तड़फ उठी। ऐसी ही अनेकों जीवित-जाग्रत आत्माओं का पुण्य प्रताप है भारतवर्ष की जनता आजादी की साँस ले सकी है।

इनका जन्म मुरादाबाद में १८६२ में हुआ। ये पैदा हुए तब भी इनके एक ही हाथ था। इस एक बायें हाथ से ही उन्होंने आगे चलकर ऐसे जौहर दिखाए जिन्हें देखकर दो हाथ वाले भी दाँतों तले अँगुली दबाते थे। ‘जैम उल इदुम’ उर्दू पत्र के सम्पादक के रूप में वे एक नक्षत्र की तरह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आकाश में उदित हुए। वे अच्छे लेखक थे। उनकी लेखनी तलवार की मार करती थी।

उन्होंने देखा कि मेरे देशवासी किस प्रकार अत्याचारों से पीड़ित हैं। अंग्रेज हम पर शासन ही नहीं करते हमें नीचा समझते हैं। विद्वता, प्रतिभा तथा योग्यता सम्पन्न भारतीय की भी अंग्रेजी की तुलना में कोई कद्र नहीं होती। सड़क पर चलने, रेल में बैठने जैसे सामान्य नागरिक अधिकार तक में असमानता बरती जाती है। भारतवासी इतना सहते हुये भी चुप हैं, जागते नहीं, प्रतिकार के लिए उठ खड़े नहीं होते। उन्हें जगाने का माध्यम उन्होंने पत्रकारिता चुना।

पत्रकारिता का क्षेत्र उन दिनों आज की तरह पैसा कमाने का साधन नहीं था। न तो विज्ञापन की मोटी-मोटी रकमें उन दिनों प्राप्त होती थीं, न सरकार से संरक्षण ही मिलता था। सरकार तो ऐसे पत्रों की जानी दुश्मन थी जो भारतवासियों में देश-प्रेम जगाते थे। इस प्रकार के पत्र-पत्रिकाओं का अभाव ही था। इस प्रकार के गिने-चुने पत्रकार थे जिनकी आर्थिक स्थिति बड़ी कमजोर होती थी। वस्तुतः यह एक परमार्थपरक कार्य था जिसमें हानि उठाने की ही सम्भावना थी, लाभ का तो सवाल ही नहीं उठता था। अम्बाप्रसाद जी ने इसी काम को अपनाया।

इनकी लेखनी क्या चलती थी तलवार चलती थी। विदेशी शासन तथा जमींदारों पर इसकी मार बहुत भयानक होती थी। इस प्रकार के खतरनाक पत्रकार को सरकार कैसे खुला छोड़ सकती थी। ‘जैम उल इदुम’ में प्रकाशित एक लेख के आधार पर इन पर सरकार ने राजद्रोह का अभियोग लगाया। न्यायालय ने इन्हें डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी।

सजा की अवधि समाप्त हुई तो रजवाड़ों ने इनके ऊपर अनुचित हस्तक्षेप करने का मुकदमा दायर किया। विदेशी सरकार तो यही चाहती थी कि सूफी जेल में ही सड़ता रहे। इस अभियोग में इन्हें छः वर्ष का सश्रम कारावास दिया गया। सूफी तो यह सब सहने को तैयार होकर ही मैदान में कूदे थे। वे जानते थे कि सत्य कहने वाले को यातनाएँ तो मिलेंगी ही। वे सोचते “ईसा को भी ऐसी ही सच्ची बात कहने के कारण सूली पर चढ़ना पड़ा था, पर उनका यह बलिदान निरर्थक नहीं गया। मेरी यातनाएँ भी निरर्थक नहीं जायेंगी। इनका परिणाम शुभ होगा। भारतवर्ष को स्वाधीनता दिलाने में ऐसे कितने ही बलिदान देने पड़ेंगे। जेल तो साधारण बात है।

हैदराबाद का निजाम इनकी विद्वता का कायल था । जब इनकी सजा पूरी हो गई तो इनसे अपने यहाँ रह जाने का आग्रह किया । निजाम ने उन्हें दो सौ रुपये प्रतिमाह देने का प्रस्ताव किया । उसने तो इनके रहने के लिये मकान तक बनवा दिया था । सूफी इस प्रकार जीवन जीना नहीं चाहते थे । आत्मा का हनन करके शारीरिक सुख सुविधा के लिए अपने आपको पतित कर लेना उन्हें स्वीकार नहीं था । उन्होंने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया । अंग्रेज सरकार इन्हें एक हजार रुपये मासिक वेतन पर अपने जासूसी विभाग में रखना चाहती थी । सरकार के वेतनभोगी होने का अर्थ था राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग के जीवन का अन्त । उन दिनों एक हजार रुपये बहुत बड़ी रकम थी । इतनी बड़ी रकम तुकरा देना उस आदर्शवादी के लिए साधारण बात थी । वे कहा करते थे “अपने ही स्वार्थों के लिए तो पशु भी जी लेता है । मनुष्य होकर जो दूसरों के दुःख-दर्द का ध्यान न रखे तो वह बिना सींग-पूँछ का जानवर ही तो है ।”

इन सब प्रलोभनों से कभी उनका चित्त डाँवाडोल नहीं हुआ । उन्होंने जेल से छूटते ही इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह के साथ मिलकर पेशवा उर्दू पत्र निकाला । इस पत्र ने जन-जागरण की बहुत बड़ी कमी पूरी की ।

‘पेशवा’ के माध्यम से इन क्रान्तिकारियों की आवाज जन-जन के अन्तर में सोई मर्दानगी, आदर्शवादिता तथा राष्ट्रप्रेम जगा रही थी । इन्हीं दिनों लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट दिया । इस निर्णय के विरोध में देशव्यापी आन्दोलन हुआ । इस आन्दोलन को भड़काने में ‘पेशवा’ बहुत सहायक सिद्ध हुआ ।

एक ओर अंग्रेजी हुकूमत थी जिसके पास बहुत बड़ी सेना, धन-दौलत, शासन-तन्त्र, पुलिस, शस्त्रास्त्र आदि सब साधन थे । दूसरी तरफ कुछ गिने-चुने साधनहीन मनुष्य थे जिनके साथ सच्चाई की सेना, आदर्शों की धन-दौलत तथा राष्ट्र यज्ञ में आहुति देने की अदम्य लालसा थी । ऐसे ही गिने-चुने सिरफिरो के अगुआ सूफी जी थे । भारतीय जनता सो रही थी । उसे जगाना था । उसकी इस नींद का लाभ उठाकर ही अंग्रेज भारत पर शासन कर रहे थे ।

लाहौर के आर्य होटल में एक विराट सभा का आयोजन किया गया । सरकार ने पंजाब के नौ जिलों के लिए एक कानून पास किया था जो जनहित की दृष्टि से अनुचित था । सभा में सरदार अजीतसिंह इस कानून के विरोध में आग उगलने वाली वाणी में भाषण दे रहे थे । सोए सिंह भी यह हुंकार सुनकर जागने लगे थे । इसी समय अंग्रेज पुलिस ने होटल को घेर लिया । उपस्थित जन समुदाय में भय की एक लहर दौड़ आई थी । सूफी जी ने

लपककर होटल का दरवाजा बन्द कर दिया तथा चट्टान की तरह अड़ गये । अंग्रेज ऑफीसर को उन्होंने इस प्रकार निहत्थी भीड़ पर चढ़ आने के लिए डाँटा । जब तक सभा चली अंग्रेज अफसर का साहस न हो सका कि वह सभा की कार्यवाही रुकवा देता ।

अन्यायी चाहे कितना ही सबल क्यों न हो वह जरा से प्रतिरोध से भी भय खाने लगता है । अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध सरदार अजीतसिंह तथा सूफी अम्बाप्रसाद के दल ‘भारतमाता’ ने जब मोर्चाबन्दी शुरू की तो वे बौखला उठे । क्योंकि सच्ची शक्ति उनके पास नहीं थी । सच्चाई तथा न्याय यदि उनके साथ होता तो उन्हें इन थोड़े से देश-भक्तों से भय खाने की आवश्यकता नहीं थी । सच पूछा जाय तो अंग्रेज इनके मुकाबले में बहुत कमजोर सिद्ध हुए थे ।

सूफी जी इस तथ्य से परिचित थे कि साधन तथा प्रभुत्व अपने आप में महान नहीं वरन् उनका सदुपयोग करके ही उन्हें महत्ता दिलाई जा सकती है । मनुष्य की प्रतिभा तथा योग्यता की भी यही स्थिति है । सदुपयोग एक अनिवार्य शर्त है । उन्होंने अपनी लेखनी का उपयोग एक महान प्रयोजन के लिए किया । सूफी जी अपने स्वार्थ के लिए ही लिखते तो वे काफी धन कमा सकते थे, अच्छा पद पा सकते थे पर उन्होंने उन्हें सामने आये हुए तुकरा दिया । इसी का परिणाम है कि वे आज एक प्रेरक अमर चरित्र के रूप में याद किए जाते हैं ।

सूफी जी ने ‘पेशवा’ के माध्यम से वह हवा बहाई कि उससे चिंगारियाँ दावानल बनने लगीं । जनता जागने लगी । उनके सम्पादकीय बेजोड़ होते थे । ‘पेशवा’ की पुरानी फाइलें देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी लेखनी में कैसा जादू था ?

अंग्रेज सरकार हाथ धोकर इन लोगों के पीछे पड़ गई । इनको पकड़ने के लिए जाल बिछाये जाने लगे । किसी भी मूल्य पर अंग्रेज सरकार इन्हें खुला नहीं छोड़ना चाहती थी । जितना शीघ्र हो सके इन्हें बन्दी बनाना चाहती थी । बन्दी बनाने के बाद मृत्यु दण्ड या फाँसी की सजा इन्हें दी जाती । ये बन्दी होना नहीं चाहते थे । गुप्त वेश में नेपाल जा पहुँचे । नेपाल गवर्नर ने इन्हें आश्रय दिया ।

एक ही हाथ के होते हुए भी सूफी जी जो लिपियाँ लिखने में समर्थ थे लिख लेते थे । उन्हें अपने एक हाथ का अभाव कभी खटकाता नहीं । वे मजाक में कहा करते थे- “१८५७ की लड़ाई में एक हाथ कट गया था सो इस जन्म में एक ही रह गया ।”

उनका यह जोश तथा देश-प्रेम केवल लेखन तथा भाषण देने तक ही सीमित नहीं रहा । वे अब्बल दर्जे के

संवाददाता तथा गुप्तचर भी थे। सन् १९१९ की बात है। अम्बाला का कमिश्नर जनता पर बहुत अत्याचार करता था। ये गूँगे-बहरे बनकर उसके यहाँ नौकरी करने लगे। उन्हें खाने की मेज पर मक्खियाँ उड़ाने का काम दिया गया। उस समय प्रायः वह कमिश्नर अपने सहायकों से परामर्श करता था। इसकी रिपोर्ट 'अमृत बाजार पत्रिका' के लिए वे भेज देते थे। कई महीने तक वे गूँगे-बहरे बनकर उसकी आँखों में धूल झाँकते रहे। कमिश्नर अपनी इन बातों को पत्रिका में देखकर हैरान होता था। सूफी साहब पर वह कभी शक न कर सका।

भारत में रहना कठिन हो गया तो वे ईरान चले गये। ईरान में उन्होंने 'आबे हयात' पत्र का सम्पादन किया। वहाँ रहकर भी आप भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में सहायता देते रहे। उनके देश-भक्ति पूर्ण व्यक्तित्व से भारत ही नहीं ईरान को भी लाभ हुआ। सूफी जी वहाँ भी लोकप्रिय नेता बन गये। सूफी जी के जीवन से यह सिद्ध हो गया कि सच्चाई और न्याय, आदर्श तथा लोकमंगल का क्षेत्र देश की सीमा से बँधा नहीं है। आदर्शों के लिए जीवन अर्पित करने वालों की सर्वत्र अपेक्षा है। जहाँ भी ऐसे सच्चे मानव रहेंगे वहाँ की जनता को लाभ ही मिलेगा।

ईरान में रहते हुए वे प्रथम विश्व युद्ध में ईरान के पक्ष में लड़े। इनके प्रति वहाँ के लोगों में बड़ी श्रद्धा थी, वे उन्हें अपने पथ प्रदर्शक मानते थे।

उद्देश्य के लिए संसार भर की

खाक छानने वाले क्रान्तिवीर

सरदार अजीतसिंह

“पगड़ी संभाल ओ जट्टा, पगड़ी संभाल रे।” यह गीत बहुत लोगों ने सुना होगा पर उसका इतिहास थोड़े ही आदमी जानते होंगे। इसे लिखा था बाँके दयाल ने और उस पर परवाने की तरह जल मरने वाले थे सरदार अजीतसिंह। महान शहीद सरदार भगतसिंह के चाचा अजीतसिंह।

तपःपूत शहीदों के जीवन-दीपक से यही प्रकाश फूटता है—“मेरे प्यारे देशवासियों, पगड़ी की रक्षा अर्थात् देश, धर्म और जातीय गौरव की रक्षा के लिए तिल-तिल जलना पड़ता है। फफोले पड़े हों तो भी चलना पड़ता है। जीवन-साधना की सफलता तो उसे ही मिलती है जो निष्काम, निःस्वार्थ भाव से और यश-कामना से अत्यन्त दूर रहकर केवल ऊँचा लक्ष्य देखता है, ऊँचा लक्ष्य सोचता है और ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपना जीवन न्योछावर कर देता है।”

आदर्शों के पुनरुद्धार और पुनरुत्थान के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है। तब स्वदेश के सम्मुख स्वाधीनता प्राप्ति का महान लक्ष्य आ खड़ा हुआ था। सरदार अजीतसिंह ऐसे ही संक्रान्ति काल में जालन्धर जिले के खटकड़लाँ ग्राम में जन्मे।

जिन दिनों उनकी प्रारंभिक शिक्षा लाहौर में पूरी हुई तो उन्होंने कहा—“मैं उस महान संस्कृति का अध्ययन करूँगा— जिसका एक अंश लेकर गुरुओं ने पंथ का सिरजन किया।” वे बनारस जाकर संस्कृत की उच्च शिक्षा पाना चाहते थे पर घरवालों की इच्छा के आगे झुककर वे बरेली कानून पढ़ने चले गये। यहीं से उनके हृदय में देश-प्रेम की ज्वाला उमड़ी, तीव्र हुई और किसी के रोके न रुकी, जब तक कि वह अपना अभीष्ट नहीं पा गई।

‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’ के आदर्श को मानने वाले इस कर्मयोगी से एक बार एक मित्र ने कहा—“सरदार! अंग्रेजी हुकूमत से पेश पाना बड़ा कठिन है। क्यों अपने सुख, चैन और जिन्दगी को दाँव पर लगाते हो।” सरदार ने तुरन्त उत्तर दिया—“भाई जी! मर्दाने देश और जाति के उद्धार के लिए मर मिटना जानते हैं। हम देश और जाति के उद्धार के मर मिटेंगे, सफलता मिलेगी या नहीं यह मेरा परमात्मा जाने।”

१९०६ में ब्रिटिश सरकार ने उपनिवेश अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार किसानों पर भारी प्रतिबन्ध लगाये गये। बंगाल के विभाजन से वैसे ही देशवासी विक्षुब्ध थे, अब तो लोगों के दिल जलने लगे। यही समय था नवयुवकों की परख का। परिस्थिति आने पर ही तो पौरुष की परीक्षा होती है।

सरदार अजीतसिंह ने ‘भारत माता सोसायटी’ की सक्रिय सदस्यता स्वीकार की और स्थान-स्थान पर जोशीले भाषणों से लोगों को विद्रोह के लिए भड़काने लगे। चारों ओर क्रान्ति की आग धधक उठी। लाला लाजपतराय के साथ उन्हें भी बन्दी बनाकर मांडले की जेल में भेज दिया गया। कुछ महीने बाद उन्हें छोड़ दिया गया पर मुक्त होते ही वह फिर ‘भारत माता सोसायटी’ के कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। ‘दण्ड और दमन से अजीतसिंह घबड़ा कर शान्त हो जायगा’— सरकार की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई। ‘पेशवा’ नामक समाचार पत्र निकाल कर उन्होंने क्रान्ति की ज्वाला को और भी तीव्र किया। बाद में यह पत्र जब्त कर लिया गया तो अजीतसिंह अपने दोनों भाइयों और अन्य साथियों के साथ अन्य नामों से अखबार निकालते रहे।

इधर गवर्नमेन्ट उन पर मुकदमा चलाने की योजना बनाने लगी तो अजीतसिंह ने अपने जीवन की लम्बी कीमत अनुभव की। सामंतशाही के शिकंजे में पड़कर

उन्हें शहीद होने में कोई आपत्ति नहीं थी पर उन्होंने अनुभव किया कि केवल जोश से ही काम न चलेगा, हमें होश के साथ काम करना पड़ेगा ताकि वर्तमान आन्दोलन अपनी मंजिल की ओर निरन्तर गतिमान रहे। लक्ष्य प्राप्ति के लिए नियोजित व्यवस्था बनाने का अजीतसिंह का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए बड़ी शिक्षा है। जो लोग स्थिति का अनुमान लगाकर उचित जवाबी शक्ति लगाते हैं, वे ही जीतते हैं। त्याग और बलिदान को व्यर्थ न जाने देना वस्तुतः बड़ी समझदारी की बात है। अजीतसिंह ने वही किया। इसके पूर्व कि वे पकड़े जायें अपने दो साथियों के साथ वे ईरान चले गये।

उस समय ईरान भी अंग्रेजी शासन में था। यहाँ के शिराज नगर से अजीतसिंह ने फारसी में अखबार निकाला। उद्देश्य एक ही था- अंग्रेजी उपनिवेशवाद पर चोट करना और भारत के समर्थन में पक्ष मजबूत करना। सरकार बेखबर न रही। गिरफ्तारी का वारंट निकाल दिया गया जिसमें इनके साथी अम्बाप्रसाद तो गिरफ्तार हो गये और फाँसी के तख्ते पर चढ़कर शहीद हो गये पर अजीतसिंह एक व्यापारी की कृपा से तुर्की चले गये। तुर्की में वहाँ के शासक मुस्तफा कमालपाशा से मिले और भारतीय स्वाधीनता के लिए चर्चा की, फिर वहाँ से आस्ट्रिया तथा आस्ट्रिया से जर्मनी चले गये। जहाँ भी गये उनका एक ही उद्देश्य रहा- शक्ति संगठित करना या विदेशी समर्थन लेकर अंग्रेजों को भारत-भूमि से हटने के लिए मजबूर करना।

'जिन खोजा तिन पाइयों' -वाली कहावत प्रसिद्ध है। खाली हाथ बैठने से तो कुछ भी नहीं मिलता पर यदि अभीष्ट की दिशा में प्रतिदिन एक पग भी बढ़ा जाता है तो वर्ष में ३६५ कदम मंजिल कम हो जाती है। सरदार अजीतसिंह यही लगन धारण किए हुए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। जर्मनी में भारतीय युद्धबन्दियों को भग्न इमारत के पत्थरों की तरह एकत्रित किया और उनको लेकर 'भारतीय मुक्ति सेना' संगठित की। इस कार्य से उनकी संगठन शक्ति में गहरी पैठ व अथक परिश्रम दृष्टिगोचर होता है। किसी कार्य के लिए सामान्य बुद्धि, व्यक्तित्व और योग्यता वाले बहुत आदमी एकत्रित हो जाते हैं तो वही एक बड़ी शक्ति बन जाते हैं। यह बात दूसरी थी कि जर्मनी परास्त हुआ और उन्हें ब्राजील भाग जाना पड़ा। ब्राजील से सरदार अजीतसिंह अमेरिका गये जहाँ वह एक सूती कारखाने में मैनेजर, पत्रकार और प्रोफेसर होकर तीन दिशाओं से संघर्ष की तैयारी करने लगे। एक का उद्देश्य धन अर्जित करना था दूसरे का भारतीय स्वातंत्र्य की विचारधारा फैलाना और तीसरे का उद्देश्य नियोजित समर्थन पाना।

इस बीच जालन्धर में उनके घरवालों को उनका पता चल गया। उनको बुलाने के लिए घर से कई पत्र भेजे पर सरदार आखिर आत्मनिष्ठा के धनी थे। उन्होंने यहीं निश्चय किया कि मातृभूमि पर तभी पैर रखूँगा जब वह अंग्रेजी परतंत्रता से पूर्ण मुक्त हो जायेगी। यह सरदार की ज्वलंत निष्ठा ही थी कि सरदार भगतसिंह को फाँसी हुई, उनकी पत्नी, बच्चे अपने पति और पिता को देखने के लिए तड़पते रहे पर उन्होंने हर बार यही कहा- "बड़े वरदान, बड़ी तपस्या से मिलते हैं। त्याग और बलिदान देते हुए जिनके चेहरों पर शिकन नहीं आती वे एक दिन जरूर सफलता के द्वार तक पहुँचते हैं। यदि मेरा विश्वास सच है तो उसी दिन अपनी धरती पर पैर रखूँगा जब वह विदेशी शासन से स्वतंत्र हो जायेगी।"

अमेरिका में कुछ काम बनता न दिखाई दिया तो अजीतसिंह बँधकर बैठने वाले न थे, वे ब्राजील के रास्ते फ्रांस और फिर वहाँ से इटली पहुँचकर मुसोलिनी से मिले। वहाँ उन्होंने 'भारतीय स्वतंत्रता समिति' बनायी और उसे 'आजाद हिन्दुस्तान सेना' का कार्य सौंपा, बाद में नेताजी सुभाषचंद्र बोस से मिलने पर उसे आजाद हिन्द फौज में विलय कर दिया।

रोम रेडियो से उन्होंने 'आजाद हिन्द रेडियो' के नाम से वक्तव्य और समाचार प्रसारित कर भारतीय जनता में स्वतंत्रता के लिए क्रान्ति फैलाने और विश्व जनमत को भारतवासियों के पक्ष में लाने का जोरदार कार्य किया। इस कार्य की प्रशंसा स्वयं गांधी जी ने भी की थी। परन्तु दुर्भाग्य पीछा छोड़ने वाला न था। इटली परास्त हुआ और उन्हें उत्तरी इटली भागने के लिए विवश होना पड़ा। २ मई, १९४५ को वे उत्तरी इटली में मित्र राष्ट्र की सेनाओं द्वारा बन्दी बना लिए गये और उन्हें मर्मान्तक पीड़ा दी गई।

इधर जब भारत में अंतरिम सरकार की स्थापना हुई तो नेहरू जी के प्रयत्नों से उन्हें मुक्त किया गया। ४० वर्ष तक विदेशों में भारतीय स्वतंत्रता की अलख जगाने वाला योगी पुनः मातृभूमि के दर्शन कर सका पर जब वह यहाँ आये तब तक उनकी सारी शक्तियाँ समाप्त हो चुकी थीं। शरीर भी सेवा के योग्य न रहा था।

१५ अगस्त के दिन जब स्वतंत्रता का सूर्य उदय हो रहा था तो देश-प्रेम के परवाने अजीतसिंह ने अपनी इहलीला समाप्त की। वह जिस उद्देश्य के लिए आये थे वह पूरा हो गया था। मरते समय उन्होंने दोनों हाथ जोड़े और कहा- "ऐ रब तैरूँ लाख-लाख धन्यवादां कि तैरूँ साडी साधना नूँ सिद्धि दे दी" (हे परमात्मा! तुझे लाख-लाख धन्यवाद कि तूने मेरी साधना को सिद्धि दे दी)। यह कहकर उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं। सरदार अजीतसिंह चले गये पर उनकी निष्ठा आज भी जीवित है

और यह अनुप्रेरणा प्रदान करती है-महान् उद्देश्यों की पूर्ति मेरे देशवासियो ! ऐसी ही लगन, तत्परता, त्याग और निष्ठा होती है ।

निष्ठावान क्रान्तिकारी-

बटुकेश्वर दत्त

१९२९ का जून मास । दिल्ली के आल इण्डिया मेडीकल इन्स्टीट्यूट के वार्ड में भगतसिंह के साथी बटुकेश्वर दत्त को गम्भीर रूप से बीमार होने के कारण भर्ती कराये गये । शहीदे आजम की वृद्धा माँ अपने दूसरे भगतसिंह को देखने आई । उन्होंने अपने पुत्र का सिर अपनी गोद में उठा लिया और सहलाने लगीं । आँखों से अश्रुकण बह निकले । अब उनका दूसरा बेटा भी मौत के पास जा रहा था और वे बेबस थीं ।

बटुकेश्वर दत्त यद्यपि भगतसिंह के सहोदर भाई नहीं थे परन्तु विद्यादेवी के लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था । सन् १९२९ में हुए बम काण्ड के कर्णधार भगतसिंह और दत्त ये ही दो वीर तो थे । भगतसिंह तो फाँसी पर चढ़कर शहीद हो गये परन्तु बटुकेश्वर दत्त अभी बहुत कुछ करना चाहते थे, इसलिए बच रहे । परन्तु इस क्रान्तिकारी को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बड़े दुर्दिन देखने पड़े ।

उस समय संसद में सार्वजनिक सुरक्षा बिल पर चर्चा चल रही थी । बैठक में मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना आदि नेता उपस्थित थे । बिल पास हो गया- इसकी घोषणा हो रही थी कि दर्शक-दीर्घा से कोई चीज उछली और जोर का धमाका हुआ । हाल धुँए से भर गया । संसद सदस्य इधर-उधर छुप गये कि फिर दूसरा धमाका हुआ । अब भगदड़ मच गई । पुलिस अधिकारी दर्शकदीर्घा की ओर भागे । भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के हाथों में पिस्तौल देखकर वे एक क्षण ठिठक गये परन्तु दूसरे ही क्षण दोनों ने पिस्तौल फेंक दी और आत्मसमर्पण कर दिया ।

भगतसिंह और दत्त ने समर्पण करने की योजना पहले से ही बना ली थी । कुछ लोग इससे सहमत नहीं थे । परन्तु भगतसिंह ने फाँसी पर चढ़ने की कसम खाई थी । वे चाहते थे कि उनका बलिदान हो । देश के लिए किया गया बलिदान कभी व्यर्थ नहीं जाता । ईसा सूली पर चढ़कर भी अमर हो गये । वस्तुतः बलिदान से कोई मरता नहीं बल्कि अमर हो जाता है । परन्तु भगतसिंह के मन में अमर होने का लोभ नहीं था । उनका विचार तो यह था कि यह बलिदान देश के युवकों में एक जोश और उबाल ला देगा वास्तव में हुआ भी यही । भगतसिंह के फाँसी चढ़ जाने के बाद जो जोश पैदा हुआ वह अद्वितीय था ।

समर्पण करते हुए बटुकेश्वर दत्त तथा भगतसिंह ने लाल रंग के कुछ पर्चे भी संसद के सभाकक्ष में फेंके थे । जिन पर लिखा था- “बहरी अंग्रेज सरकार को सुनाने के लिये धमाकों की जरूरत है । हम आज का यह कार्य सर्वथा उचित समझते हैं । एक ओर सरकार सार्वजनिक सुरक्षा बिल तथा औद्योगिक विधेयक प्रस्तुत कर रही है तथा दूसरी ओर मजदूर नेताओं को पकड़ रही है । क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हवा का रुख किधर है । हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी ने बहुत सोच-विचार कर यह कदम उठाया है ताकि इस नाटक का अन्त किया जा सके ।”

अंग्रेजी दासता और शोषण का अन्त अपनी आँखों से देखने के लिए बटुकेश्वर दत्त जीवित रहे । शहीद हो जाने के कारण भगतसिंह तो इतने प्रसिद्ध हो गये कि गाँधीजी भी एक बार फीके पड़ने लगे परन्तु बटुकेश्वर दत्त ने स्वयं को अँधेरे में ही रखना उचित समझा । तत्कालीन परिस्थितियों में यह सर्वथा उचित भी था । उस समय उनकी आयु २९ वर्ष की रही होगी । लेकिन क्रान्तिकारी गतिविधियों में होश सँभालते ही वे भाग लेने लगे थे । कानपुर में शिक्षा प्राप्त करते हुए दत्त योगेश चटर्जी के सम्पर्क में आये । श्री चटर्जी उन दिनों कानपुर में ही सक्रिय थे । संगठन की बैठक में भाग लेना तथा काम करना उन्होंने तभी से आरम्भ कर दिया था । भगतसिंह भी बलवन्तसिंह के नाम से कानपुर आये हुए थे । वहीं पर ये दोनों क्रान्तिकारी घनिष्ठ मित्र बने ।

बम फेंकने में गिरफ्तार होने के बाद दोनों को अलग-अलग जेल में भेजा गया । परन्तु बाद में दोनों ही साधियों को लाहौर लाया गया । जेल में होने वाले अमानवीय व्यवहार तथा पाशविक अत्याचार के विरोध में दत्त की प्रेरणा से सभी क्रान्तिकारियों ने भूख हड़ताल की । अनशन लम्बे समय तक चला । इसी हड़ताल में ६८ दिन तक भूखे रहकर यतीन्द्रनाथ दास तो चल बसे । बटुकेश्वर दत्त की दशा भी खराब होने लगी । श्री दास की मृत्यु हो जाने पर जनता में बड़ा रोष फैला । महात्मा गाँधी ने इसी वर्ष को राजनैतिक जाग्रति का प्रमुख वर्ष कहा । ‘यंग इण्डिया’ में उन्होंने लिखा- “देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में १९२९ का वर्ष बहुत महत्वपूर्ण समझा जायगा, क्योंकि इसी वर्ष के मध्य में जो भी भारी राजनीतिक जाग्रति हुई है वह उसके पूर्व कभी नहीं देखी गई ।”

शहीद भगतसिंह के बलिदान और यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से देश में क्रान्तिकारी वातावरण तैयार हुआ । इसी श्रृंखला में २३ दिसम्बर, १९२९ को वायसराय की स्पेशल ट्रेन को बम से उड़ाने का प्रयास किया गया । यद्यपि यह प्रयास सफल नहीं हो सका फिर भी भारत की आत्मा इन गतिविधियों में बोलने लगी थी ।

इधर लाहौर में सभी क्रान्तिकारियों को एक साथ रखना खतरनाक समझा गया। उस समय भूख हड़ताल भी टूट चुकी थी। बटुकेश्वर दत्त को लाहौर से मद्रास भेज दिया गया, फिर वहाँ से अण्डमान ले जाया गया।

वहाँ भारतीय कैदियों की बहुत बुरी दशा थी। सात सौ कोठरियों में अधिकांश क्रान्तिकारी ही भरे थे। सबने मिलकर वहाँ भी भूख हड़ताल की। बाद में दत्त और उनके साथियों को रिहा कर दिया गया तथा बंगाल, उत्तर-प्रदेश और पंजाब क्षेत्रों में जाने पर पाबन्दी लगा दी गई। लेकिन देशभक्त कभी चुप नहीं बैठ सकता। दत्त ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र पटना बनाया। वहाँ से वे लोगों को प्रेरित करते रहे और गुप्तगुप्त काम करते रहे।

१९४२ में महात्मा गाँधी ने भारत-छोड़ो आन्दोलन चलाया। अहिंसावादियों के साथ-साथ उग्रवादी नेताओं को भी पकड़ा जाने लगा। बटुकेश्वर दत्त भी गिरफ्तार कर लिए गए। सरकार इनसे इतनी आतंकित थी कि आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद सब लोगों को रिहा कर दिया परन्तु दत्त को नहीं छोड़ा। उन्हें पटना में नजरबन्द रखा गया।

१५ अगस्त, १९४७ को क्रान्तिकारियों की चिर साध पूरी हुई। बटुकेश्वर दत्त को लगा कि अभी तो बहुत कुछ किया जाना है। स्वराज्य प्राप्त कर लेने के बाद देश का पुनर्निर्माण अभी बाकी है। एक अर्थ में यह कार्य स्वतंत्रता-प्राप्ति से भी अधिक श्रमसाध्य है। लाल किले पर तिरंगा तो फहराने लगा परन्तु सच्ची खुशी तो भारतीय जनता की खुशहाल स्थिति देखकर ही होनी है। क्रान्तिकारियों ने जिस भारत का सपना देखा था वह अभी तक अधूरा ही है। स्वतंत्रता के २५ वर्ष बाद भी उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका। दत्त की आत्मा तड़पती रही।

वे तिल-तिल कर घुलने लगे। सरकार ने उन्हें पेंशन देनी चाही परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। कर्तव्य का कोई पुरस्कार लेना उसकी महत्ता को नष्ट करना है। यह सोचकर दत्त ने कह दिया—“इन्कलाब अभी पूरा नहीं हुआ। अंग्रेजी शासन से मुक्त होने के बाद देश में समता और एकता का वातावरण बनाना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। मैं साधारण जनता में से हूँ, राष्ट्र की जो सेवा मेरे द्वारा हो सकी उसका पुरस्कार मैं नहीं चाहता।”

१९६९ में वे बीमार हुए। क्रमशः बिहार और भारत सरकार ने उनकी चिकित्सा करवाई परन्तु अन्ततः वे बचाए नहीं जा सके। २० जुलाई, १९७१ को उनका देहान्त हो गया। वे आजीवन मूक रहकर देश के लिए कार्य करते रहे और मरकर अमर हो गये।

जाति अभिमानी—

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी

उस समय तक समस्त भारत में चार व्यक्ति ही सिलिल सर्विस (आई. सी. एस.) की परीक्षा पास करके मैजिस्ट्रेट, कलक्टर आदि उच्च पदों के योग्य माने गये थे। श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी भी उनमें से एक थे। उनको सिलहट (आसाम) में असिस्टेंट डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया। भारतवासियों को तो अपने एक देशवासी के इतना उच्च पद पाने से बड़ी प्रसन्नता हुई, पर जो ऐंग्लो इण्डियन और अंग्रेज भारतवासियों को नीचा समझकर आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे, वे इससे जल-भुन गये। दुर्भाग्य से सिलहट का डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट सदर लैण्ड इसी मनोवृत्ति का व्यक्ति था और उसने आरम्भ से ही सुरेन्द्र बाबू के साथ रूखा व्यवहार करना और बात-बात में गलती निकालना आरंभ कर दिया। इधर ये भी अपनी जातीयता के अभिमानी थे और इस बात के लिये हरगिज तैयार न थे कि भारतवासियों को हीनता की दृष्टि से देखा जाय या उसके साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया जाय। परिणाम यह हुआ कि दो-चार महीने में ही उनकी सदर लैण्ड साहब के साथ ठग गई।

यद्यपि सुरेन्द्र बाबू में योग्यता की कमी न थी और वे अंग्रेज मैजिस्ट्रेट के मुकाबले में अधिक सफलता प्राप्त करके दिखा रहे थे, पर उच्च अधिकारी से वैमनस्य रहने के कारण उनको पग-पग पर कठिनाई सहन करनी पड़ने लगी और अन्त में दो वर्ष के भीतर ही वे उक्त सरकारी नौकरी से हटा दिये गये। इस प्रकार जातीय पक्षपात के शिकार होने वाले ये सर्वप्रथम भारतीय उच्च पदाधिकारी थे, जिसकी चर्चा आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व बहुत दिनों तक देश-विदेशों में सुनाई पड़ती रही थी। श्री ए. ओ. ह्याम जैसे अंग्रेज ने जो स्वयं एक वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी थे, इस घटना पर विचार करके कहा था—“भारतवर्ष की अंग्रेज नौकरशाही सदैव इस बात की चेष्टा में रहती है कि शाही नौकरी का भवन भारतीयों के प्रवेश से दूषित न होने पाये। इसी नीति का शिकार सुरेन्द्र बाबू को होना पड़ा है।”

सुरेन्द्र बाबू का जन्म बंगाल के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता कलकत्ते के एक प्रसिद्ध डॉक्टर थे। उन्होंने सात वर्ष की आयु में ही सुरेन्द्र बाबू को ऐसे स्कूल में दाखिल कराया जिसमें प्रायः सभी बालक ऐंग्लो इण्डियन थे। नाम लिखाते समय इनको अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं आता था, पर स्कूल में सब लड़कों के अंग्रेजी में ही बात करने के कारण उन्हें थोड़े ही समय में उसका अच्छा अभ्यास हो गया। पढ़ने में ये इतने

३.१८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

लगनशील और स्वावलम्बी थे कि स्वयं उद्योग करके अंग्रेजी ही नहीं लैटिन भाषा का भी सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। कॉलेज में पढ़ते समय अंग्रेज प्रोफेसर मि. जान साइमन भी इनकी परिश्रमशीलता को देखकर बड़े प्रसन्न रहते थे। जब इन्होंने बी. ए. की परीक्षा उच्चश्रेणी में पास कर ली तो सबसे पहले ही, जैसा कि वे निश्चय कर चुके थे, आगे पढ़ने के लिये उन्नीस वर्ष की आयु में ही वे इंग्लैण्ड पहुँच गये। वहाँ भी शिक्षा-संस्था वालों ने इनकी आयु अधिक मानकर इन्हें भर्ती करने से इन्कार कर दिया। इस विषय में भी इनको अंग्रेज अधिकारियों से छह महीने तक जोरदार संघर्ष और बहुत अधिक लिखा-पढ़ी करनी पड़ी तब कहीं जाकर परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल सकी।

जब सरकारी नौकरी से पृथक् हो गये तो ये दुबारा इंग्लैण्ड गये ताकि भारतीय अधिकारियों के अन्याय की शिकायत वहाँ के अधिकारियों के समक्ष उपस्थित करें पर जब जातीयता के आधार पर वहाँ भी गोरे लोगों का ही पक्ष लिया गया, तो उन्होंने अपना विचार बिल्कुल बदल दिया और अपने देश में जातीय-भाव की वृद्धि करके शासन पर जनता का नियंत्रण स्थापित किया जाना ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया। इसके लिए वे एक वर्ष तक इंग्लैण्ड में ही ठहरे रहे और योरोप के राजनीतिक साहित्य और इतिहास का गहरा अध्ययन किया। उनको मेजिनी के सिद्धान्त विशेष रूप से पसन्द आये यद्यपि उसकी सशस्त्र क्रान्ति के मत को उन्होंने कभी मान्य नहीं किया। वे वैध आन्दोलन करके राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के पक्ष में थे। अपने भावी कार्यक्रम पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा-

“मैंने पहले ही उस कार्य का कुछ विचार कर लिया था जो जीवन में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह अन्याय मुझे केवल इसलिए सहना पड़ा कि मैं भारतीय था। मैं एक ऐसे समाज का सदस्य था जिसमें कोई संगठन नहीं है, जिसका एक सार्वजनिक मत नहीं है और जिसका अपने देश के शासन में कोई अधिकार व महत्व नहीं है। युवावस्था के जोश में मुझे यही प्रतीत हुआ कि हम लोग इस समय अपने देश में ही दास, लकड़ी काटने वाले या बोझा ढोने वाले कुली बना दिये गये हैं। जो कुछ अन्याय मेरे साथ किया गया वह हमारे समाज व देशवासियों की नितान्त शक्तिहीनता का द्योतक था। मैंने निश्चय किया कि इस अवस्था में देशवासियों की सहायता अवश्य करनी चाहिए। जिस प्रकार मृत्यु का परिणाम अधिक उच्छ्व जीवन होता है, मेरी असफलता का भी वैसा ही परिणाम हुआ।”

भारतवर्ष लौटते ही उन्होंने शिक्षा प्रचार में ध्यान देना आरम्भ किया। उनकी मान्यता थी कि अच्छी शिक्षा ही

देशोन्नति की पहली सीढ़ी है। संयोग से उसी समय महान समाजसेवक पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उनसे अपने ‘मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट’ में शिक्षक का कार्य करने को कहा। यहाँ पर यद्यपि उनको २००) रुपये मासिक ही मिलता था जो असिस्टेन्ट मैजिस्ट्रेट की अपेक्षा आधा ही था, पर सुरेन्द्र बाबू को अधिक खुशी इस बात की थी कि इस कार्य में वे नवयुवकों के सम्पर्क में रहकर उनमें समाज-सेवा तथा देश-भक्ति की भावना उत्पन्न कर सकते थे। सन् १८८२ में उन्होंने स्वयं एक संस्था स्थापित की, जो बाद में रियन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसमें से सन् १९१२ तक उन्होंने हजारों विद्यार्थियों को सुयोग्य नागरिक बनाकर निकाला।

राजनीतिक जीवन का आरम्भ

शासन सुधार की दृष्टि से सुरेन्द्र बाबू ने ‘इण्डियन एसोसिएशन’ की स्थापना की थी। उस समय ब्रिटिश सरकार नहीं चाहती थी कि भारतवासी इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित होकर भारत के शासन कार्य में भाग लेने लगे। उसने एक नियम बनाया कि परीक्षा में सम्मिलित हो सकने की आयु जो पहले २१ वर्ष की थी अब १९ ही रहेगी। यदि यह मान लिया जाता तो किसी भारतवासी का उसमें शामिल हो सकना कठिन था। इसके विरुद्ध ‘इण्डियन एसोसियेशन’ ने जोरदार आन्दोलन उठाया और अपना प्रतिनिधि इंग्लैण्ड भेजकर पार्लियामेंट के सामने इस प्रश्न को उपस्थित कराया। इसके फल से १९ वर्ष वाला नियम रोक दिया गया और सिविल सर्विस वालों को और भी कई सुविधाएँ दी गईं।

इसी प्रकार जब सरकार ने ‘वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट’ बनाकर देशी भाषाओं के अखबारों का दमन करना चाहा तो सुरेन्द्र बाबू ने उसके विरुद्ध बड़ा जोरदार आन्दोलन शुरू किया। भारत के अंग्रेज शासकों ने तो उनको हर तरह से दबाने की चेष्टा की, पर उन्होंने फौरन इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री. मि. ग्लैडस्टन का दरवाजा खटखटाया, जो स्वयं बड़े उदार सिद्धान्तों के व्यक्ति थे। परिणाम यह हुआ कि दो-चार वर्ष बाद ही नये वायसराय लार्ड रिपन के आने पर वह कानून रद्द कर दिया गया।

पत्र सम्पादन

सुरेन्द्रनाथ जहाँ एक बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री तथा उच्छ्वकोटि के वक्ता थे, वहाँ उनकी तीसरी विशेषता सम्पादन कला में दक्षता भी थी। उन्होंने ‘बंगाली’ नाम का प्रसिद्ध दैनिक ४३ वर्ष तक प्रकाशित और सम्पादित किया। उसके सम्बन्ध में भारत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा ने कहा था- ‘सम्पादन की दृष्टि

से सुरेन्द्रनाथ का स्थान बहुत ऊँचा था और उन्होंने सदैव पत्र की महत्ता और उच्चता को कायम रखा। अपने विरोधियों के प्रति भी उन्होंने कभी अन्याययुक्त विचार प्रकट नहीं किए और न कभी प्रान्तीयता के संकीर्ण घेरे में ही अपने पत्र को आबद्ध होने दिया।" एक अन्य आलोचक ने लिखा था-बंगाली के लेखों में सदैव भारतीयता की भावना ही प्रकट होती थी।" सुरेन्द्रनाथ पर बंगाली के एक लेख के कारण सन् १८८३ में हाईकोर्ट की मान-हानि का मुकदमा चलाया गया। एक जज ने किसी मुकदमे में शालिग्राम की मूर्ति को कोर्ट में मँगाया था। इस पर सुरेन्द्र बाबू ने लिखा- "जिस मूर्ति को हम भगवान के रूप में पूजते हैं उसे अदालत में मँगाना बड़ा अनुचित है और ऐसे जज को देश के सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्त करना गलती है।" इस मुकदमे में उनको दो महीने की कैद की सजा दी गई, जिससे उनका नाम चारों तरफ फैल गया। सार्वजनिक मामले में सजा पाने वाले वे सम्भवतः प्रथम सम्पादक थे। इसके १३ वर्ष बाद लोकमान्य तिलक को भी ऐसे ही मामले में सजा हुई थी।

समाज-सुधार के क्षेत्र में

सुरेन्द्रबाबू का मुख्य कार्यक्षेत्र राजनीति ही था, पर समाज सुधार की तरफ भी उन्हें युवावस्था से ही आकर्षण था। पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विधवा विवाह आन्दोलन से वे बहुत प्रभावित हुए थे, यद्यपि उनके पितामह पुरानी विचारधारा के सनातनी होने से इसके विरुद्ध थे पर पिता डॉ. दुर्गाचरण बनर्जी इसके पक्षपाती थे। सुरेन्द्रबाबू ने अपनी 'आत्म कथा' में लिखा है कि अपनी किशोरावस्था में ही मैं चित्तलाने लगता था कि इस महापुरुष का सन्देश कब पूरा होगा और अब अपनी जीवन सन्ध्या में भी मैं उसी प्रकार पुकार रहा हूँ। दूसरा आन्दोलन 'जिसमें उन्होंने भाग लिया' श्री प्यारेचरण सरकार का था। उस समय बंगाल के नवयुवकों की दशा बहुत पतित हो उठी थी और वे अंग्रेजी रहन-सहन की नकल करना ही सबसे बड़ा काम समझते थे। फैशन बदलने को तो लोगों ने बड़ा दोष नहीं माना, पर जब योरोपियनों की देखा-देखी उनमें मद्यपान की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी तब समाज-हितैषी सज्जन वृन्द चौकन्ने हुए सुरेन्द्र बाबू भी नवयुवकों में शुद्ध जीवन का प्रचार करने लगे और फिर एक शिक्षक की हैसियत से आजन्म उसे करते रहे।

काँग्रेस के निर्माण कर्ता-

सुरेन्द्रबाबू को एक दृष्टि से काँग्रेस का संस्थापक कहा जाता है। जैसा कहा जा चुका है कि भारतीय शासन में

सुधार कराने के उद्देश्य से उन्होंने 'इण्डियन एसोसियेशन' की स्थापना की थी और १८८४ में उसको इतनी सफलता प्राप्त हो गई कि उससे प्रेरणा लेकर मि. ह्यम और उमेशचन्द्र बनर्जी आदि ने काँग्रेस की स्थापना की। सुरेन्द्रबाबू आरम्भ से ही इस कार्य में सम्मिलित रहे और बहुत वर्षों तक तो उसके मुख्य संचालक वही बने रहे। उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में १८९४ के पूना में होने वाले काँग्रेस अधिवेशन का समापन अध्यक्ष उनको ही बनाया गया। उसमें उनका भाषण इतना प्रभावशाली और भावनात्मक था कि जिसकी बड़ी सराहना हुई। जब अन्तिम दिन वे अधिवेशन का समापन करने उठे तो लोगों में उत्साह की एक लहर दौड़ गई और वे एक अभूतपूर्व जोश में आकर सुरेन्द्र बाबू की जय-जयकार करने लगे। इस दृश्य को देखकर सुरेन्द्रबाबू का हृदय भी भाव-विह्वल हो उठा और उसी अवसर पर उन्होंने उच्च कण्ठ से घोषणा की -

"अगर मैं इसी क्षण तक जीवित रहूँ और इसके बाद तुरन्त ही मेरी मृत्यु आ पहुँचे तो भी मैं अपने को सबसे अधिक प्रसन्न मनुष्य समझूँगा। मेरी आयु चाहे लम्बी हो या छोटी ही रह जाय तो भी इस समय समस्त भारतवर्ष से एकत्रित इन प्रतिनिधियों के सम्मुख परमात्मा को साक्षी मानकर यह घोषित करता हूँ कि मेरा जीवन उन अभिलाषाओं को पूरा करने में ही व्यतीत होगा जिनको हमारे राष्ट्र ने उद्धोषित किया है।"

यद्यपि अन्तिम दिनों में काँग्रेस में नर्म और गर्म दल का मतभेद खड़ा हो जाने से जनता का भाव परिवर्तन हो गया और अनेक व्यक्ति नर्म दलों वालों को 'सरकार परस्त' कहने लग गये। सुरेन्द्रबाबू नर्म दल के माने हुए नेता थे, इसलिए उनका सम्मान भी पूर्वापेक्षा काफी घट गया, फिर भी वे वैध उपायों से काम लेकर देश की सेवा करते रहने के अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और विभिन्न रूपों में समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रयत्न करते रहे। उनकी निष्काम सेवायें आने वाली पीढ़ी को प्रकाश ही देंगी।

राष्ट्रसेवी-आचार्य गिडवानी जी

आचार्य गिडवानी करौंची में विदेशी वस्त्र की दुकानों के आगे पिकेटिंग कर रहे थे। एक तो उनकी दुर्बल काया और ऊपर से जून माह की भयंकर गर्मी, कड़ी धूप में उन्हें खड़े-खड़े बड़ी देर हो गई थी। उनकी धर्म-पत्नी गंगा बहिन ने आकर उनसे कहा-"अब आप घर जाओ। आपको धूप में खड़े-खड़े बहुत देर हो गई है। वहाँ बच्चों की देखभाल करना। अब मेरी बारी है, मैं पिकेटिंग करूँगी।"

“अच्छी बात है, पर क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम दोनों ही पिकेटिंग करें।” गिडवानी जी ने अपने मन की बात कही। तभी निकट खड़े मित्र बोल पड़े— और बच्चों की देखभाल कौन करेगा?”

‘भारतमाता!’ गिडवानी जी का सहज-सा उत्तर था।

इस प्रकार के व्यक्तित्व को जिसके मन में भारत माँ के प्रति यह निष्ठा थी, ब्रिटिश सरकार भयंकर समझती थी। यही कारण था कि आचार्य गिडवानी को जिनके लिए इस देश में भी और विदेश में भी किसी शिक्षण संस्थान का कुलपति या वैदेशिक राजदूत का पद पा सकना सहज था, देश की स्वतंत्रता के लिए सरकारी जेल में रहकर रूसियाँ बुनने जैसा शारीरिक श्रमसाध्य कार्य करना पड़ा जो उनके व्यक्तित्व को देखते हुए नितान्त तुच्छ था पर सदुद्देश्य के लिए वे यह सब अपना गौरव मानते थे।

आचार्य गिडवानी के सम्बन्ध में हिन्दी के जाने माने साहित्य साधक बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने एक रेखा चित्र में लिखा है—

“मैदान निवासियों के लिए कभी-कभी पर्वत यात्रा करना अति आवश्यक है। जो लोग नीची सतह पर रहते हैं, उन्हें यदाकदा उच्च भूमि पर जाकर प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करना चाहिए। भौतिक जगत की यह बात विचारों के जगत के लिए भी कही जा सकती है। साधारण आदमियों को, जो विचारों की निचली सतह पर रहते हैं, उच्च विचार वाले सज्जनों का सत्संग उतना ही आवश्यक है, जितना कि मैदान निवासियों के लिए पर्वत यात्रा।

जब-जब आचार्य गिडवानी जी से मिलने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, तब-तब उपर्युक्त कथन की सत्यता हमारी समझ में आती रही है। उनके वार्तालाप में वही आनन्द आता है जो शीतल मन्द समीर के सेवन में। उनकी विचारधारा निर्मल-निर्झर के कल-कल निनाद की याद दिलाती है। उनका मस्तिष्क दलबन्दी के कोलाहल से उतना ही ऊँचा उठा रहता है, जितना गिरि-श्रृंग आस-पास की भूमि से। उनका सत्संग एक प्रकार का स्वास्थ्य-लाभ है, जहाँ का सांस्कृतिक वातावरण क्षुद्र विचारों के कीटाणुओं के लिए घातक है। इसीलिए हमारे हृदय में दो आकांक्षाएँ बराबर बनी रहती हैं— “एक तो आपातकाल में कहीं पर्वत यात्रा की जाय और दूसरी गिडवानी जी जैसे सुसंस्कृत व्यक्तित्व का सत्संग।”

उच्च विचार और उच्च व्यवहार के फलों से लदे जिस व्यक्तित्व की सुखद छाया में आपातकाल में दो षड़ी सुस्ताकर क्लान्ति मिटाने और नूतन बल पाने वाली बात श्री चतुर्वेदी जी ने कही है वह अप्रमाणिक नहीं मानी जा सकती। ऐसे व्यक्तित्व के धनी मानव, समाज का सबसे बड़ा धन होते हैं।

ऐसे व्यक्तित्व सम्पन्न गिडवानी जी (असूदमल टेकचन्द्र गिडवानी) का जन्म ११ सितम्बर, १८९० में हैदराबाद

(सिन्ध) में हुआ था। शिक्षा-संस्कृति की दृष्टि से इस नगर का अपना वैशिष्ट्य है। गिडवानी जी तो इसकी तुलना ऑक्सफोर्ड से करते थे। उनके बाबा सिन्धी भाषा के कवि थे और सिन्ध के मीर लोगों के आश्रय में रहते थे। पिता एन. डब्ल्यू. रेल्वे में स्टेशन मास्टर थे। इससे उन्हें बचपन में अपने पिताजी के एक से दूसरे स्टेशन पर स्थानान्तरण के कारण घूमने को खूब मिला। पैंतीस वर्ष रेल्वे की सेवा करने के बाद उनके पिता जी को कुल सत्ताईस रुपया महीना की पेंशन मिली तो उन्हें पहली बार यह बात बुरी तरह खटकती कि वे पराधीन देश के नागरिक हैं। समय आने पर उन्होंने परतंत्रता के इस जुये को उतार फेंकने वाले आन्दोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नवलराय हीराचन्द स्कूल से माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वे कॉलेज में भर्ती हुए। सिन्ध कॉलेज कराँची से उन्होंने एम. ए. किया। विद्यार्थी जीवन में ही वे युवक संगठनों में सम्मिलित होकर देश व समाज के लिए कुछ कर सकने की योग्यता अर्जित करते रहे और एम. ए. करने के बाद कोई अच्छा-सा अधिकारी पद पाने या किसी कॉलेज में प्रोफेसर बनने की बजाय उन्होंने दूसरा ही मार्ग चुना, कष्ट-कण्टकों व खतरों से भरा हुआ मार्ग। वे जीवन का अर्थ ‘एडवेंचर’ से लेते थे गिडवानी जी अच्छे कार्य के लिए बड़े से बड़ा खतरा उठाने में भी हिचकिचाते नहीं थे।

सौभाग्य से उन्हें गंगा बहिन जैसी धर्मपत्नी मिल गई, जो उनके इस सत्साहसी व्यक्तित्व के साथ तालमेल बिठा सकीं या उन्होंने धर्मपत्नी को अपने अनुरूप ढाल लिया था। दोनों ही बातें सम्भव हैं। इतना स्पष्ट है कि परिवार उनके लिए समाज सेवा के मार्ग में बन्धन नहीं बना। गंगा बहिन और गिडवानी जी एक और एक मिलकर ग्यारह होने वाली उक्ति को चरितार्थ कर गये।

एम. ए. करने पर वे आई. सी. एस. परीक्षा पास करने के लिए ऑक्सफोर्ड भी गये। यहाँ उनकी भेंट हसन शहीद सुहरावर्दी से हुई। उनसे परिचय होने के बाद उनके क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव गिडवानी जी पर भी पड़ा और वे आई. सी. एस. न करके ऑक्सफोर्ड में पढ़ने लगे। यहीं उन्होंने इटली को स्वतंत्र कराने के ध्येय पथ पर जीवन समर्पित करने वाले देशभक्त मेजिनी की जीवनी पढ़ी। उसका स्थायी प्रभाव उनके मन पर हुआ। एम. ए. करके स्वदेश लौटने पर वे प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में कुछ समय के लिए प्रोफेसर रहे पर उनके देशभक्तिपूर्ण विचारों ने अधिक दिनों तक उन्हें वहाँ बँधने न दिया। तत्पश्चात् वे थोड़े दिनों बीकानेर महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे पर वहाँ भी देश के लिए कुछ न कर सकने की स्थिति में स्वयं को पाने के कारण उसे भी छोड़ बैठे। कहने का अर्थ यह है कि उन्होंने कई स्थानों पर नौकरी

की, पर जहाँ कहीं भी उनकी निर्धारित राष्ट्रीय और सामाजिक भूमिका के निर्वाह में नौकरी बाधक होने लगी तो वहीं उन्होंने उससे नमस्कार कर लिया।

मेयो कॉलेज अजमेर और रामजस कॉलेज, दिल्ली में क्रमशः प्राध्यापक और प्राचार्य रहते हुए अन्ततः १९२० में उन्होंने इस्तीफा देकर असहयोग आन्दोलन में खुल्लम-खुल्ला भाग लिया। इससे पूर्व भी वे राष्ट्रीय गतिविधियों में बराबर भाग लेते रहे थे।

जब गिडवानी जी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के कारण नाभा जेल की छोटी-सी कोठरी में रखे गये थे तब उनका स्वास्थ्य आश्चर्यजनक रूप से गिरता चला गया। काया दुर्बल तो पहले ही थी काल कोठरी ने उसे और भी क्षीण बना दिया। उनका तीस पौण्ड वजन घट गया था। ऐसी स्थिति में भी उनका और उनकी धर्मपत्नी गंगा बहिन का धैर्य अतुलनीय था।

रामजस कॉलेज में प्राचार्य पद से हटने के बाद उनका कार्यक्षेत्र बना गुजरात विद्यापीठ। गुजरात विद्यापीठ में उन्होंने वर्षों तक सेवाएँ समर्पित कीं। वे एक आदर्श आचार्य थे। वे किसी एक संस्थान के होकर नहीं रहे। जहाँ किसी को उनकी आवश्यकता अनुभव हुई या स्वयं उन्हें ऐसा लगा तो वे वहाँ पहुँच गये। शिक्षा क्षेत्र में उनका योगदान अविस्मरणीय ही माना जायेगा।

महात्मा गांधी ने उन्हें प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन का अध्यक्ष बनाकर भेजा। वे वहाँ पर दो वर्ष तक रहे। आपके सद्प्रयत्नों से प्रेम महाविद्यालय में एक नया जीवन का संचार हो गया। उसकी कार्यकारिणी समिति में कांग्रेस की प्रधानता स्थापित करने का श्रेय आप ही को है।

गिडवानी जी एमर्सन के बड़े भक्त थे। एमर्सन के कितने ही वाक्य उन्हें कण्ठस्थ थे। उनके समकालीन नेताओं में ऐसे लोग बहुत कम थे जो स्वतंत्र ढंग से विचार कर सकते थे। उनका एक बहुत बड़ा गुण यह भी था कि वे अपनी मौलिक विचार-शक्ति को कभी बिसरते नहीं थे।

एक समय की बात है। कहीं पर एक अंग्रेज विद्वान का भाषण था। वे उनका भाषण सुनने गये। वहाँ आपसे भी बोलने के लिए अनुरोध किया गया। वे बोले, बहुत अच्छा बोले। अंग्रेज वक्ता तो उनसे बड़े प्रभावित हुये और पूछने लगे- “आपने बर्ट्रेण्ड रसेल की हाल में छपी शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ी हैं?” गिडवानी जी बोले - “नहीं तो।” उन अंग्रेज महाशय को आश्चर्य हुआ कि जो बात रसेल ने इन पुस्तकों में कही थी वही गिडवानी जी ने अपने भाषण में भी कही।

गिडवानी जी की व्याख्यान शैली उच्चकोटि की थी और स्वर बड़ा कर्णप्रिय था। उनके व्याख्यानों में मानसिक भोजन का काफी मसाला रहता था। उनकी वक्तृत्व-शक्ति अनूठी थी।

गिडवानी जी कष्टों में भी प्रसन्न रहना जानते थे। वृन्दावन में उनका स्वास्थ्य प्रायः अच्छा नहीं रहता था। वहाँ के आस-पास का वातावरण अनुदार विचारों के साथ-साथ मलेरिया के कीटाणुओं से भी भरापूरा था। वे कई बार बीमार पड़े। मित्रों ने आग्रह किया, “आप इस स्थान को छोड़कर चले जाइए।” पर उनका एक ही उत्तर था। “जहाँ परिस्थितियों ने मुझे ला पटका है वहीं मेरा कर्म क्षेत्र है, वह नहीं जहाँ मैं जाना चाहता हूँ।”

वृन्दावन के अनेक कष्टों के बीच में भी उन्होंने अपने लिये आकर्षण खोज लिया था, वह था वृन्दावन का सन्ध्याकालीन दृश्य और सूर्यास्त। वे कहा करते थे, “मेरे सब कष्टों के लिए ये दृश्य मानो पुरस्कार हैं।” जो इस प्रकार की उच्चाशययुक्त कल्पनाओं में रमा रहता हो उसे कष्ट अधिक सालता भी तो कैसे?

गिडवानी जी सिंधी भाषा के अच्छे लेखक थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखकर सिंधी भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाया। साहित्य सेवा, शिक्षा सेवा और समाज सेवा की अविकल मन्दाकिनी उनके जीवन में बहती रहकर मानस को उससे आप्लावित करती रही है।

सन्त समागम और उनकी सेवा की कामना संतों की परिभाषा आकांक्षाओं में गिनी जाती थीं पर उनकी संतों की परिभाषा क्रान्तिकारी थी, आधुनिक थी। उनकी दृष्टि में जो श्रेष्ठ सन्त थे और जिनके साथ वे दो-दो महीने रहना चाहते थे वे थे-ब्रजेन्द्रनाथ शील, साधु टी. एल. वासवानी और सी. एफ. एण्ड्रूज।

ऐसा मधुर और प्रखर व्यक्तित्व था गिडवानी जी का जो प्रेरक भी है और प्रशंसनीय भी।

देशबन्धु चितरंजन दास

अंग्रेजों के शासनकाल में धनोपार्जन की दृष्टि से सबसे बड़ा पेशा वकील-बैरिस्टर का समझा जाता था। उस समय चोटी के वकील एक हजार रुपया प्रतिदिन तक मेहनताना वसूल करते थे। इसका आशय यह है कि वे आजकल के हिसाब से दस-बारह हजार रुपया प्रतिदिन पा जाते थे। ऐसे लोगों में पं. मोतीलाल नेहरू और श्री चितरंजन दास का नाम उस समय सबसे अधिक प्रसिद्ध था। लोग कहते थे कि जिस समय महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल होकर दास बाबू ने बैरिस्टरी को छोड़ा उस समय उनकी मासिक आय पचास हजार तक पहुँच गई थी। उनकी श्रेणी के एक-एक वकील अपनी मृत्यु के पश्चात् एक-एक करोड़ तक की सम्पत्ति उत्तराधिकार में छोड़ गये थे पर दास बाबू ही थे जिन्होंने सबसे अधिक आमदनी करने पर भी अपने पीछे कुछ नहीं छोड़ा, मरते समय अपना मकान भी अस्पताल

बनाने को दे गये, ऐसे आदर्श त्याग के उदाहरण संसार में कम ही मिल सकेंगे ।

यों तो दास बाबू (१८७० से १९२५) को देशसेवा और परोपकार की लगन प्रारम्भ से ही थी । अपने ऊपर कर्ज हो जाने पर भी राष्ट्रीय कार्यों में वे मुक्तहस्त होकर सहायता करते रहते थे । उनकी यह विशेषता जनता को तब विदित हुई जब उन्होंने श्री अरविन्द घोष के मुकदमे की पैरवी का भार ग्रहण किया । अरविन्द घोष को भारतवर्ष के सबसे बड़े षड़यन्त्र-अभियोग 'मानिकतल्ल बम केस' में फाँसा गया था । इसमें बम बनाने का कारखाना स्थापित करने और बम चलाकर दो अंग्रेज स्त्रियों को मार देने के अभियोग में ३६ बंगाली युवकों को पकड़ा गया था और इतना विस्फोटक पदार्थ तलाशी में मिला था, जिससे एक छोटा शहर पूरी तरह उड़ा दिया जाय । सरकार ने इस सबकी जड़ अरविन्द को ही बतलाया और इस बात की पूरी कोशिश की कि उनको प्राण-दण्ड दिया जाय । अरविन्द के पास एक पैसा भी न था जिससे वे मुकदमे की पैरवी करा सकें, क्योंकि वे तो अपना सर्वस्व ही स्वाधीनता देवी की वेदी पर होम चुके थे । ऐसे अवसर पर देशबन्धु चितरंजन दास आगे बढ़े और मुकदमे का पूरा भार अपने ऊपर ले लिया और मुकदमा भी ऐसा भयंकर तथा कठिन जिसमें उनको अपना सब काम छोड़कर प्रतिदिन रात के बारह बजे तक परिश्रम करना पड़ता था । इस प्रकार लगातार महीनों तक हद के दर्जे का उद्योग करने के पश्चात् दास बाबू सरकारी जाल को छिन्न-भिन्न करके अरविन्द घोष का उद्धार कर सके ।

उनके इस महान त्याग पर प्रकाश डालते हुए एक लेखक ने कहा है- "चितरंजन ने अपने मुक्किल को बचाने के लिए बड़ी मेहनत की । उन्होंने इस मुकदमे में अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा दी तथा अपना पक्ष सशक्त करने के लिए तत्सम्बन्धी सभी कानूनों और फैसलों का अध्ययन किया । दस महीने तक चितरंजन ने अरविन्द के मुकदमे में रात-दिन एक कर दिया । उन्होंने इस मुकदमे को न केवल बिना किसी प्रकार की फीस के स्वीकार किया, बल्कि इसके कारण उनको अपनी घोड़ा-गाड़ी बेच देनी पड़ी तथा कर्ज लेकर काम चलाना पड़ा । उनकी आमदनी बिल्कुल बन्द हो गई थी । जबकि खर्चे ज्यों के त्यों बने हुये थे । जिस समय मुकदमा खत्म हुआ उन पर लगभग पचास हजार का ऋण हो चुका था ।"

इस प्रकार एक देश सेवक की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व दौंव पर लगा देने वाले दास बाबू जैसा दूसरा उदाहरण मिल सकना कठिन है । उनका मुकाबला सर्व

शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार से था, जिसने राज विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा दिलाने के लिए पानी की तरह रुपया बहाया था, पर तो भी वह दास बाबू की निस्वार्थ उदारता और कर्तव्य पालन के मुकाबले में सफल मनोरथ न हो सकी । मुकदमे का फैसला करने वाले अंग्रेज जज मि. बीच क्राफ्ट ने स्वयं अपने फैसले में लिखा- "अरविन्द ही वह अभियुक्त थे जिन्हें दण्ड दिलाने के लिए सरकार सबसे अधिक इच्छुक थी अगर वे इसमें न होते तो यह मुकदमा कभी का खत्म हो गया होता ।"

धन के विषय में दास बाबू की यह निस्पृह भावना तथा उचित कार्य के लिए उसे मुक्त हस्त से खर्च करना सदा से उनका स्वभाव रहा था । उनके पिता भी अपनी अत्यधिक उदारता के कारण कुछ अभियुक्तों के जमानतदार बन गये थे । जिसके कारण उन पर तीस चालीस-हजार रुपये की देनदारी आ गई और उनको दिवालिया हो जाना पड़ा । इसके पश्चात् जब दास बाबू २३ वर्ष की आयु में विलायत से बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके आये और उनकी वकालत चलने लगी तो सबसे पहले उन्होंने इस कर्ज को ही चुकाया, यद्यपि दिवालिया कानून के अनुसार उन पर ऋण चुकाने का कोई दायित्व न था । जब बाबू विपिन चन्द्र पाल ने राष्ट्रीय प्रचार कार्य के लिए 'न्यू इण्डिया' पत्र का संचालन भार लिया तब भी देशबन्धु दास ही उनके सबसे बड़े सहायक बनकर सामने आये । इसका वर्णन करते हुए पाल बाबू ने कहा था-

"जब प्रारंभिक मालिकों के लिए 'न्यू इण्डिया' का भार सँभालना कठिन हो गया तो चितरंजन दास उसकी सहायतार्थ आगे बढ़े । कानूनी बन्धन के कारण वे स्वयं तो उसके डाइरेक्टर नहीं बन सकते थे पर अपने मित्रों को आगे लाकर एक 'ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी' की स्थापना कराई जिससे पत्र फिर चलने लग गया । लगभग बीस वर्ष तक इस प्रकार मैं और चितरंजन दास सच्चे सहयोगी के रूप में देश-सेवा करते रहे । मैं काम करता था और वे मेरे-जीवन निर्वाह की व्यवस्था करते थे ।

अपने इस कार्य द्वारा दास बाबू ने उन लोगों का पर्दाफाश कर दिया जो अपने कारोबार, नौकरी अथवा गृहस्थी के बन्धनों का बहाना बताकर सेवाकार्य में सहयोग नहीं करते ? दास बाबू के ऊपर अपनी वकालत का इतना कार्य भार और अभियुक्तों का उत्तरदायित्व रहता था कि वे न तो देश के कार्यों के लिए अधिक समय दे सकते थे न अधिक खतरा उठा सकते थे, पर फिर भी वे धन और आवश्यक सलाह-मशविरा द्वारा ऐसे कार्यों में बराबर सहयोग देते रहते थे ।

इस प्रकार दास बाबू आरम्भ से ही परिस्थिति के अनुसार देश के कार्यों में बराबर, जिस प्रकार संभव हो

सका, भाग लेते रहे। १९०५ में जब बंग-भंग के आन्दोलन के फलस्वरूप समस्त देश में राजनैतिक हलचल बहुत बढ़ गई तो सरकार ने एक 'सर्व्युत्तर' निकाला कि स्कूल-कॉलेजों के छात्र राजनैतिक आन्दोलनों में भाग न लें अन्यथा वे दण्डित किए जायेंगे। इस आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण अनेक छात्रों पर जुर्माना किया गया और कुछ को बेंत भी लगाये गये। यह देखकर देश के नेता कलकत्ता में एक राष्ट्रीय कॉलेज खोलने का विचार करने लगे, पर इतने बड़े आयोजन के लिए उस समय साधन मिल सकना सहज न था तब दास बाबू अग्रसर हुए और अपने परिचित एक धनी सज्जन से एक लाख रुपया लेकर राष्ट्रीय शिक्षा परिषद (नेशनल काउंसिल ऑफ एजुकेशन) की स्थापना करा दी। फिर जब राष्ट्रीय कॉलेज के प्रिंसिपल पद के लिए किसी उच्चकोटि के विद्वान की आवश्यकता हुई तब भी उन्होंने श्री अरविन्द घोष को जो उस समय बड़ौदा के 'गायकवाड़ कॉलेज' में ७५० रुपये मासिक पर वाइस प्रिंसिपल के पद पर कार्य कर रहे थे, प्रेरणा देकर कलकत्ता बुला लिया। राष्ट्रीय कॉलेज में उनको केवल १५० रुपये दिये जाते थे।

सन् १९१७ में 'होम रूल आन्दोलन' के जोर पकड़ने पर उनको उसमें प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उसी अवसर पर उनको 'बंगाल प्रादेशिक राजनैतिक सम्मेलन' का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उनके नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुये बंगाल के पुराने नेता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने भविष्यवाणी कर दी कि "श्री दास शीघ्र ही भारत के अत्यन्त लोकप्रिय और विश्वासपात्र नेता बनने वाले हैं।"

इस कान्फ्रेंस में दास बाबू ने जो भाषण दिया वह भी इस बात का प्रतीक था कि यद्यपि वे राजनीति में प्रवेश कर रहे हैं, पर उनका लक्ष्य आधुनिक कूटनीति और अपने स्वार्थों की रक्षा करना नहीं बरन् भारत के आध्यात्मिक आदर्शों पर ही चलना है। अपने भाषण में उन्होंने कहा-

"अपने देश में विदेशी राज्यविस्तार होने के साथ-साथ हमने योरोप की कुछ बुराइयों को अपना लिया है और हम अपने प्राचीन आडम्बर रहित जीवन को त्यागकर सुख और विलासिता के जीवन की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। अगर विचार किया जाय तो हमारे सभी राजनैतिक आन्दोलन यथार्थता से दूर हैं क्योंकि इनमें उन लोगों का कोई हाथ नहीं, जो इस देश की असली रीढ़ हैं।" यहाँ उनका आशय सामान्य जनता से था, जिसके नाम पर सब आन्दोलन उठाये जाते हैं पर उनका लाभ प्रायः शक्तिशाली और सम्पन्न वर्ग के लोग ही उठाते हैं। दास बाबू का यह भाषण इतना मार्मिक था कि बंगाल के तत्कालीन गवर्नर लार्ड रोनाल्डो ने अपनी एक पुस्तक 'दी हार्ट आफ आर्यावर्त' में उसकी चर्चा करते हुये लिखा था-

"श्री दास ने जो कुछ कहा, वह वास्तव में एक मिशनरी के उत्साह से कहा गया था। योरोपीय स्वर्ण-पशु (दिखावटी आदर्शों) की उन्होंने धजियाँ उड़ाकर रख दीं और एक ऋषि के समान अपने देशवासियों को सच्ची प्रगति का मार्ग दिखलाया।"

ऐसे ही उद्गार उन्होंने उस समय प्रकट किए जब भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रमुख रूप से कार्य करने के फलस्वरूप श्रीमती एनीबीसेण्ट को ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया। इस कार्यवाही की आलोचना करते हुये दास बाबू ने एक सार्वजनिक सभा में कहा-

"मैं नहीं समझता कि मानवता के देवता का गला केवल एक बार ही घोंटा गया है। अत्याचारियों ने मानवता का गला बार-बार घोंटा है। मानवता पर होने वाला प्रत्येक आघात उसके तन में ठोकी गई एक नई कील के समान है।"

देशबन्धु दास केवल कानून के ही बहुत बड़े जानकार नहीं थे, वे उच्चकोटि के साहित्य प्रेमी और भक्त भी थे। उन्होंने 'सागर संगीत' नामक एक महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ लिखा था, जिसका अनुवाद कुछ वर्ष पश्चात् श्री अरविन्द घोष ने अंग्रेजी में कविता के रूप में ही किया। इसके अतिरिक्त उनके 'अन्तर्यामी', 'किशोर-किशोरी' 'माला' आदि कई-काव्य संग्रह प्रकाशित हुये, जिनको जनता ने बहुत पसन्द किया। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध विद्वान 'जान अलेक्जैण्डर चैपमैन' ने दास बाबू की रचनाओं की बड़ी प्रशंसा की और उनमें से कुछ का अनुवाद भी किया। उन्होंने दास बाबू की एक-एक रचना पर विचार करते हुए लिखा-"देशबन्धु के विचारानुसार संगीत और जीवन दोनों एक हैं। संगीत जीवन है और जीवन संगीत। निस्संदेह संगीत उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, और वह मानव की दिव्यता का प्रमाण है।"

दास बाबू देश की स्वाधीनता के लिए गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में शामिल अवश्य हुए और उसको सफल बनाने में उन्होंने अपना धन और ज्ञान ही नहीं लगा दिया बरन् अपना स्वास्थ्य और प्राण भी अर्पित कर दिये, फिर भी आपकी विचारधारा में स्वतंत्र चिन्तन का अस्तित्व सदैव बना रहा। जब चौरा-चौरी हत्याकाण्ड से क्षुब्ध होकर महात्मा गाँधी ने देश भर में सत्याग्रह को रोक दिया तब देशबन्धु बड़े असन्तुष्ट हुये और उन्होंने कहा-"बारदोली के सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन को रोकने के लिए महात्मा जी के पास जो कुछ भी कारण रहा हो, पर बंगाल में स्वयंसेवकों का काम रोकने के लिए कोई आधार नहीं था। यहाँ स्वयंसेवकों ने अपने प्रयत्नों द्वारा सरकार को लगभग पंगु बना दिया था, पर अब उनके कुछ भी कार्य करने पर प्रतिबन्ध लग गया। यह दूसरी बार महात्मा जी ने परिस्थिति को उलझाया है।"

फिर जब उनको महात्मा जी तथा उनके कुछ विशेष अनुयायियों का कौंसिल बायकाट का प्रोग्राम पसन्द न आया तो उन्होंने 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण किया। जब विरोधियों ने उनको 'काँग्रेस का विद्रोही' कहकर बदनाम करने की चेष्टा की तो उन्होंने उत्तर दिया- "क्या मैं विद्रोही हूँ ? यदि मुझे ऐसा जान पड़े कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए काँग्रेस अथवा भारत की किसी भी दूसरी संस्था का विरोध करना आवश्यक है तो मैं अवश्य उसके प्रति विद्रोह करूँगा। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि काँग्रेस से भी अधिक पवित्र एक और चीज है और वह है- भारतीय जनता की स्वतंत्रता।"

पर उनका 'जनता की स्वतंत्रता' वाला उद्देश्य भी एक और आधार पर टिका हुआ था और वह था भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा। उन्होंने गाँधी जी से स्पष्ट कह दिया था कि "मैं राजनीतिक आन्दोलन में इसीलिए शामिल हुआ हूँ क्योंकि उसे धर्म का अंग समझता हूँ।" हम सबको धर्म के इस बुद्धि संभव स्वरूप को समझकर आचरण करना चाहिए।

राष्ट्रभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त

अंग्रेजी शासन काल में और अब स्वाधीन भारत में भी मोटर गाड़ी के नम्बर प्लेट अंग्रेजी में लिखे जाने का नियम है। शायद इसका कारण यह हो कि अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन चुकी है और संसार भर के यात्रियों को उसकी संख्या पढ़ने का थोड़ा बहुत अभ्यास होता ही है। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि मार्गों में पहरा देने वाले पुलिस वालों को अंग्रेजी अंकों की जानकारी कराई जाती है और वे उसके नम्बरों को चलती मोटर में भी देख सकते हैं। कुछ भी हो ये विदेशी अंक बहुत समय से देशभक्तों और मातृभाषा भाक्तों को खटकते रहते थे। वे सोचते थे कि अपने देश में भी जब हम अपनी भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं कर सकते तो अन्य लोग उसे क्यों महत्व देंगे ? ऐसे व्यक्तियों में बनारस के बाबू शिवप्रसाद गुप्त सर्वप्रथम थे जिन्होंने इस विचार को कार्यरूप में परिणित किया। उन्होंने आज से चालीस वर्ष पहले मोटर पर हिन्दी का नम्बर लगाया। इस पर उन पर मुकदमा चलाया गया और अदालत ने दोषी ठहराकर एक रुपया जुर्माना कर दिया पर एक रुपया जुर्माना देने के बजाय आप सैकड़ों रुपया खर्च करके हिन्दी के अधिकार के लिए हाईकोर्ट तक लड़े। इसी प्रकार आप बैंकों के चेक पर भी हिन्दी में हस्ताक्षर करते थे और जो बड़ी-बड़ी बैंक हिन्दी हस्ताक्षरों पर एतराज करती थीं उनसे सम्बन्ध नहीं रखते थे।

हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति के ऐसे अनन्य उपासक बाबू शिवप्रसाद गुप्त (१८८३-१९४८) पूर्वी उत्तर

प्रदेश के एक बहुत बड़े जमींदार वंश में जन्मे थे। उनके मुकाबले का रईस उस समय बनारस और दूर-दूर तक नहीं था और इसके लिए उनके चाचा मोतीचन्द को सरकार ने 'राजा' और 'सर' (नाइट) के दोनों खिताब दिये थे, पर उनके भतीजे शिवप्रसाद अपने चाचा से उलटे मार्ग पर चले और इसके फलस्वरूप उनको तीन बार जेल की और जुर्माने की सजाएँ भोगनी पड़ीं। पर आज बहुत समय बीत जाने पर जब राजा मोतीचन्द का नाम शायद बनारस के कुछ लोग ही जानते होंगे शिवप्रसाद जी का यश पूर्ववत् स्थिर है और रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि बाबू शिवप्रसाद बहुत बड़े धनी थे, पर उनका नाम धन की अधिकता के कारण प्रसिद्ध नहीं था। उस समय भी कलकत्ता और बम्बई में तथा अन्य नगरों में भी अनेक व्यवसाई और राजा तथा ताल्लुकेदार उनसे बहुत अधिक धनवान थे, पर भारतीय जनता न तब उनका नाम जानती थी और न आज कोई उनकी याद करता है पर बाबू शिवप्रसाद ने अपना अधिकांश धन देश-सेवा, समाजसेवा और मातृभाषा सेवा के लिए खर्च कर दिया, अनेक व्यक्तियों को तरह-तरह से सहायता देकर देश-सेवा के मार्ग पर आगे बढ़ाया। इन्हीं सब प्रशंसनीय कार्यों और गुणों के लिये आज भी उनको याद किया जाता है यद्यपि भारतवर्ष में इस बीच में हजारों बड़े-बड़े धनी होकर गुजर चुके हैं पर उनमें अभी तक हमको कुछ ही ऐसे दिखलाई पड़े हैं, जिनकी तुलना बाबू शिवप्रसाद से की जा सकती है।

राजनीति में प्रवेश

वे विद्यार्थी अवस्था से ही राजनैतिक आन्दोलन की तरफ आकर्षित हो गये थे और १९१२-१३ में ही जब उनकी आयु मुश्किल से तीस वर्ष की होगी, राजनीतिक कार्यकर्ताओं को सहायता देने लगे थे। उन्हीं दिनों उन्होंने सुप्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ 'भारत में अंग्रेजी राज्य' के लेखक पं. सुन्दरलाल जी को 'जापान की राष्ट्रीय प्रगति का इतिहास' लिखने के लिए काफी आर्थिक सहायता दी तथा बड़े-बड़े प्रामाणिक और महत्वपूर्ण अंग्रेजी के ग्रन्थ मँगाकर उन्हें दिये। वह इतिहास बड़े परिश्रमपूर्वक लिखा गया था, पर लेखक और प्रकाशक में किसी साहित्यिक विषयक सिद्धान्त पर मतभेद हो जाने से सदा के लिए खटाई में पड़ा गया।

वैसे वे इससे बहुत पहले से ही राजनीति में भाग लेने लग गये थे। १९०४ में उन्होंने बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन में भाग लिया था, अगले वर्ष (१९०५) उसका अधिवेशन बनारस में ही हुआ और गुप्त जी ने उसमें स्वयंसेवक बनकर कार्य किया। जब देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय,

बाबू विपिन चन्द (लाल-बाल-पाल) की जय-जयकार होने लगी तो गुप्त जी भी उसी पार्टी में सम्मिलित हो गये। यह कुछ आश्चर्य की ही बात थी, क्योंकि धनवान लोगों के देशभक्त और समाज-सुधारक हो जाने पर भी उनको अपने धन का भय बना ही रहता है। पर शिवप्रसाद जी इसके अपवाद थे। वे इस मामले में बड़े-बड़े नेताओं से भी दो कदम आगे थे। १९२८ में जब कलकत्ता काँग्रेस के अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता और औपनिवेशिक स्वराज का मतभेद उपस्थित हुआ तो महात्मा जी औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार कर लेने के पक्ष में थे, पर शिवप्रसाद जी अन्य स्वतंत्रतावादियों के साथ इसके विरुद्ध थे। गाँधी जी के कट्टर अनुयायी होते हुये भी वे इस मामले पर उनसे झगड़ पड़े।

वे भारतीय स्वतंत्रता के कितने जबरदस्त पक्षपाती थे यह उनके मनोभावों से कभी-कभी प्रकट हो जाता था। एक बार जब वे दिल्ली में सेठ गोविन्ददास जी के साथ पार्लियामेंट भवन और सेक्रेटेरियट के सामने से निकल रहे थे तो कहने लगे-“आप जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त होने पर यदि मेरी चली तो सबसे पहले मैं क्या करूँगा?” फिर कहने लगे-“तोप से इन इमारतों को उड़वा दूँगा, क्योंकि ये हमारी गुलामी के इतिहास की द्योतक रहेंगी।” इसी प्रकार जब गोविन्ददास जी स्वराज्य पार्टी की तरफ से केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिए उम्मीदवार हुए और एक दिन गुप्तजी से उनका सामना हो गया तो वे अपने दोनों हाथों से अपने गालों को थपथपाते हुए कहने लगे-“गोविन्ददास जी ! आप वहाँ जाकर बादशाह और उसके कुटुम्बियों के प्रति वफादारी की शपथ कैसे लेंगे?” वे पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय में यहाँ तक दृढ़ थे कि जब काँग्रेस ने काँग्रेस प्रवेश का प्रस्ताव पास कर दिया, तो गुप्त जी ने काँग्रेस की सदस्यता त्याग दी और उससे सम्बन्धित सब पदों से इस्तीफा दे दिया।

समाज सुधार की लगन

पुराने लोगों में जाति-पाँत के नियमों तथा रूढ़ियों के पालन के सम्बन्ध में जितनी कट्टरता होती थी, वह सर्वविदित है। अब से पचास-साठ वर्ष पहले वह आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक थी, फिर शिवप्रसाद गुप्त का घराना बहुत प्राचीन और वैभवशाली होने के कारण अग्रवाल समाज में बड़ा सम्मानित था। सन् १९१९ में गुप्त जी बीमारी के कारण अपनी बी. ए. की पढ़ाई छोड़कर इलाज कराने दिल्ली गये और वहाँ से चिकित्सक की सलाह से जलवायु बदलने मंसूरी चले गये। वे मंसूरी में ही थे कि उनके एक मित्र लक्ष्मीचन्द जी अग्रवाल शिक्षा प्राप्त करके विदेश से लौटकर काशी आये। ‘काशी

अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब’ के अठारह युवकों ने एक प्रीतिभोज में उनके साथ खाना खा लिया। जब इस बात की खबर बिरादरी वालों को लगी तो वे बहुत बिगड़े और उन युवकों के खिलाफ एक जोरदार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इसका पता चलने पर गुप्त जी मंसूरी से बनारस लौट आये और स्वयं भी उन युवकों के साथ खाने-पीने लगे। अंत में उन सबको जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, पर गुप्त जी ने इस बात की कभी परवाह नहीं की और बराबर विदेश यात्रा का समर्थन करते रहे।

इतना ही नहीं वे स्वयं दो बार विदेश भ्रमण के लिये गये और कभी कोई प्रायश्चित आदि नहीं किया। वास्तव में वे स्वभावतः स्वतंत्र प्रकृति के थे और जिस कार्य को उचित समझ लेते थे। उसको बिना किसी संकोच और हिचक के करते थे। यह मनोवृत्ति सुधारकों के लिये आवश्यक है। हम सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक किसी भी क्षेत्र में सुधार क्यों न करना चाहें, हमारे भीतर अपने सिद्धान्तों के प्रति किसी भी विरोध अथवा हानि को सहने का साहस होना आवश्यक है। गुप्त जी में अपने सिद्धान्त पर डटे रहने का बहुत बड़ा गुण था और इसके लिए उन्होंने अनेक बार बहुत हानि भी उठाई। काशी में दंगा हो जाने पर जब नगरवासियों पर सामूहिक जुर्माना किया गया तो आपने उसे अन्यायपूर्ण समझकर उसका विरोध किया और स्वयं उसे देने से इन्कार कर दिया। इस पर थोड़े से रुपयों के लिए पुलिस ने उनकी कई हजार की मोटर जब्त करके नीलाम कर दी, पर आपने जुर्माना राजी से अदा न किया।

गुप्तजी की दानशीलता बहुत अधिक थी। यद्यपि अब भी देश में मंदिर, धर्मशाला, धर्मोत्सवों में लाखों रुपया खर्च कर डालने वाले धनियों की कमी नहीं है, पर उनका दान विचारपूर्ण और देश तथा समाज की दृष्टि से हितकारी ही होता था। केवल नाम कमाने या शौक को पूरा करने के लिए उन्होंने कभी दान नहीं किया। इसके विपरीत वे अधिकांश दान इस प्रकार करते कि उसका उनके इष्ट-मित्रों तक को पता नहीं चलता था। एक जानकार व्यक्ति के कथनानुसार काशी विद्यापीठ व उसका पुस्तकालय, श्री भगवानदास स्वाध्यायपीठ, भारत मंदिर, ज्ञान मण्डल, ‘आज’ दैनिक पत्र आदि के संस्थापन और संचालन में ही उन्होंने बीस लाख रुपये के लगभग खर्च किया था। इसके अतिरिक्त लोकसेवा के पचासों कार्यों में वे दस-दस, पाँच-पाँच हजार रुपया देते ही रहते थे। कितने ही गरीब विद्यार्थियों को उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करने में पूरी सहायता दी, कुछ को तो विदेश जाकर पढ़ने का भी खर्च दिया। उनकी उदारता इस सम्बन्ध में ऐसी थी कि जो लोग उनका विरोध करते थे वे भी उनसे सहायता प्राप्त कर लेते थे। जितने बड़े

दान उन्होंने प्रकट रूप में दिये वे अपने नाम से न देकर अन्य लोगों के नाम से ही दिए ।

गुप्त जी बड़े विद्याव्यसनी थे । यद्यपि वे स्वयं बहुत अधिक अध्ययन नहीं कर सके थे, पर अपने पुस्तकालय में देश-विदेश की सुन्दर और बहुमूल्य पुस्तकें एकत्रित करते रहते थे । इस कार्य में उन्होंने लाखों रुपया खर्च कर दिया और उनका पुस्तकालय ऐसा महत्वपूर्ण बन गया जैसा किसी बड़े विद्यालय का हो सकता था । बहुत से विद्वान अध्ययन के लिए इन पुस्तकों को लेकर लाभ उठाते थे । बाद में आपने इस विशाल संग्रह का एक बड़ा भाग काशी विद्यापीठ को दे दिया, जिसमें ३-४ लाख रुपया मूल्य की २६ हजार पुस्तकें थीं ।

गुप्त जी का बनवाया भारत माता का मंदिर भी अपूर्व है, जिसकी तुलना का मन्दिर भारत में एक भी नहीं है । इस मंदिर में मूर्ति के स्थान पर भारतवर्ष का ३० फुट लम्बा और लगभग इतना ही चौड़ा संगमरमर का बना मानचित्र स्थापित किया गया है जिसके दर्शन से देश की एक दिव्य झाँकी मिल जाती है । यह एक ऐसा मंदिर है जिसमें सभी धर्मों और सम्प्रदायों के व्यक्ति एकत्रित होकर राष्ट्र-माता के सम्मुख मस्तक झुका सकते हैं ।

श्री शिवप्रसाद गुप्त का समस्त जीवन इसी प्रकार की लोकोपकारी प्रवृत्तियों में व्यतीत हुआ । वे स्वयं तो यथाशक्ति देशसेवा और समाजसेवा करते ही रहते थे, साथ ही अन्य देशसेवकों की सेवा करने में भी उनको बड़ा सुख मिलता था । काशी में बाहर से आने वाले सभी नेता उनके 'सेवा-उपवन' में पहुँच जाते तो गुप्त जी उनको बिना भोजन या जलपान कराये आने नहीं देते थे । प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, सहायता करना उनका स्वभाव हो गया था । इसी से हमको कहना पड़ता है कि देश में धनी तो बहुत हैं, पर शिवप्रसाद जी की तरह अपने धन को सार्थक करने वाले थोड़े ही हैं अगर हमारा धनिक वर्ग उनके चरित्र से उचित प्रेरणा ले सके तो यह देश का बहुत बड़ा सौभाग्य होगा ।

आजन्म देशसेवी—

विजयसिंह 'पथिक'

“पथिक काम करने वाला व्यक्ति है । अन्य सब बातें करते हैं । वह बहादुर सैनिक है ।” महात्मा गाँधी की यह टिप्पणी विजयसिंह पथिक का सच्चा परिचय देने के लिए पर्याप्त है ।

आज तो हम प्रति वर्ष स्वतंत्रता दिवस मनाते हैं । हमें स्वतंत्र हुए कई वर्ष हो चुके हैं किन्तु विजयसिंह

'पथिक' जिस समय जन्मे थे उस समय आजादी का नाम लेना सिरफिरी का काम था । कई लोग अंग्रेजों के प्रभुत्व को समाप्त कर सकना असम्भव मानते थे, कई उनके भय से स्वतंत्रता समर्थक सभाओं में भाग तक नहीं लेते थे कि कहीं किसी सरकारी कर्मचारी की निगाह में आ गये या किसी ने शिकायत कर दी तो जेल जाना पड़ेगा । पीछे से बाल-बच्चों का क्या होगा ? ऐसे समय में जब अन्धकार घनीभूत होकर अपना आधिपत्य जमाए हो, विरले ही प्रकाश की कामना कर उठ खड़े हो पाते हैं । उन्हीं विरलों में एक 'पथिक' भी थे ।

राजस्थान में स्वतन्त्रता की ज्योति जलाने का श्रेय उन्हें कम नहीं जाता । उत्तर-प्रदेश में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपना सारा जीवन राजस्थान के मेवाड़ तथा अजमेर क्षेत्र की जनता को जगाने में खपा दिया । इन सोये हुए लोगों में जाग्रति लाने के लिए उन्होंने कम प्रयास नहीं किए । बिजोलिया-सत्याग्रह के सूत्रधार तथा राजस्थान सेवा संघ के संस्थापक के रूप में उनके राष्ट्रीय व सामाजिक कर्तृत्व की किंवदन्तियाँ आज भी राजस्थान की उस विकट पर्वतीय भूमि के वासियों में साश्चर्य कही-सुनी जाती हैं ।

उनका जन्म उत्तर-प्रदेश के बुलन्दशहर जिले के गुनावली गाँव में हुआ था । उनका असली नाम भूपसिंह था । विजयसिंह नाम बाद में उन्होंने रख लिया था । 'पथिक' उनका उपनाम था जो उनके सतत् कर्मशील होने का परिचायक है । नाम के बदलने के पीछे भी एक कहानी जुड़ी हुई है । १९०७ में जब युवक भूपसिंह की मसँ भीगीं ही थीं, तन-मन पर यौवन की लुनाई चढ़ी ही थी कि उनका सम्पर्क क्रान्तिकारियों से हो गया था । अतः उन्होंने अपनी जवानी देश-सेवा करके ही सार्थक करने की ठान ली ।

किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर बम फेंकने के अपराध में भूपसिंह को भी पकड़ा गया था किन्तु प्रमाणों के अभाव में उन्हें छोड़ दिया गया । तभी से उन्होंने अपना नाम बदल कर विजयसिंह रख लिया ।

इनकी माता 'कैवल' बड़ी साहसी व जीवट वाली महिला थीं । १८५७ की क्रान्ति में उन्होंने बड़ी वीरता के साथ फिरंगियों को नाकों चने चबवाये थे । उन्होंने अपने पुत्र का निर्माण भी उसी तरह किया कि वह अपने जीवन में उनके अधूरे काम को पूरा कर सके । उन्होंने बाल्यावस्था में ही उनके कोमल मन-मस्तिष्क पर साहस, नैतिकता, देश-भक्ति, सूझ-बूझ, समाज-सेवा और कर्मठता आदि सद्गुणों के संस्कार डाले । देश व समाज के लिए बलिदान करने की भावनाएँ जगाने वाली ऐसी माताएँ जहाँ हों वहाँ 'पथिक' जैसे लोकसेवियों का निर्माण होना असम्भव नहीं होता ।

बचपन से उनके मन-मस्तिष्क पर पड़े इन सुसंस्कारों का प्रभाव भी वैसा ही हुआ जैसी उनकी वीर प्रसूता माता ने चाहा था, यों स्कूली शिक्षा उन्हें नहीं के बराबर मिली थी किन्तु उन्होंने निरन्तर सजगता व जिज्ञासा के बल पर संसार में बिखरे ज्ञान रूपी मणि-मुक्ताओं को समेटकर अपने ज्ञान भण्डार को समृद्ध बना लिया था। यही नहीं स्वाध्याय के सहारे उन्होंने राजनीतिशास्त्र में विद्वता भी प्राप्त कर ली थी।

१९१४ में हुए क्रान्तिकारी सम्मेलन में उन्हें राजस्थान के अजमेर तथा नसीराबाद क्षेत्र पर अधिकार करने का दुष्कर काम सौंपा गया। वीर परिवार से सम्बन्धित होने के कारण अस्त्र-शस्त्र संचालन की कला तो उन्हें पैतृक गुण के रूप में मिली ही थी। उन्होंने अजमेर के वन प्रान्तों में जाकर अपना डेरा जमाया तथा उत्साही क्रान्तिकारी युवकों का एक सुदृढ़ संगठन बना लिया। एक बार अजमेर के कमिश्नर की पाँच सौ सिपाहियों की टुकड़ी के साथ वे जमकर लड़े भी। अन्त में कमिश्नर ने उनसे समझौता कर लिया था।

यहीं आकर उनके विचारों में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया। उन्होंने भावना के साथ बुद्धि का समन्वय आरम्भ किया। जब तक जनता को अपने दायित्वों व अधिकारों का भान नहीं हो जाता तब तक इस प्रकार की लड़ाई लड़ने में उन्हें कोई लाभ नजर नहीं आया। जनता जब अपने अधिकारों को पाने के लिए सजग हो जायगी तब अंग्रेजों से लड़ना व देशी राजाओं के वर्चस्व को समाप्त करना सहज हो जाएगा। अतः उन्होंने इसी दिशा में काम करना आरम्भ कर दिया।

उन्होंने देखा कि राजस्थान की गरीब जनता राजाओं और जागीरदारों के पाँवों तले रौंदी जा रही है। राजा ही नहीं छोटे-छोटे जागीरदार भी उन पर मनमाना अत्याचार करते हैं। प्रजा इसे अपना दुर्भाग्य मानकर स्वीकार कर लेती है। प्रतिकार, विरोध का प्रयास ही नहीं करती।

उन्होंने अपने जन-जागरण के कार्य का शंखनाद यहीं से किया। सामन्ती अत्याचारों व शोषण ने आन्दोलन की पूर्व पीठिका तो तैयार कर ही रखी थी। ऐसे ही समय वे बिजोलिया पहुँचे। उन्होंने किसानों को संगठित होकर आन्दोलन करने की सलाह दी तथा आगे रहकर आन्दोलन का नेतृत्व करने का बीड़ा उठाया। उनके ओजस्वी भाषणों से आग बरसती थी। इस अग्नि में किसानों की भीरुता जल जाती, उनमें शोषण व अत्याचार से संघर्ष करने की शक्ति जाग उठती थी।

उनकी प्रेरणा से बिजोलिया में जबरदस्त कृषक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। राजा तथा उसके समर्थक आन्दोलन को कुचलने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद

की नीति अपना रहे थे। विजयसिंह 'पथिक' के तो वे प्राणों के ग्राहक बन गये थे। उनकी कष्ट-कठिनाइयों का कोई ठिकाना नहीं था। प्रतिपक्षी लोग जबरदस्ती मनमाना सरकारी ऋण, लगान व चन्दा उगाहने पर तुले हुए थे। किन्तु उनकी एक न चली। सामन्तवाद को जनमत के समक्ष घुटने टेकने पड़े थे।

बिजोलिया के संघर्ष की सफलता ने किसानों और सामान्यजनों में एक नया आत्मविश्वास जगाया था। यह राजस्थान के संघर्ष का प्रतीक बन गया था। अब जनता को यह विश्वास हो गया था कि सच्ची शक्ति थोड़े से प्रभुता सम्पन्न लोगों के हाथों में नहीं वरन् उनके हाथों में है। इस आन्दोलन की सफलता से प्रभावित होकर गाँधी जी ने उन्हें अपने पास बम्बई बुलाया था।

'पथिक' जी को अपने जैसे कितने ही समाजसेवी देशभक्त उत्पन्न करने का श्रेय भी कम नहीं जाता। उनका विश्वास था कि समाज में एक वर्ग ऐसा होना चाहिए जो देश व समाज के लिए ही अपना सारा जीवन, अपनी सारी शक्ति-सामर्थ्य नियोजित करे। इस बलिदानी परम्परा का निर्वाह उन्होंने स्वयं भी किया तथा अपने साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाले अन्य कितने ही सैनिकों का निर्माण भी किया।

उसी समाज में से जिसके अधिकांश व्यक्ति प्रजा राज्य की जय बोलने में भी भावी अनिष्ट की शंका-कुशंकाओं से ग्रस्त हो हिचकिचाते थे, उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व खोज निकाले जो परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न हो सकें। ऐसे ही जनसेवियों की एक टोली का गठन उन्होंने 'राजस्थान सेवा संघ' के नाम से किया। यह संघ अपने क्रिया कलापों के कारण सारे मेवाड़ तथा अजमेर क्षेत्र में विख्यात हुआ। इस संघ ने समाज को कितने ही निस्पृह कार्यकर्ता दिये।

राजस्थान सेवा संघ का उदय हुआ तो देशी रजवाड़े अपने सामने खड़ी होने वाली इस जन शक्ति से भयभीत हो उठे। अंग्रेज सरकार भी इन गतिविधियों से त्रस्त थी। उन्होंने संघ में फूट डालने के कितने ही प्रयास किए जो वर्षों तक असफल रहे। देश भक्तों की, लोक सेवियों की जमात अपने उद्देश्यों पर आरूढ़ रही किन्तु बाद में कुछ ऐसे तत्व इसमें सक्रिय हो गये कि उन्होंने संघ में फूट उत्पन्न कर दी जो उसके अन्त का कारण बनी।

संघ की समाप्ति पर वे निराश नहीं हुए। उन्होंने एक सैनिक की तरह दृढ़मना पथिक बनकर चलना सीखा था। उन्होंने मजदूरों का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। वे तत्कालीन बी. बी. एण्ड सी. आई. रेल्वे मजदूर यूनियन के सम्मानित अध्यक्ष बनाये गये। इन्हीं दिनों १९२७ में लाहौर काँग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य निर्धारित किया गया,

‘पथिक’ जी पूरी तरह उसी लक्ष्य को पाने के लिए जुट गये। ‘पथिक’ जी द्वारा रचित कविताओं ने उन दिनों राजस्थानी जन समुदाय में प्रबल जाग्रति उत्पन्न करने का कार्य भी किया। साहित्यिक क्षमताओं से किस प्रकार जन मानस को एक महान उद्देश्य के लिए उद्बोधन देकर अभीष्ट प्रयोजन के लिए सन्नद्ध किया जा सकता है उसका यह अनुपम उदाहरण था।

सामान्य कृषक आन्दोलन से आरम्भ होकर उनका यह जन जागरण का यह अभियान देशी राजाओं को भारतीय गणतंत्र में मिलाने के लिए बाध्य करने तक चला। प्रबल शुभारम्भ उस आन्दोलन का परिणाम था जो उन्होंने बिजोलिया में किया था। वे अब सेनानायक बनकर अपने दायित्वों का निर्वाह करने में जुट पड़े थे।

‘पथिक’ जी पूरे सिद्धान्तवादी थे। राजनैतिक स्वतंत्रता को ही वे चरम लक्ष्य मानकर नहीं चले थे वरन् वे तो भारतीय जनमानस में नागरिकता, नैतिकता व राष्ट्रीयता की प्रबल भावनाएँ, निष्ठाएँ जगाना चाहते थे। यही कारण था कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर अधिकांश जननेता राजनीति में उलझकर रह गये पर वे इस पंक से दूर ही रहे। उन्होंने देखा कि उन्हीं के साथ स्वतंत्रता पाने के लिये संघर्ष करने वाले साथी सत्तारूढ़ होकर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं तो वे बड़े खिन्न हुए। उन्हें तो संघर्ष अब भी करना था। उनकी लड़ाई अभी समाप्त नहीं हुई थी। अपनी स्वार्थवृत्तियों व संकीर्णताओं से अभी भी जनमानस को मुक्त करना था। अतः वे परिस्थितियों की चिन्ता किए बिना ही आदर्शों व सामाजिक पुनरुत्थान के लिए संघर्ष करते रहे।

१९५४ में इस महान आत्मा ने अपनी इहलीला समाप्त की। उनकी आत्मा आज भी हमें उनके अधूरे स्वप्नों को पूरे करने के लिए झकझोरती रहती है। हम भले ही अपनी विवेक की आँखों पर स्वार्थ का पर्दा डालकर देख न पाते हों किन्तु हमारी आन्तरिक चेतना उन शब्दों को सुनती है।

पेशावर विद्रोह प्रणेता –

चन्द्रसिंह गढ़वाली

३० अप्रैल, १९३० की बात है। पेशावर के किस्सा-खानी बाजार में एक विशाल जनसभा हो रही थी। चर्खेवाला तिरंगा झण्डा मंच पर लहरा रहा था। हजारों की संख्या में आजादी समर्थक पठान लोग यहाँ एकत्रित थे। सभा में सम्मिलित होने वालों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में स्त्री, पुरुष और बच्चे अपने-अपने मकानों के झरोखों, छज्जों व खिड़कियों से दोनों तरफ की तैयारियों

को देख रहे थे। निकट भविष्य में क्या घटने जा रहा है इसकी उत्सुकता उनके चेहरों से स्पष्ट झलक रही थी।

पेशावर उन दिनों एक प्रसिद्ध सैनिक छावनी था। सरकार ने जनसभा को कुचलने के लिए पूरा प्रबन्ध कर रखा था। रायल गढ़वाल रेजीमेंट के सैनिक समय पड़ने पर लाठियाँ व गोलियाँ बरसाने के लिए तैनात किए हुए थे। किन्तु अंग्रेज सरकार को क्या पता था कि आज के दिन भारतीय सैनिक कुछ दूसरी ही वीरता दिखाएँगे।

भीड़ बढ़ती ही जा रही थी, साथ ही दर्शकों की उत्सुकता और कप्तान रिकेट की आतुरता। कप्तान रिकेट यहाँ तैनात गढ़वाली सैनिक टुकड़ी का कप्तान था। अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के लिए तो उन दिनों सत्याग्रहियों व स्वतंत्रता समर्थक निहत्थी जनता पर दमन चक्र चलाना एक सामान्य बात हो चली थी। कप्तान यह सब देखकर लाल-पीला हो उठा। उसने कड़ककर आदेश दिया- ‘गढ़वाली बटालियन एडवांस! (गढ़वाली पलटन आगे बढ़ो)। उसके इस आदेश का प्रतिउत्तर जन समुदाय ने ‘महात्मा गाँधी की जय’ और ‘अल्ल हो अकबर’ के नारों से दिया।

तभी एक गोरे अर्दली ने कप्तान को एक कागज थमाया जिसमें उच्च अधिकारियों द्वारा गोली चलाने का आदेश दिया गया था। उसे पढ़ते ही दौत पीसते हुए हुए उसने आदेश दिया- “गढ़वाली धी राउण्ड फायर” (गढ़वाली तीन बार गोली चलाओ)। किन्तु उसके इस आदेश की कोई प्रतिक्रिया सैनिकों पर नहीं हुई। एक तेजस्वी गढ़वाली हवलदार अपने स्थान से आगे बढ़ आया और उसके कड़ककर आदेश दिया- “गढ़वाली सीज फायर।” (गढ़वाली गोली मत दागो)। इस आदेश का सुनना था कि सब सैनिकों ने अपनी राइफलें जमीन पर रख दीं।

यह विद्रोह इस बात का प्रतीक था कि व्यक्ति अपने पेट की खातिर नौकरी करते हुए अपने ही निरपराध देशवासियों पर गोली नहीं चला सकता। सैनिक भी पहले भारतीय हैं और फिर अंग्रेज सरकार के वेतन भोगी सैनिक। वे अपने देश के लिए मर मिटने को तैयार हैं। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन का यह भी एक स्वरूप था। इस छोटे से विद्रोह में भावी क्रान्ति की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि छिपी थी। इसी घटना ने सुभाष चन्द्र बोस के मस्तिष्क में आजाद हिन्द सेना की प्रेरणा भरी थी। यही छोटा-सा बीज १९४२ में वृक्ष रूप में परिणित हुआ था और ३००० गढ़वाली सिपाहियों ने आजाद हिन्द सेना में भर्ती होकर विदेशी-सत्ता को उखाड़ फेंकने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया था।

इस विद्रोह के प्रणेता चन्द्रसिंह गढ़वाली थे। ये गढ़वाल के एक कृषक परिवार में उत्पन्न हुए थे। थोड़ा पढ़-लिखकर वे सेना में भर्ती हो गये। प्रथम विश्व युद्ध में वीरता प्रदर्शन के कारण उन्हें कई पदक मिले व उन्हें हवलदार बना दिया गया। आर्यसमाज जैसी समाज सुधारक संस्था के सम्पर्क में आकर उनके हृदय में स्वदेश प्रेम और आस्तिकता की भावनाएँ उत्पन्न हुईं। उसे महात्मा गाँधी की अहिंसा नीति ने और भी गहरा रंग दे दिया। वह अब इस बात को समझने लगे थे कि विदेशी सरकार की सेना में नौकरी करते हुये अपने ही देशवासियों द्वारा चलाए जा रहे स्वतंत्रता आन्दोलन को कुचलना वीरता नहीं देशद्रोह है। उन्होंने अपने इस विचार का प्रचार अपने साथी सैनिकों में भी किया। उसके फलस्वरूप गढ़वाल रायफल्स के ६० सैनिकों व अफसरों ने अपने स्तीफे लिखकर रख लिए थे। उन्हें वे जल्दी ही उच्च अधिकारियों को देने वाले थे।

इसी बीच यह आम सभा होने की बात जानकारी में आई। गढ़वाली राइफल्स के सैनिकों ने उसके पूर्व ही २२ अप्रैल को इस विषय पर विचार-विमर्श किया जिसमें निर्णय लिया गया कि चाहे सिर ही कटाना पड़े निहत्थे स्त्री-पुरुषों व अबोध बालकों पर वे हथियार नहीं उठावेंगे। उसी निश्चय की परिणति उस दिन हुई।

पेशावर काण्ड के इस सैनिक सत्याग्रह के अनन्तर उन सब सैनिकों को बन्दी बना लिया गया और उन पर अभियोग चलाया गया। मुकदमे की पैरवी पेशावर के सांस्कृतिक व बौद्धिक नेता बैरिस्टर मुकुन्दी लाल ने की और उन्हें बचाने का पूरा-पूरा प्रयास किया। उस मुकदमे में हवलदार चन्द्रसिंह गढ़वाली को आजन्म कैद व अन्य सैनिकों को २ से ८ वर्ष तक की जेल की सजा दी गई।

बैरिस्टर मुकुन्दी लाल का कथन है—“श्री चन्द्रसिंह गढ़वाली का हम यथायोग्य सम्मान करते हैं। वह एक महान पुरुष हैं। आजाद हिन्द फौज का बीज बोने वाला वही है। पेशावर काण्ड का नतीजा यह हुआ कि अंग्रेज समझ गये कि भारतीय सेना में यह विचार गढ़वाली सैनिकों ने पहले-पहल पैदा किया। विदेशियों के लिए अपनों के खिलाफ नहीं लड़ना चाहिए।”

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इस घटना का अपना एक अहम् स्थान है। यों स्वतंत्रता दिलाने का श्रेय असहयोग आन्दोलन को मिला। किन्तु क्रान्तिकारियों विशेषकर वीर सुभाषचन्द्र बोस द्वारा किए गये प्रयास यथा आजाद हिन्द सेना के गठन, स्वतंत्र भारत सरकार की स्थापना आदि तथ्यों का भी स्वतंत्रता प्राप्ति में कम हाथ नहीं था। यह विद्रोह भी उसी की एक कड़ी या उसका जनक कहा जाय

तो अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। अब तक अंग्रेज भारतीय सैनिकों पर विश्वास करते आये थे। १८५७ के विद्रोह ने उस विश्वास को तोड़ा था और १९२३ के इस असहयोग ने तो उन्हें यह प्रतीति ही करा दी थी कि अब वे अधिक दिनों तक यहाँ अपने पाँव टिकाए नहीं रख सकते।

इस विद्रोह में गाँधी जी के असहयोग व सुभाष की क्रान्ति दोनों के दर्शन होते हैं उन वीरों का वह साहस निश्चय ही सराहनीय है। उस साहस को हम भूल नहीं सकते। आज स्वतंत्रता पा लेने के इतने वर्ष बाद भी हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव खलता है। अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए देश व अपने देशवासी भाइयों का बहुत बड़ा अहित करते हुए हम शरमाते नहीं। जबकि आज हमारी अपनी सरकार है, हमारे चुने हुए प्रतिनिधि देश का शासन सूत्र सम्हालते हैं फिर भी वह नैतिक सामर्थ्य हमें हासिल करनी बाकी है जो एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों में होनी चाहिए। उसे पाने के संकल्प को पूरा करने में उन सैनिकों का यह साहस, निष्ठा व भावना हमें बल प्रदान करेगी।

स्वातंत्र्य यज्ञ के अमर होता—

पं. रामनाथ

“भारत में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हो गये। बहुत ऊँची चोटियाँ, बहुत ऊँचे मनुष्य। किन्तु आम जनता का स्तर नीचा ही रहा। मुझे योरोप का दर्शन इससे भिन्न लगता है। योरोप में ऊँचे पहाड़ शायद कम ही हैं, लेकिन आम जनता का स्तर ऊँचा है— जो हमारे यहाँ है उससे ऊँचा। तो आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने के लिए भी यह चीज सामने आती है।

मैंने कई बार कहा है कि आगे जो युग है वह युग सेवकत्व का है, नेतृत्व का नहीं। इसलिये कोई एक ऊँचा मनुष्य हो और बाकी सब लोग नीचे हों, उस मनुष्य की जय-जयकार चले और उसके कारण लोगों का थोड़ा उत्थान हो तो वह पर्याप्त नहीं है। इसके आगे यह करना होगा कि सारे समाज का चित्त ऊपर उठाएँ। वह भले उतना न उठे, जितना एक व्यक्ति का उठा था, फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी और मैंने कहा कि चित्त ऊपर उठाने में, एक प्रेरणा से प्रेरित समूह काम करेगा तो आसानी होगी।”

आचार्य विनोबा भावे के उपरोक्त तथ्य निरूपण की सत्यता और उनके दिशा-निर्देश की उपादेयता निर्विवाद रूप से सत्य लगती है। विचारणीय प्रश्न है कि हमारे देश में एक व्यक्ति का चरित्र इतना ऊँचा कैसे हो जाता है जबकि समाज का स्तर नीचा रहता है। इसके पीछे एक

कारण यह है कि किसी भी महान कार्य का श्रेय थोड़े से नेताओं को तो खूब दे देने की हम भारतवासियों की पुरानी आदत है और जो उनके सहयोगी रहे थे, उनको भूल जाने की आदत है। स्वतंत्रता संग्राम की बात को ही लें तो कितने ही ऐसे लोगों के बारे में हमें थोड़ा-सा ज्ञात नहीं है जिन्होंने यथा-शक्ति, यथा सामर्थ्य इस संग्राम में भाग लिया था और सच पूछा जाय तो संग्राम तो सिपाहियों के बल पर ही लड़ा जाता है। लेकिन हमारी नजर सिपाहियों पर नहीं सेनानायक पर जाती है। थोड़े से व्यक्तियों को 'हीरो' बना दिया जाता है और सामान्य व्यक्ति को 'जीरो' मान लिया जाता है। सामान्य जनता कहाँ से प्रेरणा प्राप्त करे- किसे अपना आदर्श चुने। ऐसे व्यक्ति बहुत कम नजर आते हैं। 'युग निर्माण योजना' पत्रिका का एक लक्ष्य ऐसे चरित्रों को प्रकाश में लाना भी रहा है ताकि जन सामान्य का चित्त ऊपर उठाने के लिये वे उत्प्रेरक का कार्य कर सकें।

पं. रामनाथ शर्मा ऐसे ही व्यक्तित्व हैं जो यह बतलाते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक की हैसियत से वे किस दृढ़ता, किस वीरता और साहस के साथ अपने मोर्चे पर डटे रहे। उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के बिल्हौर कस्बे के मुहल्ला अवस्थितान में पं. सद्धन राम के घर की स्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी लंका में विभीषण की। अंग्रेजों के कृपा पात्र जमींदार फौज के सूबेदार, जमींदारों के एजेन्ट और पुलिस के दलालों के बीच यह अकेला ही आजादी परस्त घर था। पं. सद्धन लाल शुक्ल नेत्रहीन थे। उन्हीं के पुत्र रामनाथ और रामलाल ने आजादी के लिए अंग्रेज सरकार के विरुद्ध लड़े गये संग्राम में बढ़-चढ़कर भाग लिया।

पं. रामनाथ अपने मामा की सहायता से थोड़ा-सा पढ़-लिखकर मुरादाबाद में रेल्वे कार्यालय में नौकरी करने लगे थे। एक सामान्य स्थिति के व्यक्ति के लिये इतने से संतुष्ट हो जाना पर्याप्त था। यों परिवार के पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि तथा बाग थे। पर उन दिनों कृषि कोई विशेष लाभदायक व्यवसाय नहीं था। आरम्भ में वे अपने इस जीवन से लगभग सन्तुष्ट ही थे पर एक दिन जब उन्होंने बंकिम बाबू के आनन्द मठ उपन्यास को पढ़ा तो उनका यह संतोष असंतोष में परिवर्तित हो गया। जब भारत माता पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी हुई हो तो हम संतुष्ट कैसे बैठ सकते हैं अतः उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण के लिये कार्य करना आरम्भ कर दिया। अपने मिलने-जुलने वाले लोगों और पास-पड़ोसियों में संगठन, स्वाभिमान और देश-भक्ति की भावनाएँ उभारने के कारण उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

वह सर मुंडाते ही ओले गिरने जैसा दुर्योग था। कोई और होता तो वह अपने जनजागरण के कार्य को यहीं पर

रोक देता पर पं. रामनाथ किसी भी शुभ कार्य को आरम्भ करके मार्ग की बाधाओं से विचलित हो जाने वाले दुलमुल लोगों में से नहीं थे। अतः उन्होंने इस स्थिति में भी श्रेय पथ से विचलित होना ठीक नहीं समझा। नौकरी छूट जाने से परिवार को भयंकर अर्थ-संकट भोगना पड़ा। पिता नेत्र हीन थे, छोटा भाई पढ़ रहा था और वे बेकार हो गये थे इसका अर्थ यह था कि परिवार में कमाऊ एक भी नहीं रहा था। मुहल्ले के अंग्रेजी सरकार परस्त लोगों ने उनका उपहास उड़ाना आरम्भ कर दिया- "चले देश-भक्ति के उपदेश देने अब बच्चू को पता चलेगा।" पर उन्हें क्या पता कि आदर्शों के पथ पर चलने वालों के लिये आपदाओं के शूल भी फूल का सा मजा देते हैं।

घर के रईस तो थे नहीं। परिवार की गाड़ी भी खींचनी थी और देश का काम भी करना था सो उन्होंने कानपुर के जिला बोर्ड द्वारा चलायी जाने वाली प्राथमिक पाठशाला के लिये दस रुपये माहवार वेतन पर अध्यापक बनना स्वीकार कर लिया।

अध्यापक के रूप में उन्हें वेतन तो बहुत कम मिलता था पर कार्यक्षेत्र काफी बड़ा मिल गया था, कार्य करने के लिए। इस बात की उन्हें प्रसन्नता थी। यह उनकी आशावादी दृष्टि ही थी जो विषम परिस्थितियों में भी उपयोगी क्षेत्र ढूँढ़ निकालती थी। वे जहाँ भी जाते ग्रामीण जनता को संगठित करते, व्यायामशालाएँ चलाते और उनमें आने वाले युवकों में देशभक्ति की भावनाएँ उत्पन्न करते। गाँव की चौपाल में बैठकर ग्रामवासियों को देश की बातें बताते और उनमें राष्ट्र-भक्ति उपजाने का प्रयास करते। उनका यह प्रचार कार्य अंग्रेज सरकार परस्त अधिकारियों को फूटी आँखों नहीं सुहाता था। इस कारण उन्हें अधिक समय तक एक स्थान पर टिकने नहीं दिया जाता था। उनका जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण कर दिया जाता था।

वे जब सिंघोली ग्राम में अध्यापक थे तब तो उन्हें अपने स्वाभिमान के कारण नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। उनके स्कूल का निरीक्षण करने आये हुए एक एंग्लो इण्डियन एस. डी. एम. ने उन्हें विद्यार्थियों के सामने ही 'इंडियट' कह दिया। शासक वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण लोगों को तो अपने मातहत काम करने वाले हिन्दुस्तानियों से इसी प्रकार की भाषा में बात करने की आदत पड़ गयी थी पर अपने ही छात्रों के सामने उनके यों गाली सह लेने का प्रभाव उन पर क्या पड़ेगा? यह सोचकर पं. रामनाथ के लिये इस गाली का उत्तर देना आवश्यक हो गया था। उन्होंने कक्षा का दरवाजा बन्द करके एंग्लो इण्डियन एस. डी. एम. की अच्छी तरह धुनाई की ताकि वह किसी भारतीय के साथ बदतमीजी से पेश न आये और छात्रों में भी अन्यायी से प्रतिकार लेने के भावनाएँ उत्पन्न हों और वे स्वराज्य के लिये लड़ सकें।

स्वाभिमान रक्षार्थ उठाये गये इस साहसिक कदम की जो प्रतिक्रिया होनी थी वह होकर रही। उन्हें नौकरी से हटा दिया गया। पं. रामनाथ के सामने यह बात पहले से ही स्पष्ट हो गयी थी कि विदेशी सरकार का विरोध और उसकी नौकरी ये दोनों कार्य एक साथ चल सकने सम्भव नहीं हैं। अतः आजीविका का कोई स्वतन्त्र साधन बना लेना जरूरी है। इसकी तैयारी वे पहले से ही कर रहे थे। उन्होंने अध्यापकी करते हुए वैद्यक सीख ली थी। परिवार के भरण-पोषण और छोटे भाई की पढ़ाई को चलाते रहने के लिए अब वे इसी पर निर्भर रहने लगे। उन दिनों ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सकों की कमी भी थी। इस प्रकार उन्होंने आजीविका के साधन और सेवा को एक साथ जोड़ लिया। उनका यह व्यवसाय आगे चलकर कांग्रेस के लिये स्वयंसेवक व कार्यकर्ताओं का निर्माण करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था।

१९११ में जब ब्रिटिश ताज के उत्तराधिकारी-प्रिंस आफ वेल्स दिल्ली आये तो वे उनके सामने बुनकरों के हाथ की बनी खद्दर की टोपी पहनकर गये। इस पर उन्हें ५१ रुपये जुर्माने के देने पड़े थे। आरम्भ में जो लोग उनके स्वदेश प्रेम को पागलपन की संज्ञा देते थे अब उसमें कुछ तथ्य देखने लगे थे और वे भी उनकी पीछे चलने को तैयार हो गये।

उनके भाई रामलाल भी उन्हीं के पद चिह्नों पर चलने लगे थे। कहना न होगा कि उनके देशप्रेम से कई युवकों ने प्रेरणा ग्रहण की थी। १९२९ तक तो उन्होंने बिल्हौर तहसील में कांग्रेस कमेटी की स्थापना कर ली थी। दस बारह वर्ष तक वे इसके मंत्री रहे। वे उत्तर प्रदेश व अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रतिनिधि चुने जाते रहे थे। उन्होंने अपने क्षेत्र के युवकों का एक दल कांग्रेस के कार्य के लिये तैयार कर लिया था। यह उनके कुशल प्रचारक और संगठनकर्ता व्यक्तित्व का ही कमाल था। कानपुर जिले में उनकी तहसील की कांग्रेस कमेटी ही प्रदेश भर की पहली तहसील कांग्रेस कमेटी थी जिसके पास २००० से भी अधिक कांग्रेस सेवादल के गणवेशधारी स्वयंसेवक थे। अपने परिवार का भरण पोषण, भाई की शिक्षा का प्रबन्ध आदि करते हुए भी उन्होंने देशसेवा का यह अनुकरणीय उदाहरण लोगों के सामने रखा था। एक तहसील में ही दो हजार स्वयंसेवकों का संगठन खड़ा कर लेना कोई सामान्य बात नहीं थी।

उनके इन स्वयंसेवकों का प्रदर्शन कई रैलियों में हुआ था। १९३० में विट्ठल भाई पटेल जब वायसराय की कौंसिल से त्याग पत्र देकर कानपुर आये थे तो उनका स्वागत भी इसी स्वयंसेवक दल ने किया था।

भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये हुए जन जागरण और जन आन्दोलन में पारिवारिक जिम्मेदारियों से लदा-

फदा कोई व्यक्ति कितना काम कर सकता है यह देखना हो तो पं. रामनाथ के कार्यों के द्वारा देखा जा सकता है। उन्होंने कई बार जेलयात्रायें भी की थीं। १९२१ में उन्हें स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिये जेल जाना पड़ा था। १९३० में वे पुनः पकड़े गये और तीन-तीन धाराओं के अन्तर्गत उन्हें छह-छह महीने की तीन सजाएँ कानपुर व गोरखपुर जेल में भोगनी पड़ीं।

कानपुर जिले के ग्रामीण क्षेत्र में उन्होंने जाग्रति पैदा की वह मात्र राजनैतिक न होकर आर्थिक भी थी। वहाँ के कृषकों को संगठित करके उन्होंने लगानबन्दी आन्दोलन चलाया था। सरकारी अधिकारी पहले ही उनके काँग्रेस में कार्य करने के कारण खोड़े हुए थे। अब इस आन्दोलन के कारण कानपुर के जिलाधीश ने उनकी समस्त पैतृक कृषि योग्य भूमि व आम के बाग जब्त कर लिये। इनकी कीमत उस समय २०,००० रुपये के लगभग थी। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में छोटी भूमिका से आरम्भ करके वे सर्वस्व समर्पण की उच्च स्थिति तक पहुँच गये।

अपनी पत्नी श्रीमती श्यामादेवी को भी उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप ढाल लिया था। उन्होंने भी देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी को महसूस किया और हर प्रकार के कष्ट-कठिनाइयों को हँसते-मुस्कराते सहा। उन्हें पुलिस के डण्डों की ऐसी मार भी खानी पड़ी कि वह जब तक जीवित रहें बादलों के आगमन के साथ ही उनकी चोटें हरी हो जातीं -पोर-पोर दर्द कर उठता, उसके साथ ही साकार हो उठती विदेशी सरकार की बर्बरता।

पं. रामनाथ अपने दोनों पुत्रों- देवदत्त शर्मा व कृष्ण दत्त शर्मा को ठीक से पढ़ा-लिखा भी न सके। किन्तु अपने उच्चाशयी पिता के राष्ट्र-समर्पित जीवन से उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला। उनमें वह क्षमता उत्पन्न हुई कि वे बिना सहारे के अपनी मंजिल आप पा सकें।

पं. जवाहरलाल नेहरू तथा रफी अहमद किदवाई जैसे चोटी के नेताओं से पण्डित जी का सीधा सम्पर्क था। वे लोग उन्हें खूब मानते थे और ऐसे सहयोगियों के सहारे ही उनके नाम रोशन हुये थे। सच पूछा जाय तो उन्हें ऐवरेस्ट की तरह ऊँचा उठाने में ऐसे ही लोगों का हाथ रहा था।

१९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह का मौसम आया तो परिवार के तीनों मुख्य सदस्यों पं. रामनाथ उनके भाई रामलाल और पुत्र देवदत्त शर्मा ने भाग लिया। पकड़े तीनों गये, पर सजा युवक देवदत्त को ही हुई। पं. रामनाथ की अवस्था को देखते हुए उन्हें जेल में नहीं रखा गया। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी पूरा का पूरा परिवार कूदा था। जब सनन की पुकार ही 'करो या मरो' की ध्वनि के रूप में गूँज रही थी तो फिर कोई पुत्र कैसे

बैठ सकता था। इस बार उन्होंने यह ध्यान अवश्य रखा कि वे पकड़े नहीं जायें ताकि सत्याग्रह के लिये सत्याग्रहियों की कमी न पड़े। भूमिगत रहकर व नित नये सत्याग्रही गढ़-गढ़ कर सरकार की जेलें भरते रहे थे।

स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपने परिवार के प्रथम होता बने थे पं. रामनाथ। आरम्भ में छोटी-छोटी आहुतियाँ देते-देते आगे चलकर तो उन्होंने अपने सारे परिवार को ही युग धर्म पालन में लगा दिया था। उन्होंने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये जो कुछ किया वह आज भी उतना ही प्रेरक है जितना उस समय था। आज भी सत्याग्रह की आवश्यकता है। अंग्रेज स्वार्थी थे इसलिए बुरे थे। उन्हें हम इसीलिये भगाना चाहते थे। आज वही स्वार्थ, वही संकीर्णता हमारे भीतर आ घुसी है— हमारे जन जीवन में समायी हुई है, आज अनैतिकता के, अंग्रेजियत के विरुद्ध उससे भी बड़ा संग्राम लड़ना है। इस संग्राम के लिये कितने ही पं. रामनाथ चाहिए। जो अपनी समूची सामर्थ्य इस दिशा में लगा दें।

खेत, बाग आदि तो सरकार ने १९३० में ही छीन लिये थे। वृद्धावस्था में सहारा देने वाला पुत्र भी स्वतन्त्रता संग्राम में जूझ रहा था। ऐसी स्थिति में पण्डित जी को बड़ा ही अभावग्रस्त जीवन जीना पड़ा पर उन्हें इस बात की प्रसन्नता रही कि वे केवल अपने लिये ही नहीं जिये। १९५३ में जब उनका देहावसान हुआ तो घर में कफन के लिये भी पैसा न था पर उन्होंने देश के लिये जो कुछ किया था उसकी संतोषपूर्ण आभा उनके चेहरे पर खिल रही थी। उनका अन्तिम संस्कार उसी के अनुरूप हुआ। युग धर्म पालन के लिये ऐसे सिपाहियों की आज भी देश को आवश्यकता है।

स्वतन्त्रता के अमर पुजारी-

श्री रासबिहारी बोस

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के अग्रणी, कर्णधार तथा भारत में क्रान्तिकारी दलों के संगठक और नेता, साथ ही अन्य देशों में भारत की आजादी का नारा देने वाले, भारत माता के सपूत रासबिहारी बोस की उत्कट देशभक्ति का परिचय आज की नई पीढ़ी को बहुत कम होगा। स्व० बोस अपनी निजी पारिवारिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर ब्रिटिश शासन की सतत् घात से बचते हुए जीवनपर्यन्त भारतीय स्वाधीनता के लिये संघर्षरत रहे और अन्तिम दिनों में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को अपना उत्तराधिकार सौंपकर मानो उनकी आत्मा ने यह संतोष पाया कि आजादी का जो दीपक उन्होंने प्रज्वलित किया है उसे नेताजी बुझने न देंगे।

महाविप्लवी रासबिहारी बोस का सारा जीवन त्याग और बलिदान की एक रोमांचकारी कहानी है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में जिन महावीरों का पथ प्रदर्शन और योगदान मिला है, उन नायकों में रासबिहारी का स्थान सर्वोच्च है। सन् १८५७ के बाद स्व. बोस ही पहले क्रान्तिकारी नेता थे जिन्होंने भारतीय सैनिकों को संगठित कर, ब्रिटिश-साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये सशस्त्र क्रान्ति का आयोजन किया था और जिनका क्रान्तिकारी संगठन झेलम से लेकर गंगा के डेल्टा और ब्रह्मा की सीमा तक फैला था। उनमें राणाप्रताप के समान शूरता, शिवाजी के समान रण-कुशलता, चाणक्य के समान कूटनीतिज्ञता और स्वामी विवेकानन्द के समान आत्मबल था।

स्व० रासबिहारी बोस का जन्म १८८६ की २५ मई को बंगाल के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। उनके पिता विनोद बिहारी बोस पटना के एक सरकारी प्रेस में क्लर्क थे और राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित भी। पिता के गुणों की बालक रासबिहारी पर छाप पड़ी और उनमें भी राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न हुई। शिक्षण समाप्त करके, उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकरी करली और फिर वहाँ से वन-शोध-संस्थान, देहरादून चले आये। उनके हृदय में क्रान्तिकारी ज्वाला जल रही थी, अतएव उनका यहाँ के कार्य में मन नहीं लगा।

उन्होंने प्रथम उत्तर-भारत का पंजाब से लेकर बंगाल तक दौरा किया और सभी छोटे-छोटे गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों से एक होकर स्वाधीनता की लड़ाई के लिए आह्वान किया। उनके ही श्रम और प्रयत्नों से क्रान्तिकारियों का केन्द्रीय संगठन बना।

उसी समय अमेरिका में भी भारत की आजादी का अलख जगाने के लिए गदर-पार्टी का गठन हो चुका था, अतएव बोस ने सेना में क्रान्ति-विचारों को जगाने के लिए क्रान्तिकारी साहित्य वितरित करने की योजना बनाई। तदनुसार 'लिबर्टी' नाम से असंख्य पच्चे लाहौर से कलकत्ता तक सेना के साथ-साथ जनता में भी बाँटे गए और सन् १९१२ में राजकीय समारोह के साथ दिल्ली में प्रवेश करते समय भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंज के ऊपर बम प्रहार कर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया था। आपने भारत में सन् १९१५ तक के अल्प समय में क्रान्तिकारी संगठन में जिस योग्यता का परिचय दिया और जिस ढंग से सारी तैयारी की थी, उसकी झलक ऐडीसन कमेटी की रिपोर्ट और माइकेल ओ डायर के लेखों में देखी जा सकती है।

कुछ देश-द्रोहियों की मुखबिरी के कारण १९१२ में सशस्त्र-क्रान्ति के अपने प्रयत्नों में असफलता के बाद रासबिहारी को स्वदेश छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा।

विश्वविद्यालय से 'प्रभाकर' परीक्षा पास करके लाहौर के 'महिला कॉलेज' में प्राध्यापिका बन गयीं ।

वे अपने जीवन का ध्येय पत्नी को समझाने में सफल हुए । दुर्गा भाभी ने समझ लिया कि उनके पतिदेव ने देशप्रेम की प्रबल भावनाओं से प्रेरित होकर जो काम हाथ में लिया है उसमें जेल, फरारी, मृत्यु और फाँसी की क्षण-क्षण सम्भावना है । अतः परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उन्हें ही निभानी हैं । वे उनके काम में बाधक नहीं सहायक बनीं, उसका बहुत कुछ श्रेय भगवती चरण भाई की बुद्धिमत्ता को ही जाता है ।

देश के प्रति उत्सर्ग की जो भावना उनके हृदय में थी उस पर उनके क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्यों के मन में अविश्वास भी उठा । उस अविश्वास को मिटाने के लिए उन्हें कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ा था । किसी ने उन्हें पुलिस का जासूस समझ लिया । इसकी शंका दल के सभी सदस्यों के लिए सिर दर्द बन गयी । भगवती भाई अपने प्रति रखे जाने वाले इस अविश्वास से दुःखी तो हुए पर उन्होंने क्रान्ति के कार्यों से हाथ नहीं खींचा । यहाँ तक कि दल के कुछ सदस्यों ने उन्हें जान से मार देने का निर्णय भी ले लिया था । पर वे अविचलित भाव से अपना काम करते रहे थे । अविश्वास की क्रिया की कोई गलत प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं हुई । अन्त में उनके धैर्य और सच्चाई ने दल वालों का विश्वास जीत लिया ।

उन्होंने तन, मन और धन तीनों देश पर न्योछावर किये थे । उनके दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' के सदस्यों में से वे ही ऐसे थे जो विवाहित थे । आर्थिक दृष्टि से भी वे ही ऐसे थे जो क्रान्तिकारी क्रियाकलापों के लिए आर्थिक सहायता दे सकते थे । उन्होंने इस कार्य के लिए कभी हाथ नहीं खींचा । उनका घर क्रान्तिकारियों के लिये आश्रय स्थल, उनकी पत्नी उनके साथियों के लिए अन्नपूर्णा और उनका बैंक-बैलेंस सदा क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कोष बना रहा था ।

पंजाब के उत्साही नवयुवकों के दल में वे वरिष्ठ थे । उनके सम्बन्ध उन पुराने क्रान्तिकारियों से भी थे जिन्होंने गुप्त रूप से 'हिन्दुस्तान कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था । वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ इस तेजी से हों कि अंग्रेजों के कान खुल जायँ और जनता में भी जागरण की एक लहर उत्पन्न हो जाय । इसके लिए वे अपने पास से काफी धन भी देते थे ।

उनका अपना खर्च बहुत कम था । एक पैसा भी वे फालतू खर्च नहीं करते थे । खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की इस सादगी के कारण ही वे दल को इतनी आर्थिक सहायता दे सके, जबकि वे कोई व्यापार, धन्धा या नौकरी नहीं करते थे । उनके इसी मुक्त हस्त दान को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें खुफिया पुलिस का आदमी समझ लिया था । किन्तु उन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से

दल के सभी सदस्यों के हृदय जीत रखे थे सो यह संदेह अधिक प्रभावी न हो सका ।

१९२८ में साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करते हुए भगवती भाई ने भी लाठियाँ खाई थीं । लाला लाजपत राय की मृत्यु के उपरान्त उनका बदला लेने के लिए साण्डर्स वध के पश्चात् भगतसिंह आदि को सुरक्षित रूप से बाहर निकालने में भी उनका और दुर्गा भाभी का प्रमुख हाथ रहा था । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दल का सूत्र संचालन और योजना बनाने में वे सबसे आगे रहते थे । पर श्रेय लेने में सबसे पीछे रहते थे, यही कारण था, कि वे प्रकाश में बहुत कम आये ।

'मेरठ बद्ध्यन्त्र' से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें वर्षों फरार रहना पड़ा था । फरारी के दिनों में उनके घर की बार-बार तलाशियाँ ली जाती रहीं । महीनों पत्नी बच्चों से दूर रहना पड़ा था और दूर रहते हुए भी पत्नी के माध्यम से दल की प्रत्येक गतिविधियों में पूरा-पूरा सहयोग देना, कम त्याग और बलिदान का काम नहीं था । उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार वालों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें भुक्तभोगी ही जान सकता है ।

ऐसेम्बली में बम फेंकने के कारण भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को बन्दी बनाकर लाहौर की जेल में रखा गया था । वहाँ उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार होता था । उनके बाद भी कई क्रान्तिकारियों को पकड़ा गया था । वे सब भी लाहौर की जेल में ही रखे गये थे । भगतसिंह को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद और भगवतीचरण वोहरा ने मिलकर योजना बनाई थी कि बोस्टल जेल से पुलिस लॉरी में भगतसिंह को सेन्ट्रल जेल लाते समय, लॉरी पर आक्रमण करके उसे छुड़ा लिया जाय । पुलिस की नजरों से बचते हुए उन्होंने भगतसिंह को छुड़ाने की पूरी योजना बना ली थी । इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए बम बनाये गए थे, जिनका परीक्षण करते हुए भगवती चरण वोहरा शहीद हुए थे । बाद में भगतसिंह के मना कर देने पर छुड़ाने की योजना को क्रियान्वित नहीं किया जा सका ।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूमिका किसी अन्य आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण नहीं रही थी । इस आन्दोलन को गति देने वालों में भगवती चरण वोहरा का नाम क्रान्तिकारियों की सूची में शीर्षस्थ स्थान पर आता है । उनके इस बलिदान का मूल्य चुकाना अभी शेष है ।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता को समर्पित—

बारहट परिवार

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । यह बात दूसरी है कि आजादी

विश्वविद्यालय से 'प्रभाकर' परीक्षा पास करके लाहौर के 'महिला कॉलेज' में प्राध्यापिका बन गयीं।

वे अपने जीवन का ध्येय पत्नी को समझाने में सफल हुए। दुर्गा भाभी ने समझ लिया कि उनके पतिदेव ने देशप्रेम की प्रबल भावनाओं से प्रेरित होकर जो काम हाथ में लिया है उसमें जेल, फरारी, मृत्यु और फाँसी की क्षण-क्षण सम्भावना है। अतः परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उन्हें ही निभानी हैं। वे उनके काम में बाधक नहीं सहायक बनीं, उसका बहुत कुछ श्रेय भगवती चरण भाई की बुद्धिमत्ता को ही जाता है।

देश के प्रति उत्सर्ग की जो भावना उनके हृदय में थी उस पर उनके क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्यों के मन में अविश्वास भी उठा। उस अविश्वास को मिटाने के लिए उन्हें कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ा था। किसी ने उन्हें पुलिस का जासूस समझ लिया। इसकी शंका दल के सभी सदस्यों के लिए सिर दर्द बन गयी। भगवती भाई अपने प्रति रखे जाने वाले इस अविश्वास से दुःखी तो हुए पर उन्होंने क्रान्ति के कार्यों से हाथ नहीं खींचा। यहाँ तक कि दल के कुछ सदस्यों ने उन्हें जान से मार देने का निर्णय भी ले लिया था। पर वे अविचलित भाव से अपना काम करते रहे थे। अविश्वास की क्रिया की कोई गलत प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं हुई। अन्त में उनके धैर्य और सच्चाई ने दल वालों का विश्वास जीत लिया।

उन्होंने तन, मन और धन तीनों देश पर न्योछावर किये थे। उनके दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' के सदस्यों में से वे ही ऐसे थे जो विवाहित थे। आर्थिक दृष्टि से भी वे ही ऐसे थे जो क्रान्तिकारी क्रियाकलापों के लिए आर्थिक सहायता दे सकते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए कभी हाथ नहीं खींचा। उनका घर क्रान्तिकारियों के लिये आश्रय स्थल, उनकी पत्नी उनके साथियों के लिए अन्नपूर्णा और उनका बैंक-बैलेंस सदा क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कोष बना रहा था।

पंजाब के उत्साही नवयुवकों के दल में वे वरिष्ठ थे। उनके सम्बन्ध उन पुराने क्रान्तिकारियों से भी थे जिन्होंने गुप्त रूप से 'हिन्दुस्तान कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था। वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ इस तेजी से हों कि अंग्रेजों के कान खुल जायँ और जनता में भी जागरण की एक लहर उत्पन्न हो जाय। इसके लिए वे अपने पास से काफी धन भी देते थे।

उनका अपना खर्च बहुत कम था। एक पैसा भी वे फालतू खर्च नहीं करते थे। खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की इस सादगी के कारण ही वे दल को इतनी आर्थिक सहायता दे सके, जबकि वे कोई व्यापार, धन्धा या नौकरी नहीं करते थे। उनके इसी मुक्त हस्त दान को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें खुफिया पुलिस का आदमी समझ लिया था। किन्तु उन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से

दल के सभी सदस्यों के हृदय जीत रखे थे सो यह संदेह अधिक प्रभावी न हो सका।

१९२८ में साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करते हुए भगवती भाई ने भी लाठियाँ खाई थीं। लाला लाजपत राय की मृत्यु के उपरान्त उनका बदला लेने के लिए साण्डर्स वध के पश्चात् भगतसिंह आदि को सुरक्षित रूप से बाहर निकालने में भी उनका और दुर्गा भाभी का प्रमुख हाथ रहा था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दल का सूत्र संचालन और योजना बनाने में वे सबसे आगे रहते थे। पर श्रेय लेने में सबसे पीछे रहते थे, यही कारण था, कि वे प्रकाश में बहुत कम आये।

'मेरठ बद्ध्यन्त्र' से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें वर्षों फरार रहना पड़ा था। फरारी के दिनों में उनके घर की बार-बार तलाशियाँ ली जाती रहीं। महीनों पत्नी बच्चों से दूर रहना पड़ा था और दूर रहते हुए भी पत्नी के माध्यम से दल की प्रत्येक गतिविधियों में पूरा-पूरा सहयोग देना, कम त्याग और बलिदान का काम नहीं था। उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार वालों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें भुक्तभोगी ही जान सकता है।

ऐसेम्बली में बम फेंकने के कारण भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को बन्दी बनाकर लाहौर की जेल में रखा गया था। वहाँ उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार होता था। उनके बाद भी कई क्रान्तिकारियों को पकड़ा गया था। वे सब भी लाहौर की जेल में ही रखे गये थे। भगतसिंह को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद और भगवतीचरण वोहरा ने मिलकर योजना बनाई थी कि बोस्टल जेल से पुलिस लॉरी में भगतसिंह को सेन्ट्रल जेल लाते समय, लॉरी पर आक्रमण करके उसे छुड़ा लिया जाय। पुलिस की नजरों से बचते हुए उन्होंने भगतसिंह को छुड़ाने की पूरी योजना बना ली थी। इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए बम बनाये गए थे, जिनका परीक्षण करते हुए भगवती चरण वोहरा शहीद हुए थे। बाद में भगतसिंह के मना कर देने पर छुड़ाने की योजना को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूमिका किसी अन्य आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण नहीं रही थी। इस आन्दोलन को गति देने वालों में भगवती चरण वोहरा का नाम क्रान्तिकारियों की सूची में शीर्षस्थ स्थान पर आता है। उनके इस बलिदान का मूल्य चुकाना अभी शेष है।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता को समर्पित—

बारहट परिवार

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह बात दूसरी है कि आजादी

विश्वविद्यालय से 'प्रभाकर' परीक्षा पास करके लाहौर के 'महिला कॉलेज' में प्राध्यापिका बन गयीं।

वे अपने जीवन का ध्येय पत्नी को समझाने में सफल हुए। दुर्गा भाभी ने समझ लिया कि उनके पतिदेव ने देशप्रेम की प्रबल भावनाओं से प्रेरित होकर जो काम हाथ में लिया है उसमें जेल, फरारी, मृत्यु और फाँसी की क्षण-क्षण सम्भावना है। अतः परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उन्हें ही निभानी हैं। वे उनके काम में बाधक नहीं सहायक बनीं, उसका बहुत कुछ श्रेय भगवती चरण भाई की बुद्धिमत्ता को ही जाता है।

देश के प्रति उत्सर्ग की जो भावना उनके हृदय में थी उस पर उनके क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्यों के मन में अविश्वास भी उठा। उस अविश्वास को मिटाने के लिए उन्हें कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ा था। किसी ने उन्हें पुलिस का जासूस समझ लिया। इसकी शंका दल के सभी सदस्यों के लिए सिर दर्द बन गयी। भगवती भाई अपने प्रति रखे जाने वाले इस अविश्वास से दुःखी तो हुए पर उन्होंने क्रान्ति के कार्यों से हाथ नहीं खींचा। यहाँ तक कि दल के कुछ सदस्यों ने उन्हें जान से मार देने का निर्णय भी ले लिया था। पर वे अविचलित भाव से अपना काम करते रहे थे। अविश्वास की क्रिया की कोई गलत प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं हुई। अन्त में उनके धैर्य और सच्चाई ने दल वालों का विश्वास जीत लिया।

उन्होंने तन, मन और धन तीनों देश पर न्योछावर किये थे। उनके दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' के सदस्यों में से वे ही ऐसे थे जो विवाहित थे। आर्थिक दृष्टि से भी वे ही ऐसे थे जो क्रान्तिकारी क्रियाकलापों के लिए आर्थिक सहायता दे सकते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए कभी हाथ नहीं खींचा। उनका घर क्रान्तिकारियों के लिये आश्रय स्थल, उनकी पत्नी उनके साथियों के लिए अन्नपूर्णा और उनका बैंक-बैलेंस सदा क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कोष बना रहा था।

पंजाब के उत्साही नवयुवकों के दल में वे वरिष्ठ थे। उनके सम्बन्ध उन पुराने क्रान्तिकारियों से भी थे जिन्होंने गुप्त रूप से 'हिन्दुस्तान कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था। वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ इस तेजी से हों कि अंग्रेजों के कान खुल जायँ और जनता में भी जागरण की एक लहर उत्पन्न हो जाय। इसके लिए वे अपने पास से काफी धन भी देते थे।

उनका अपना खर्च बहुत कम था। एक पैसा भी वे फालतू खर्च नहीं करते थे। खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की इस सादगी के कारण ही वे दल को इतनी आर्थिक सहायता दे सके, जबकि वे कोई व्यापार, धन्धा या नौकरी नहीं करते थे। उनके इसी मुक्त हस्त दान को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें खुफिया पुलिस का आदमी समझ लिया था। किन्तु उन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से

दल के सभी सदस्यों के हृदय जीत रखे थे सो यह संदेह अधिक प्रभावी न हो सका।

१९२८ में साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करते हुए भगवती भाई ने भी लाठियाँ खाई थीं। लाला लाजपत राय की मृत्यु के उपरान्त उनका बदला लेने के लिए साण्डर्स वध के पश्चात् भगतसिंह आदि को सुरक्षित रूप से बाहर निकालने में भी उनका और दुर्गा भाभी का प्रमुख हाथ रहा था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दल का सूत्र संचालन और योजना बनाने में वे सबसे आगे रहते थे। पर श्रेय लेने में सबसे पीछे रहते थे, यही कारण था, कि वे प्रकाश में बहुत कम आये।

'मेरठ बद्ध्यन्त्र' से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें वर्षों फरार रहना पड़ा था। फरारी के दिनों में उनके घर की बार-बार तलाशियाँ ली जाती रहीं। महीनों पत्नी बच्चों से दूर रहना पड़ा था और दूर रहते हुए भी पत्नी के माध्यम से दल की प्रत्येक गतिविधियों में पूरा-पूरा सहयोग देना, कम त्याग और बलिदान का काम नहीं था। उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार वालों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें भुक्तभोगी ही जान सकता है।

ऐसेम्बली में बम फेंकने के कारण भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को बन्दी बनाकर लाहौर की जेल में रखा गया था। वहाँ उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार होता था। उनके बाद भी कई क्रान्तिकारियों को पकड़ा गया था। वे सब भी लाहौर की जेल में ही रखे गये थे। भगतसिंह को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद और भगवतीचरण वोहरा ने मिलकर योजना बनाई थी कि बोस्टल जेल से पुलिस लॉरी में भगतसिंह को सेन्ट्रल जेल लाते समय, लॉरी पर आक्रमण करके उसे छुड़ा लिया जाय। पुलिस की नजरों से बचते हुए उन्होंने भगतसिंह को छुड़ाने की पूरी योजना बना ली थी। इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए बम बनाये गए थे, जिनका परीक्षण करते हुए भगवती चरण वोहरा शहीद हुए थे। बाद में भगतसिंह के मना कर देने पर छुड़ाने की योजना को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूमिका किसी अन्य आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण नहीं रही थी। इस आन्दोलन को गति देने वालों में भगवती चरण वोहरा का नाम क्रान्तिकारियों की सूची में शीर्षस्थ स्थान पर आता है। उनके इस बलिदान का मूल्य चुकाना अभी शेष है।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता को समर्पित—

बारहट परिवार

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह बात दूसरी है कि आजादी

विश्वविद्यालय से 'प्रभाकर' परीक्षा पास करके लाहौर के 'महिला कॉलेज' में प्राध्यापिका बन गयीं।

वे अपने जीवन का ध्येय पत्नी को समझाने में सफल हुए। दुर्गा भाभी ने समझ लिया कि उनके पतिदेव ने देशप्रेम की प्रबल भावनाओं से प्रेरित होकर जो काम हाथ में लिया है उसमें जेल, फरारी, मृत्यु और फाँसी की क्षण-क्षण सम्भावना है। अतः परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उन्हें ही निभानी हैं। वे उनके काम में बाधक नहीं सहायक बनीं, उसका बहुत कुछ श्रेय भगवती चरण भाई की बुद्धिमत्ता को ही जाता है।

देश के प्रति उत्सर्ग की जो भावना उनके हृदय में थी उस पर उनके क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्यों के मन में अविश्वास भी उठा। उस अविश्वास को मिटाने के लिए उन्हें कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ा था। किसी ने उन्हें पुलिस का जासूस समझ लिया। इसकी शंका दल के सभी सदस्यों के लिए सिर दर्द बन गयी। भगवती भाई अपने प्रति रखे जाने वाले इस अविश्वास से दुःखी तो हुए पर उन्होंने क्रान्ति के कार्यों से हाथ नहीं खींचा। यहाँ तक कि दल के कुछ सदस्यों ने उन्हें जान से मार देने का निर्णय भी ले लिया था। पर वे अविचलित भाव से अपना काम करते रहे थे। अविश्वास की क्रिया की कोई गलत प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं हुई। अन्त में उनके धैर्य और सच्चाई ने दल वालों का विश्वास जीत लिया।

उन्होंने तन, मन और धन तीनों देश पर न्योछावर किये थे। उनके दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' के सदस्यों में से वे ही ऐसे थे जो विवाहित थे। आर्थिक दृष्टि से भी वे ही ऐसे थे जो क्रान्तिकारी क्रियाकलापों के लिए आर्थिक सहायता दे सकते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए कभी हाथ नहीं खींचा। उनका घर क्रान्तिकारियों के लिये आश्रय स्थल, उनकी पत्नी उनके साथियों के लिए अन्नपूर्णा और उनका बैंक-बैलेंस सदा क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कोष बना रहा था।

पंजाब के उत्साही नवयुवकों के दल में वे वरिष्ठ थे। उनके सम्बन्ध उन पुराने क्रान्तिकारियों से भी थे जिन्होंने गुप्त रूप से 'हिन्दुस्तान कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था। वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ इस तेजी से हों कि अंग्रेजों के कान खुल जायँ और जनता में भी जागरण की एक लहर उत्पन्न हो जाय। इसके लिए वे अपने पास से काफी धन भी देते थे।

उनका अपना खर्च बहुत कम था। एक पैसा भी वे फालतू खर्च नहीं करते थे। खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की इस सादगी के कारण ही वे दल को इतनी आर्थिक सहायता दे सके, जबकि वे कोई व्यापार, धन्धा या नौकरी नहीं करते थे। उनके इसी मुक्त हस्त दान को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें खुफिया पुलिस का आदमी समझ लिया था। किन्तु उन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से

दल के सभी सदस्यों के हृदय जीत रखे थे सो यह संदेह अधिक प्रभावी न हो सका।

१९२८ में साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करते हुए भगवती भाई ने भी लाठियाँ खाई थीं। लाला लाजपत राय की मृत्यु के उपरान्त उनका बदला लेने के लिए साण्डर्स वध के पश्चात् भगतसिंह आदि को सुरक्षित रूप से बाहर निकालने में भी उनका और दुर्गा भाभी का प्रमुख हाथ रहा था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दल का सूत्र संचालन और योजना बनाने में वे सबसे आगे रहते थे। पर श्रेय लेने में सबसे पीछे रहते थे, यही कारण था, कि वे प्रकाश में बहुत कम आये।

'मेरठ बद्ध्यन्त्र' से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें वर्षों फरार रहना पड़ा था। फरारी के दिनों में उनके घर की बार-बार तलाशियाँ ली जाती रहीं। महीनों पत्नी बच्चों से दूर रहना पड़ा था और दूर रहते हुए भी पत्नी के माध्यम से दल की प्रत्येक गतिविधियों में पूरा-पूरा सहयोग देना, कम त्याग और बलिदान का काम नहीं था। उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार वालों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें भुक्तभोगी ही जान सकता है।

ऐसेम्बली में बम फेंकने के कारण भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को बन्दी बनाकर लाहौर की जेल में रखा गया था। वहाँ उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार होता था। उनके बाद भी कई क्रान्तिकारियों को पकड़ा गया था। वे सब भी लाहौर की जेल में ही रखे गये थे। भगतसिंह को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद और भगवतीचरण वोहरा ने मिलकर योजना बनाई थी कि बोस्टल जेल से पुलिस लॉरी में भगतसिंह को सेन्ट्रल जेल लाते समय, लॉरी पर आक्रमण करके उसे छुड़ा लिया जाय। पुलिस की नजरों से बचते हुए उन्होंने भगतसिंह को छुड़ाने की पूरी योजना बना ली थी। इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए बम बनाये गए थे, जिनका परीक्षण करते हुए भगवती चरण वोहरा शहीद हुए थे। बाद में भगतसिंह के मना कर देने पर छुड़ाने की योजना को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूमिका किसी अन्य आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण नहीं रही थी। इस आन्दोलन को गति देने वालों में भगवती चरण वोहरा का नाम क्रान्तिकारियों की सूची में शीर्षस्थ स्थान पर आता है। उनके इस बलिदान का मूल्य चुकाना अभी शेष है।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता को समर्पित—

बारहट परिवार

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह बात दूसरी है कि आजादी

लाने का श्रेय उन्हें नहीं मिला पर इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रान्तिकारियों के बलिदान व्यर्थ गये अथवा राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग की निष्ठा उनके असहयोग आन्दोलन के सत्याग्रहियों से कम थी ।

विदेशी शासन या एक तंत्र से मुक्ति पाने का अब तक का जो प्रचलित मार्ग था वह सशस्त्र क्रान्ति का ही मार्ग था । भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए इस प्रचलित मार्ग का अनुसरण करके सैकड़ों युवकों ने अपनी समस्त व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं व सुख-सुविधाओं को त्यागकर देश के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी दी । यह बात दूसरी है कि उनका चिंतन महात्मा गाँधी की तरह मौलिक और भारतीय जीवन दर्शन के साथ समग्र रूप से तादात्म्य स्थापित करके चलने वाला नहीं था और न ही सारी की सारी जनता उन के पथ पर चल सकती थी । यही कारण था कि भारत की आजादी का श्रेय उन्हें नहीं मिल सका । किन्तु उनकी राष्ट्रनिष्ठा और उत्कट देश-भक्ति करोड़ों लोगों के दिलों में वह तूफान उत्पन्न करने में उतनी ही महत्वपूर्ण रही थी जितना कि गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन ।

देखा जाय तो गाँधी जी का अहिंसक आन्दोलन उस समय इतिहास के गर्भ में ही था उसकी सत्यता अभी संदिग्ध ही थी सो पारम्परिक मार्ग पर चलने वाले क्रान्तिकारियों की महत्ता स्वीकारे बिना कोई मार्ग अहिंसावादियों के लिए भी उस समय नहीं हो सकता था । कोई व्यक्ति अपने देश के लिए अपने कितने सुख न्यौछावर कर सकता है यह क्रान्तिकारियों के जीवन में स्पष्ट ही देखा जा सकता है जो अत्यधिक प्रेरक है । ऐसे ही एक विस्मृत क्रान्तिवीर की बात हम बताने जा रहे हैं, जोरावर सिंह बारहट तथा उनके परिवार के बारे में ।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में क्रान्तिकारी भावना अत्यन्त उग्र हो गयी थी । गाँधी जी का नाम तब तक भारत के क्षितिज पर उदित भी नहीं हुआ था । इसी भावना से प्रेरित होकर राजस्थान का एक बारहट परिवार इस क्रान्ति की लहर में बहकर अपना सर्वस्व दौंव पर लगा बैठा ।

भाट, चारण अथवा बारहट मध्यकालीन सामन्त युग की एक विशिष्ट जाति थी जिसका काम काव्य-रचना करना और युद्ध के समय अपनी ओजपूर्ण कविताओं से वीरों का उत्साहवर्द्धन करना था । कवि चन्द्रवरदायी इसी वंश में हुए थे । केसरीसिंह बारहट और उनके अनुज जोरावरसिंह बारहट की रगों में उसी वंश का रक्त बह रहा था । भावनाओं का प्चार भी कुछ कम नहीं था । केसरीसिंह बारहट की उदयपुर व कोटा राज्य में बड़ी प्रतिष्ठा थी तो उनके अनुज जोरावरसिंह को जोधपुर नरेश

बहुत मानते थे । इनको बड़ी-बड़ी जागीरें मिली हुई थीं । शाहपुरा में जोरावरसिंह की हवेली और जागीर थी । जोधपुर महाराजा ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर महारानी के महलों का प्रबन्धक नियुक्त किया था ।

अकबर और औरंगजेब के दौट खट्टे करने और स्वाधीनता के ध्वज को उठाये रखने वाले वीरों के वंशज देशी राजाओं को तो विलासिता ने अकर्मण्य बना दिया था पर उनको वीर बनाने वाले इन वीरों का हृदय अभी वीरत्व की भावनाओं से रिक्त नहीं हुआ था । केसरी सिंह बारहट को जब यह पता चला कि रास बिहारी बोस नामक क्रान्तिकारी भारत में सशस्त्र क्रान्ति की योजना बना कर उसे कार्यरूप में परिणित करने जा रहे हैं तो उन्होंने अपने पुत्र प्रतापसिंह व अनुज जोरावर सिंह व जमाता ईश्वर दास असिया को उनके पास भेजा ।

ये लोग रास बिहारी बोस के दाहिने हाथ मास्टर अमीरचन्द्र से मिले । मास्टर अमीरचन्द्र ने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाकर राजनैतिक व सामाजिक क्रान्ति के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण काम किया था । बाद में उन्हें वायसराय लार्ड हार्डिंज पर बम फेंकने के अपराध में तीन अन्य साथियों के साथ फाँसी पर लटका दिया गया ।

इन तीनों युवकों का परिचय जब रासबिहारी बोस से कराया गया था तो उन्होंने कहा था—“देश भर में ठाकुर केसरी सिंह बारहट ऐसे क्रान्तिकारी देशभक्त हैं, जिन्होंने अपने को ही नहीं अपने भाई, पुत्र व जामाता को भी मातृभूमि की बलिवेदी पर आहुति देने के लिये भेजा है ।”

केसरी सिंह बारहट रास बिहारी बोस के अनन्य सहयोगी थे । उनके पिताजी ने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्याम जी कृष्ण वर्मा को उदयपुर नरेश महाराणा सज्जन सिंह से कहकर मेवाड़ का प्रधानमंत्री नियुक्त कराया था । स्पष्ट था क्रान्ति और देश-प्रेम की भावनाएँ केसरी सिंह व जोरावर सिंह को पैतृक विरासत में मिली थीं ।

जोरावरसिंह व प्रतापसिंह ने २३ दिसम्बर, १९१२ को अंग्रेजी राज्य की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाने व उद्घाटन रूप में बड़ी शान से लाखों रुपया खर्च करके जो वायसराय की सवारी निकाली गयी थी, उस पर बम फेंकने के कार्य में भाग लिया था ।

पुलिस ने क्रान्तिकारियों को पकड़ने में पर्याप्त तेजी वरती पर उस समय कोई पकड़ा न जा सका । जोरावर सिंह व प्रताप सिंह मास्टर अमीरचन्द्र से क्रान्ति सम्बन्धी शिक्षण प्राप्त करके राजस्थान चले गये । वहाँ क्रान्ति की आग सुलगाना उनका काम था । उन्होंने कुछ देश-भक्त ठाकुरों को इसके लिये तैयार भी कर लिया था ।

वायसराय पर बम फेंकने के सिलसिले में उन्हें पुनः दिल्ली बुलाया गया था । विस्फोट के बाद वे कई दिनों

तक दिल्ली में ही छिपे रहे । फिर पैदल ही राजस्थान के लिये रवाना हुए क्योंकि रेलों आदि साधनों पर पुलिस व गुप्तचर विभाग की कड़ी निगरानी थी । यमुना नदी उन्हें तैर कर पार करनी पड़ी । दूसरे किनारे पर पहुँचने पर संदेह में दो पुलिसमैन इनके पीछे पड़ गये । यहाँ जोरावर सिंह को अपने हाथ बताने पड़े । अपनी तलवार से उन दोनों को यमलोक पहुँचा दिया ।

हार्डिगज बम-काण्ड को सरकार ने बड़ी गम्भीरता-पूर्वक लिया । धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुईं । रासबिहारी बोस व जोरावरसिंह बारहट को छोड़कर शेष सभी क्रान्तिकारी गिरफ्तार कर लिये गये । रासबिहारी जापान चले गये । वहीं उन्होंने 'आजाद हिन्द सेना' का गठन किया । प्रताप सिंह बारहट को अंग्रेजी सरकार ने बरेली जेल में इतनी अमानुषिक यंत्रणाएँ दीं कि उनका प्राणान्त हो गया । केसरी सिंह बारहट को आरा षडयन्त्र केस में बीस वर्ष की सजा दी गयी । प्रताप सिंह को अनेकानेक प्रलोभन दिये गये कि वह षडयन्त्र का सारा भेद बता दे तो उसके पिता को जेल से मुक्त कर दिया जायगा, उनकी जागीर भी लौटा दी जायगी तथा चाचा पर से वारन्ट हटा दिया जायेगा, पर वीर प्रतापसिंह ने मरना स्वीकार कर लिया, राष्ट्र के साथ गद्दारी नहीं ।

जोरावरसिंह और उनके भाई की जागीर जब्त कर ली गयी थी । उन्होंने अपने जीवन का ध्येय घर-घर जाकर क्रान्ति का अलख जगाना तथा अंग्रेज सरकार की आँखों में धूल झाँकते रहना बना लिया । वे जब तक जीवित रहे सरकार उन्हें पकड़ नहीं सकी ।

एक बार उदयपुर के रेजिडेंट ने इन्हें पकड़ भी लिया पर उनके व्यवहार से उसके संदेह की तनिक-सी पुष्टि नहीं हुई । रेजिडेंट ने देशी रियासतों के कई जिम्मेदार भारतीय अफसरों से उनकी शिनाख्त करवायी । वे लोग इस देश-भक्त से इतने प्रभावित थे कि वे भी सही बात नहीं कह सके । उन्हें छोड़ दिया गया ।

जोरावरसिंह बारहट के मित्रों का कहना है कि वायसराय पर बम उन्हीं ने फेंका था । क्रान्तिकारियों के कार्य इतने गुप्त होते थे कि इस सत्य का पता नहीं चल सका । सरकार ने बसन्त विस्वास को बम फेंकने का अपराधी माना है । सम्भवतः उसने जोरावर सिंह को बचाने के लिए ऐसा कहा हो । कुछ भी हो जो त्याग और बलिदान उन्होंने देश के लिये किया था वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

जोरावर सिंह ने संन्यासी के रूप में अपना फरारी जीवन ही नहीं काटा वरन् एक सच्चे संन्यासी की तरह उन्होंने गाँव-गाँव जाकर धर्म का प्रचार किया तथा लोगों में देश-भक्ति की भावनाएँ उत्पन्न कीं । फरारी का जीवन कितना कष्टपूर्ण और अनिश्चितता का जीवन होता है । यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है । यह जीवन जोरावर सिंह ने स्वेच्छा से वरण किया था । अपने सुख सुविधायुक्त जीवन को देश की स्वतन्त्रता के लिये तिनके

की तरह त्यागने वाला उनका यह व्यक्तित्व हमारे युवकों के लिये आज भी प्रेरणा का स्रोत बन सकता है । बारहट परिवार का भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है उसने उनके नाम को अमर कर दिया है ।

क्रान्तिवीर रामचरण लाल

सन् १९०८ । जिला कारावास एटा के भेंट कक्ष में एक चालीस वर्षीय महिला सजल नयनों से अपने कलेजे के टुकड़े की आशा लिए बेंच पर बैठी थी । जेल के दो वार्डर उसके ज्येष्ठ पुत्र को उस तक छोड़ गये । उसने अपने लाल को एक नजर से देखा । माँ की आँखें क्षण भर में ही उसकी देह पर अंकित अमानुषिक यन्त्रणाओं की कहानी को पढ़ गयीं । जिसे जरा-सा ज्वर आने पर वह रात भर उसके सिरहाने बैठकर काट देती थी । वही माँ अपन पुत्र की यह दशा देखकर रो पड़ी । पुलिस की मार से उसके शरीर पर जहाँ-तहाँ नील पड़ गये थे ।

माँ को अपने पुत्र की दुर्दशा पर शोक था और पुत्र को अपनी जननी की इस अधीरता पर रोष । वह पारिवारिक मोह बन्धनों व शारीरिक सुख-दुःखों से बहुत ऊपर उठ चुका था । उसने अपनी माता से कहा- "तुम रो रही हो माँ ! तुम यही सोच लेना कि मैं तुम्हारी कोख से जन्मा ही नहीं । जिनके बेटे होते ही नहीं या भरी जवानी में उठकर चल देते हैं वे भी तो सन्तोष करती हैं फिर तुम्हारा मैं अकेला ही पुत्र तो नहीं हूँ ।"

यह युवक थे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी रामचरण लाल, जिन पर सत्र न्यायाधीश, एटा के न्यायालय में भारतीय दण्ड विधान की धारा १२१ ए, १२० बी व १२४ ए के अन्तर्गत अभियोग चल रहा था । यह अभियोग साप्ताहिक 'स्वराज्य' में प्रकाशित उनकी एक राष्ट्रीय कविता तथा अन्य स्वराज्य समर्थक क्रिया-कलापों के आधार पर चलाया गया था । अब उनके लिए अपनी माता के आँसुओं से अधिक महत्व भारत माता के आँसुओं का था ।

अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के प्रयासों का आरम्भ १८५७ से आरम्भ हुआ तो फिर वह रुका नहीं । चाहे सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास हो या असहयोग आन्दोलन का मार्ग हो, दोनों दो मार्गों से होती हुई अन्याय का प्रतिकार करने, उसे समूल नष्ट कर देने की यह भाव सरिता इन दो गंगा-जमुना के प्रवाहों की तरह अविरल रूप से बहती हुई जनमानस को जगाती झकझोरती रही । जनमानस में अन्याय से जूझने की जो शक्ति उन दिनों दिखाई पड़ी थी आज वह उतने प्रबल रूप में कहीं देखने को नहीं मिलती । यह कम आश्चर्य की बात नहीं ।

स्वातन्त्र्य युद्ध में किस प्रकार व्यक्तिगत लोभ-मोह और पारिवारिक मोह बन्धनों के क्षुद्र-पाशों को तोड़कर भारतवासी अंग्रेजी साम्राज्य से लोहा लेने के लिए उठ खड़े हुए थे, यह कम महत्वपूर्ण नहीं। यह युवक रामचरण लाल भला इस बहती गंगा में हाथ धोने से कब चूकता।

एटा जनपद की कासगंज तहसील के नगला डरू ग्राम में जन्मे रामचरण लाल के पिता गंगाराम की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सामान्य थी। बालक रामचरण के प्रगति पथ में परिवार की यह निर्धनता बाधक नहीं हुई थी। विद्याध्ययन की उत्कट कामना की डोर से बँधे वे काँतौर ग्राम की प्राथमिक पाठशाला से एटा और अलीगढ़ की शिक्षण संस्थाओं में पहुँचे। अलीगढ़ में उन्होंने इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्हीं दिनों बंग-भंग को लेकर सारे भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की एक लहर-सी चल पड़ी थी। वे भी इस लहर से अछूते नहीं रह सके। इस राह पर चलकर वे अंग्रेजी शासन की आँखों के कटि बन गये। शासन का दमन चक्र उन्हें एटा सत्र न्यायालय तक ले गया। उन्हें तीनों धाराओं को तोड़ने के दण्डस्वरूप दस-दस वर्ष का कारावास दिया गया। यह तीनों सजाएँ एक साथ चलकर एक साथ समाप्त होने वाली थी।

माता-पिता सोच रहे थे। ज्येष्ठ पुत्र है। इन्टर तक पढ़ चुका है। (उन दिनों इन्टर पास कर लेना साधारण बात नहीं थी।) कहीं नौकरी करके परिवार की आर्थिक दशा सुधारेगा। वे उसके लिये सुन्दर-सी बहू की तलाश में भी थे। किन्तु रामचरण लाल ने तो दूसरा ही मार्ग पकड़ा था। समय की पुकार-युग की आवश्यकता को स्वीकारते व मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर करते हुए वे आजादी की बलिवेदी पर चढ़ गये।

पहले पहल उन्हें एटा जेल में रखा गया। वहाँ से स्थानान्तरित होकर वे फतेहगढ़ केन्द्रीय जेल व अलीपुर (कलकत्ता) की जेल में पहुँचे। अन्त में उन्हें अण्डमान की जेल भेज दिया गया। अण्डमान जेल की वे काल कोठरियाँ अपने साथ उन दिनों के नृशंस अत्याचार, क्रूरता व यन्त्रणा की स्मृति लिए आज भी विद्यमान हैं। यहाँ के बन्दियों को इतनी यन्त्रणाएँ दी जाती थीं कि पत्थर भी पिघल जाये।

यहाँ के राजनैतिक बन्दियों को भी अन्य बन्दियों की तरह ही रखा जाता था। उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था। असह्य शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। इन्हीं की तरह रामचरण लाल को भी कोल्हू खींचना पड़ता था। क्रूर यातनाएँ सहनी पड़ती थीं। एक क्रान्तिकारी, नन्दलाल बोस ने तो इन यातनाओं से परित्राण पाने के लिए विवश हो आत्महत्या कर ली थी।

क्रान्तिकारियों के साथ होने वाले इस अमानवीय व्यवहार से भारतवासी लगभग अनभिज्ञ ही थे। सुदूर

बंगाल की खाड़ी में स्थित इन द्वीपों के समाचार यहाँ तक बहुत कम पहुँच पाते थे। यही कारण था कि इसे काला पानी की सजा कहा जाता था। रामचरण यहाँ भी चुप नहीं बैठे। उन्होंने एक वार्डर से मिलकर काले पानी की इन काल कोठरियों की क्रूर यातना-कथा को गुप्त रूप से कलकत्ता राष्ट्रवादी पत्रकार मोती लाल घोष के पास भेज दी। जिसे उन्होंने 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित किया। क्रान्तिकारियों की इस दशा का वर्णन पढ़कर अंग्रेजों के प्रति भारतवासियों के मन में घोर घृणा उत्पन्न हुई, जिसने स्वतन्त्रता यज्ञ में घृताहुति का काम किया।

अण्डमान की जेल का वर्णन 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हो जाने से अँग्रेज सरकार बहुत बौखलायी। जाँच के बाद उस वार्डर को सेवा मुक्त कर दिया गया। जिसने उनकी सहायता की थी। उस वार्डर की आर्थिक सहायता उन्होंने पत्रकार घोष से करवायी।

चार वर्ष तक अण्डमान की नारकीय यन्त्रणाएँ सहने के बाद उनका स्थानान्तर नागपुर जेल में किया गया। यहाँ भी वे जेल में होने वाले अमानवीय व्यवहारों के विरोध में असहयोग व जेल के नियमों की अवहेलना करते रहे। जिसके कारण उनकी सजा में छहमहीने की वृद्धि कर दी गयी।

१९१८ में उनकी कारावास से मुक्ति हुई। दस वर्ष की क्रूर यन्त्रणाएँ भोगकर भी उनकी देश-भक्ति का प्जार ठण्डा नहीं हुआ था। उसमें वही तूफानी गति विद्यमान थी जो आरम्भ में होती है। दिल्ली में रहकर उन्होंने 'काँग्रेस' व 'फतह' नामक दो दैनिक अखबारों का सम्पादन किया। वहाँ से वे जबलपुर गये वहाँ 'तिलक' नामक सम्पादन किया। समाचार पत्रों के माध्यम से वे भारतीय जनमानस को झकझोर कर स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ने के लिए तैयार करते रहे। वे जनसभाओं में भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आलोचनात्मक भाषण दिया करते थे। पुलिस उनकी टोह में रहा करती थी। पुलिस के चंगुल से बचाने के लिए उनके मित्रों ने उन्हें नागपुर भेज दिया। यह अच्छा ही हुआ। उनको जीवित तथा मृत पकड़ लाने के लिए पंजाब सरकार ने थोड़े ही दिनों बाद भारी इनाम घोषित किया। तब तक वे 'कर्मवीर' के सम्पादक माखन लाल चतुर्वेदी के आग्रह पर पाण्डिचेरी पहुँच चुके थे, वह प्रदेश फ्रांस के अधिकार में था।

वहाँ रहकर भी उन्होंने अंग्रेजी शासन विरोधी क्रिया-कलापों में कोई कमी नहीं आने दी। वहाँ वे अधिक स्वतन्त्रता से अपना कार्य कर सकते थे। अंग्रेजी शासन का कोई भय नहीं था। कानपुर व मेरठ में हुए षड्यन्त्रों के पीछे उनका पूरा-पूरा हाथ था। काँग्रेस के कानपुर अधिवेशन में उनकी ओर से एक विज्ञप्ति वितरित की गयी थी। जिसमें सत्ता से खुला संघर्ष करने का आह्वान किया गया था। मेरठ के षड्यन्त्र में मानवेन्द्रनाथ राय के साथ

उनका भी नाम जुड़ा हुआ था। किन्तु पाण्डिचेरी में होने के कारण उन पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सका।

पाण्डिचेरी के गवर्नर को अंग्रेजों ने इन्हें हिन्द चीन भेज देने के लिए सहमत कर लिया था किन्तु वहाँ की व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष श्री गोबरे से उनके परिवार जैसे सम्बन्ध होने के कारण उनके हस्तक्षेप से उनका यह निर्वासन रुक गया। यही नहीं गोबरे परिवार से उन्हें समय-समय पर पर्याप्त संरक्षण मिलता ही रहा।

उनका सारा जीवन भारत को आजाद कराने के लक्ष्य से अभिन्न रूप से जुड़ चुका था कि वे इसके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते थे। उनकी सक्रियता भारत तक ही नहीं अन्य देशों तक भी विस्तृत हुई थी। उनका सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दलों से भी था।

वे विदेशी दासता के साथ-साथ सामाजिक विषमता के भी घोर विरोधी थे। मद्रास व मदुरा के पत्रों से उनके आग उगलने वाले लेख निकलते रहते थे, जिनसे भारतीय जनता में इन बेड़ियों को तोड़ फेंकने का साहस जाग्रत होता था।

वे केवल संघर्षशील योद्धा ही नहीं कुशल सर्जक भी थे। वे एक सफल लेखक थे। उनके लेखक बनने के पीछे अपने पांडित्य प्रदर्शन का उद्देश्य नहीं था वरन् उनका लेखन एक महत्वपूर्ण कार्य के लिए नियोजित था। उनके लेख उन दिनों पत्रिकाओं में छपते रहते थे। उन्होंने अपनी आजीविका चलाने के लिये कई अंग्रेजी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

दस वर्ष तक जेल की नारकीय यन्त्रणाएँ सहते हुए उनका स्वास्थ्य जर्जर हो चुका था। अपने जीवन की गाड़ी को वे अपने महान उद्देश्य की संकल्प शक्ति से ही खींचे जा रहे थे। उनका सारा जीवन मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त कराने के कष्टपूर्ण प्रयासों व क्रान्ति के कण्टकाकीर्ण पथ पर चलते हुए ही व्यतीत हुए। पल भर भी वे कभी चैन से नहीं बैठे। आर्थिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यक्तिगत समस्याएँ उन्हें घेरे ही रहीं फिर भी वे एक धीर-वीर सैनिक की तरह अपने स्थान पर डटे ही रहे।

सन् १९३० में उनके पाँव में कील का घाव हो गया। जो गेगरिन में परिणित हो गया। उन्होंने मद्रास आकर उसकी चिकित्सा करवायी। यहीं उन्हें ब्रिटिश पुलिस ने बन्दी बना लिया। अस्पताल में उन पर कड़ा पहरा रहता था। रोग के बढ़ जाने के कारण उनकी टाँग काटनी पड़ी इसी दौरान १९३१ में उनकी मृत्यु हो गयी। उनका वह जीवन-वृत्त भारतवासियों को आज भी अनौति व अनाचार से संघर्ष करने के लिए उनकी तरह जीवन समर्पित करने की प्रेरणा देता रहेगा।

अत्याचार के विरुद्ध सतत् संघर्षशील— मुकुन्दीलाल

राह चलते नागरिकों को अकारण ही परेशान करना उन दिनों अंग्रेज अधिकारियों तथा पुलिस वालों का नित्य धर्म बन गया था। बेचारी जनता इन अत्याचारों का विरोध करना तो दूर कुछ कर भी नहीं सकती थी। क्योंकि सदियों से चली आ रही पराधीनता ने उसका मनोबल तोड़ दिया था और टूटे हुए मनोबल के व्यक्ति हों या समाज उस असहाय परिस्थितियों में भी विवश होना जीवित रहने का आदी बना देता है, जीवित तो क्या कहा जाय उसे मरा हुआ ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि वह जीवन कोई जीवन नहीं है। जो स्वयं की रक्षा भी न कर सके। एक तो खोया हुआ आत्मसम्मान और टूटा हुआ मनोबल मनुष्य को पंगु बना देता है, दूसरी ओर अपने अस्तित्व तथा मानवीय सत्ता का मान उसे निरन्तर टीसता रहता है। त्वास्तव में ऐसे व्यक्ति किस मनोव्यथा से गुजरते होंगे—“यह न तो कहा जा सकता है और न ही कल्पना की जा सकती है।”

समाज में जब अनाचार और अत्याचार के विरोध की क्षमता और सामर्थ्य नहीं रहती है तो उस पक्ष के दुस्साहसी होने की संभावना बनती है। उन लोगों के लिए उदासीनता अपरोक्ष प्रोत्साहन की प्रेरणा ही बन जाती है और अनाचार का कुचक्र दूनी गति से घूमने लगता है। परन्तु समाज में तब ऐसे जागरूक व्यक्तियों का भी उदय होता है जो अनाचार और अत्याचार का प्रबल विरोध करने के लिए उठ खड़े होते हैं। समाज को उसके दुस्साहस का सामना करने के लिए खड़ा करते हैं।

अत्याचार और अनाचार सहनशक्ति की सीमा से बाहर हो जाते हैं तो संघर्षशील व्यक्तियों की क्रोधाग्नि में अन्यायी, आततायी झुलसकर खाक हो जाते हैं। ऐसे ही जागरूक मस्तिष्क के एक युवक मुकुन्दीलाल ने आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व इटावा जिले के औरैया ग्राम में अंग्रेजों के दौत खट्टे कर दिये। बाद में तो ज्यों-ज्यों उनकी चर्चा फैली देश भर में बिखरे हुए कई क्रान्तिकारियों ने उनसे सम्पर्क साधा और विदेशी सत्ता के विरुद्ध-मोर्चे पर तैनात कर दिया।

मुकुन्दीलाल क्षेत्र के सर्वाधिक सम्पन्न जमींदार परिवार के लाड़ले पुत्र थे। पिता का अच्छा अलग से कारोबार भी था—काफी जमीन और जमा हुआ व्यापार। कुल मिलाकर ऐश्वर्य सम्पन्न पारिवारिक स्थिति। माता-पिता ने सुनिश्चित और सुखी भविष्य के लिये ही शायद पढ़ाया-लिखाया नहीं था। शिक्षा के सम्बन्ध में एक आम धारणा है स्कूल भेजने का अर्थ कोई अच्छी नौकरी

दिलवाने की आकांक्षा, पर बालक मुकुन्दीलाल को बचपन से खेलना, कुश्ती लड़ना, कसरत करना, दण्ड-बैठक लगाना और मुगदर घुमाना अच्छा लगता था। इसी कारण खाने-पीने और सोने के बाद जो भी समय बचता था वह इन्हीं कामों में जाता। शारीरिक व्यायाम के प्रति इसी रुझान ने सुन्दर सुगठित देहयष्टि और बलवान मौसपेशियाँ बना दीं।

गाँव के लोगों पर अंग्रेजों को कोड़े और हण्टर बरसाते जब भी देखा हृदय तड़प उठा। आखिर ये लोग इन्सान होकर मनुष्य के प्रति पशुओं से भी गया बीता व्यवहार क्यों करते हैं। इसे सहने वाले भी कैसे कायर हैं? चाहे तो इन लोगों की अक्ल मिनट भर में ठिकाने लगा दें? परन्तु इन्हें देखते ही भय से धरधरा उठते हैं। बालक मुकुन्दीलाल गहरे मनोविश्लेषण में नहीं उतर सकते थे और उनके हृदय में उठने वाले प्रश्न निरुत्तर ही रह जाते। अपने प्रश्नों का समाधान, मिले या न मिले परन्तु एक आक्रोश भरता गया हृदय में और जब वह सीमा से बाहर हुआ तो फूट पड़ा। यौवन की वय ही ऐसी होती है जिसमें उत्साह, जोश और साहस जैसी वीरता और पराक्रम की भावनायें उद्दाम लहराती हैं। किशोरावस्था की देहलीज पारकर मुकुन्दी लाल ने जैसे ही युवावस्था में प्रवेश किया, निरपराध मनुष्यों पर होने वाले अत्याचार और अन्याय का विरोध करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी।

अन्याय के प्रतिरोध की भावना मुकुन्दीलाल के मानवीय हृदय से उद्भूत हुई थी। दो चार अवसरों पर मुकुन्दीलाल ने पुलिस अधिकारियों का विरोध भी किया और अंग्रेजों को भी ललकारा। आततायियों का अहं आहत हो उठा। उन्हें लगा यह ललकार अंग्रेज शासन और जाति के गाल पर एक करारा तमाचा है। जिसका दमन करना ही चाहिए अन्यथा वे एक कण्ठ से उठी विरोध में यह आवाज हजारों कण्ठों से समवेत स्वरों में गूँजने लगेगी।

अब अधिकारियों का सारा ध्यान मुकुन्दीलाल पर केन्द्रित हो गया। परिजनों और शुभचिन्तकों ने गलती स्वीकार करने तथा क्षमा माँगने का परामर्श दिया परन्तु मुकुन्दीलाल को तो परामर्श इस प्रकार लगा— यह सांसारिक दृष्टि से भले ही लाभदायक हो परन्तु इस प्रकार तो मेरे स्वयं के ही पाँवों से आत्मा कुचली जायेगी। उन्होंने दृढ़तापूर्वक परामर्श मानने से इन्कार कर दिया और बरागाँव में आने वाले अत्याचारी अधिकारियों से मुकाबला लेते रहे।

परिजनों और शुभचिन्तकों ने युवक मुकुन्दीलाल को बहुभौति समझाया कि इस प्रकार तुम अपने जीवन के

लिये स्वयं ही खतरा पैदा कर रहे हो। तो मुकुन्दीलाल ने उत्तर दिया— खतरे में जीने से ही तो शान है। खतरे से सुरक्षित रहने का प्रयत्न करने वालों के लिए इस संसार में इन्च भर की जगह नहीं है। उसे तो एक ऐसी कोठरी में खाने-पीने का पर्याप्त सामान इकट्ठा रखकर बैठ जाना चाहिए जिसमें कोई दरवाजा नहीं हो।

पिता ने समझा— बेटे को कोई बहका रहा है। अन्यथा यह छोटा-सा अपरिपक्व बुद्धि का व्यक्ति इस प्रकार की गम्भीर बातें कैसे कर सकता है? उन्होंने कहा— “बेटा तुम किसी के सिखाने में न आओ। लोग तो बहका कर अलग हो जाते हैं। बीच में नुकसान तमहें ही उठाना पड़ेगा।”

“मुझे कोई नहीं सिखाता पिताजी! मैं तो खुद ही जो ठीक देखता व समझ रहा हूँ वह कह और कर रहा हूँ।”

बेटे की जिरह से वह भी घबरा गये थे। मुकुन्दीलाल यह मानने को तैयार ही नहीं था कि जो कुछ करना वह चाह रहा है वह गलत है। किस्मत के भरोसे छोड़कर पिता यह कहते उठ गये— “ठीक है बेटा तुझे जो रुचे वही कर।”

उन दिनों कतिपय लोगों ने राष्ट्रीय चेतना के जागरण का शंख फूँका था। मुकुन्दीलाल अभी गाँव की सीमा से ही बाहर नहीं पहुँच पाये थे फिर भी वे अपने ढंग से लोगों को यह समझाने में लगे हुये थे कि अंग्रेज जो कुछ कर रहे हैं वह अनुचित है और उसका विरोध किया जाना चाहिए। उसे हमें कदापि सहन नहीं करना चाहिए। लोगों को अन्याय और अत्याचार के विरोध में तैयार करने के अभियान में उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

परन्तु वे बलवान होने के साथ-साथ सुदृढ़ आत्मशक्ति सम्पन्न भी थे। यह उन्हें वरदान के रूप में मिली थी बल और शक्ति। जिस व्यक्ति को ये वरदान के रूप में मिलती हैं उसका उपयोग तो सार्वजनिक सुरक्षा और कल्याण के कार्यों में ही होना चाहिए। मात्र अहंकार प्रदर्शन या अन्य औरों पर रौब जमाने के लिये उसका उपयोग तो दुरुपयोग ही कहा जायगा। मुकुन्दीलाल जी ने इन्हीं आदर्श प्रेरणाओं से प्रेरित होकर के नागरिक जीवन को भयभीत करने वाले तत्वों का दमन करने के लिए अपनी शक्ति साधना की उपलब्धियों का उपयोग करने की ठानी।

एक बार की बात है। मुकुन्दीलाल जी अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ व्याह-शादी में गये। उस समय पहला विश्व युद्ध चल रहा था। अंग्रेजी सेनायें जर्मनी फौजों के आगे घुटने टेकती चली जा रही थीं। मेहमानों में इसी विषय पर चर्चा चली तो मुकुन्दीलाल जी ने कुछ रोषपूर्ण स्वरों में अंग्रेजों की निन्दा करते हुये इस पर प्रसन्नता व्यक्त

की। उन मेहमानों में ही प्रभुदयाल पाण्डे नाम के एक सज्जन भी आये थे- जो उन दिनों चल रही क्रान्तिकारी गतिविधियों में सक्रिय भाग लेते थे। मुकुन्दीलाल जी का आक्रोश सुनकर उन्होंने इनसे सम्पर्क बढ़ाया और औरैया तहसील में अंग्रेज विरोधी संगठन तैयार करने के लिये प्रेरित किया। तब क्रान्तिकारियों के विख्यात नेता पं. गैदालाल दीक्षित भी औरैया के पास ही किसी स्कूल में अध्यापक थे। मुकुन्दीलाल जी ने पाण्डेय जी की प्रेरणा से उनसे भी सम्पर्क बनाया और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़े समग्र युवा मोर्चे पर आ डटे।

पहले उनकी पुलिस अधिकारियों तथा अंग्रेजों से ही यदा-कदा झड़प या मुठभेड़ हो जाया करती थी परन्तु अब वे अपने देश में उनके अस्तित्व और सत्ता को ही चुनौती देने के लिए कमर कसकर आगे आ गये। पहले जहाँ वे अपने आपको अकेला पा रहे थे वहीं अब उनके साथ कई उत्साही सहयोगियों का विश्वास बल भी आ जुटा। मुकुन्दीलाल जी ने दीक्षित जी के साथ मिलकर एक दल तैयार कर लिया। संगठन को मजबूत बनाने के लिए धन की आवश्यकता हुई तो भारतीय जनता से अन्यायपूर्वक लूटा गया धन अंग्रेजों से वापस छीनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इधर अंग्रेज अधिकारियों को यह पता चल गया कि मुकुन्दीलाल किसी क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गये हैं तो वह इनके पीछे हाथ धोकर पड़ गयी। उस समय उनका घर क्रान्तिकारियों का अड्डा बन गया था। पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करने के लिये कई बार छापे मारे परन्तु वह असफल ही रही। मुकुन्दीलाल जी इतनी सफाई के साथ बच निकलते कि लोग दंग रह जाते थे।

तभी दीक्षित जी ने अंग्रेज अधिकारियों को आतंकित करने के लिए एक योजना बनायी। शत्रु की साम, दाम, दण्ड, भेद की नीतियों से पराजित करना ही क्रान्तिकारियों द्वारा अपनाया मार्ग था। परन्तु दुर्भाग्य से इस योजना का पता पुलिस को चल गया। गैदालालजी दीक्षित और मुकुन्दीलाल जी तथा उनके कई साथी पकड़े गये। इन सब पर मुकदमा चलाया गया अन्य सदस्यों के साथ इन्हें भी लम्बी सजा हुई।

सात वर्ष तक कारावास में रहने के बाद वे बाहर आये तो पुनः सक्रिय हो गये। अब उनके पास कुछ नहीं बचा था। माता-पिता तो पहले ही गुजर चुके थे। जमींदारी और जमीन-जायदाद भी चौपट हो गयी परन्तु उन्हें तो किसी प्रकार की चिन्ता भी न हुई। उसी प्रकार निश्चिन्त भाव से मनोयोग के साथ अपने कार्य में डटे रहे।

स्वतन्त्रता-संग्राम का यह वीर कुछ ही समय बाहर रह पाया था कि पुलिस ने उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया। काकोरी केस में पकड़े गये क्रान्तिकारियों के साथ जाना पड़ा। इस बार तो उन्हें स्वतन्त्रता मिलने तक कारावास

भोगना पड़ा। जेल के सीखचों में बन्द मुकुन्दीलाल ५८ वर्ष की आयु में बाहर आये और तब तक उनका लक्ष्य-आततायी विदेशी शासन समाप्त हो चुका था।

अक्टूबर, १९७२ में उनका देहान्त हुआ। परन्तु उन्हें संतोष था कि जिस अन्याय और अत्याचार को समाप्त करने के लिये उन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया वह उनके जीते जी दम तोड़ गया था। मुकुन्दीलाल को संतोष था मरने से पूर्व अपने जीवन की उपलब्धियों पर कि जो कुछ वे अपने देश और समाज के लिए कर सके सार्थक रहा। जनता से उन्होंने कभी अपनी सेवाओं का प्रतिदान नहीं चाहा।

बहते रहे उत्सर्ग के निर्झर ऐसे ही-

बशेशर नाथ

गोलियों से छलनी तथा खून से लथपथ एक युवक को पुलिस अपनी मोटर गाड़ी में लादकर लाहौर अस्पताल में लायी। युवक को मूर्छा आ गई थी। यह युवक बन्दी था। इस पर राजद्रोह के कई आरोप थे।

मध्यम कद के इस गठे शरीर वाले युवक को पहचानने में उन्हें तनिक भी समय न लगा। पहचान के साथ ही उसकी सहनशक्ति का स्मरण भी उन्हें आया। यों तो वे उसे संगीनों की नोंक से गोद-गोद कर भी जो उगलवाना चाहते थे वह नहीं उगलवा सकते थे।

उन्होंने युवक के मर्मस्थल पर भावनात्मक आघात पहुँचाने का मार्ग चुना। पुलिस के रिकॉर्ड में उसका पूरा जीवनवृत्त अंकित था। उसकी माँ को बुलाया गया। यह खबर सुनकर कि उसका इकलौता पुत्र मृत्यु-शैय्या पर अस्पताल में पड़ा है तो वह तुरन्त उनके साथ मोटर गाड़ी में बैठकर चल दी।

अपने हृदय के इस एक अंश के लिये उस जननी ने क्या-क्या कष्ट नहीं सहे- कौन-कौन से अभाव नहीं देखे। उसे अपने जीवन में ही छिनने की आशंका ने उसे कैपा दिया। क्या बुढ़ापे की यह लाठी भी टूट जायेगी और वह बे सहारा हो जायेगी।

इन्हीं कुशंकाओं से लदी यह वृद्धा जब अस्पताल पहुँची तो उसके पुत्र की मूर्छा टूट चुकी थी। वह अपने पुत्र को इस अवस्था में देखकर रो पड़ी। आँसू अपना बाँध तोड़कर बह निकले। आज तक उसने अपने श्रम व सहनशक्ति से जो कहानी लिखी थी वह इन अश्रुबिन्दुओं से धुलती जान पड़ती थी।

पुलिस अधिकारियों ने युवक की माता को एक तरफ ले जाकर समझाया। "माँ जी तुम्हारा बेटा बहुत घायल हो चुका है। इसको बचाना चाहती हैं तो हमारी राय मान

लो। इसे हम बचा लेंगे। बाद में उसे विलायत भेजकर ऊँची पढ़ाई का प्रबन्ध भी किया जा सकता है। फिर ऊँची नौकरी भी मिल जायगी। यदि यह अपने साथियों के नाम बता दे तभी यह सब हो सकता है। नहीं बताने पर यह कुछ ही समय का मेहमान है, उचित इलाज के अभाव में दम तोड़ देगा।

माँ के हृदय की पीड़ा माँ ही जानती है। यह तीन वर्ष का था तभी तो उसके पिता का देहान्त हो चुका था। उसी के सहारे वह आज तक वैधव्य का वीरान जीवन काट सकी थी। इसके पालन-पोषण के लिए उसने क्या-क्या नहीं किया। घर की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी। अपने रक्त और पसीने से उसने इस पौधे को सींचा था। वह जानती थी कि किन कठिनाइयों और अभावों के रहते हुए भी उसने अपने पुत्र को पढ़ाया था। इन दिनों वह लाहौर डी. ए. वी. कॉलेज में पढ़ रहा था।

बेटे के प्राण बचाने के लिये वह सब कुछ कर सकती थी। पुलिस अधिकारियों ने उसे सुझाया कि वह अपने पुत्र पर इस बात का दबाव डाले कि वह अपने साथियों के नाम बता दे।

वृद्धा ने अपने बीस वर्षीय पुत्र के पाँव पकड़ लिए, कहने लगी- “बेटा इनका कहना मान ले।” जिस माँ के ऋण-भार से उसका रोम-रोम दबा था। वही आज उससे भीख माँग रही थी- गड़गड़ा रही थी। आँचल पसार रही थी।

युवक माँ की सेवा में सारा जीवन लगा सकता था किन्तु उसने अपनी मातृभूमि की सेवा में जीवन उत्सर्ग करने को- युग धर्म समझकर अंगीकार कर चुका था। माँ के आँसू उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते थे। प्राणों का मोह उसे नहीं था।

उसे माँ से सीधा ‘ना’ कहना उचित नहीं लगा। उसने पुलिस अधिकारियों को कहा- “मैं सब कुछ बता दूँगा पहले मेरी माँ को मुझसे दूर ले जाओ। मुझसे उसका यह रुदन देखा नहीं जाता।” पुलिस अधिकारियों को अपना स्वप्न सत्य होता हुआ दीखा। उन्होंने सोचा अब तो यह सारा भेद खोल देगा। उन्होंने उसकी वृद्धा माता को अपने घर पहुँचाने की व्यवस्था कर दी।

युवक की माता को रवाना करने के तुरन्त बाद उन्होंने युवक से कहा- “अब अपने साथियों के नाम तथा षड्यन्त्र का भेद बता दो।” युवक बोला- “मैंने बयान देने का वचन दिया है मैं उसे तोड़ूँगा नहीं किन्तु मैं किसी भारतीय मजिस्ट्रेट के समक्ष ही अपना बयान दूँगा, इन लोगों ने तुरन्त भारतीय न्यायाधिकारी को बयान लेने की व्यवस्था कर दी।

भारतीय न्यायाधिकारी ने आकर कुर्सी पर बैठते हुए कहा- “बशेशरनाथ। मैं भारतीय मजिस्ट्रेट हूँ। तुम्हारी

इच्छा पर उपस्थित हुआ है। अपने बयान दो।” यह बशेशरनाथ नामक युवक भगतसिंह तथा उनके साथियों पर लाहौर के शाही किले में किये गये पुलिस अधिकारियों के अमानुषिक अत्याचार का बदला लेते हुए इतना घायल हुआ था। उसने कहा- “मजिस्ट्रेट साहब! मैं एकान्त में बयान देना चाहता हूँ।”

न्यायाधिकारी के इंगित पर पुलिस अधिकारी कमरे से बाहर निकल गये तब बशेशरनाथ ने कहा- “श्रीमान् पहले दरवाजा बन्द कर लीजिये फिर मेरा बयान अंकित कर लीजिये।” मजिस्ट्रेट ने दरवाजा बन्द कर दिया। युवक की शारीरिक दशा बिगड़ती जा रही थी, उसने न्यायाधिकारी को अपना बयान देना आरम्भ किया। “श्रीमान् मैं भारतवर्ष में पैदा हुआ। सामान्य भारतीय नागरिक की तरह मैं भी निर्धन हूँ। मेरी विधवा माँ ने अपने जेवर बेचकर तथा लोगों के घर पर काम करके मेरा पालन-पोषण किया। यही नहीं मुझे कॉलेज में पढ़ाने तक का साहस उसने किया। आज वह बेसहारा हो रही है। किन्तु जब सारे गाँव में ही आग लगी हो तो अपने घर पर ही पानी डालने से क्या लाभ? उसी को बुझाने में सबको लगना चाहिए। हमारा देश आज परतन्त्र है। यह परतन्त्रता जब तक नहीं मिटती, तब तक विकास के सपने भी देखे नहीं जा सकते- समाज सुधार की बात सोची नहीं जा सकती। यही सोचकर मैंने स्वयं को स्वतन्त्रता की इस बलिबेदी पर बलिदान किया है। आप हिन्दुस्तानी हैं मजिस्ट्रेट साहब! जरा पास आइये मेरे हृदय पर हाथ रखिये।” मजिस्ट्रेट ने अपना काँपता हाथ उसकी क्षीण पड़ती धड़कन पर रख दिया। “मेरा समय अब समाप्त हो रहा है। गीता में लिखा है आत्मा अपने वस्त्रों की तरह शरीर बदलती रहती है। मेरा यह शरीर अब अधिक समय नहीं रहेगा। मैं मर रहा हूँ मरना और जीना अपने उद्देश्यों और आदर्शों का होता है। मेरा भी उद्देश्य था भारत को आजाद करने में अपने आपको समर्पित कर देना। वह पूरा हो गया। मुझे खुशी है कि मैं मनुष्य के जन्म सिद्ध अधिकार के लिए मर रहा हूँ। भारत की स्वतन्त्रता का उद्देश्य ही मेरा एकमात्र साथी है जो पृथक्-पृथक् रूपों में प्रकट हुआ है। इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं है।”

मजिस्ट्रेट की आँखों में आँसू आ गये, गला रुँध गया थोड़े ही समय बाद बशेशरनाथ के प्राण-प्रखेर उड़ गये व्यक्तिगत हितों की संकीर्ण गली को त्यागकर उत्सर्ग का राजमार्ग चुनने वाले ये वीर स्वतन्त्र भारत के नागरिकों के हृदय में समाज सेवा की उमंगें उत्पन्न करते रहेंगे, जो कि स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रगति की दिशा में दूसरा चरण है।

आजादी के दीवाने— हेमचन्द्र दास

अपने देश को विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिये ज्ञात-अज्ञात कितने ही युवकों ने अपनी जान की बाजी लगा दी। सुख-सुविधाओं, लौकिक एषणाओं के प्रबल आकर्षण से स्वयं को मुक्त करके वे समय की पुकार पर सर्वस्व राष्ट्र हित दाँव पर लगाने में हिचकिचाए नहीं। ऐसे क्रान्तिकारियों का योगदान भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कम नहीं रहा। उन्हीं में से एक थे हेमचन्द्र दास कानूनगो-अलीपुर काण्ड के प्रमुख षड्यन्त्रकारी।

हेमचन्द्र दास का जन्म सन् १८७१ में बंगाल के मिदनापुर के एक मध्यमवर्गीय जमींदार परिवार में हुआ था। उनके पिता खेतदास का अपने गाँव में अच्छा सम्मान था। प्रारम्भिक शिक्षा उनकी अपने गाँव की पाठशाला में ही हुई। वहीं से—मिदनापुर कालेज से ही उन्होंने इन्टर की परीक्षा पास की। उनके पिता उन्हें डॉक्टर बनाना चाहते थे किन्तु वे कलाकार बनना चाहते थे। पिता की आज्ञा मानकर वे कलकत्ता के तत्कालीन केपवेल मेडीकल कॉलेज तथा वर्तमान सर नील रतन सरकार कॉलेज में प्रविष्ट हुए किन्तु उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि इस विषय में अपनी रुचि नहीं है। उसमें सिर खपाने की अपेक्षा तो पिताजी को अपना स्पष्ट अभिप्राय कह देना ही उचित है।

उन्होंने अपने पिता को अपनी इच्छा बताई तो उन्होंने उन्हें अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने की आज्ञा दे दी। अब वे कलकत्ता आर्ट्स स्कूल में प्रविष्ट हुए तथा वहाँ की शिक्षा पूरी करके मिदनापुर कॉलेज में इंग्लिश के अध्यापक बन गये। थोड़े दिन अध्यापन कार्य करते रहे किन्तु अंग्रेज सरकार द्वारा चलाये जा रहे कॉलेज में अधिक दिनों तक अध्यापन कार्य नहीं कर सके। उनके भीतर ही भीतर एक क्रान्तिकारी जन्म लेता जा रहा था, जिससे वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे।

कॉलेज की अध्यापकी छोड़कर वे चित्रकला साधना में प्रवृत्त हुये। उसमें शीघ्र ही उन्हें सफलता मिलने लगी। उनके चित्रों की प्रशंसा होने लगी। उनका स्टुडियो लोगों की भीड़ से भरा रहने लगा। किन्तु हेमचन्द्र के लिये तो नई राहें खुली पड़ी थीं। उन्हें प्रसिद्धि कलाकार के रूप में नहीं क्रान्तिकारी के रूप में मिलने वाली थी।

इन्हीं दिनों उनका सम्पर्क क्रान्तिकारी संगठन के युवकों से हुआ। वे इन क्रान्तिकारी गतिविधियों से अत्यधिक प्रभावित हुए। मिदनापुर में उन दिनों आनन्द मठ नाम से गुप्त क्रान्तिकारी दल चलता था। उन लोगों को हेमचन्द्र काम के आदमी लगे। इस दल का सूत्र संचालन अरविन्द व वारीन्द्र घोष के मामा सत्येन्द्र नाथ

बसु किया करते थे। उन्होंने इनका परिचय अपने दोनों भान्जों से करवाया। फिर वही हुआ जो दीवानों के मिल बैठने पर होता है।

उस समय बंगाल में ऐसे कितने ही गुप्त दल संगठित हो चुके थे। किन्तु उनमें पारस्परिक परिचय व संबद्धता का अभाव था। इस कारण मन में देश के लिये बहुत कुछ कर गुजरने की साध भीतर ही भीतर उमड़ती-धुमड़ती रहती थी उसे कोई दिशा नहीं मिल पाती थी। न वे ऐसा कोई 'एक्शन' ही लेने में समर्थ थे। यदि कोई 'एक्शन' लिया जा सकता तो इन दलों का परिचय भी एक दूसरे से हो जाता व भविष्य के लिये कुछ रास्ता भी बन जाता।

गुप्त संगठनों को इस स्थिति से उबारने के लिये हेमचन्द्र दास के मस्तिष्क में एक योजना ने जन्म लिया। उन्होंने विदेश जाकर गुप्त संगठनों की क्रिया-पद्धति तथा बम बनाने का तरीका सीखने की ठानी। उन्होंने अपना यह विचार अपने साथियों को बताया। उन्हें विचार तो पसन्द आ गया लेकिन समस्या विदेश यात्रा के लिए धन जुटाने की आ खड़ी हुई। इस सम्बन्ध में कोई भी कुछ सहायता करने में समर्थ नहीं था। किन्तु हेमचन्द्र केवल धन के अभाव में इस योजना को अपूर्ण नहीं रखना चाहते थे। उन्होंने इसके लिये अपनी जमींदारी का थोड़ा-सा भाग बेचकर इतना धन प्राप्त कर लिया जिससे विदेश जाकर संगठन पद्धति तथा विस्फोटकों की निर्माण प्रक्रिया का ज्ञान पाया जा सके। लौटते समय कुछ शस्त्रास्त्र लाने का भी उनका विचार बन गया।

स्वयं ही धन जुटाकर बिना किसी से सहायता माँगे वे जुलाई १९०६ में विदेश के लिये रवाना हो गये। सबसे पहले वे फ्रान्स की राजधानी पेरिस पहुँचे। उन्होंने यहाँ विदेश यात्रा के खर्च का अनुमान लगाया था वह गलत बैठ। वे जितने पैसे यहाँ से ले गये थे वे तो पेरिस में ही समाप्त हो गये। अब तक वे किसी क्रान्तिकारी संगठन से सम्पर्क ही नहीं बना सके थे। अब परायी धरती पर वे किस से सहायता माँगे। तब उन्हें ध्यान आया कि लन्दन में रहने वाले भारतीय श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा उनकी सहायता कर सकते हैं। उन्होंने श्याम जी वर्मा को पत्र लिखा।

श्याम जी कृष्ण वर्मा ने उन्हें आर्थिक सहायता देकर लन्दन बुला लिया तथा उन्हें 'इण्डिया हाउस' का मैनेजर बना दिया। यहाँ पर भी उन्हें जमकर काम करने का मौका नहीं मिला। वे अपने घर पर ही विस्फोटकों का परीक्षण करने लगे किन्तु ब्रिटिश गुप्तचरों की सरगर्मियों के कारण उन्हें शीघ्र ही फ्रांस लौटना पड़ा।

फ्रांस लौटने पर पेरिस में उनकी भेंट सरदारसिंह रेवा भाई राना नामक देशभक्त से हुई जो फ्रांस में रहते हुए भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान देते रहते थे। वे भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे।

प्रवासी भारतीयों व क्रान्तिकारियों को वे पूरी-पूरी सहायता देते थे। उन्होंने हेमचन्द्र दास का परिचय मदाम भीखा जी कामा नामक प्रख्यात भारतीय महिला से कराया।

मदाम कामा का फ्रांस के क्रान्तिकारी संगठनों से अच्छा परिचय था। उन्होंने उनका परिचय क्रान्तिकारी संगठनकर्ताओं से कराया जिससे उनका अभिप्राय पूरा हुआ। उन्होंने बम बनाने की जितनी भी विधियाँ थीं उनका ज्ञान प्राप्त किया। उक्त विषयक जो भी पुस्तक उन्हें मिलती उसके महत्वपूर्ण सूत्र के बारे में उनका ज्ञान तब तक की वैज्ञानिक जानकारीयों तक पहुँच गया था। अपना काम पूरा होते ही वे १९०७ में भारत लौट आये।

रूसी तथा फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों से उन्होंने जो विधियाँ सीखीं थीं उन्हें एक पुस्तकाकार में लिपिबद्ध कर लिया। मानिक तल्लू मकान की तलाशी लेने पर जब यह हस्तलिखित पुस्तक सरकार के हाथ लगी तो अधिकारी लोग इसमें वर्णित वैज्ञानिक विस्फोटक पद्धतियों को पढ़कर चकित रह गये।

यूरोप प्रवास से लौटने पर उन्होंने श्री अरविन्द घोष के भाई वारीन्द्र घोष से साथ मिलकर युगांतर दल की स्थापना की तथा बम बनाने के रसायन जुटाने व बम बनाने का पूरा काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिया। वे कलकत्ता के गोपी मोहन दत्त लेन के एक किराये के मकान में तथा नव कृष्ण स्ट्रीट स्थित अपने मकान में उल्लास कर दत्त को साथ लेकर बम बनाया करते थे।

उनके बनाये गये पहले बम का प्रयोग चन्द्रनगर के फ्रांसिसी मेयर पर किया गया, जो अंग्रेज अधिकारियों के कहने में आकर क्रान्तिकारियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाये रहता था। दुर्भाग्य से वह बम विस्फोट में मर नहीं सका किन्तु उस विस्फोट से क्रान्तिकारी संगठनों को एक होने की प्रेरणा अवश्य मिली।

बम बनाने के सम्बन्ध में हेमचन्द्र दास कानूनगो बहुत प्रवीण हो गये थे। उनके दल ने कलकत्ता के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट को समाप्त करने की योजना बनायी। क्योंकि किंग्सफोर्ड ने अगस्त, १९०४ से लेकर मार्च, १९०८ तक देशभक्तिपूर्ण कार्य करने वालों को कठोर सजाएँ दी थीं।

किंग्सफोर्ड को समाप्त करने के लिए हेमचन्द्र दास के उर्वर मस्तिष्क ने बड़ी अच्छी योजना बनायी जिससे कि साँप भी मर जाय व लाठी भी न टूटे। उन्होंने १२०० पृष्ठों की एक बम पुस्तक उसके लिए बनायी। इस कानूनी पुस्तक के बीच के छह सौ पृष्ठों को काटकर एक चौकोर गड्ढा बनाया गया जिसमें पिकरिक एसिड का उसी नाम का एक टिन का डिब्बा रखा गया। पुस्तक को खोलने के लिये उसके फीते काटने पड़ते थे। इन फीतों को काटते ही भयंकर विस्फोट होता और किंग्सफोर्ड मर जाता। पर उसका भाग्य प्रबल था। पुस्तक उसके हाथ में आयी उसने समझा उसके किसी

मित्र ने उसी की पुस्तक लौटायी है। अतः उसे बिना खोले ही अलमारी में रख दिया।

इस पुस्तक का रहस्य अलीपुर षडयन्त्र केस की सुनवाई के दौरान खुला तो उस पुस्तक को बड़ी सावधानी से खोला गया। उसके स्प्रिंग तक जंग भी खा चुके थे। किन्तु यह उनके आला दर्जे के दिमाग की एक हैरत अंग्रेज करामात थी जिसे देखकर अंग्रेज लोग भी भारतीयों के बुद्धि कौशल का लोहा मान गये। उन्हें देखकर अपना वहाँ पर रह पाना असम्भव लगने लगा।

उनके बनाये गये अन्तिम बम वे थे जिन्हें प्रफुल्ल चन्द्र चाकी तथा खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर में प्रयुक्त किये ३० अप्रैल, १९०८ को ये बम फेंके गये थे। उन धमाकों ने अंग्रेजों के कान खोल दिये थे। उन्होंने बड़ी तत्परता से कलकत्ता व आस-पास के अधिकांश क्रान्तिकारियों को पकड़ लिया और उन पर मुकदमा चला।

हेमचन्द्र भी उनमें सम्मिलित थे उन्होंने व सत्येन्द्र नाथ बसु ने सरकारी गवाह बन गये नरेन्द्र गोस्वामी को समाप्त करने की गुप्त योजना बनायी। वारीन्द्र घोष, जो बाहर थे, ने पिस्तौलें उन तक पहुँचायीं। वारीन्द्र की योजना तो जेल तोड़कर भागने की थी। इसीलिए उन्होंने हथियार भेजे थे। किन्तु उसे असम्भव जान इन्होंने वे पिस्तौलें सत्येन्द्र नाथ बसु व कन्हैया लाल दत्त को दे दीं और उन्होंने नरेन्द्र गोस्वामी को देशद्रोह का मजा चखा दिया।

अलीपुर काण्ड के फैसले के अनुसार उन्हें आजन्म कारावास की सजा दी गयी। उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। यहाँ उन्होंने वे सब यातनाएँ सहीँ जो काले पानी की सजा के दौरान दी जाती थीं। यहाँ उन्होंने दस वर्ष बिताये तथा १९१९ में मौन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के अनुसार बन्दियों की आम रिहाई के समय उन्हें भी मुक्त किया गया।

काले पानी की सजा काट कर आने के बाद वे पुनः राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने लगे। किन्तु दस वर्ष तक शरीर असह्य यन्त्रणाओं का भार सहते-सहते लगभग टूट चुका था। अतः अब वे उस जोश-खरोश के साथ काम नहीं कर पाये। अन्त में १९५१ में उनका देहान्त हो गया। सारा जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित करने वाले इस अमर क्रान्तिकारी का जीवन हमारे देश के नवयुवकों को युगधर्म पालने के लिये आह्वान करता है।

यशस्वी क्रान्तिकारी—

बाबू कुँअरसिंह

सात समन्दर पार से आये गोरे व्यापारी भारतीय राजाओं की फूट और अहमन्यता से लाभ उठाकर भारत के शासक बन गये। इस तथ्य को देर से ही सही पर

भारतीय राजाओं ने समझा और संगठित होकर क्रान्ति की योजना बनाई, उसके लिए भीतर ही भीतर पुरजोर तैयारियाँ कीं। भाग्य कुछ विपरीत था इसलिए क्रान्ति समय के पूर्व ही फूट पड़ी और अंग्रेजों को सम्भलने का अवसर मिल गया। फिर भी क्रान्ति जबरदस्त हुई। अंग्रेजी साम्राज्य की नीवें हिल गयीं। आरम्भ में तो उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। समय से पूर्व फूट पड़ने वाला यह क्रान्ति का ज्वालामुखी तब भी अंग्रेजी राज्य को भूमिसात कर देता यदि उसके सिपाही अनुभवी और कुशल होते। क्रान्तिकारियों में चतुर और अनुभवी व्यक्ति थोड़े से ही देखने में आये। यदि दूसरे भी उन्हीं जैसा पराक्रम, युद्ध कौशल व सूझ-बूझ दिखाते तो बहुत सम्भव था पौसा पलट ही जाता। उन थोड़े से क्रान्तिकारियों में जिन्होंने अपने स्वल्प साधनों से ही अंग्रेजों के दौत खट्टे कर दिये, अंग्रेजों की उनके सामने एक न चली, बिहार केसरी बाबू कुँअरसिंह भी उनमें से एक थे।

बाबू कुँअरसिंह बिहार के शाहबाद जिले के जगदीशपुर नामक जागीर के अधिपति थे। उनके पिता बाबू जादासिंह अन्य जागीरदारों की तरह प्रजा पर अत्याचार नहीं करते थे। लगान आदि की बसूली के समय प्रजा के साथ कठोरता का बर्ताव करने के पक्ष में वे कतई नहीं थे। इस कारण कई किसानों पर तो वर्षों की बसूली चढ़ी रहती थी। उनकी इस दयालुता का कुछ लोग नाजायज लाभ भी उठाते थे और चाहकर लगान नहीं देते थे, पर उनके पीछे बाबू जादासिंह सबके साथ ज्यादाती नहीं करना चाहते थे। आय भले ही पूरी नहीं पड़ती हो प्रजा के हित के कार्यों में वे किसी प्रकार की कटौती नहीं करना चाहते थे। वे स्वयं भी अन्य जागीरदारों की तरह शान-शौकत से रहते, मनमाना खर्च करते। परिणाम यह होता कि उनका खजाना सदा खाली ही रहता।

उन्हीं का उत्तराधिकार बाबू कुँअरसिंह को मिला। उनके पिता ने अपनी प्रजा के साथ जो उदारता बरती थी उस परम्परा को उन्होंने ने भी उसी तरह निभाया इससे प्रजा में उनका मान और लोकप्रियता तो बढ़ती ही पर साथ ही रियासत पर कर्ज भार भी बढ़ता जाता था।

शान-शौकत से रहना, खुले हाथों से खर्च करना, अपनी मान-मर्यादा पर आवश्यकता से अधिक खर्च करना तथा जरा-जरा-सी बात पर अपनी हेठी हो जाने की चिन्ता करना- उस समय के छोटे-से-छोटे जागीरदार से लेकर बड़े-से-बड़े राजा की कमजोरी थी। इस कमजोरी से बाबू कुँअरसिंह भी मुक्त नहीं थे और राजाओं व जागीरदारों से वे इस दृष्टि से तो भिन्न नहीं थे पर भिन्न थे

इस दृष्टि से कि उनमें राष्ट्रीयता व परमार्थ की भावना अन्य जागीरदारों व राजाओं से कहीं अधिक थी। उनकी इन भावनाओं ने आगे चलकर उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम के यशस्वी सैनिक बनाकर इतिहास में अमर कर दिया।

अपनी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह प्यार करने और उसकी भलाई के लिए कर्ज लेकर भी काम करने के कारण प्रजा उन्हें बाबू कहती थी, जिसका भोजपुरी में अर्थ होता पिता। दीन-दुःखियों की सहायता करने में वे सदा आगे रहते थे। उसी प्रकार अपनी आन-बान और शान में भी वे अपने से बड़े-बड़े जागीरदारों से भी टक्कर ले लेते थे। मालगुजारी बसूलने में सख्ती नहीं की जाय तो खजाने में बराबर पैसा नहीं आता। खर्च तो घटता नहीं बढ़ता ही जाता था अतः उनकी रियासत पर कोई अठारह लाख का कर्ज हो गया था। इस कर्ज का कारण यह भी था कि उनका इकलौता पुत्र जवानी में ही मर गया था और पौत्र था वह अर्धविक्षित था सो उन्हें रियासत की इतनी चिन्ता भी नहीं थी। वे यही सोचते थे कि प्रजा की रियासत है फिर उनके हित के लिए कर्ज का सहारा लेना ही क्या बुरा है।

१८५७ की क्रान्ति हुई तब बाबू कुँअरसिंह ७६ वर्ष के हो चुके थे। इस आयु में भी उन्होंने जिस वीरता, साहस और युद्ध कौशल का परिचय दिया वैसा यदि सभी क्रान्तिकारी दिखाते तो विजय उन्हीं के हाथ रहती। इस क्रान्ति में उनकी अपनी एक अनुठी भूमिका रही है। कहाँ तो ७६ वर्ष के बाबू कुँअर सिंह अंग्रेजों से कभी प्रकट और कभी छापामार युद्ध करते हुए क्रान्ति को सफल बनाने के लिए प्राणपण से जुटे हुए थे, बड़ी-बड़ी अंग्रेजी सेना उनसे पार नहीं पा रही थी और कहाँ मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के पुत्र जिनके पास बड़ी-सी सेना थी, दिल्ली की रक्षा नहीं कर सके।

क्रान्ति की आग भीतर ही भीतर सुलग रही थी। अंग्रेजों से न जनता संतुष्ट थी, न राजा, महाराजा व छोटे-छोटे जागीरदार ही सुखी थे, हिन्दू और मुसलमान एक होकर इस तीसरी हुकूमत को भारत से हटाने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे। फकीरों और साधुओं द्वारा घर-घर, गाँव-गाँव जाकर आजादी का अलख जगाया जा रहा था। दिल्ली, आगरा, मेरठ, झाँसी, कानपुर इसके केन्द्र थे। पूरे उत्तर भारत में यह आग राख में दबी-ढकी दावानल बनने का प्रयास कर रही थी।

बाबू कुँअरसिंह को इसका पता चला तो उनका स्वतन्त्रता प्रिय हृदय इसके लिए मचल उठा। यद्यपि उनकी अंग्रेज अधिकारियों से अच्छी मित्रता थी तथा अंग्रेज सरकार ने उनकी रियासत का प्रबन्ध भी अपने हाथ में ले रखा था पर जहाँ देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न था वे पीछे रहने वाले कहाँ थे। उन्हें अपने व्यक्तिगत हितों की उतनी चिन्ता थी भी कहाँ।

वे भी इस बहती गंगा में हाथ धोने की मानसिक तैयारी कर चुके थे। अतः वे तीर्थयात्रा के बहाने जगदीशपुर से निकले और बिदूर पहुँच नाना साहब पेशवा के पास जिन्होंने और उनके अभिन्न मित्र अजीमुल्ला ने इस क्रान्ति की पूरी योजना तैयार की थी। नाना साहब कुँअरसिंह से मिलकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें एक और समर्थ सहायक मिल गया बाबू साहब के रूप में। बिदूर से निकलकर वे कई तीर्थस्थलों का भ्रमण करते हुए कई महीनों में वापस जगदीशपुर पहुँच गये।

यद्यपि उन्होंने नाना साहब से मिलने की बात को यथासम्भव गुप्त ही रखा था पर उनके किसी विश्वासघाती द्वारा यह सूचना अंग्रेज अधिकारियों तक पहुँच चुकी थी अतः वे सतर्क हो गये। ढाई वर्ष पहले उन्होंने जगदीशपुर जागीर का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया था, वह किसी पूर्व सूचना के बिना बाबू कुँअरसिंह को लौटा दिया। अंग्रेजों ने उनके कर्ज के हिस्से में इन ढाई वर्षों में एक भी पैसा नहीं चुकाया था जबकि शर्त के अनुसार आय में से प्रबन्ध का खर्च काटकर शेष कर्ज चुकाने में खर्च होना चाहिए था पर अंग्रेज समर्थ थे वे कुछ भी कर सकते थे। उनकी इस अनीति से बाबू कुँअरसिंह बड़े रुष्ट हुए और क्रान्ति के भड़कते ही उन्हें उखाड़ फेंकने की तैयारी में लग गये।

१८ जून, १८५७ को पटना कमिश्नरी के सभी जागीरदारों की सभा वहाँ के कमिश्नर ने बुलायी पर बाबू कुँअरसिंह वहाँ नहीं गये। इस पर मौलवी अजीमुद्दीन नामक डिप्टी कलेक्टर को २ जुलाई, १८५७ को उन्हें पटना कमिश्नर के पास हाजिर करने के लिए भेजा पर वे गये ही नहीं। जगदीशपुर में क्रान्ति की योजनाएँ बनने लगीं। गया का जमींदार अब्दुल करीम खाँ भी इन्हीं दिनों जगदीशपुर आया। वह भी उनके साथ मिलकर क्रान्ति में सहयोग देने को तैयार हो गया। दुर्भाग्य से कुँअरसिंह का भतीजा रिपुभंजन सिंह घर का भेदिया बनकर यह सूचनाएँ अंग्रेजों को देता रहा। पर जो आग लग चुकी थी उसे बुझाना अंग्रेजों के बस का रोग नहीं था।

२५ जुलाई, १८८७ के दिन दानापुर छावनी की ७ व ८ नम्बर की पलटन ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के पीछे बाबू कुँअरसिंह के निकटतम सहयोगी रहे कृष्ण सिंह और रणदलन सिंह का हाथ था। ये विद्रोही सिपाही इन दोनों के साथ सोन नदी पार करके आरा जा पहुँचे जहाँ कुँअर सिंह अपनी पूर्व योजना के अनुसार यहाँ उपस्थित थे, अपने सैनिकों के साथ।

इन लोगों ने देखते ही देखते आरा स्थित अंग्रेजी सेना को मार भगाया। आरा पर क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया। सेना की कमान अब ७६ वर्षीय अनुभवी वीर योद्धा कुँअरसिंह के हाथ में थी। २९ जुलाई को गागों के युद्ध में अंग्रेजी सेना का कप्तान मारा गया। ५०० गोरे सिपाहियों में ५० ही जीवित बचे। मैदान कुँअरसिंह के हाथ रहा।

२ अगस्त को बीबीगंज के संघर्ष में विन्सेंट आयर से भिड़कर भी कुँअर सिंह अपने रण कौशल के बल पर अपने सैनिकों को बचाकर निकल भागने में सफल हुए। बाबू कुँअरसिंह ने अपनी प्रजा के साथ जिस उदारता का व्यवहार किया था उसका सुफल उन्हें इस समय मिला। उन्हें सैनिकों की कमी न रही। हजारों की संख्या में अवैतनिक सैनिक अपने नायक का साथ देने को तैयार हो गये। उनके छोटे भाई अमरसिंह जो पहले किसी बात पर उनसे रुष्ट हो गये थे अपने वीर भाई की सहायता करने के लिए आ पहुँचे। बाबू कुँअरसिंह का हौसला दुगना हो गया।

जगदीशपुर अब उनका गढ़ बना, पर आपसी फूट के कारण यह गढ़ टूटा। हरेकृष्ण सिंह को कुँअर सिंह द्वारा अपने छोटे भाई अमरसिंह को सेनापति बनाना अखरा। इसी का परिणाम जगदीशपुर की पराजय थी।

इस पराजय से कुँअरसिंह हताश होने वाले नहीं थे। उन्होंने छापामार युद्ध प्रणाली अपनाते हुए शक्ति संग्रह करने का निश्चय किया। सहसराम की पहाड़ियों में रहकर अंग्रेजों को नाकों चने चबवाए। कुँअरसिंह वहाँ से रीवा पहुँचे महाराज से स्वतन्त्रता संग्राम के लिए १०,००० रुपये खिराज में वसूले। वहाँ से लखनऊ पहुँचे। नबाव लखनऊ ने १२,००० रुपये की सहायता दी और अवध के नबाव ने १६,००० की सहायता दिलवायी, साथ ही उन्हें आजमगढ़ का शासक नियुक्त किया।

२९ मार्च, १८५७ को चार हजार सैनिकों के साथ मिलमेन नामक अंग्रेज सेनापति को बुरी तरह हराया। बनारस का कर्नल डेम्स चढ़कर आया तो उसने भी वैसी ही मार खायी। ६ अप्रैल, १८५८ को मसिना के युद्ध में लार्ड मार्ककार को हराकर उसका रसद व गोला बारूद छीन लिया।

तीन-तीन अंग्रेज सेनापतियों को हराकर यह बूढ़ा शेर जगदीशपुर की ओर पलट पड़ा, नयी शक्ति के साथ हारी बाजी को पुनः जीतने। मार्ग में उन्हें लुगार्ड व ब्रिगेडियर डगलस से उन्हें भिड़ना पड़ा। उन्हें छकाते हुए वे जगदीशपुर की सीमा में आये पर गंगा पार आने पर उनके खवास की छोटी-सी छत्र खींचने की भूल पर अंग्रेजी सेना को उनके हाथी को लक्ष्य कर तोप का गोला फेंकने का मौका मिल गया। लक्ष्य कर फेंके गये गोले के विस्फोट से ही उनका खवास और रणदलनसिंह नामक साथी उड़ गये। उनका एक हाथ और एक पाँव बुरी तरह जख्मी हुए। घाव खतरनाक था। उनके जगदीशपुर आने पर अमरसिंह भी वहाँ आ गये। हरेकृष्ण सिंह, जो अब तक अपने किये पर पछता रहे थे वे भी अमरसिंह से आ मिले। सबने मिलकर लिगार्ड की सेना को वह ऐतिहासिक पराजय दी कि पराजित अंग्रेज सैनिक अनुशासन तोड़कर तालाबों व कुँओं में कूदकर जान बचाने लगे। यह अंग्रेजों के लिए बड़ी लज्जाजनक पराजय थी।

इस विजय के बाद २६ अप्रैल, १८५८ को कुँअर सिंह का देहान्त हुआ। उनके बाद उनके उत्तराधिकारी अमर सिंह ने क्रान्ति यज्ञ जारी रखा। उन्होंने तो अपनी आँखों के सामने क्रान्ति का सफल रूप ही देखा। बिहार केसरी कुँअर सिंह की वीरता और देशभक्ति उन्हें अमर बना गयी है।

आततायी से निपटने वाला—

सरदार ऊधमसिंह

सन् १९१८ को जलियाँवाला बाग में निरपराध भारतीय जनता की एक सभा पर गोलियों की वर्षा की गई। माइकेल ओ डायर तब पंजाब का गवर्नर था। यह दानवीय कृत्य इतिहास के काले पृष्ठों पर लिखा गया। इस समय कितने ही व्यक्ति मारे गये, कितने ही घायल हो गए। उस भीड़ में एक बालक भी था। बारह वर्ष का यह बालक सरदार ऊधमसिंह गोलियाँ चलाने वाले पर बहुत कुपित हुआ। उसने कहा—“मैं भी इसको मारूँगा।”

प्रतिशोध की यह अग्नि उसके हृदय-कुण्ड में लगातार बाइस वर्षों तक जलती रही। हर समय उसको यही लगा रहता था कि मुझे उस हत्यारे को दण्ड देना है जिसने मेरे भाइयों को इस प्रकार गोलियों से भूनकर रख दिया है।

ऊधम सिंह इंजीनियर बना। दैनिक कृत्य सम्पन्न करते, पढ़ते-लिखते उसे अपना मिशन याद रहता। वह इस अवसर में था कि जो ओ डायर यह हत्याकाण्ड कराके इंग्लैण्ड भाग गया है, जब भी भारत वापस आएगा, तभी उसको उसे दण्ड देने का अवसर मिलेगा।

इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते जब उसका धैर्य जबाब दे गया तो वह आगे पढ़ने का बहाना बनाकर इंग्लैण्ड ही चला गया। उस समय इंग्लैण्ड में देशभक्तों का एक अच्छा संगठन हो चुका था। ऊधमसिंह इसी घात में रहता था कि कब ओ डायर से भेंट हो। इतने बड़े शहर में एक व्यक्ति को पाना बड़ा कठिन होता है। वह किसी सार्वजनिक आयोजन की प्रतीक्षा में था।

१३ मार्च, १९४० को यह प्रतीक्षा समाप्त हुई। यह दिन भारतीय गौरव के दिनों में चिरस्मरणीय रहेगा। लन्दन के केक्सटन हॉल में रायल सेन्ट्रल एसोसियेशन सोसायटी व ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन के संयोजन में एक सार्वजनिक सभा हुई। इसमें सर माइकेल ओ डायर का भी भाषण था। जिसकी पूर्व सूचना प्रसारित कर दी गई थी। सरदार ऊधम सिंह को लगा कि अब उसका स्वप्न साकार होने ही वाला है।

यों देखा जाय तो किसी का प्राण-हरण कोई अच्छी बात नहीं है किन्तु कोई व्यक्ति ऐसा क्रूर कर्म करे और शासन द्वारा उसका दण्ड उसे न दिया जाय तो उससे हत्यारों को प्रोत्साहन मिलता है। भारतवर्ष में ऐसा करने वाले को

सरकार भले ही दण्ड न दे पर भारतवासी दे सकते हैं। जिससे भविष्य में कोई ऐसा कुकर्म का साहस न करे।

वह जाकर मंच के सामने वाली कुर्सी पर बैठ गया। माइकेल ओ डायर जिसके गवर्नर पद पर रहते हुए पंजाब में जलियाँवाला गोली-काण्ड हुआ था, भाषण देने खड़ा हुआ। वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ उसे अपने रिवाल्वर का निशाना बनाकर सरदार ने तीन बार किये। ओ डायर धराशायी हो गया, उसका वहीं प्राणान्त हो गया। दो अन्य व्यक्ति बाल-बाल बचे।

सरदार ऊधम सिंह को पकड़ लिया गया और जेल भेज दिया गया। उनके सिर से बहुत बड़ा बोझ हट गया। अब न्यायालय उसे मृत्यु-दण्ड की सजा ही तो देगा। ऐसी मौत किसे नसीब होती है। देशभक्त देश जाति के गर्व की रक्षा के लिये मृत्यु को गले लगाते ही हैं।

“मैंने अंग्रेजों के शासन के नालदार जूतों के नीचे अपने देशवासियों को रौंदे जाते देखा है। मैंने इसका विरोध अपने ढंग से किया है। मुझे इसका पश्चाताप नहीं है। मौत का डर तो उसी दिन मेरे मन से हट गया था जब बाइस वर्ष पहले जलियाँवाला बाग में सैकड़ों बेगुनाह भारतवासियों को मैंने शहीद होते देखा था। भारतवासी अब गुलाम नहीं रह सकते। मैं अदालत से दया नहीं कठोर-दण्ड चाहता हूँ।” यह थे अदालत के सामने उनके बयान। उन्होंने मृत्यु दण्ड सहर्ष स्वीकार किया।

भारतीय संस्कृति की मर्यादाएँ

ब्रिटिश न्यायालय के कठघरे में नर-नाहर ऊधमसिंह खड़े थे। न्यायाधीश ने प्रश्न किया—“नौजवान, क्या तुम अपने बचाव के लिए वकीलों की सहायता लेना चाहते हो?” उत्तर मिला—नहीं! प्रश्नों का सिलसिला चल ही रहा था कि एक युवती भीड़ को चीरती हुए न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित हुई और न्यायाधीश से बोलने की अनुमति लेकर उसने बड़े कातर स्वर में ऊधमसिंह से पूछा कि जब तुम्हारी रिवाल्वर में तीन गोलियाँ शेष थीं, तो तुमने मुझ पर गोली चलाकर निकलने की कोशिश क्यों नहीं की? तुम्हारे पास एक लम्बा चाकू भी था। ऊधमसिंह ने अत्यन्त शिष्टता और विनम्रता से उसे उत्तर दिया—“बहिन, हम भारतीय हैं। स्त्री पर हाथ उठाना भारतीय संस्कृति नहीं है। इसीलिए मैंने रिवाल्वर फेंक दिया था और अपने चाकू को भी जेब में विश्राम करने दिया था। यदि आपके स्थान पर कोई पुरुष होता, तो वह अवश्य गोलियों का निशाना बन जाता।”

न्यायालय ने ऊधमसिंह को मृत्युदंड सुनाया और १२ जून, १९४० को उस नर-नाहर ने प्रसन्न चित्त से “बंदे मातरम्” कहा और फाँसी का हार अपने गले में पहन लिया।

विस्मृत क्रान्तिवीर-

पं. गैदालाल दीक्षित

पति पर मृत्यु की छाया मण्डराते देखकर पत्नी के धैर्य का बाँध टूट गया। वह रोने लगी। अपनी पत्नी को इस प्रकार रोते देख पति ने कहा-“तुम रोती हो तो रोओ, किन्तु आखिर इस रोने से भी क्या मिलने वाला है। दुःख तो मुझे भी है। मैंने जिस बात का व्रत लिया था उसमें कितना निभा पाया? मर तो मैं रहा हूँ पर जिस कारण मैं मर रहा हूँ वह पूरा कहाँ हुआ। मैं यह देखकर मर रहा हूँ, कि मैंने जो कुछ किया वह छिन्न-भिन्न हो गया। मुझे दुःख है कि मातृभूमि पर अत्याचार करने वाले से बदला नहीं ले सका, जो मन की बात थी वह मन में ही रह गयी। मेरा यह शरीर नष्ट हो जायगा। मैं मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि बार-बार इस धरती पर जन्म लूँ और बार-बार इसी के लिये मरूँ। ऐसा तब तक करता रहूँ जब तक कि देश गुलाबी की जंजीरों से छूट न जाए।”

ये अन्तिम शब्द थे मातृभूमि पर बलिदान हो जाने वाले देशभक्त क्रान्तिकारी पं. गैदालाल दीक्षित के। जिन्हें इस असहाय और अजानी अवस्था में मरना पड़ा कि उस समय उनके पास न कोई शिष्य था न साथी, न कुटुम्बीजन न पत्नी न कोई मित्र ही। सरकारी अस्पताल के लावारिस बीमार के रूप में २१ दिसम्बर, १९२० को इस क्रान्तिकारी का अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ, अस्पताल के मेहतरों द्वारा, किसी ने आँसू नहीं बहाये, ब्रह्मांजलियाँ अर्पित नहीं की। न किसी ने शहीदों की चिताओं पर गाया जाने वाला गीत ही गाया। किन्तु जो वतन के लिये अपने सिर पर कफन बाँधकर निकलते हैं उन्हें अपने इस दुःखद अन्त पर कोई मलाल नहीं होता।

देश को अंग्रेजी दासता से मुक्ति दिलाने के लिये कितने ही क्रान्तिकारियों ने अपनी सुख-सुविधाओं और उससे भी अधिक अपनी भावी प्रगति की सम्भावनाओं को ठुकराकर उस पथ का वरण किया जिस पर फाँसी, जेल, आजीवन कारावास, दुःख, अभाव और यन्त्रणाओं का साम्राज्य था। कुछ प्रयास संगठित रूप से चले तो कुछ छुटपुट रूप से। किन्तु वे सब क्रान्तिकारी जो प्रकाश में आये या गैदालाल दीक्षित की तरह अप्रकाशित ही रह गये, वस्तुतः युग की पुकार को सुनकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर युग धर्म पालने वाली सजग आत्माएँ ही थीं।

पं. गैदालाल दीक्षित ने अपने क्रान्तिकारी संगठन को अन्य क्रान्तिकारी संगठनों से जोड़ने का प्रयास तो किया पर वे उसमें सफल नहीं हो सके। उनका यह प्रयास छुटपुट आन्दोलन बनकर रह गया। किन्तु इतने से ही उसका

महत्व कम नहीं हो जाता। क्रान्ति एक व्यक्ति या उसके थोड़े से साथियों के द्वारा सम्पादित हो जाय यह आवश्यक नहीं। उसके लिये तो कई पीढ़ियाँ खप जाती हैं। रामप्रसाद 'बिस्मिल' व मुकुन्दीलाल जैसे क्रान्तिकारी उनके द्वारा ही बनाये गये थे। उनके इस बलिदान ने उन्हें बड़ी शक्ति दी थी।

पण्डित गैदालाल दीक्षित का जन्म आगरा जिले के बटेरवर ग्राम में ३० नवम्बर, १८९० को हुआ था। पैदा होते ही व मातृ-सुख से वंचित हो गये। उनकी ताई ने उनका पालन-पोषण किया।

परिवार की स्थिति साधारण ही थी। किसी तरह उन्होंने इन्टर पास किया जो उस समय को देखते हुए काफी महत्वपूर्ण बात थी। इन्टर पढ़े-लिखे लोग उन दिनों अच्छे-अच्छे पदों पर थे। उनकी आगे पढ़ने की इच्छा थी पर घर की खस्ता हालत इसकी इजाजत नहीं देती थी। अतः इन्टर पास करके वे अध्यापक बन गये।

एक सामान्य परिवार के व्यक्ति के लिये इन्टर तक पढ़ जाना और अध्यापक की अच्छी-भली नौकरी पा जाना एक प्रकार से जिन्दगी की नाव के किनारे लग जाने जैसा ही काम था। पर डी. ए. बी. स्कूल में कार्य करते हुए व आर्य समाज जैसी क्रान्तिकारी संस्था के सम्पर्क में रहते हुए देश-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत हृदय वाले दीक्षित जी के लिये इसी ढर्रे से बने रहना सम्भव नहीं था। हृदय की आग तो समय की हवा का झोंका पाकर भभक पड़ने को तैयार बैठी थी।

बंगाल और महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी आन्दोलन की चर्चाएँ सुन-सुनकर तो उनके युवा रक्त में उबाल आये बिना नहीं रहा। वे इसी विचार में रहते थे कि किसी न किसी प्रकार इन क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क साधा जाय और मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्ति दिलायी जाय। किन्तु उन्हें इस सम्बन्ध में कोई सूत्र हाथ नहीं लगा। सशस्त्र क्रान्ति का यह पथ एक प्रकार यों अनुपयुक्त ठहरता था कि गुप्त रूप से संचालित होने वाली इन गतिविधियों को न तो सामान्य व्यक्ति समझ सकता था, न भाग ले सकता और न ही इनसे व्यापक स्तर पर संगठन का हो सकना भी सम्भव था। किन्तु इनमें से जब कोई देश के नाम पर हैसते-हैसते फाँसी के फन्दे को चूमता था तो उससे जन-जन का अन्तःस्थल को झकझोर उठता था। कहना न होगा कि देश-भक्ति की प्रबल उमंगें जगाने की दिशा में यह असहयोग व सत्याग्रह से भी अधिक प्रभावी था।

बाहरी क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क करने के लिये वे अधिक दिनों तक चुप नहीं बैठ सकते थे। उन्होंने अपने ढंग से क्रान्ति की मशाल जलाने का निश्चय करके एक समिति बनायी जिसका नाम 'शिवाजी समिति' रखा गया। इस समिति का उद्देश्य देश को स्वतन्त्र कराना था।

उन्होंने सोचा कि पढ़े-लिखे लोगों से इस सम्बन्ध में समुचित सहायता मिलेगी किन्तु वैसा हुआ नहीं। जिन लोगों के सम्पर्क में वे आये उनमें प्रायः सभी इसी प्रकार के थे जो पढ़े-लिखकर उच्च पद पाने या धन कमाने के ही चक्कर में रहते थे। उन्हें अपने पिछड़े हुए क्षेत्र के पढ़े-लिखे लोगों के इस दृष्टिकोण को जानकर बड़ा दुःख हुआ कि पढ़े-लिखे लोग उन्नति से अभिप्राय अपनी व्यक्तिगत उन्नति ही समझते हैं, देश व समाज की नहीं। उनका यह नितान्त व्यक्तिवादी दृष्टिकोण गैदालाल दीक्षित को बहुत अखरा और वे ऐसे लोगों की ओर से निराश हो गये।

भावना का जहाँ तक प्रश्न है देश को स्वतन्त्र कराने के लिये सर्वस्व दौंव पर लगा देना उनके लिये बायें हाथ का खेल था पर योजनाबद्ध काम करने में वे कुछ आवश्यकता से अधिक जल्दबाज थे। वे प्रयास करते तो पढ़े-लिखे लोगों में से भी कुछ सहायक बना सकते थे, थोड़े प्रयास से।

पढ़े-लिखे लोगों से हटकर उनका ध्यान चम्बल के बीहड़ों में बसने वाले डाकुओं की ओर गया। यदि उनमें से कुछ लोग ही उनके सहायक बन जायें तो काम बन सकता है। वे उनके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ये डाकू लोग मरने मारने में डरते नहीं साथ ही निशाना बाँधकर गोलियाँ चलाने और मोर्चेबन्दी के मामले में भी पकड़े होते हैं। उनकी सहायता मिल जाये तो उन्हें धन की भी किल्लत नहीं रहेगी। जब जितना चाहेंगे डाका डालकर धन जुटा लिया करेंगे।

यों डाकू भी मनुष्य होते हैं। बाल्मीकि भी एक डाकू ही थे जो आगे चलकर ऋषि बन गये थे। सुधरकर तो वे भी अच्छे आदमी बन सकते हैं पर यह कोई एक दिन में या कुछ महीनों में सम्भव नहीं होता। साथ ही उनके मन में भी अच्छे बनने का संकल्प जागे तब की बात है। उनकी बुरी आदतें और अपराधी वृत्ति एकदम समाप्त नहीं हो सकती। न ही सब डाकू बाल्मीकि बन सकते हैं।

इस प्रयास में उन्हें पहले तो सफलता मिली। ब्रह्मचारी नाम का एक साहसी और जीवट वाला डाकू उनका सहायक बन गया। वह हर समय प्राण हथेली पर रखकर सशस्त्र क्रान्ति का काम किया करता था। वह भी पहले डाकू ही पर अब वह देश के काम आकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करना चाहने लगा था।

डाकुओं को क्रान्तिकारी बनाने के क्रम के साथ ही पं. गैदालाल दीक्षित ने कुछ विद्यार्थियों को भी क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिये तैयार किया था। जिनके नेता पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' और औरैया के मुकुन्दीलाल आदि थे। जिन पर बाद में गैदालाल दीक्षित को जेल से छुड़ाने के असफल प्रयास के सिलसिले में मैनपुरी षड्यन्त्र के नाम से केस चलाया गया था। इस टोली का नाम 'मातृवेदी' रखा गया।

पण्डित गैदालाल यदि डाकुओं को क्रान्तिकारी बनाने के फेर में न पड़ते और युवकों को ही संगठित करके कुछ काम करते तो बहुत सम्भव था वे इतने शीघ्र पकड़े नहीं जाते पर वे तो समझे थे जिस प्रकार ब्रह्मचारी उनका दाहिना हाथ बन गया है वैसे ही और डाकू भी उनके साथ निष्ठावान बने रहेंगे। किन्तु वैसा नहीं हो सका। एक डाकू पुलिस से मिल गया। उसी के कारण वे पकड़े गये।

मुखबिर बन गये डाकू ने पुलिस वालों को उनके दल के सम्बन्ध में पूरी सूचना दे दी थी। मुठभेड़ के समय दल के कई लोग मारे गये, कई भाग गये। ब्रह्मचारी और पण्डित गैदालाल पकड़े गये।

ग्वालियर जेल में उन्हें न तो ठीक से खाना मिलता था और न ही किसी प्रकार की कोई सुविधा ही। क्योंकि डाकुओं के साथ पकड़े जाने पर उन्हें भी डाकू ही समझा गया था। अस्वास्थ्यकर वातावरण, अपर्याप्त भोजन व कठोर श्रम करने के कारण उन्हें टी. बी. हो गयी।

उनके शिष्यों - 'मातृवेदी' टोली के युवकों ने उन्हें छुड़ाने के लिये योजना बनायी। किन्तु वह भी सफल नहीं हुई। योजना कार्यान्वित होने के पहले ही उनमें से एक लड़का मुखबिर बन गया। उनमें से अधिकांश पकड़े गये, केवल पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' बच निकले। इन युवकों पर मैनपुरी षड्यन्त्र केस चला। उन्हीं के पकड़े जाने पर पण्डित गैदालाल के क्रान्तिकारी होने का पता चला और उन्हें ग्वालियर जेल से मैनपुरी लाया गया। यहाँ से वे युक्तिपूर्वक जेल से भाग निकले। किन्तु घर जाने पर घरवालों ने भी पुलिस के भय से उन्हें अधिक दिनों अपने पास नहीं रखा। क्योंकि इस पिछड़े इलाके के लोग देश और क्रान्ति का अर्थ ही नहीं जानते थे। उनकी नजर में तो वे अपराधी थे। पुलिस उनके पीछे पड़ी थी। सो उन्हें अपने जर्जर शरीर को लेकर दिल्ली भाग जाना पड़ा।

वहाँ अपने को अनपढ़ बताकर एक प्याऊ में पानी पिलाने की नौकरी करते हुए स्वास्थ्य लाभ का प्रयास किया पर सफल न हो सके। फरारी का जीवन और ऊपर से बीमार शरीर। हारकर अपने एक विश्वासी मित्र को पत्र लिखा। वे मित्र पण्डित गैदालाल की पत्नी को साथ लेकर आये। उन्होंने शक्ति भर प्रयास किया उन्हें बचाने का, पर जब कुछ सम्भव नहीं हो सका तो उन्हें छछ नाम से सरकारी अस्पताल में भर्ती करा दिया गया। उनकी पत्नी ने तो बहुतेरा चाहा कि पति की सेवा करें पर उनके रिश्तेदारों ने मना किया, पुलिस द्वारा पकड़े जाने का भय दिखाया। अतः विवश हो उन्हें अकेला ही छोड़ देना पड़ा। वे अकेले और अनाम स्थिति में लावारिश की तरह मरे। एक क्रान्तिकारी का यह दुःखद अन्त हुआ।

असफलता के खण्डहरों पर सफलता के प्रासादों की नीवें रखी जाती हैं। उनकी इस असफलता ने भावी क्रान्तिकारियों को जो आधार दिया था उनका अपना महत्व है। पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' जैसे क्रान्तिकारी उन्हीं की देन थे।

भारतीय शौर्य परम्परा के प्रतीक—

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह

युद्ध अच्छी बात है। इस कथन से कोई सहमत नहीं हो सकता। फिर भी युद्ध होते हैं और कभी-कभी तो युद्ध लड़ना अनिवार्य-सा हो जाता है। युद्ध के विनाश को रोकने और दूसरे देश की लोलुपता को लगाम देने के लिए प्रतियुद्ध स्वीकार करना दूसरे देश के लिए आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष जैसे शान्तिप्रिय देश को भी अपने पिछले वर्षों में चार-चार युद्ध लड़ने पड़े हैं। इन युद्धों में भारतीय वीरों ने जिस वीरता का परिचय दिया वह हमारे लिए गौरव की बात है।

शान्ति और अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं होता। रक्षा के लिए उठाया गया शस्त्र अपने साथ पशुता नहीं वरन् पशुता को दबाने वाला नैतिक साहस भी साथ रखता है। यह पिछले दो भारत-पाक संघर्षों में देखा जा चुका है।

अगस्त, १९६५ की बात है। उड़ी-पूँछ क्षेत्र की चौकी पर युद्ध विराम रेखा के इस पार हमारे भारतीय सैनिक और सेनाधिकारी बातचीत करने में व्यस्त थे। तभी पास के डबरोट गाँव का बाबा मोहम्मद दीन इस ओर दौड़ता हुआ आया। उसने बताया कि वह अभी-अभी सादे लिबास में कुछ लोगों को बेतार पर जोर-जोर से बोलते हुए कहीं सन्देश भेजते हुए देखकर आ रहा है। उसे सन्देह है कि ये लोग पाकिस्तानी सैनिक गुप्तचर हैं।

इस बात की सूचना तुरन्त हैड क्वार्टर को भेज दी गयी। वहाँ के ऑफिसर ने अन्य अधिकारियों से विचार-विमर्श करके कप्तान चन्द्र नारायण सिंह को एक दस्ते के साथ इस बात की सचाई का पता लगाने के लिए जाने का आदेश दिया। कप्तान चन्द्रनारायण सिंह इसके लिए तैयार बैठे थे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष ने जो उपलब्धियाँ और सफलताएँ पायी हैं उनमें सर्वाधिक गौरवपूर्ण ही है हमारे जवानों की वीरता और राष्ट्र-भक्ति। कप्तान चन्द्रनारायण सिंह को दो मील दूर उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी के पीछे जाकर पता करना था कि क्या गोल-माल है?

आदेश मिलने के साथ ही भारतीय सैनिकों की यह टुकड़ी अपने कप्तान के साथ चल पड़ी। एक तो बरसात

का मौसम ऊपर से पहाड़ी इलाका। जाने मार्ग में कब कौन-सा जन्तु आ जाय। हिंसक जन्तुओं की ही बात नहीं थी। इन दिनों सौंप, बिच्छुओं की भी बहुतायत होती है। टेढ़ी-मेढ़ी पगड़ण्डियों पर चलते हुए, झाड़-झंखाड़ों में उलझते, नदी-नालों को फलाँगते हुए ये लोग बढ़ते गये।

पहाड़ी की ढलान पर पहुँचना था कि ऊपर से मशीन गन से चलायी गयी गोलियों और मोर्टारों के गोलों ने उनका स्वागत किया। कप्तान ने अपने सैनिकों को रुकने का आदेश दिया। स्थिति बड़ी विषम थी। ये लोग नीचे थे। पाकिस्तानी सैनिक पहाड़ी पर थे। वे इन पर आसानी से गोलियाँ बरसा सकते थे, जबकि इनके द्वारा चलायी गयी गोलियों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो सकती थी।

उन्होंने अपने गिने-चुने सिपाहियों को दो भागों में बाँट कर दायें-बायें होकर गोलियों की मार के क्षेत्र से परे रहकर मोर्चा सम्हाल कर आगे बढ़ने का आदेश दिया। उनके चार्ज के आदेश पर भारतीय सैनिकों की राइफलें गरज उठीं। उधर से भी उनका उत्तर मिला पर कप्तान सिंह ने देखा कि इस गोलावारी का कोई अर्थ निकलने वाला नहीं है और फिर उनके पास गोला बारूद भी कम था सैनिक भी कम थे। अतः उन्होंने अपने सैनिकों को रोक दिया। रात को जब दुश्मन सो जाय तब आक्रमण करने की बात तय रही।

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह अनुभवी सैनिक थे। अपने देश की शान्ति भंग करने और उसके प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने की पाकिस्तानी शासकों की नापाक हरकतों ने उन्हें क्रोध से भर दिया था। भारत आत्म-रक्षार्थ लड़ रहा था, आक्रमण के लिए नहीं।

इस पहाड़ी के पीछे जो पाकिस्तानी सैनिकों का जमाव था वहीं से काश्मीर में घुसपैठिये भेजे जाते थे। कप्तानसिंह यह स्थान उनसे जीतने की मन ही मन योजना बनाते हुए समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह बात साफ जाहिर थी कि पाकिस्तानी सैनिक संख्या और शस्त्रास्त्रों की दृष्टि से उनके साथियों की अपेक्षा कई गुने शक्तिशाली थे। किन्तु उनमें राष्ट्र-रक्षा की यह भावना नहीं थी जो हमारे सैनिकों में थी। इस बात का पता उन्हें था।

रात्रि को भारतीय सैनिकों ने रेंगते हुए आगे बढ़ना आरम्भ किया ताकि पाकिस्तानी सैनिकों को उनके आक्रमण का पता ही न चल पाये पर रात्रि की निस्तब्धता में जरा-सी आवाज भी बहुत ऊँची लगती है सो पाकिस्तानी सैनिकों को इस बात का पता चल गया। उन्होंने गोलावारी करना आरम्भ कर दिया। फिर भी रात के अन्धेरे का लाभ हमारे सैनिकों को भरपूर मिला। जब वे दुश्मन की चौकी से पचास गज दूर रह गये तब कप्तान ने गोली चलाने का आदेश दिया।

भारतीय सैनिकों की राइफलें गरज उठीं। उसका उत्तर दुश्मन ने मोर्टार से गोलों को फेंक कर दिया। कप्तान सिंह सबसे आगे थे। उन्होंने अपने साथियों को आगे बढ़ने

का आदेश दिया। 'रुको नहीं' 'आगे बढ़ो' वे जानते थे कि एक-एक क्षण मूल्यवान है। जो पहले मारता है वह जीता है।

भारतीय सैनिक आगे बढ़ते ही चले गये। उनका नायक उनके आगे चल रहा था। अपने नायक की वीरता और निर्भयता ने उनके हृदय में अपूर्व जोश भर दिया था। चोर की तरह पहाड़ी के पीछे छिपे बैठे पाकिस्तानी सैनिकों में से कुछ के मरते ही बहुत से भाग खड़े हुए। कप्तान सिंह और उनके साथी उन्हें अच्छा मजा चखा रहे थे। मृतकों व घायलों के अतिरिक्त केवल एक पाकिस्तानी सैनिक मशीनगन लेकर मोर्चे पर डटा हुआ था। शेष सब सिर पर पाँव रखकर भाग चुके थे।

वस्तुतः युद्ध में भी भावनायें व नैतिकता ही विजय का मुख्य कारण होता है। पाक सैनिकों के पास कोई उच्च भावना या आदर्श तो था नहीं। वे तो पेट के खातिर सैनिक बनकर मोर्चे पर आ गये थे। उन्हें अपनी जान की चिन्ता थी। इसके विपरीत भारतीय सैनिक देश-प्रेम और राष्ट्र-रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग को भी हँसी खेल मानते थे। कप्तान सिंह ने देखा कि एक पाकिस्तानी सैनिक मशीनगन सम्हाले हुए मोर्चे पर डटा हुआ है तो उनसे न रहा गया। प्रथम तो उन्होंने उसे ललकारा और फिर आगे बढ़ गये उसकी मशीनगन से निकली गोलियों ने उनके सीने को छेद कर रख दिया। गिरते-गिरते भी उन्होंने अपने साथियों को आदेश दिया- 'आगे बढ़ो'।

अपने नायक के बलिदान ने उन्हें दुगुने जोश में भर दिया। भूखे शेरों की तरह लपक पड़े। मशीनगनधारी से अब न रहा गया वह मशीनगन छोड़कर भाग खड़ा हुआ, पर भगता कहाँ भारतीय सैनिकों की रायफलों से निकली गोलियों ने उसे भूनकर रख दिया।

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह ने बलिदान देकर भी पाकिस्तानियों पर विजय की। उनकी इस वीरता ने उनके सैनिकों के मन में अपने प्रिय नायक की मृत्यु का बदला लेने के लिए प्राणों पर खेल जाने की प्रेरणा दी। इस मुहिम में उन्हें विजय के साथ ढेर से हथियार व गोला बारूद भी मिला। इस विजय का मूल्य कप्तान सिंह ने अपने प्राणों से चुकाया था।

एक संघर्षशील व्यक्तित्व—

त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती

अपने जीवन के तीस वर्ष और वह भी जवानी में जेल की काल कोठरियों में काटे हों। वह या तो कुख्यात अपराधी हो सकता है या फिर कोई देशभक्त। देशभक्त

होने की स्थिति में उस व्यक्ति को जीवनदानी कहना ही उचित होगा जिसने जिन्दगी के बेहतरीन तीस वर्ष देश को आजाद कराने के लिये जेल की काल कोठरियों में बिताये हों। त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती एक ऐसे ही जीवनदानी थे।

अपने देश को आजाद कराने के लिये जिन देशभक्तों ने अपनी जवानी में अपनी समस्त महत्वाकांक्षाओं को त्याग कर एक ही ध्येय अपनाया था उसे पूरी तरह निभाया था, उनके हम चिरञ्छणी हैं। उस ऋण से उऋण होने का एक ही मार्ग है कि आजादी के बाद स्वराज्य और सुराज्य की स्थापना के लिये हम भी उन्हीं लोगों की तरह अपनी व्यक्तिगत सुखाकांक्षाओं से ऊपर उठें।

पूर्वी बंगाल के मेमनसिंह जिले के किशोरगंज सब डिवीजन के एक ग्राम में, सन् १८८८ में जन्मे त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती का जीवन इस कार्य में हमारा मार्गदर्शक बन सकता है। जो आजादी के लिये विदेशी-सत्ता से संघर्ष करने में बंगाल सबसे आगे रहा है। वे जब पढ़ते थे तभी से उनके मन में देश के लिये बलिदान देने की तमन्नाएँ उठने लगी थीं। भावनाओं का प्यार तो उनके युवा हृदय में प्रबल वेग से उमड़ रहा था। मार्ग की आवश्यकता थी सो बंगाल के तत्कालीन क्रान्तिकारी दल- 'अनुशीलन दल' ने दिखाया और वे स्वतंत्रता के लिए लड़े जाने वाले लम्बे संग्राम के एक स्थायी सैनिक बन गये।

त्रैलोक्यनाथ पढ़ने-लखने में बहुत तेज थे सदा कक्षा में प्रथम आते थे। मन लगाकर पढ़ने का ही यह परिणाम था। चाहते भी थे कि वे खूब पढ़ें पर जब घर में आग लगी हो तो कोई व्यक्ति उसे बुझाने के अतिरिक्त और कोई बात सोच ही कैसे सकता है। भारत को स्वतन्त्र कराना उस समय ऐसा ही एक अहम् सवाल था। अतः उन्हें पढ़ाई के स्थान पर आजादी की लड़ाई को प्राथमिकता देनी पड़ी। अपने कैरियर से अधिक महत्व देश के भविष्य को देना पड़ा।

१९०८ में जब वे ढाका के निकट गिरफ्तार हुए तो इन्टर की परीक्षा निकट ही थी। वे परीक्षा दे पाते तो बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते, पर ऐसा नहीं कर पाने पर भी वे जीवन की परीक्षा में तो बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुये हैं— इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। बारसाल षडयंत्र केस में उन्हें आजन्म काले पानी की सजा का दण्ड दिया गया।

१९१६ में उन्हें अण्डमान की काल-कोठरियों में नारकीय यंत्रणाएँ सहने के लिये भेज दिया गया। पन्द्रह वर्ष तक वे वहाँ पर रहे। अण्डमान की जेल में रहने का अर्थ होता है जिन्दगी भर के लिये टूट जाना। फिर कैसे कोई व्यक्ति पन्द्रह वर्ष वहाँ बिताने के बाद भी पूरे बयासी वर्ष तक जी सका और जेल से मुक्त होने के बाद भी पाकिस्तानी सरकार से बंगालवासियों के अधिकारों के

लिये लड़ सका ? यह रहस्य कोई शरीर विज्ञानी नहीं सुलझा सकता ।

अण्डमान द्वीप यों भी भारतवर्ष से अलग बहुत दूर सागर के बीच में है । उसकी जलवायु इतनी विषम है कि वहाँ पर रहना स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होता है । अब तो वहाँ आबादी भी हो गयी है पर उन दिनों तो वहाँ बहुत ही कम लोग रहते थे । फिर वहाँ की कालकोठरियों में क्रान्तिकारियों के साथ भी खतरनाक अपराधियों जैसा ही कठोर व्यवहार किया जाता था । कठोर श्रम कराया जाता था और जिसे पशु भी न खाये ऐसा खाना दिया जाता था । दिन में आठ घण्टे कोल्हू पेरने की हाड़-तोड़ मेहनत करने पर खाने को सड़े आटे की रोटियाँ और कीड़ों वाले चावलों का भात मिलता था ।

शिकायत करने पर कोई सुनने वाला नहीं था । जेल अधिकारी शिकायत करने वाले को बहुत बुरा दण्ड देते थे । ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति कैसे जीवित रह सकता है और अपने शारीरिक मानसिक संतुलन को बनाए रख सकता है ? यह बहुत जीवट का काम था और आत्मिक

शक्ति और मनोबल के सहारे ही कोई ऐसा कर सकता था । त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती इसे सजा नहीं तपस्या मानते थे और यह विश्वास करते थे कि उनकी इस तपस्या के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता मिलेगी ।

स्वातंत्र्य वीर सावरकर तथा गुरुमुख सिंह जैसे क्रान्तिकारी उनके साथ रहे थे । 'संधे शक्ति कलियुगे' के मन्त्रानुसार इन लोगों ने वहाँ भी संगठन शक्ति के बल पर रचनात्मक कार्य किया और जेल अधिकारियों को उनकी उचित माँगों को मानने के लिये बाध्य भी किया ।

वीर सावरकर के सहयोगी के रूप में उन्होंने जेल में ही हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य अपनाया । वे स्वयं भी हिन्दी नहीं जानते थे । सावरकर से हिन्दी सीखने वाले पहले व्यक्ति थे । वे यह मानते थे कि शिक्षा केवल स्कूलों में ही नहीं पायी जाती । जीवन में हर परिस्थिति में, हर स्थान पर कुछ न कुछ सीखा जा सकता है, सिखाया जा सकता है । फिर चाहे जेल की दीवारें हों या काले-पानी की काल-कोठरियाँ, वहाँ भी मनस्वी और कर्मनिष्ठ चुप नहीं बैठते ।

परतंत्र भारत में भी वे स्वतन्त्र भारत की बातें सोचा करते थे । उन्हें पूरा विश्वास था कि अब जब देश की जनता जाग गयी है, अंग्रेज सरकार अधिक दिनों तक भारत को पराधीन नहीं रख सकती । भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही उनके दायित्वों की इतिश्री नहीं हो जायगी । इस विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने के लिये एक भाषा का होना बहुत आवश्यक होगा । यह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । अतः इस भाषा के प्रचार का कार्य उन्होंने सावरकर के साथ वहीं काले पानी की जेल में ही आरम्भ कर दिया । आरम्भ में इस कार्य में कुछ

बाधाएँ आयीं पर वे लोग उन पर विजय पाते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहे । उसके सम्मिलित प्रयास से २०० से भी अधिक बंदियों ने वहाँ पर हिन्दी भाषा सीखी ।

ये लोग वहाँ भी चुप नहीं बैठे तो सरकार ने उन्हें वहाँ से भी हटाने की बात सोच ली । त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती को अण्डमान से हटाकर माण्डले की जेल में रखा गया, जहाँ १९२५-२६ में वे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ भी रहे । १९३२-३३ में वे मद्रास जेल में रहे । यहाँ उन्होंने अपनी व्यवस्थित दिनचर्या अपनाकर अण्डमान जेल में बिगड़े हुए स्वास्थ्य को बहुत कुछ सुधार लिया । यों परिस्थितियाँ यहाँ भी कुछ भी अनुकूल नहीं थीं पर वह भी तो उन लोगों में से नहीं थे जो परिस्थितियों का रोना रोया करते हैं ।

१९३४ में वे अवसर पाकर जेल से फरार होने में सफल हो गये । उन्होंने जेल से निकलने के बाद अपना नाम भी 'शशिकांत' रख लिया ताकि सरकारी पुलिस व गुप्तचरों का ध्यान उनकी ओर से हट जाए । वे उन्हें झोसा देने में सफल हो गये ।

चक्रवर्ती जी की तपस्या पूरी हुई । १९४७ में अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा । उनकी जन्मभूमि पूर्वी पाकिस्तान के क्षेत्र में आयी । पश्चिमी पाकिस्तान के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को शरण देने के लिये तो भारत सरकार तैयार थी पर पूर्वी पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों को वह यहाँ शरण देने के लिए विधिवत् तैयार नहीं थी । ऐसी स्थिति में उन्होंने वहीं रहकर अपने अल्पसंख्यक भाइयों की सेवा करना अपना लक्ष्य बनाया । उनका कहना था— "सच्चे देशभक्त को यह शोभा नहीं देता कि वह अपना देश छोड़ दे । सारे भारत की स्वाधीनता के लिये लड़ने के बावजूद मेरा पूर्वी बंगाल से सम्बन्ध है, इसलिये अन्तिम श्वास तक पूर्वी पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के लिये न्याय व अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष करना मेरा कर्तव्य है । मेरा कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है ।"

श्री चक्रवर्ती ने पाकिस्तान सोशलिस्ट पार्टी की नींव डाली । यह पार्टी सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र को एक मानने वाले विवेकशील व्यक्तियों का अपना दल बन गयी । इस दल को संकीर्णमना सम्प्रदायवादी राष्ट्रपति जनरल अयूब, जो वास्तव में एक तानाशाह थे, ने १९५८ में इस पर प्रतिबंध लगा दिया । श्री चक्रवर्ती १९५४ से ५८ तक वहाँ की विधान सभा के सदस्य रहे ।

पूर्वी पाकिस्तान में इस्लामपरस्त सरकार ने वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर जो अत्याचार किये और उन्हें वहाँ से भाग खड़े होने को विवश किया । उनकी सम्पत्ति को शत्रु सम्पत्ति घोषित किया । यह सब अन्याय था । अन्याय से संघर्ष करना त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती का धर्म था । सो वे भारत के स्वतन्त्र होने से पहले अंग्रेज सरकार से और तत्पश्चात् विखण्डित भारत की पाकिस्तान सरकार से संघर्ष करते रहे ।

उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। खादी की श्वेत साधारण वेशभूषा में वे सादगी और सज्जनता के प्रतीक लगते थे। उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की परिचायक थी उनकी यह वेशभूषा। बंगलादेश के स्वतन्त्र होने का पूर्वाभास उन्हें हो गया था। यह कहना असत्य न होगा कि इस सम्भावना को साकार करने के लिये नींव भरने का कार्य उन्होंने जैसे लोगों ने किया था।

उनकी इन गतिविधियों को देखते हुए— पाकिस्तान सरकार ने भी उन्हें वर्षों तक नजरबन्द बनाये रखा यह भी एक विचित्र संयोग था कि वे १९७० में तीन महीने के लिये भारत आये और यहीं १ अगस्त, १९७० को दिल्ली में उनका देहावसान हो गया। भारत भ्रमण के लिये वे चौदह वर्ष तक पाकिस्तान सरकार से स्वीकृति लेने के लिये प्रयत्नशील रहे पर स्वीकृति भी उस समय मिली कि वे पुनः पाकिस्तान लौट ही न सके और उसके दो वर्ष बाद तो उस धरती से पाकिस्तान का नाम ही उठ गया। उनका यह संघर्षशील व्यक्तित्व अन्याय, अनीति से जीवनपर्यन्त जूझने की अनुठी कहानी है जो प्रेरक भी है और रोमांचक भी।

असहयोग के आद्य प्रवर्तक—

बाबा रामसिंह

महाराज रणजीतसिंह की फौज में एक बीस वर्षीय उत्साही देशभक्त नौजवान भर्ती हुआ। हृदय में राष्ट्रप्रेम का ज्वर लहरा रहा था। दिल्ली में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य था। रणजीतसिंह के साहस और शौर्य से भयभीत रहने के कारण पंजाब तो विदेशी सत्ताधीशों के कुचक्र से अछूता ही रहा था परन्तु इतने बड़े राज्य पर ललचायी दृष्टि तो थी ही।

उधर महाराजा की फौज में कई प्रकार की कुरीतियाँ, जिनके कारण बड़े-बड़े साम्राज्य ध्वस्त होते रहे हैं देखी जा रही थीं। सिक्ख फौज की शक्ति तेजी से क्षीण होती जा रही थी। महाराजा रणजीतसिंह की दी हुई जागीरों पर ऐशो आराम की जिंदगी जीते हुए सरदार अपना चरित्र खोने लगे थे। अपने अन्तिम दिनों में महाराज भी उतने शक्तिशाली नहीं रहे थे। फौज और सरकार दोनों ही ईर्ष्या और फूट की शिकार हो चुकी थी।

ऐसी स्थिति में उक्त नौजवान रामसिंह उद्दत्त आदर्श के प्रतीक कहे जा सकते हैं। फौज में उन्हें भाई रामसिंह के नाम से जाना जाता था। सामान्य सैनिकों में वे बड़े ही सम्मानित थे परन्तु उनकी निर्भीक आलोचना से सैनिक अधिकारियों की आँख में वे सदा ही खटकते रहे। सन् १८३९ में महाराजा रणजीतसिंह का देहान्त हो गया। उनके मरते ही राष्ट्राधिकारियों की ईर्ष्या और सत्ता लिप्सा फूट पड़ी। उनको ऐसा कोई योग्य उत्तराधिकारी नहीं मिल

सका जिसने उतने बड़े साम्राज्य का कुशलता से संचालन किया हो।

फलस्वरूप अगले छह सालों में पंजाब की सात सरकारें बदलीं। समूचा शासन तन्त्र लड़खड़ा गया। युवक रामसिंह ने इससे खिन्न होकर सेना की नौकरी छोड़ दी और १८४५ में नौकरी छोड़कर अपने गाँव आ गये। यहाँ जीवकोपार्जन के लिए उन्होंने एक किराने की दुकान खोल ली।

प्रत्यक्ष में रामसिंह सार्वजनिक जीवन से विरत होने लगे परन्तु उनका वास्तविक देश-भक्त अब एक नयी दिशा में मोड़ ले रहा था। किराने की दुकान पर उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से बँधकर बहुत से लोगों ने देश सेवा की प्रेरणा पायी। परम्परागत सिक्ख वेशभूषा और मुख-मण्डल पर चमकती हुई ईश्वर-निष्ठा की दीप्ति ने उनके व्यक्तित्व को एक उत्कृष्ट, प्रभावशाली और तेजस्वी स्वरूप प्रदान किया। यहीं पर वे आगन्तुकों को धर्मोपदेश की शैली में राष्ट्रभक्ति की शिक्षा देते। लोगों के हृदय में उनके प्रति अगाध स्नेह और सम्मान बस गया। जिसके कारण वे सर्व साधारण में 'बाबा' के नाम से लोकप्रिय हो गये। उनकी पत्नी और पुत्री भी दिन भर दुकान का काम सम्हालती। दुकान का काम तो नाम भर को था। वस्तुतः बाबा इसके माध्यम से लोगों को विशेषकर युवा वर्ग को नयी जीवन-दिशा देते थे। दुकान पर आगन्तुकों के खान-पान और रहने के लिये 'गुरु का लंगर' चलने लगा।

पंजाब में उस समय महाराज दलीपसिंह का राज्य चल रहा था। अंग्रेजों ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया। परिणाम वही हुआ। पंजाब का विशाल साम्राज्य अंग्रेजों के हाथ में चला गया। अंग्रेजों की चाल में आकर महाराज दलीप इंग्लैण्ड चले गये और बाद में वे ईसाई भी हो गये।

इतना सब कुछ होने पर भी पंजाब को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं हुई। जिन सिक्ख धर्मानुयायियों ने मुगल सत्ता के दौंते खट्टे किए थे। गुरु गोविन्द सिंह के युग की सिक्ख जाति का जोश ठण्डा हो चुका था। अंग्रेज सरकार ने क्षेत्रीय रियासतों को कायम रख के सिक्ख नेताओं को अपनी ओर फोड़ लिया था। रस्मो-धर्म निभाने और अपनी जागीर को बनाये रखने के लिए अंग्रेज अधिकारियों की खुशामद करते रहना ही उनका काम था।

बाबा रामसिंह के लिए यह सब असह्य था। सिक्ख सरदारों की भ्रष्टता और सिक्ख-पन्थ की गौरवशाली परम्परा दोनों की तुलना करते हुए उनका हृदय एक साथ क्षोभ और आक्रोश से भर उठता। क्षोभ और आक्रोश भरी इसी मनःस्थिति में उन्होंने विशुद्ध वीरों की सेना गठित करने की आवश्यकता अनुभव की। अंग्रेजी दासता से मुक्त होने के लिए उनका हृदय छटपटाने लगा।

अपने इस विचार को तुरन्त कार्यरूप में परिणित करने के लिए बाबा ने स्वतन्त्रता का महत्व धर्म ग्रन्थों के दृष्टान्त-उदाहरण दे देकर प्रचारित करना आरम्भ कर दिया। सिख जाति में जो मुर्च्छा फैल रही थी उससे वह धीरे-धीरे जागने लगी। इन्हीं दिनों १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा गया। बाबा इसे सफल होते देखना चाहते थे परन्तु उसकी सफलता में उन्हें विश्वास नहीं था। कारण यह था कि जनता में जब तक क्रोध की तड़प न पैदा हो जाय किसी भी शक्तिशाली 'सरकार के प्रति विद्रोह' सफल नहीं हो सकता। जन-आक्रोश को भड़काने के लिये वे चरित्र की उत्कृष्टता और शक्ति को आवश्यक मानते थे। दुर्भाग्य से तत्कालीन जनता इन सद्गुणों से वंचित थी और बाबा के पास भी जनशक्ति का लगभग अभाव ही था। फलस्वरूप उन्होंने इस संग्राम में भाग नहीं लिया।

क्रान्ति की असफलता ने बाबा के सामने क्रान्ति दर्शन के नये-नये आयाम प्रस्तुत किये। उन्होंने अपनी गति-विधियों को और अधिक बल दिया। बाबा ने अपने अनुयायियों को संगठित करने के लिए- 'नामधारी पन्थ' की घोषणा की।

तीन वर्षों में ही बाबा के अनुयायियों की संख्या साठ हजार हो गयी। उनके अनुयायी सीधी पगड़ी बाँधते, सफेद खहर के कपड़े पहनते, तलवार रखने की तो मनाही थी इसलिए एक टकुआ रखते। नामधारियों के लिए मौस और शराब वर्जित थे। उस समय जबकि पूरे पंजाब में इनका प्रचलन आम हो गया था, नामधारी अलग ही दीखते। अनेक शिष्यों ने इस पन्थ को अपनी सारी सम्पदा अर्पित कर दी। बहुत से धनाढ्य और जागीरदार अपनी जमीन-जायदादें बेचकर नामधारी पन्थ में सम्मिलित हो गये। उत्तरोत्तर यह पथ गति पकड़ता गया। फलस्वरूप अगले दस वर्षों में इनकी संख्या तीन लाख से भी ऊपर हो गयी।

अब बाबा ने अपने शिष्यों के लिए अगला कार्यक्रम रखा। अंग्रेजी स्कूलों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। जहाँ भारतीय संस्कृति और धर्म से विमुख करने वाली पतनकारी शिक्षापद्धति का बोलबाला था। नामधारियों ने जगह-जगह अपने स्कूल खोले जहाँ मातृभाषा में शिक्षा दी जाती और राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम की भावनाएँ बालकों में कूट-कूट कर भरी जाने लगीं। विश्व के इतिहास में बाबा ने पहली बार नये प्रकार का रचनात्मक विरोध किया। सरकारी डाकखानों और रेलों का भी बहिष्कार किया जाने लगा। इतना ही नहीं इस पंथ के लोगों ने अपनी एक अलग डाक व्यवस्था बना ली। शासन तन्त्र के समान ही डाक व्यवस्था इतनी दक्षता से चलाई जाने लगी कि सरकार भी दंग रह गयी। महात्मा गाँधी द्वारा सन् १९२१ में चलाया जाने वाला असहयोग आन्दोलन भी इतना सफल नहीं रहा होगा जितना कि

बाबा द्वारा चलाये जाने वाला यह आन्दोलन। इसमें मात्र नाम का ही अन्तर रहा कि महात्मा गाँधी ने अपने आन्दोलन का नामकरण कर दिया। परन्तु असहयोग आन्दोलन के आद्य-प्रवर्तक के रूप में बाबा रामसिंह स्वयमेव ही प्रतिष्ठित हैं।

सारे नामधारी सिखों ने वर्षों तक अंग्रेजी अदालतों और अन्य दूसरी सरकार संस्थाओं का बहिष्कार किये रखा। न्याय और अन्य प्रकार की सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिए जगह-जगह पंचायतें कायम कर ली गयीं। जहाँ इस प्रकार के आपसी विवादों का निपटारा किया जाता। रूस, नेपाल, कश्मीर और काबुल में उन्होंने अपने दूतावास कायम कर लिए। बाबा का यह आन्दोलन धार्मिक पृष्ठभूमि पर चलाया जा रहा था और उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्म-सत्ता की शक्ति राज्य-सत्ता की शक्ति से किसी भी प्रकार कम नहीं है वरन् उससे ज्यादा बढ़-चढ़ कर ही है।

बाबा ने नामधारियों के सैनिक प्रशिक्षण का भी क्रम बनाया। कई सैनिक शिक्षण पाने के लिए कश्मीर की फौज में भरती हो गये। इस प्रकार आम लोगों में विदेशी शासन के प्रति नफरत पैदा होने लगी। पर अंग्रेज शासन बाबा के प्रभाव को देखते हुए उनके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा पा रहा था। नामधारी पन्थ का धार्मिक स्वरूप जन-आस्था का प्रतीक बन चुका था। इधर पुलिस अधिकारी बार-बार सरकार को यह चेतावनी दे रहे थे कि यह संस्था सन् १८५७ के विप्लव से भी ज्यादा खतरनाक स्थिति पैदा कर देगी।

अन्ततः पुलिस अधिकारियों को यह आशंका सत्य सिद्ध हुई। नामधारी सूत्रों ने विद्रोह की घोषणा कर दी थी। बूचड़खानों में प्रतिदिन कई हजार गायें कटतीं। १८७१ में नामधारियों ने अमृतसर के बूचड़खानों पर हमला बोल दिया। इस मौके का फायदा उठाकर सरकार ने बाबा जी को गिरफ्तार कर लिया। अब तो कूके और भी भड़क उठे। मलोह और मलेर कूटला रियासत के नवाब पर हमला बोल दिया। उनकी योजना थी कि इन रियासतों से हथियार लूटकर बड़े पैमाने पर क्रान्ति की जाय। परन्तु यह योजना अंग्रेजों की कुटिल नीति के कारण असफल रही। इस विद्रोह को दबाने के लिए कड़ा दमन चक्र चलाया गया। लुधियाना में कई क्रान्तिकारी नामधारियों को तोपों के सिरों पर बाँधकर पाशविक तरीके से मरवा दिया गया। १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद का यह दूसरा संग्राम भी बुरी तरह विफल हुआ।

बाबा जी को बिना मुकदमा चलाये ही देश-निर्वासन की सजा दी गयी और वे वर्मा भेज दिये गये। नामधारी फिर भी हिम्मत नहीं हारे। उनकी संख्या बढ़ती ही गयी। वर्मा से बाबाजी डाक आदि के माध्यम से अपने सन्देश भेजते रहे। जिन्हें उनके शिष्य देश के विभिन्न

इलाकों में पहुँचाते रहे । कुछ सिक्ख विदेश भी गये ताकि वहाँ से मदद पा सकें ।

परन्तु पहले विफल प्रयास के बाद इतना सशक्त कदम नहीं उठाया जा सका । १८८५ में बाबा जी का देहान्त हो गया फिर भी आत्मा की अमरता में विश्वास रखने वाल कूके, बाबा को सदैव अपने आस-पास जानकर संघर्ष करते रहे । परन्तु बाबा का साहस और शौर्य किसी प्रकार विफल नहीं कहा जा सकता । उन्होंने लाखों निरुद्देश्य मनुष्यों के जीवन को नयी दिशा दी । जिसके कारण वे सहज ही महामानव की पंक्ति में गिने जाते हैं ।

वीर सेनानी—

सुखवीर सिंह और मथुरादास

सितम्बर १९६५ । पाकिस्तान द्वारा भारत की पवित्र भूमि पर आक्रमण, सीमा पर घमासान युद्ध जारी था । बर्फी मोर्चे पर शत्रु की चौकी को अपने कब्जे में करने का काम ले० सुखवीर सिंह को सौंपा गया । सुखवीर के नेतृत्व में भारतीय जवान शेर की तरह आगे बढ़ते जा रहे थे । दुश्मन की तोपें गोले बरसा रही थीं ।

अचानक एक गोला सुखवीर के साथी पर गिरा । वह अपने साथी को उठाकर जैसे ही आगे बढ़े कि उनके सीने में गोली आकर लगी और वह वहीं गिर गये । उनके साथियों ने तुरन्त उठाकर चिकित्सालय ले जाने की तैयारी की पर उस सपूत ने जाने से मना कर दिया उसने अपने घाव पर स्वयं ही पट्टी बाँध ली और तोपों को पीछे ढकेलते हुये तूफानी गति से आगे बढ़ने लगे । शरीर से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी । पर सुखवीर के पास इतना समय नहीं था कि अपने शरीर से निकलने वाले रक्त को देखें और एक क्षण रुक कर उसके उपचार की बात सोचें ।

उसके सामने केवल एक ही लक्ष्य था । उसी की धुन पर संचार थी कि किसी प्रकार शत्रु की चौकी को कब्जे में करके उस पर तिरंगा झण्डा फहराया जाये ।

ले० सुखवीर सिंह के अपने प्राणों के मोह को त्याग कर शत्रु सैनिकों को पीछे खदेड़ दिया और जिस चौकी को कब्जे में करने का आदेश दिया था, उस पर कब्जा करके अपना झंडा फहरा दिया । लहराते हुये तिरंगे ध्वज को देखकर उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । वह भारत माँ का लाड़ला सदैव के लिए उसकी गोदी में सो गया ।

चण्डी की पर्वत माला से संत मथुरादास को डोली में लिटाकर कनखल के 'रामकृष्ण सेवा आश्रम' में लाया गया । स्वास्थ्य उनका अधिक खराब था । उठना-बैठना तक मुश्किल था । चिकित्सकों द्वारा जाँच करने पर पता लगा कि उनकी जाँच तथा पेट में मवाद भरा है दोनों ही बुरी तरह चक गये ।

उन्हें आपरेशन टेबिल पर लिटाया गया और क्लोरोफार्म सूँघाने के लिए उपकरण लाकर नाक के पास रखे । उन्होंने देखा तो डॉक्टर से पूछा । डॉक्टर ने उत्तर दिया, "महात्मा जी! यह क्लोरोफार्म है, इसके सूँघने से बेहोशी आ जायेगी और आपका आपरेशन आसानी से किया जा सकेगा आपको किसी प्रकार का कष्ट भी न होगा ।"

संत ने कहा " इन सब वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं । इसे उठाकर रख दीजिये और आप आपरेशन कीजिये । मेरे आपरेशन में शरीर का कोई हिस्सा न हिलेगा और न डुलेगा आप अच्छी तरह अपना कार्य कर सकेंगे, डॉक्टर को संत की बात माननी पड़ी । डॉक्टर ने चाकू उठाकर संत की जाँच में लगभग एक फुट लम्बा चीरा लगा दिया । उसमें मवाद ही मवाद भरा हुआ था । लगभग एक बाखरी मवाद निकला ।

एक चीरे से काम न चला तो दूसरे स्थान पर भी उतना ही बड़ा एक चीरा और लगाना पड़ा, पर संत उस से मस न हुये उनके मुँह से किसी ने आह तक न सुनी । मवाद निकालने के बाद घाव पर पट्टी बाँधी गई । सारा काम समाप्त हो जाने पर वह अन्यत्र जाने को तैयार हो गये । चिकित्सकों तथा अन्य व्यक्तियों के विशेष आग्रह पर वह कुछ दिनों के लिये वहाँ रुकने को तैयार हुए । व्यक्ति अपने ध्यान को एकाग्र करके असहनीय पीड़ा को भी सहन कर सकता है ।



उत्कट देशभक्ति के प्रतीक महामानव

युग-दृष्टा राजर्षि-गोखले

श्री गोपालकृष्ण गोखले के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए महात्मा गाँधी ने लिखा है-लोकसेवकों को कैसा होना चाहिए, इसकी जो कल्पना मूर्ति मैंने अपने मन में बसा रखी है उस आदर्श के साकार स्वरूप श्री गोखले थे। वे स्फटिक जैसे निर्मल, गाय जैसे सरल, सिंह जैसे शूर थे। उदारता इतनी अधिक थी कि उसे दोष भी माना जा सकता है। मुझे उनके व्यक्तित्व में कहीं रत्ती भर भी दोष नहीं दीख पड़ा। मेरी दृष्टि से राज-नेताओं के क्षेत्र में वे एक आदर्श व्यक्ति थे।

ओछे व्यक्तित्व के मनुष्य कभी बड़े काम नहीं कर सकते। जिस चतुरता के बल पर वे नामवरी और सफलता कमाने की आशा लगाते हैं, अन्त में वही उन्हें धोखा देती है। ओछापन देर तक छिप नहीं सकता और जब वह प्रकट होता है तो अपने ही पराये बन जाते हैं और वे लोग जो आरम्भ में उनकी प्रशंसा किया करते थे वे ही अन्त में निन्दक, असहयोगी बन जाते हैं। यों सीमित दायरे में जीवन क्रम रखने वाले को भी वैयक्तिक सफलताओं के लिए उदात्त दृष्टिकोण ही रखना अपेक्षित है पर जिसे सार्वजनिक क्षेत्र में काम करना हो उसे ओछापन छोड़कर उदारता और साधुता का ही अवलम्बन करना चाहिए। व्यक्तिगत उत्कृष्टता के अभाव में मनुष्य के सारे गुण निरर्थक सिद्ध होते हैं। विशेषतया सार्वजनिक कार्यकर्ता की सफलता तो संदिग्ध ही हो जाती है। धूर्तता के बल पर कोई व्यक्ति लोकनेता के पद पर देर तक आसानी से नहीं रह सकता, भले ही वह किसी प्रकार उसे कुछ समय के लिए प्राप्त करने में सफल हो जाय।

गाँधीजी जौहरी थे। वे मनुष्यों को परखते थे। गुणों के आधार पर नहीं, व्यक्तित्व के आधार पर, गोखले को उसने परखा तो खरा पाया और सच्चे मन से उनके अनुयायी हो गए। वे उन्हें अपने राजनैतिक गुरु के रूप में मानते थे और अपनी गतिविधि निर्धारित करने में उनसे बहुत प्रकाश ग्रहण करते थे।

ऋषि शब्द की व्याख्या करते हुए यही कहा जा सकता है कि मानव जीवन की समस्याओं पर जो समग्र रूप से विचार कर सके, युग के अनुरूप अपना कर्तव्य निर्धारित कर सके, गिरों को उठाने के लिए जिसके मन में तड़पन उठती हो और स्वयं तपस्वी जीवन बिताते हुए दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करे वह ऋषि है। काका कालेलकर ने पिछले दिनों भारत में जन्मी विभूतियों में से देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रानाडे, अण्णासाहेब पटवर्धन, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द, गोखले, गाँधी, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, एनी बेसेण्ट आदि

महामानवों को ऋषि श्रेणी में गिना है। गोखले सचमुच इसी श्रेणी के ऋषि हुए हैं।

वे सच्चे ब्राह्मण थे। राजनीति में धर्म का प्रवेश उन्होंने आवश्यक माना और इसके लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न करते रहे। एक बार एक संन्यासी उनके पास आए और ब्राह्मण होने की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने लगे। गोखले ने उत्तर दिया यदि किसी वंश में जन्म लेने के कारण मुझे श्रेष्ठ माना जाय तो ऐसी श्रेष्ठता को दूर से ही मेरा नमस्कार है। मनुष्य गुणों में श्रेष्ठ बन सकता है फिर चाहे वह किसी देश, जाति या वर्ग का क्यों न हो। गोखले ब्राह्मण कुल में जन्मे थे पर उनकी श्रेष्ठता जन्म में नहीं कर्म में सन्निहित थी।

उस महामनीषी ने गरीबी जन्मजात ईश्वरीय वरदान के रूप में पायी और उसे वे आजीवन प्रेमपूर्वक छाती से लगाये रहे। महाराष्ट्र के रत्नगिरी जिले के एक छोटे से गाँव में वे जन्मे थे। छोटी आयु में ही पिताजी का स्वर्गवास हो गया। विधवा माता, चार बहिनें और दो भाई सात प्राणियों के गुजारे के लिए कोई साधन न था तो उनके बड़े भाई को पढ़ाई छोड़कर १५) मासिक की नौकरी करनी पड़ी। उदार बड़े भाई ने अपने छोटे भाई की पढ़ाई बन्द न होने दी। उसे कोल्हापुर पढ़ने भेजा और उस १५) में से सात रुपये में पूरे परिवार का खर्च चलाकर आठ रुपये गोखले को पढ़ाई का खर्च देते। गरीबी ने उन्हें अनेकों गुण दिये। अमीरी के बच्चे पैसे का मूल्य नहीं समझ पाते और सुविधाओं की अधिकता के कारण व्यक्तित्व को विकसित करने वाली विशेषताओं से वंचित रह जाते हैं। गरीबी से उत्पन्न कठिनाइयाँ मनस्वी व्यक्ति को सतर्क, कर्मठ और सदगुणी भी बनाती हैं। उनसे दब तो वे लोग जाते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति की तरह मानसिक स्थिति और भी दयनीय होती है।

अच्छी श्रेणी में उन्होंने बी० ए० पास किया। उस जमाने में उच्च शिक्षा तो नाममात्र की थी। इतने पढ़े लोगों को ऊँची सरकारी नौकरी या धन कमाने के अनेकों मार्ग खुले हुए थे। पर गोखले ने तो विद्या किसी और ही उद्देश्य के लिए पढ़ी थी। वे उसे नर नारायण की सेवा का एक साधन बनाना चाहते थे। उनके जैसे ही भावनाशील व्रतधारी लोगों ने मिलकर अशिक्षा दूर करने के लिए 'दक्षिण शिक्षा समिति' स्थापित की। उसके आजीवन सदस्यों को ३५) मासिक पर, सदा काम करते रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। गोखले उसके सदस्य बने और समिति द्वारा संचालित फर्गुसन कॉलेज में बीस वर्ष तक निष्ठापूर्वक अध्यापन करते हुए, देश सेवा के लिए नई पौध बनाने में लगे रहे। लोकमान्य तिलक के स्तीफा दे देने पर उन्हें गणित भी पढ़ाना पड़ा, यों राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयों को वे पहले पढ़ाते थे।

४.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

परिस्थितियों ने कॉलेज के बाहर भी उनकी सेवाओं की आवश्यकता अनुभव की और उनका क्षेत्र धीरे-धीरे समाज सेवा, पत्रकारिता और राजनीतिक दिशा में अग्रसर होने लगा। अनेक पत्रों में वे नवचेतना उत्पन्न करने वाले लेख लिखा करते और कुछ ही दिनों में 'राष्ट्रसभा समाचार' का सम्पादन भार भी उन्हीं पर आ पड़ा। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा स्थापित 'सार्वजनिक संस्था' के मंत्री चुने गये। कार्यभार की अधिकता देखते हुए रानाडे से (१५०) मासिक वेतन लेने का अनुरोध किया पर उन्होंने २२ वर्ष की आयु में (३५) में काम चलाते रहने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उल्लंघन करना उचित न समझा और अनुरोध को अस्वीकार करते हुए स्वल्प वेतन पर गरीबी के साथ गुजर करते रहे।

लोकसेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करने वाले जन-सेवकों की निर्वाह व्यवस्था करने के लिए 'सर्वेंट ऑफ इण्डिया सोसायटी' की स्थापना की। एक से एक आदर्शवादी और राजनैतिक संन्यासी उस आश्रय से व्यक्तिगत जीवन की आर्थिक समस्याओं से निश्चित होकर जनसाधारण के काम में जुट गये। कहना न होगा कि सोसाइटी के सदस्यों ने भाषण, लेखन, कला, रचनात्मक कार्य द्वारा जनजीवन में नव-जागरण की ऐसी आग फूँकी जो राजनैतिक पराधीनता समाप्त होने तक कभी बुझने न पाई।

राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया तो अपनी सूझ-बूझ, प्रतिभा और व्यक्तित्व के बल पर आशाजनक कार्य कर दिखाया। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस में प्रवेश करके उन्होंने उसका संगठन मजबूत किया, शक्ति बढ़ाई और उसे सही दिशा में तेजी से बढ़ाया जिस पर चलते हुए 'स्वराज्य' को प्राप्त करने के लिए पथ प्रशस्त हो सके। बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस के मंत्री, फिर कांग्रेस महासमिति के संयुक्त मंत्री बने और १९०५ में अ० भा० कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में वे अध्यक्ष चुने गये। दक्षिण अफ्रीका से गाँधीजी को निमन्त्रण देकर उन्होंने भारत बुलाया और उनके हाथ में जननेतृत्व सौंपने की अन्तर्भूमिका बड़ी कुशलता से उन्होंने पूरी की।

भारत में प्लेग, हैजा फैला तो पीड़ितों की सहायता के लिए जी जान से जुटे रहे। उस समय भयानक दुर्भिक्ष में क्षुधातों के लिए उन्होंने कुछ उठा न रखा। बंग-भंग आन्दोलन और तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने आगे बढ़कर भाग लिया। दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा वहाँ के भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध गाँधी जी द्वारा आरम्भ किए अभियान में सहायता करने वे अफ्रीका पहुँचे और ब्रिटिश सरकार को भारत के प्रति उदार नीति बरतने की प्रेरणा देने के लिए कई बार इंग्लैण्ड की यात्रा की। बम्बई धारा सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और पीछे दिल्ली की केन्द्रीय सभा के सदस्य भी चुन लिए गये। अँग्रेजी सरकार द्वारा भारत के दोहन का वे निरन्तर भण्डाफोड़ करते और उस प्रयत्न में लगे रहे कि भारतीय

जनता को सरकार द्वारा उपयोगी कार्यों का अधिकाधिक लाभ मिले। उस समय की परिस्थितियों में सरकार को झुकाने के लिए जितना कुछ सम्भव था वे नरम और गरम तरीके अपनाकर भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में संघर्ष करते रहे। जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ उन्होंने डटकर विरोध करने में भी संकोच न किया। उस समय के वायसराय लार्ड कर्जन उन्हें अपना 'समवयस्क' प्रतिद्वन्द्वी माना करते और कहा करते थे, 'उनके सम्पर्क में अब तक जितने भी मनुष्य आये, उनमें गोखले ही सबसे अधिक मजबूत और बलवान हैं।'।

"जो मिले उसे प्राप्त करो और आगे के लिए संघर्ष जारी रखो" उस समय की राजनीति का यही केन्द्र बिन्दु था जो परिस्थितियों को देखते हुए उचित भी था। ब्रिटिश सरकार पर भरसक दबाव डालकर उन्होंने मार्ले-मिण्टो सुधार घोषणा कराई, जिसके अन्तर्गत भारत को कुछ अधिक अधिकार मिले। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी-स्मट्स समझौता उन्होंने कराया और भारतीयों को कुछ राहत मिली। कांग्रेस के नरम और गरम दलों में समझौता करा सकना उनकी ही सूझ-बूझ का फल था। वे लड़ना जानते पर जहाँ समझौते का अवसर आता उससे चूकते न थे। देश के कोने-कोने में भ्रमण करके उन्होंने राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने वाले असंख्य भाषण दिये। देश को संगठित करने और भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए उनके प्रयास निरन्तर चलते रहे। उन्होंने भारत के एक सच्चे देशभक्त के रूप में जीवन का प्रत्येक दिन लोकहित के लिए अर्पित करने में ही सौभाग्य समझा।

व्यक्तिगत जीवन की तरह ही वे सार्वजनिक जीवन में भी ईमानदार थे। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक बयान में उन्होंने एक बार ऐसे आरोप लगाये जो पीछे जाँच करने पर असत्य निकले। अपनी गलती के लिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से खेद प्रकट किया। यों उस समय के नेता उनके इस माफी माँगने से रुष्ट हुए और कुछ समय तक वे साथियों द्वारा उपेक्षित होने पर एकाकी पड़ गये, पर इसका उन्हें जरा भी दुःख न हुआ। सच्चाई उनकी दृष्टि में सबसे बड़ी बात थी। राजनीतिक लाभों के लिए वे सच्चाई की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। उनकी राजनीति में धर्म के लिए प्रमुख स्थान था।

गोखले ने राष्ट्रीय कार्यों के लिए प्रचुर धन एकत्रित किया और उसका विभिन्न कार्यक्रमों में उपयोग भी हुआ। पर उनके व्यक्तिगत जीवन के लिए फर्गुसन कॉलेज से सेवा निवृत्त होने पर जो (२४) मासिक पेन्शन मिलती थी, वही पर्याप्त हो जाती। जिस गरीबी से उन्होंने जीवन आरम्भ किया उसे ही उन्होंने जीवन भर अपनाये रखा और केन्द्रीय सभा की सदस्यता आदि से कभी कुछ अतिरिक्त आय हो जाती तो उसे जरूरतमन्दों को उदारतापूर्वक दे डालते। गोपाल कृष्ण गोखले राजनेता के रूप में प्रख्यात हैं पर वस्तुतः वे एक ऋषि थे। सच्चे ब्राह्मण की तरह उन्होंने जनता जनार्दन की उपासना के लिए विश्व मानव को सत्य

शिवं सुन्दरम् से समलंकृत करने की आराधना के लिए अहर्निशि निष्ठापूर्वक कार्य किया। ऋषि ऐसे ही लोगों को तो कहते हैं-वेश में नहीं कर्म में उनका ऋषित्व देखा और परखा जा सकता था। ऐसी ही विभूतियों से इस महान देश का मस्तक ऊँचा होता चला जाता है और आगे होता रहेगा।

सत्य की रक्षा

गोपालकृष्ण गोखले तब विद्यार्थी थे। एक दिन की बात है कि कक्षा अध्यापक ने गणित का एक प्रश्न पूछा-प्रश्न थोड़ा कठिन था इसलिये कोई भी विद्यार्थी उसे हल नहीं कर पाया।

एक गोपाल कृष्ण ऐसे विद्यार्थी थे जिन्होंने प्रश्न का सही उत्तर बता दिया। उससे अध्यापक को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने इसके लिए गोपाल कृष्ण को पुरस्कृत भी किया। किन्तु पुरस्कार प्राप्त करने के साथ ही उनकी मानसिक बेचैनी और अशान्ति बढ़ती ही गई। घर पहुँचकर तो उनकी अशान्ति और भी तीव्र हो उठी। रात कठिनाई से बिता पाये उन्हें अच्छी तरह नींद भी नहीं आई।

गोपाल कृष्ण दूसरे दिन विद्यालय पहुँचे और सीधे अध्यापक के कमरे की ओर चले गये। पुरस्कार वापस करते हुए बालक गोखले ने निवेदन किया-गुरुजी! इस पुरस्कार का अधिकारी मैं नहीं उत्तर तो मैंने दूसरे विद्यार्थी से पूछकर बताया था। इसलिये यह पुरस्कार तो उसे ही मिलना चाहिए।

अध्यापक महोदय ने गोपाल के इस साहस की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने सब विद्यार्थियों को एकत्रित करके समझाया-जो लोग सत्य से विमुख आचरण करते हैं उनकी झूठ पकड़ में न भी आये तो भी इसी तरह अशान्ति होती है जैसे गोपाल कृष्ण गोखले को हुई।

लेकिन फिर भी पुरस्कार गोपाल कृष्ण गोखले को ही लौटाते हुए अध्यापक ने कहा-इस पर अब तुम्हारा वास्तविक अधिकार हो गया है क्योंकि तुमने सत्य की रक्षा की है।

कृतज्ञता के प्रतीक

गाँधीजी के राजनैतिक गुरु देशमान्य गोपाल कृष्ण गोखले बचपन में बहुत गरीब थे। जैसे-तैसे स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद जब कॉलेज की पढ़ाई का समय आया तो खर्च का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोखले के बड़े भाई गोविन्दराम को अपने छोटे भाई की योग्यता और प्रतिभा पर पूरा विश्वास था। उन्होंने कहा-“मैं मेहनत-मजदूरी करके भी छोटे भाई को अवश्य पढ़ाऊँगा।” बड़े भाई की पत्नी ने देवर के लिये अपने गहने तक बेचकर प्रारम्भिक फीस आदि का प्रबन्ध किया और उन्हें राजाराम कॉलेज कोल्हापुर में दाखिल कर दिया।

बड़े भाई गोविन्दराव उस समय १५) रुपये प्रतिमास कमाते थे। उसमें से ७) वे छोटे भाई को मासिक खर्च के

लिये नियमित रूप से भेज देते थे। गोखले इन रुपयों में बड़ी कफायतदारी से अपना निर्वाह करते थे। बी०ए० हो जाने पर गोखले जी की ३५) रुपये मासिक पर एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गई। इस वेतन में से वे प्रतिमास २०) रुपये अपने भाई को नियमित रूप से भेजने लगे। वे जीवन भर अपने भाई-भाभी के त्याग और उपकार को नहीं भूले थे। ऐसे थे गाँधी जी के गुरु श्री गोपाल कृष्ण गोखले।

बचत करके काम चलाया

पढ़ाई के दिनों में गोखले को गुजारे के लिए बहुत कम पैसे मिलते थे। अकेले भाई ही उनकी सहायता करने वाले थे। एक दिन गोखले का धनी मित्र कहीं से नाटक के दो टिकट ले आया और उन्हें भी नाटक दिखाने ले गया। दूसरे दिन शाम को फिर आया तो उनसे उस टिकट के पैसे माँगने लगा। गोखले को अपने मित्र के स्वार्थपूर्ण व्यवहार पर बड़ा खेद हुआ, साथ ही आश्चर्य भी।

गोखले ने मित्र से तो कुछ भी न कहा। जितने पैसे उसने माँगे, उन्होंने चुपचाप निकालकर दे दिये। अब आखिर इस आकस्मिक व्यय के लिये अपने अन्य आवश्यक खर्चों में कटौती करनी थी। संकोचवश भाई को पत्र लिखकर और पैसे न माँगा सके। अतः कितने ही दिनों तक गली में लगे नगरपालिका के लैम्प के प्रकाश में अपनी पढ़ाई करनी पड़ी और इस प्रकार उन्होंने शाम को लालटेन में जलने वाले तेल की बचत कर ली।

जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नूतन गति दी

गुरु गोलवलकर

प्रस्तावित द्विराष्ट्र के सिद्धान्त के समय से ही विभाजन के पूर्व से ही पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किये जाने लगे थे। १९४७ के मार्च महीने में तो स्थिति इतनी भीषण हो गयी थी कि केवल अमृतसर में ही लूटमार, आगजनी और हत्याओं के ९९४ मामले दर्ज कराये गये। करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट कर दी गयी और रावलपिण्डी, लाहौर, गुजरांवाला आदि स्थानों पर हिन्दुओं के मोहल्ले जला दिये गये। ऐसे समय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं के स्वयंसेवकों ने पीड़ित जनों की यथासम्भव सुरक्षा की। उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने से लेकर अन्न-वस्त्र, दवाइयों आदि देने के लिए स्वयंसेवकों के जत्थे के जत्थे गये। आग बुझाने के लिए अग्निशामक दल बनाये गये और लोगों को आत्मरक्षा के लिए प्रशिक्षित किया गया।

१० अगस्त, १९४७ को विभाजन की जब विधिवत् घोषणा कर दी गयी। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर किये जाने वाले नृशंस अत्याचारों ने और भी वीभत्स रूप धारण कर

लिया। उस समय उपलब्ध सभी स्वयंसेवकों को अल्प संख्यकों की सुरक्षा के लिए झोंक दिया गया। कहना नहीं होगा कि उन्मादग्रस्त साम्प्रदायिक तत्वों के हाथों कई स्वयंसेवक भी वीरगति को प्राप्त हुए।

उन्हीं दिनों कश्मीर का वातावरण भी बिगड़ा। पाकिस्तान का निर्माण होते ही कई कबायली कश्मीर में घुस आये। रियासत में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह कबालियों का सामना कर सके। ऐसे समय में संघ के स्वयंसेवक आगे आये और उन्होंने पाकिस्तानी आक्रमणों का सामना किया। कश्मीर की सरकार से मदद माँगी और भारतीय सेना ने जम्मू-कश्मीर की सहायता का निश्चय किया। भारतीय सेना के विमान जम्मू के जिस अड्डे पर उतरते थे वह हवाई अड्डा बहुत छोटा था और वहाँ विमान उतर नहीं सकते थे अतः संघ के पाँच सौ स्वयंसेवकों ने रात दिन एक कर बिना कुछ लिए केवल सात दिन में ही विमान अड्डे को विमान उतारने योग्य बड़ा बना दिया। स्वयंसेवकों की इस सेवा लगन को भारत सरकार के एजेण्ट जनरल कुँवर दिलीप सिंह ने मुक्त-कण्ठ से सराहा।

कश्मीर को कबायलियों के आक्रमण और पाकिस्तानी शिकंजे से मुक्त कराने में सैकड़ों स्वयंसेवक शहीद हुए। इसके अतिरिक्त सन् १९४७ में भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ताओं ने गुरुजी के निर्देश पर दिल्ली में भी सराहनीय सेवायें कीं। पूर्वी पंजाब का बँटवारा तो हो ही चुका था। लीगी तत्व इसके बाद दिल्ली में भी गड़बड़ी फैलाना चाहते थे और इसके लिए षड्यन्त्रकारी योजनायें बनायीं पर संघ के स्वयंसेवकों ने उनका पर्दाफाश ही नहीं किया उन षड्यन्त्रों को विफल करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। कहा जाता है कि उस समय पाकिस्तान का इरादा दिल्ली के लाल किले पर हरा झण्डा फहराने का था। यदि स्वयंसेवकों ने इस षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ न किया होता तो कहा नहीं जा सकता कि आज भारत की क्या तस्वीर होती, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ओर से यह सूचना सरदार पटेल को दी गयी थी और भारत सरकार समय पर सतर्क हो गयी।

३० जनवरी, १९४८ को दिल्ली के बिरला भवन में सायंकाल प्रार्थना सभा के लिए जाते समय गाँधीजी को किसी ने गोली मार दी। उस समय गुरुजी मद्रास में थे। तुरन्त वे वहाँ से नागपुर पहुँचे और देश भर में फैली राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं को तेरह दिन तक बन्द रखकर शोक मनाने का आदेश दिया। महात्मा गाँधी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्होंने कहा वर्तमान काल के सर्वाधिक आदरणीय महान विभूति की ऐसी नृशंस हत्या असाधारण पाशविक घटना है। मुझे इससे असह्य दुःख हुआ है और यह बात तो और भी शर्मनाक है कि ऐसा कुकृत्य करने वाला व्यक्ति हमारा ही देश बन्धु है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का सिर इस स्थिति में शोकाकुल अवस्था में लज्जा से झुक जायेगा। हत्यारे ने राष्ट्र को

अग्न्य क्षति पहुँचायी है और उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए।

इस हत्या का सम्बन्ध संघ से जोड़ा गया और तरह-तरह के भ्रामक समाचार फैलाये गये। गुरुजी ने देश भर की शाखाओं को ऐसी परिस्थिति में शांत रहने के लिए तार द्वारा संदेश भेजे। गुंडा तत्व इस हत्या का सम्बन्ध संघ से जोड़कर स्वयंसेवकों पर अत्याचार करने लगे। गुरुजी स्वयंसेवकों को शांति तथा धैर्यपूर्वक यह सब सहन करने के लिए कहते रहे।

लेकिन देशभक्त और राष्ट्रवादी तत्वों को विस्मय तो उस समय हुआ जब एक दिन रात को बारह बजे गुरुजी के नाम पर वारण्ट जारीकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उस समय कुछेक स्वयंसेवक ही उनके साथ थे। जिनसे गुरुजी ने कहा-घबड़ाने की कोई बात नहीं है। कुछ दिनों में ही संदेह का यह पटल गल जायेगा और हम लोग निष्कलंक बाहर आयेगे। तब तक हम पर अनेकों अत्याचार होंगे पर हमें उन्हें धैर्य और शांति के साथ सहना है। हमें पूरे संयम से रहना है और तभी हम स्वयंसेवक की कसौटी पर खरे उतरेंगे।

गुरुजी को महात्मा गाँधी की हत्या के एक अभियुक्त के रूप में कारागार में डाल दिया। जिस दिन उन्हें गिरफ्तार किया गया, उसके दूसरे दिन ही संघ को अवैध घोषित कर दिया गया। इसका कारण यह बताया गया था कि संघ हिंसा में विश्वास रखने वाली एक फासिस्ट संस्था है और उसकी हिंसा वृत्ति के शिकार अनेकों व्यक्ति हुए हैं। संघ की इसी वृत्ति के कारण देश से महात्मा गाँधी के नेतृत्व का साया उठ गया है।

इस घोषणा के बाद भी गुरुजी ने कानून और सरकार में आस्था व्यक्त करते हुए जेल से ही एक व्यक्तव्य दिया, जिसका सारांश इस प्रकार है—“सरकार ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अवैध घोषित कर उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। अतः प्रतिबन्ध हटाये जाने तक मैं संघ को विसर्जित करता हूँ। लेकिन सरकार ने संघ पर जो आरोप लगाये हैं, उन्हें मैं अस्वीकार करता हूँ।”

गुरुजी का यह व्यक्तव्य सर्वप्रथम एक पाकिस्तानी अखबार ने छपा था। कुछ दिनों बाद सरकार ने गुरुजी पर लगाया गया वह अभियोग वापस ले लिया, जिसमें उन्हें गाँधीजी की हत्या के षड्यन्त्र में भागीदार माना था और उन्हें नागपुर जेल में नजरबन्द कर दिया था। जेल में गुरुजी और सरदार पटेल तथा पं० नेहरू के बीच पत्र-व्यवहार चला। गुरुजी की ओर से लिखे गये पत्रों में संघ पर लगाये गये प्रतिबन्ध का अनौचित्य सिद्ध किया गया था। लेकिन इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वस्तुतः पं० नेहरू तथा सरदार पटेल चाहते थे कि संघ का कांग्रेस में विलय हो जाये। इस आशय के पत्र पटेल ने लिखे भी थे। पर गुरुजी का कहना था कि संघ किसी राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम नहीं कर रहा है, उसका उद्देश्य तो भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास

करना और उन्हें सुदृढ़ बनाना है। परन्तु बात इस प्रकार बनती न देख गुरुजी ने लिखा-संघ पर लगाये गये आरोप झूठे हैं यह सिद्ध हो चुका है या तो उन्हें वापस लेकर संघ पर से प्रतिबन्ध हटाया जाना चाहिए अथवा उन आरोपों को न्यायालय में सिद्ध करना चाहिए। सरकार इस प्रस्ताव को भी टाल गयी। वार्तालाप और विचार-विनिमय की सभी पहल विफल हुई और गुरुजी को एक बार पुनः 'बंगाल प्रिजनर्स ऐक्ट' के अनुसार नागपुर जेल में कैद कर दिया गया।

अब गुरुजी ने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन की योजना बनायी और सत्याग्रह का आह्वान हुआ। इस आह्वान को सुनकर शहरों और गाँवों के स्वयंसेवक अपना घर परिवार तथा निजी काम-धन्धा छोड़कर, पढ़ाई-लिखाई त्याग कर सत्याग्रह आरम्भ होने की तिथि की घोषणा का इन्तजार करने लगे। जब तिथि की घोषणा हुई तो हजारों स्वयं-सेवक अपने ही देश में सत्याग्रह के समारोह में कूद पड़े। बताया जाता है कि उस समय कोई अस्सी हजार स्वयंसेवक गिरफ्तार हुए। उन्हें कड़ाके की सर्दी में नदियों में फेंका गया और तरह-तरह की यातनायें दी गयीं। कई सत्याग्रहियों ने इसका विरोध करने के लिए भूख हड़ताल की।

आम जनता ने भी संघ पर लगा प्रतिबन्ध हटाने के पक्ष में आन्दोलन किया और कई नगरों में बड़े-बड़े जुलूस निकाले। लेकिन यह सब इतने शान्त, अनुशासन और व्यवस्थित ढंग से होता था कि संघ की विचारधारा से मतभेद रखने वाले प्रख्यात सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण ने भी कहा-“राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अनुशासन-प्रियता, चारित्र्य-दृढ़ता और प्रेम सचमुच ही प्रशंसनीय है। संघ ने समाज के लिए पर्याप्त ठोस काम किया है। इसीलिए वह अभी तक टिका हुआ है। कानून से हम उसे बन्द नहीं कर सकेंगे।”

काँग्रेस के ही एक वयोवृद्ध नेता डॉक्टर भगवानदास ने संघ पर लगी पाबन्दी को हटाने की माँग की थी और यही नहीं इसके लिए उन्होंने एक पत्र छपवा कर बाँटा भी था।

प्रख्यात नेताओं की राय, जनता की माँग और सत्याग्रह के परिणामस्वरूप संघ और सरकार के बीच समझौते के प्रयत्न होने लगे। इन प्रयत्नों के आरम्भ होते ही संघ की ओर से आन्दोलन स्थगित करने की घोषणा कर दी गयी। कई नेताओं की मध्यस्थता और लम्बी समझौता वार्ताओं के परिणामस्वरूप ११ जुलाई, १९४९ को संघ पर लगाया प्रतिबन्ध हटा दिया गया। अगले दिन गुरुजी बैतूल जेल से रिहा हुए। पत्रकारों ने उनसे सरकार के पिछले रवैये के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मेरा विश्वास सही निकला, जिस सत्ता ने प्रतिबन्ध लगाया था उसी ने उसे वापस भी ले लिया है और इसके आगे अठारह मास तक भोगी जेल यातनाओं के सम्बन्ध में बिना कोई कटुता व्यक्त किये बोले-“संघबन्दी के इस

मामले को अब यहीं समाप्त कर दीजिए। दौत यदि जीभ को काट ले या टाँग-टाँग से लड़ पड़े तो हम न दौत को तोड़ देते हैं और न टाँगों को काट डालते हैं। जिन्होंने हम पर अन्याय किया है। वे अपने ही तो हैं और एक घर में रहने वाले सदस्यों में क्या कभी मन-मुटाव नहीं होता।”

कितना उदार था उनका दृष्टिकोण और कितनी उच्च थी उनकी भावनायें। अठारह महीने की जेल यात्रा के बाद जब वे नागपुर स्टेशन पर उतरे तो तीस हजार लोगों ने उनका स्वागत किया और भी कई अन्य स्थानों पर उनका अभिनन्दन हुआ। सरदार पटेल ने उन्हें अपनी शुभ कामनायें भेजते हुए लिखा-“संघ से प्रतिबन्ध हटा लेने पर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है, इसका अनुमान वे ही लोग लगा सकते हैं जो उस समय मेरे पास थे। मैं अपनी शुभ-कामनायें भेजता हूँ।”

इन्हीं दिनों गुरुजी का दिल्ली आना हुआ। पं० नेहरू गुरुजी की उस प्रतिक्रिया से बड़े प्रभावित हुए थे। जो उन्होंने जेल से छूटने के बाद पत्रकारों के पूछने पर व्यक्त की थी। उनकी दृष्टि में गुरुजी का स्थान काफी ऊँचा हो गया था। अतः वे गुरुजी से दो बार मिले और इन दोनों मुलाकातों में गुरुजी तथा पं० नेहरू ने देश की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझा।

अँग्रेजों के राज्य में गायें कटती थीं-यह तो इतना आपत्तिजनक नहीं था क्योंकि उन्हें हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं से लेना-देना ही क्या? पर वही परम्परा स्वतन्त्र भारत में भी चलती रहे-यह अनुचित ही कहा जाना चाहिए। इस विषय की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया। गुरुजी ने और अन्य हिन्दू नेताओं ने मिलकर सरकार से निवेदन किया तो उत्तर मिला कि भारत सरकार धर्म निरपेक्ष है और वह इस विषय में कुछ नहीं कर सकती।

निदान आन्दोलन का निश्चय करना पड़ा। वस्तुतः गुरुजी के मुख से धर्मप्राण हिन्दू जनता की वाणी इन शब्दों में मुखर हुई थी-“गो वंश की रक्षा न केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है वरन् यह हमारे देश की सांस्कृतिक थाती और राष्ट्रीय एकता का भी प्रतीक है। सरकार तक इस आवाज को पहुँचाने के लिए हस्ताक्षर आन्दोलन चलाने का निर्णय किया गया। यह कदम गोपाष्टमी से उठाया गया। लगभग एक माह के भीतर करोड़ों लोगों के हस्ताक्षर एकत्र किये गये। इसके लिए जनमत जगाने हेतु स्थान-स्थान पर प्रदर्शन किये गये, जुलूस निकाले और गाँव-गाँव संदेश भेजे गये। इस अभियान का व्यापक प्रभाव हुआ और विरोध भी कम नहीं हुआ।

देशभर के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र किये गये हस्ताक्षर जब राष्ट्रपतिजी को दिये गये तो उन्होंने सरकार को सहानुभूतिपूर्ण रवैया-अपनाने की सलाह देने का आश्वासन दिया। कुछ प्रान्तों में तो गो हत्या बन्द हो गयी। अतः गोवध बन्दी आन्दोलन को स्थगित नहीं किया गया।

४.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

१९५४ में प्रयाग के कुम्भ मेले में भी पं० नेहरू को लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से युक्त यह माँग पत्र दिया गया कि लोकतान्त्रिक पद्धति से हम यह माँग करते हैं कि संसद में प्रस्तुत गोहत्या बन्दी विधेयक का आप समर्थन करें। गोवध की अनुमति देने वाला व्यक्ति हमारा प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

देश पर संकट के समय

१९६२ में चीन ने भारत पर अकस्मात हमला किया। इससे पूर्व भारत और चीन के सम्बन्ध बड़े मैत्रीपूर्ण थे। हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा लोगों की जबान पर था। चीन की ओर से यह आशा ही नहीं की जा सकती थी और भारत भी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। फिर भी भारत के वीर सेनानियों ने सीमा पर मोर्चा सम्हाला, लेकिन ऐसे समय में आन्तरिक मोर्चों पर भी तो खतरा रहता है। उससे निबटने के लिए क्या-क्या किया जाये?

ऐसे विषम और अप्रत्याशित संकट के समय गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों को तैयार किया। भारत सरकार को पूर्ण सहयोग देने की घोषणा की। स्वयंसेवकों ने जिस तत्परता, अनुशासन और निष्ठा के साथ द्वितीय रक्षा पंक्ति का काम किया उससे पं० नेहरू भी बड़े प्रभावित हुए और यही कारण था कि २६ जनवरी, १९६२ को दिल्ली संघ शाखा के पथ संचालन में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया। इसके लिए काँग्रेसी नेताओं ने पं० नेहरू की कड़ी आलोचना की तो नेहरू जी ने आलोचकों को उत्तर देते हुए कहा-“आप लोग संघ से मतभेद रख सकते हैं परन्तु संघ की, संघ के स्वयंसेवक की राष्ट्रभक्ति पर संदेह नहीं कर सकते।” यह उत्तर सुनकर आलोचक चुप रह गये।

इस युद्ध के तीन वर्ष बाद सितम्बर १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर हमला किया। उस समय भारत के प्रधानमंत्री थे श्री लालबहादुर शास्त्री जो किसी भी राष्ट्रीय समस्या पर सभी मतभेद रखने वालों से भेदभाव भुलाकर उनकी राय जानने के बाद निर्णय लेने वाले नेता थे। शास्त्री जी ने ऐसी परिस्थिति में सभी राष्ट्रवादी नेताओं को आमंत्रित किया। इनमें गुरु गोलवलकर भी थे। गुरुजी को देखकर वहाँ उपस्थित कतिपय कम्युनिस्ट नेता रुष्ट से दिखाई देने लगे परन्तु शास्त्री जी के यह कहने पर कि संघ की राष्ट्र भक्ति असंदिग्ध है-उन्हें चुप रह जाना पड़ा।

सब लोग अपना मत व्यक्त कर चुके तो गुरुजी ने अपना निश्चयात्मक मत व्यक्त करते हुए कहा-विभाजन के समय जब देश को विषम परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था तब संघ ने देश की रक्षा के लिए जितना सम्भव हो सका प्रयत्न किया। उसी निष्ठा से सन् १९६२ में भी संघ ने राष्ट्र देवता के मन्दिर में अपना आराधना दीप जलाया। अब पुनः देश पर संकट के बादल छाये हैं तो शत्रु का प्रतिकार करने के लिए हम प्राणपण से तैयार हैं। जिस मोर्चे पर खड़ा होने के लिए कोई तैयार न हो उस स्थान पर मैं और मेरे स्वयंसेवक खड़े होंगे। मीटिंग में उपस्थित सभी नेतागण गुरुजी के इस संकल्प को सुनकर स्तब्ध रह

गये और सचमुच में ही संघ ने इस संकल्प को साकार कर दिखाया। स्मरणीय है पूरे युद्धकाल में दिल्ली के आवागमन संचालन की व्यवस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सेवकों ने ही सम्हाली थी।

इसके बाद दिसम्बर, १९७१ में जब पाकिस्तान ने पुनः भारत पर हमला किया और बंगला देश के लिए प्रधान-मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जो कदम उठाये, उस अभियान का स्वागत गुरुजी ने किया। इस युद्ध में भी गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों को जनता के सहयोग और सरकार की सहायता के लिए झोंक दिया।

महाप्रयाण

अनवरत श्रम और अहर्निश प्रवास से गुरुजी का शरीर अब थक चला था। इन्हीं दिनों उन्हें कैंसर जैसे महारोग ने आ घेरा। टाटा मेमोरियल अस्पताल में सफल ऑपरेशन से वे स्वस्थ हुये किन्तु १९७२ में पुनः कैंसर की गाँठ निकल आयी, चिकित्सा की गयी और डॉक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी पर उनकी कामना थी बिस्तर पर लेटे-लेटे मरने से तो बेहतर है काम करते हुये मरा जाय। ५ जून, १९७३ को राष्ट्र की सेवा करते हुये राष्ट्र मन्दिर के इस पुजारी ने महाप्रयाण किया।

छोटी-छोटी बातों से महात्मा बने-

गाँधीजी

महापुरुषों के चरित्र की एक विशेषता होती है कि उनकी महानता छोटे कामों और छोटी-छोटी बातों में भी व्यक्त होती है। सतर्कता और निष्ठा उनके छोटे-छोटे कार्यों में भी व्यक्त होती है साथ ही साधारण कार्यों में भी वे अपने आदर्शों को समन्वित कर लेते हैं। महात्मा गाँधी के जीवन चरित्र का यदि हम अध्ययन करें तो विदित होगा कि उन्होंने अपने जीवन में जितनी बड़ी उपलब्धियाँ अर्जित कीं और उन उपलब्धियों को अर्जित करने में जिस आदर्श-निष्ठा का वे परिचय देते रहे, उतनी ही आदर्श निष्ठा उन्होंने साधारण कार्यों में भी समाविष्ट की।

जन भावनाओं का आदर करना उनका एक विशिष्ट गुण था। न केवल आदर करना वरन् छोटे से छोटे बच्चे की भावना को भी हमेशा महत्व देते रहते थे। सन् १९१५ की बात है-बम्बई में काँग्रेस अधिवेशन चल रहा था। गाँधीजी अपने साथियों सहित, मारवाड़ी विद्यालय में ठहरे हुए थे। एक दिन उन्हें कहीं जाना था। डेस्क पर रखी सभी चीजें उन्होंने सम्हालकर रख दीं। इसी बीच काका कालेलकर ने देखा कि वे कोई चीज ढूँढ़ रहे हैं और उसके न मिलने से बड़े परेशान से दिखाई दे रहे हैं। काका कालेलकर वहीं मौजूद थे उन्होंने पूछा कि क्या गुम गया है तो गाँधीजी ने बताया-“एक छोटी सी पेन्सिल है जो मिल नहीं रही है।”

काका कालेलकर अपनी जेब से एक पेन्सिल निकाली और गाँधी जी को देते हुए कहा कि-“उसे जाने दीजिये। आप इससे अपना काम चला लेंगे।”

गाँधीजी ने काका साहब की पेन्सिल लेने से मना करते हुए बोले “नहीं-नहीं। मुझे वह छोटी सी पेन्सिल ही चाहिए, उसे मैं खो नहीं सकता। वह पेन्सिल मुझे मद्रास स्टेशन पर एक लड़के ने दी थी। कितने प्यार से लाया था वह? उसे मैं कैसे खो सकता हूँ।” और थोड़ी देर बाद जब वह दो इंच से भी छोटी पेन्सिल मिल गयी तब कहीं बापू को चैन मिला।

वे स्वयं सादगी से रहते थे, इसलिए नहीं कि उनके पास पैसों का अभाव था वरन् इसलिए कि वे समाज के सामने समाजसेवी को कैसा होना चाहिए इसकी एक मिसाल पेश करना चाहते थे। रचनात्मक कार्यक्रमों के लिए लोग हृदय खोलकर उन्हें अनुदान देते थे और उसकी पाई-पाई को वे बड़े यत्नपूर्वक सम्हाल कर रखते थे। इसी तरह की एक घटना है। तब गाँधीजी हरिजन फण्ड के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहे थे। इसके लिए वे जहाँ कहीं भी जाते अपने साथ एक पेटी लेकर जाते और जनसभाओं में भाषण समाप्त हो जाने के बाद लोगों से हरिजन फण्ड के लिए चन्दा माँगते।

एक गाँव में गाँधीजी गये। वहाँ सभी से भाषण देने के बाद उन्होंने इसी प्रकार चन्दा माँगा। लोग आते और उनके हाथ में पैसे रखकर अपने स्थान पर जा बैठते। गाँधीजी का हाथ जब पैसों से भर जाता तो वे उन पैसों को अपनी पेटी में डाल लेते। एक बार पेटी में पैसे डालते समय एक पैसा हाथ से गिर गया। लोगों की बड़ी भीड़ थी। पर वे पैसे लेना रोककर वह गिरा हुआ पैसा खोजने लगे। लोगों ने कहा—“आप उस पैसे को रहने दीजिए, हम उस पैसे के बदले में रुपया देते हैं।” और कई लोगों ने अपना हाथ आगे बढ़ाया। पर गाँधीजी ने कहा—यह पैसा राष्ट्र का धन है। अगर मैं इसको गँवाता हूँ तो राष्ट्र के प्रति गद्दार होता हूँ। वह पैसा हरिजनों का धन है, मेरा नहीं इसलिए जब तक पैसा नहीं, मिलेगा तब तक मैं यहाँ से हटूँगा नहीं। अगर आपको रुपया देना है तो वह पैसा मिल जाने के बाद दीजिये और गाँधीजी ने वह पैसा मिल जाने के बाद ही लोगों से चन्दा लिया।

लोगों को प्रेम और आत्मीयता से सही रास्ते पर किस प्रकार लाया जा सकता है—यह कोई गाँधीजी से सीखे? उन्होंने अपने आश्रमवासी शिष्यों को कड़े अनुशासन में रखने की शिक्षा दी थी और कभी कोई गलती भी कर जाता तो वे गलती करने वाले को कुछ कहने की अपेक्षा अपनी उस गलती और कमजोरी को मानते थे। एक बार की बात है बापू ने आश्रमवासियों को किसी काम के लिए मना कर दिया। आश्रम के कुछ विद्यार्थियों ने फिर भी वह काम चुपके से कर लिया लेकिन बात अधिक देर तक छुपी न रही। उन्होंने सब विद्यार्थियों को इकट्ठा किया और पूछा कि—प्रतिबन्धित कार्य किन-किन छात्रों ने किया है? कोई नहीं बोला। डर के मारे सब चुप रहे। इस पर बापू को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा “अवश्य ही मुझमें कोई दोष होगा जिससे तुम लोग सच कहने में डरते

हो।” और यह कहकर उन्होंने तड़तड़ अपने ही गाल पर तीन तमाचे मार लिये। आश्रम के विद्यार्थियों पर इसका यह प्रभाव हुआ कि जिन्होंने गलती की थी उन्होंने अपनी गलती स्वीकार कर ली?

स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रवेश करने के कई वर्षों बाद तक गाँधीजी अपनी परम्परागत पोशाक पहना करते थे। लोग कहते हैं कि उन्होंने केवल एक धोती इसलिए पहनना आरम्भ किया कि वे लोगों पर अपनी सादगी का प्रभाव छोड़ सकें। पर वस्तुस्थिति कुछ और ही थी। उन्होंने अपना वेश एक यात्रा-अनुभव से प्रेरित होकर कम किया। उस समय गाँधीजी उड़ीसा की यात्रा कर रहे थे। यात्रा में उन्होंने एक ऐसी गरीब स्त्री को देखा जो फटा हुआ मैला कपड़ा पहने थी। कपड़ा भी बहुत छोटा था—इतना छोटा कि उससे केवल आधा शरीर ही ढका जा सके। गाँधीजी ने उस स्त्री से कहा—बहिन तुम अपने कपड़े धोती क्यों नहीं। इतना आलस्य क्यों करती हो कि कपड़े मैले हो जायें।”

उस स्त्री ने सलज्ज दृष्टि से बापू की ओर देखा और कहा—“इसमें आलस्य की बात नहीं है श्रीमान! मेरे पास इसके अलावा कोई दूसरा कपड़ा नहीं है जिसे पहनकर मैं इसे धो सकूँ।” उस स्त्री का यह कथन सुनकर गाँधीजी की आत्मा द्रवित हो उठी और वे मन ही मन कह उठे—“हाय! आज मेरी भारत माता के पास पहनने को चिथड़े तक नहीं हैं।” उसी समय गाँधीजी ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता और गरीब से गरीब आदमी को भी देह ढकने के लिए पर्याप्त कपड़ा नहीं मिलता तब तक मैं कपड़े नहीं पहनूँगा। लाज ढकने के लिए मेरे पास एक लंगोटी रहना ही काफी होगा।” और गाँधीजी ने उसी समय अपनी परम्परागत पोशाक का परित्याग कर दिया।

राष्ट्रपिता हो जाने के बाद भी वे अपना प्रत्येक कार्य स्वयं के ही हाथों से करते थे। काम को ही पूजा समझने वाले बापू के लिए टट्टी साफ करने और बर्तन मँजने सरीखे कामों में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यह गुण उन्होंने प्रारम्भ से ही भलीभाँति विकसित कर लिया था। सन् १९०९ की बात है। अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाकर वे किसी कार्य से लन्दन गये थे। लन्दन में कई भारतीय नवयुवक पढ़ते थे। उनके प्रवास के समय भारतीय छात्रों ने एक समारोह का आयोजन किया। उस समारोह में पहले भोजन और फिर भाषण का कार्यक्रम रखा गया। इसके अध्यक्ष बनाने गये गाँधीजी ने भोज में भी शामिल होना स्वीकार कर लिया पर शर्त यह रखी कि भोज में माँस नहीं रखा जायगा। युवकों ने शर्त मान ली और एक हॉल किराये पर लेकर भोजन का प्रबन्ध करने लगे।

छात्रों ने सारा काम अपने ही हाथों से किया। इसी बीच गाँधीजी भी वहाँ पहुँच गये और चुपचाप बर्तन मँजने लगे। वहाँ उपस्थित विद्यार्थियों में से उन्हें कोई भी

नहीं पहचानता था। गाँधीजी बिना अपना परिचय दिये आरम्भ से आखिर तक बर्तन मौजने में लगे रहे। जब सारी तैयारियाँ हो गयीं तो सभा के उपप्रधान वहाँ आये, वे गाँधीजी को पहचानते थे। पहचान कर उन्होंने जैसे ही विद्यार्थियों को उनका परिचय दिया विद्यार्थी दंग रह गये। छात्रों ने गाँधीजी को लाख यह काम करने से रोका पर उन्होंने काम नहीं ही छोड़ा। इसी प्रकार से आश्रम में भी बापू ने स्वयं के आचरण द्वारा वहाँ के कार्यकर्ताओं को दैनिक जीवनचर्या में स्वावलम्बी बनना सिखाया था। मौखिक रूप से उन्होंने किसी से नहीं कहा कि अपना काम अपने हाथ से करें बल्कि जिस तरह की रीति-नीति उन्होंने अपनायी उससे स्वभावतः ही सब लोग यह नियम अपनाने के लिए बाध्य से हुए।

गाँधीजी स्वयं प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करते थे। और किसी भी दशा में वे इस नियम में व्यतिक्रम नहीं आने देते थे। एक बार उन्होंने रात को देर तक काम किया और सुबह आटा पीसते रहे। थकान और नींद में हुई कमी के कारण उनके सिर में दर्द होने लगा। इसके बाद पानी भरना था। आश्रमवासियों ने कहा-आप आराम करें। पानी हम भर लेंगे। पर बापू नहीं माने और कुँए की जगत पर जाकर खड़े हो गये। आश्रमवासियों ने पहले ही सब बर्तन हथिया लिये थे तो गाँधीजी दौड़े गये और आश्रम को दौड़ मारा। जब कुछ नहीं मिला तो एक कोने में पड़ा हुआ बच्चों के नहाने का टब ही उठा लाये और उसी में पानी भरने लगे।

अपनी निन्दा का अत्यन्त सहज भाव से सुनने या उसकी ओर कोई ध्यान देकर निन्दक को अपना बना लेने की कला में भी बापू ने बड़ी महारथ प्राप्त की थी। एक बार की घटना है। गाँधीजी लन्दन जा रहे थे। रास्ते में उनका परिचय एक अँग्रेज से हो गया वह अँग्रेज गाँधीजी का कट्टर विरोधी था। बात-बात में वह उन्हें खरी-खोटी सुनाया करता था। एक दिन उसने गाँधीजी पर कुछ व्यंग्य पूर्ण कवितायें लिखीं और गाँधीजी के पास ले गया। गाँधीजी ने उन कविताओं को सरसरी निगाह से देखा और देखकर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। इससे पूर्व उन्होंने वह पिन निकाल ली जो उन कविताओं को नत्थी करने के लिए लगायी गयी थी। उक्त अँग्रेज ने गाँधी को ऐसा करते देखकर कहा-‘इसमें कुछ सार भी है। पढ़कर तो जरा देख लीजिए।’

‘हाँ’-गाँधीजी ने कहा-‘सार था वह तो मैंने पहले ही निकाल कर रख लिया है। कहते समय उनके चेहरे पर कोई भी विकार नहीं था। उक्त अँग्रेज ने भी सोचा था कि इन कविताओं को पढ़कर गाँधीजी नाराज हो उठेंगे तथा उसे बुरा-भला कहेंगे और मुझे गाँधीजी की आलोचना करने के लिए एक और नया विषय मिल जायगा। पर गाँधीजी के निर्द्वन्द्व भाव ने उस पर कुछ और ही प्रभाव डाला।

इसी तरह का एक संस्मरण काका साहब कालेलकर ने भी लिखा है-‘अजमेर के एक आर्यसमाजी मित्र बापू के

बड़े आलोचक थे। वे उनके विचारों की प्रायः निन्दा किया करते थे और कहा करते थे कि मैं उनकी भेंट गाँधीजी से करा दूँ ताकि वे बापू को खरी-खरी सुना सकें। मैं उन्हें हाँ तो कर देता था पर मन में डरता भी था। संयोग से एक दिन गाँधीजी अजमेर से गुजरे और हम लोग उनका दर्शन करने के लिए अजमेर स्टेशन पर गये। वे मित्र भी वहाँ पहुँचे और बापू के सामने ही परिचय के लिए कहने लगे तो मैंने डरते-डरते गाँधीजी से उनका परिचय करा दिया। मित्र डिब्बे के अन्दर पहुँचे और खड़े-खड़े अपनी बौछार शुरू की। बापू सुनते रहे। उन्हें कुछ कहने का अवसर ही न मिला। गाड़ी ने सीटी दी। मित्र की बात अधूरी रह गयी और वे स्टेशन पर उतर गये। मैं बापू के साथ ट्रेन में आगे तक गया। अपने मित्र के अक्खड़पन पर मैं मन ही मन झेंप रहा था। बापू से क्षमा माँगते हुए मैं बोला-‘बापू मैं जानता था कि यह आपको खरी-खोटी सुनाकर दुःखी करेगा मगर’ मैं अपनी बात पूरी करूँ इससे पहले ही गाँधीजी ने कहा-‘लेकिन मुझे तो दुःख इस बात का है कि अधिक समय नहीं मिल पाया। नहीं तो मैं उनकी बातें और भी सुनता। उन्हें पूरा समय देता।’

गाँधीजी से सम्बन्धित ऐसी अनेकों घटनायें प्रसिद्ध हैं जिन्हें जानकर लगता है कि महानता अर्जित करना आसान नहीं है तो कठिन भी नहीं है। जो लोग छोटी-छोटी बातों को भी सजगता से और कामों को पूरे कौशल से करने का अभ्यास डाल लें, वे न केवल प्रशंसनीय ख्याति अर्जित कर लेते हैं वरन् लोकश्रद्धा भी प्राप्त करते हैं। गाँधीजी ने अपने लिए छोटी-छोटी कई मर्यादायें और कई नियम बना रखे थे। उन मर्यादाओं और नियमों के अन्तर्गत रहते हुए ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा किसी भी कारण से उन नियमों का टूटना सहन नहीं करते थे। उनके जीवन से सम्बन्धित वह घटना तो प्रसिद्ध ही है जब वे एक दिन शाम की प्रार्थना भूल गये थे और थक जाने के कारण सो गये थे। जगने पर जब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई तो उन्हें बड़ा पछतावा हुआ और इसके लिए अपने आपको दण्डित किया।

आदर्श सिद्धान्तवादिता

गाँधीजी उन दिनों डरबन में थे। सत्याग्रह चल रहा था। कस्तूरबा को बार-बार रक्तस्त्राव हो रहा था। ऐसी स्थिति में गाँधीजी पूर्ण मनोयोग से राष्ट्र को अपनी सेवायें नहीं दे पा रहे थे। एक चिकित्सक ने नशतर लगवाने का परामर्श दिया। बिना बेहोश किये ही नशतर लगाया गया। पीड़ा तो बहुत हुई पर ‘बा’ ने उसे सहन किया।

देख-रेख के लिये ‘बा’ को उसी चिकित्सक के घर पर रखा गया। कुछ स्थिति सुधरने पर चिकित्सक ने बापू को जाने की आज्ञा दे दी और वह अपनी पत्नी को वहाँ छोड़कर जोहान्सवर्ग चले आये। बाद में बापू को पता चला कि ‘बा’ को इतनी कमजोरी है कि वह उठ-बैठ

नहीं पाती। कभी-कभी कमजोरी के कारण बेहोशी भी आ जाती है। चिकित्सक ने बापू से टेलीफोन पर बात करते हुये कहा-“आपकी पत्नी का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है अतः मैं उन्हें माँस का शोरबा तथा ‘बीफ टी’ देना चाहता हूँ आप आज्ञा दीजिए।

बापू का उत्तर था “इस सम्बन्ध में मैं आज्ञा नहीं दे सकता। ‘बा’ स्वतन्त्र हैं यदि उसकी इच्छा हो तो आप शौक से दे सकते हैं।”

डॉक्टर बार-बार माँसाहार पर जा रहे थे। पर बापू इसके लिये किसी भी शर्त पर तैयार नहीं हुए। बापू ने चिकित्सक से कहा “यदि मेरी पत्नी माँस के शोरबे के बिना मर भी जाये तो मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है। मैं तो यह आवश्यक समझता हूँ कि पहले उसकी राय लेनी चाहिए।”

चिकित्सक ने कहा “आप तो बड़े निष्ठुर पति प्रतीत होते हैं। आपकी पत्नी जब तक मेरी देख-रेख में है तब तक आपकी नहीं मेरी चलेगी। माँस ही नहीं उसकी जीवन रक्षा के लिये मुझे जो उचित होगा दूँगा। आप की यह सिद्धान्तवादिता मेरी समझ में नहीं आई। यदि आप ऐसा नहीं चाहते तो अपनी पत्नी को अन्यत्र ले जा सकते हैं। मेरे ही घर में उनकी जीवन लीला समाप्त हो यह मैं नहीं चाहता।”

बापू अपनी पत्नी के पास गये उनकी स्थिति बड़ी खराब थी। ऐसे में कुछ बात करना भी कठिन था फिर भी हिम्मत करके उन्होंने अपना उद्देश्य उनके सम्मुख रख ही दिया। ‘बा’ ने कहा “मैं माँस का शोरबा किसी भी स्थिति में लेने को तैयार नहीं हूँ। यह मनुष्य शरीर बार-बार तो मिलता नहीं। मेरे लिए किसी जीवधारी की हिंसा की जाये यह मुझे सहन नहीं। आपकी गोद में ही मेरी जीवनलीला समाप्त हो जाये बस यही इच्छा है।”

बापू ‘बा’ के दृढ़ विचारों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुये। यद्यपि उस समय ‘बा’ की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें कहीं ले जाया जाये। उनका दुर्बल शरीर हलका-सा धक्का भी सहन करने को तैयार न था।

पानी बरस रहा था। स्टेशन पास ही था। डरबन से फिनिक्स तक रेलगाड़ी से जाना था और फिनिक्स से ढाई मील पैदल का रास्ता था। खतरा उस पैदल रास्ते में ही था। उन्होंने वेस्ट को संदेश भेजकर स्टेशन पर एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और ६ मजदूरों की व्यवस्था करने के लिए कहा।

निश्चित समय पर मजदूर पहुँच गये और डोली बनाकर स्टेशन से आश्रम तक ले गये। बापू को ईश्वर पर विश्वास था फिर भी चिन्ता की रेखायें उनके चेहरे पर देखी जा सकती थीं। ‘बा’ ने कहा-“आप मेरी ओर से निश्चिन्त हो जाइये, मुझे मार्ग में कुछ भी होने वाला नहीं है।”

बापू की प्राकृतिक चिकित्सा तथा ‘बा’ के परहेज के संयुक्त प्रयासों से उनका दुर्बल शरीर पुनः पनपने लगा।

रक्त-स्त्राव भी बन्द हो गया और कुछ दिन में पूर्व की तरह उन्हें स्वास्थ्य लाभ मिला। ‘बा’ से जनमानस की जो सेवा करानी थी, उसके लिए उनका जीवन आवश्यक था किन्तु उसके लिए आदर्शों व सिद्धान्तों को त्यागना कदाचित् उचित न था। गाँधीजी व ‘बा’ की निष्ठा से उनकी रक्षा होकर रही।

आदत को व्यवस्थित बनाये रखना

महात्मा गाँधी के जीवन से व्यक्तियों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रेरणा ली है। महात्मा का जीवन एकांगी नहीं सर्वांगीण होना चाहिए। श्रेष्ठ व्यक्तियों के जीवन की छोटी घटनायें भी जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं। महात्मा गाँधी का जीवनक्रम भी कुछ ऐसा ही ढला था। प्रस्तुत छोटी-सी घटना भी इसी प्रकार अपने आप में महत्वपूर्ण शिक्षण लिये हुए है।

गाँधीजी इलाहाबाद गये। वहाँ वह आनन्द भवन में मेहमान के रूप में ठहरे हुए थे। उनके कार्य निर्धारित समय पर हुआ करते थे। दैनिक कार्यों के बीच भी जहाँ सम्भव होता था वह बात-चीत, परामर्श आदि के द्वारा लोगों को लाभान्वित किया करते थे। प्रातःकालीन दातौन, कुल्ला, मुँह धोने के समय भी उक्त क्रम चलाने की सुविधा रहती थी। अस्तु, पं० जवाहर लाल नेहरू बापू से चर्चा करने उस समय पहुँच गये। बापू हँसते बात करते हुए अपना कार्य भी करते जा रहे थे।

अचानक बापू बोल पड़े-“अरे राम, राम! भाई जवाहर! तुमने बात-चीत में गड़बड़ करा दी।” जवाहर लाल जी प्रश्न भरी दृष्टि से बापू की ओर देखने लगे। उन्हें कोई गड़बड़ी के चिह्न कहीं दिख नहीं रहे थे। बापू कहीं परिहास तो नहीं कर रहे हैं? किन्तु बापू के चेहरे पर गम्भीरता आ गई थी। हाथ में खाली लोटा लिये उनकी ओर देखते हुए बोले-“तुम्हारी बात-चीत में मैं पानी का ध्यान भूल गया और मुँह पूरा धुलने के पूर्व सारा पानी समाप्त हो गया।”

इतना सुनते ही जवाहर लाल जी खुलकर हँस पड़े। बोले-“बापू आप भी कमाल करते हैं। आप गंगा-यमुना के तट पर बैठे हैं, कहीं रेगिस्तान में थोड़े ही हैं। यहाँ पानी की क्या कमी है जो आप एक लोटा पानी का सोच करते हैं।” सामान्य दृष्टि से बात ठीक ही थी। घटना को देखते हुए इतनी छोटी बात को महत्व देना बचपना ही कहा जावेगा। किन्तु इस घटना को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों का दृष्टिकोण घटनाओं को देखने का और ही होता है। जिसे समझकर अपने को समझदार समझने वालों को अपनी विचारहीनता का पता लग जाता है।

बापू नेहरू जी की बात सुनकर और गम्भीर हो गये। बोले-“अन्य कोई न समझे किन्तु तुम में तो मेरे

दृष्टिकोण को समझने की क्षमता होनी चाहिए ।" नेहरू जी का हास्य रुक गया । वह जिज्ञासु की तरह सुनने को तत्पर हो गये । बापू बोले-"मूल्य एक लोटा पानी का भले न हो, सन्तुलित स्वभाव का तो है । मैं एक लोटा पानी से रोज मुँह धो लेता हूँ, आज अधिक लेना पड़ा तो कुछ बड़ी बात नहीं । किन्तु यदि इस वृत्ति की उपेक्षा की, अपनी असावधानी की आदत को बढ़ने दिया तो जीवन में वह सभी स्थानों पर हस्तक्षेप करेगी । निर्धारित मात्रा में पानी से मुँह न धो सकना बढ़ती हुई असावधानी का प्रतीक है । इसी नाते वह चिन्तनीय है । अपने अंदर के दुर्गुणों पर कड़ी निगाह रखना विकास के लिए आवश्यक है ।"

बात नेहरू जी की समझ में आई । किन्तु बापू की बात अभी पूरी नहीं हुई थी । बोले-"जवाहर तुमसे एक सैद्धान्तिक भूल और हुई है । बताओ क्या ?" जवाहर लाल जी पुनः चुप रह गये । बापू ने पुनः स्पष्ट किया-"हमने पानी समाप्त होने को क्यों महत्व दिया, यह न समझ पाना एक बात थी । मुँह धोने के लिए और पानी की आवश्यकता स्वाभाविक थी । किन्तु यह कहना कि पानी की कमी नहीं है अतः खर्च अनियन्त्रित किया जावे, भूल है । कोई वस्तु तुम्हारे पास ईश्वर की कृपा से प्रचुर मात्रा में है-इसी कारण हम उसके व्यय करने की कोई सीमा न बनायें यह भारी भूल है । व्यवस्था सन्तुलित उपयोग से बनती है । सन्तुलित होना प्रकृति का नियम है । समृद्धि के नाम पर असन्तुलित होने का अर्थ है, अभाव को निमन्त्रण देना । अपनी सन्तुलित आवश्यकता से अधिक व्यय करना अनैतिकता है । श्रेष्ठ व्यक्ति के लिये अशोभनीय है ।"

सच्चा जन-सेवक

सेवक और स्वामी में यों तो विशेष अन्तर नहीं है । पर जो स्वेच्छया सेवा को अपना जीवन पथ मानकर अपनाते हैं वे सेव्य के प्रति विनम्र होते हैं । यही कारण है कि महात्मा गाँधी ने जब से जनसेवा का व्रत लिया जन-सामान्य के समान ही औसत स्तरीय जीवन भी ढालना आरम्भ कर दिया और उस स्थिति तक वे औसत स्तर की सुविधाओं में जीने लगे, जिससे कि उन्हें आम जनता से अलग कर पाना कठिन हो गया । मार्च, १९१९ की घटना है गाँधीजी बिहार में काम कर रहे थे । तभी वायसराय ने आवश्यक चर्चा के लिये उन्हें बुलाया । बापू ने दिल्ली रवाना होने की तैयारियाँ कीं । उनके साथियों ने कहा-"वायसराय ने बुलाया है, अतः आप हवाई जहाज से जायें तो ठीक रहेगा ।"

गाँधीजी ने यह कहकर इस सलाह को मानने से इन्कार कर दिया कि जिस सवारी में करोड़ों लोग सफर नहीं कर सकते, उसमें मैं कैसे बैठूँ ? जबकि रेलगाड़ी से भी मैं पहुँच सकता हूँ और उन्होंने मनु बहिन को अपने

साथ चलने को बोलते हुए कहा-मेरे साथ सिर्फ तुम ही चलोगी । सामान कम से कम लेना और टिकट तीसरे दर्जे का ।

मनु बहिन ने कम से कम सामान लिया, पर डिब्बा ऐसा चुना जिसमें दो भाग थे । एक भाग में उन्होंने सामान रखा और दूसरे में बापू के सोने-बैठने की व्यवस्था । पटना से गाड़ी सुबह नौ बजे रवाना हुई । रास्ते में हर स्टेशन पर लोग गाँधीजी के दर्शन के लिये इकट्ठे होते अतः मनु बहिन ने उनके आराम की भी उपयुक्त व्यवस्था की । गर्मी के दिन थे और गाँधीजी उन दिनों दस बजे भोजन किया करते थे । भोजन तैयार करने के बाद मनु बहिन गाँधीजी के पास आयीं । उन्होंने पूछा-"कहाँ थीं ?"

"उधर खाना तैयार कर रही थी ।" मनु बहिन ने कहा ।

"जरा खिड़की के बाहर झाँकना तो ।" गाँधीजी बोले । मनु बहिन ने झाँककर देखा कि कई लोग दरवाजा पकड़ कर लटकते हुए यात्रा कर रहे थे । गाँधीजी क्या देखने के लिये कह रहे थे ? मनु समझ गयी थीं । तब गाँधीजी ने कहा-"इस दूसरे कमरे के लिये तुमने कहा था ।"

"हाँ" मनु बोली । "मेरा विचार था इसी कमरे में काम करूँगी तो आपको तकलीफ होगी"

मेरी तकलीफ की तो तुमने चिन्ता कर ली, पर उन यात्रियों के बारे में कुछ क्यों नहीं सोचा जो लटकते हुए सफर कर रहे हैं ।

गाँधीजी ने मनु बहिन को और भी झिड़का उन्हें अपनी गलती और गाँधीजी की तकलीफ का इतना अहसास हुआ कि आँखों से आँसू बहने लगे । उसे रोते देखकर बापू ने समझाया-"अच्छा रोओ मत । भविष्य में ध्यान रखना और अगले स्टेशन पर स्टेशन मास्टर को अवश्य सूचित करना ।"

मनु बहिन ने गाँधीजी की आज्ञा पालन करते हुए सामान एक ही स्थान पर रख दिया और अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो स्टेशन मास्टर को इसकी सूचना दे दी । स्टेशन मास्टर को अजीब-सा लगा, वे गाँधीजी के पास आये और बोले-"मैं इस गाड़ी में एक और डिब्बा लगवाये देता हूँ । आप आराम से सफर कीजिये ।

गाँधीजी ने स्टेशन मास्टर को फटकारते हुए कहा-"जिस चीज की आवश्यकता न हो उसका उपयोग हिंसा है । आप सुविधाओं का दुरुपयोग करवाना चाहते हैं ।"

स्टेशन मास्टर ठगे रह गये । तब फिर गाँधीजी ने कहा-"आप दूसरा डिब्बा तो लगवा ही दें, पर यात्रियों के के लिये वह कम्पार्टमेंट भी खोल दें ताकि लोग आराम से सफर कर सकें ।

गाँधीजी औसत नागरिक की सुविधाओं से जरा भी अधिक सुविधाओं का उपयोग नहीं करना चाहते थे और इसी आदर्श को जन-सेवा की आवश्यक शर्त समझते थे ।

जनसेवा का प्रमाण तीसरे दर्जे का सफर

जब चम्पारन (बिहार) के कुछ प्रतिनिधियों ने गाँधीजी के पास जाकर अपनी कष्ट गाथा सुनाई कि किस प्रकार निलहे (नील का व्यापार करने वाले) गोरे उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करते हैं और मारने-पीटने का भय दिखाकर उनके खेतों की पैदावार छीन लेते हैं, तब उन्होंने सत्याग्रह द्वारा इस अन्याय का प्रतिकार करने की सलाह दी पर उस समय तक इस देश में कहीं सत्याग्रह का प्रयोग नहीं किया गया था और लोग इस सम्बन्ध में अनजान थे। इसलिये इसका कार्यभार गाँधीजी को स्वयं ही ग्रहण करना पड़ा। चम्पारन पहुँचकर उन्होंने देखा कि गाँवों की हालत वास्तव में बड़ी दयनीय हो रही है। हजारों व्यक्तियों को भरपेट अन्न और तन ढकने को मोटा कपड़ा भी नहीं मिलता। निलहे गोरे अपने लाभ के लिए किसानों से जबरदस्ती कुल जमीन के तीसरे या पाँचवें भाग में नील की खेती कराते थे, यद्यपि वे इस प्रकार अच्छी जमीन में नील पैदा करना हानिकारक मानते थे। पर बड़े जमींदार और सरकारी अफसर गोरो के सहायक थे, इसलिये जो किसान गोरो की आज्ञा मानने से इन्कार करते थे उन पर मनमाना जुल्म किया जाता था।

इसके साथ ही गाँधीजी ने देखा कि किसान एक तरफ तो निलहे गोरो के अत्याचारों से पीड़ित हैं और दूसरी तरफ उनमें स्वयं इस प्रकार के दोष-दुर्गुण मौजूद हैं, जिनके कारण उनकी हालत और भी गिरती चली जाती है। अशिक्षा, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, गन्दगी आदि हानिकारक प्रवृत्तियाँ उनके रहे-सहे साधनों को भी समाप्त करती जाती हैं। यह देखकर उन्होंने स्वयं तो राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ किया और अपने कुछ विश्वस्त कार्यकर्ताओं को प्रचारार्थ बुलाया। इनमें से ज्यादातर व्यक्ति गाँधीजी के आश्रम में रहने वाले गुजराती थे। इसी कार्य के लिए बम्बई से अवन्तिकाबाई गोखले को बुलाया, जो यद्यपि अभी तक गाँधीजी से एकाध बार ही मिली थीं और जो अभी चर्खा और खहर से भी सम्बन्धित नहीं थीं। पर गाँधीजी उनकी सेवा-भावना को समझते थे। वह नर्स के काम की विधिवत शिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं, विदेश यात्रा कर आने से छुआछूत के विषय में उदार-विचार रखती थीं और हिन्दी बोलने का भी काफी अभ्यास था।

जिस दिन अवन्तिकाबाई को मोतिहारी (चम्पारन का सदर मुकाम) पहुँचना था, लोगों ने कहा-अवन्तिकाबाई तो सदैव दूसरे दर्जे में यात्रा करती हैं अब भी उसी में आयेंगी। गाँधीजी ने कहा अगर वे तीसरे दर्जे में आयेंगी तो उन्हें यहाँ रूखूंगा, वरना बम्बई ही वापस भेज दूँगा। गाड़ी रात के एक बजे मोतिहारी स्टेशन पर आई। वहाँ गाँधीजी के सबसे छोट पुत्र देवदास गाँधी मौजूद थे, क्योंकि वे ही अकेले अवन्तिकाबाई को पहचानते थे।

देवदास ने उनको पहले और दूसरे दर्जे के डिब्बों में ढूँढ़ा लेकिन कहीं पता न लगा, तब वे निराश होकर डेरे पर वापस आये और खबर दी कि अवन्तिकाबाई इस गाड़ी से नहीं आई। यह सुनकर सब लोग हँसने लगे, क्योंकि वे दोनों पति-पत्नी पहले ही आकर एक कमरे में ठहर गये थे। यात्रा उन्होंने तीसरी श्रेणी में की थी। गाँधीजी की परख गलत नहीं थी।

उन्होंने दूसरे ही दिन अवन्तिकाबाई को बड़हखा गाँव में जाकर कार्यारम्भ का आदेश दिया। इस पर कस्तूरबा ने कहा कि "ये आज ही आई हैं और कल दीवाली है। अच्छा हो दीवाली मनाकर गाँव जायें। कितने ही लोग तो १०-१५ दिन से यहाँ ठहरे हुए हैं।" गाँधीजी ने कहा- "मैंने उनको महत्वपूर्ण कार्य के लिये ही बम्बई का सब काम-काज छोड़कर यहाँ बुलाया है। उनका हरेक क्षण कीमती है। अवन्तिकाबाई दूसरे ही दिन उस दूरवर्ती गाँव में पहुँच गईं और उस विकट देहात में छह महीने तक ग्रामीणों की सेवा, शिक्षा और मार्ग-दर्शन करती रहीं। उन्होंने बम्बई की सब सुख-सुविधाओं को भुला दिया और उन ग्रामीणों में इस तरह घुल-मिल गई कि वे उन्हें सचमुच 'माता' की तरह ही मानने लग गये।

अहिंसात्मक मनोभाव का चमत्कार

महात्मा गाँधी के पुत्र मणिलाल एक भयंकर काल प्जर से पीड़ित थे। प्जर कभी भी कम होने का नाम ही न लेता था। इसके साथ ही सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। कई दिन बीत गये तो गाँधीजी और कस्तूरबा दोनों को ही चिन्ता होने लगी, अब तो बिना किसी चिकित्सक को दिखाये काम चलने वाला नहीं था। घर पर एक चिकित्सक को बुलवाया गया। चिकित्सक ने भली-भाँति उसके शरीर का परीक्षण करके कहा "गाँधी जी! आपके बच्चे के इलाज में अब औषधियाँ काम नहीं कर सकती, अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरबा देना ही अच्छा है।

गाँधीजी चिकित्सक की बात सुनकर चौंके उन्होंने बड़ी आश्चर्यमुद्रा में कहा "डॉक्टर साहब! मेरा परिवार तो शाकाहारी है। मैं इन दोनों वस्तुओं में से एक भी वस्तु नहीं दे सकता यदि सम्भव हो तो कोई दूसरी ही वस्तु बताइये।"

डॉक्टर ने उत्तर दिया "तुम नहीं जानते कि रोगी की स्थिति कितनी दयनीय है, बचना मुश्किल है। रोगी मृत्यु से जूझ रहा है हाँ, दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है पर उससे पोषण पूरा नहीं होता।"

गाँधीजी ने कहा "डॉक्टर साहब! आपका कथन सत्य है, पर मेरा तो विश्वास धर्म में है और इन वस्तुओं का उपयोग मेरी दृष्टि में हिंसा होगा। फिर मैं बीमारी की स्थिति में भी बच्चे को कैसे दे सकता हूँ? मैं तो यह

समझता हूँ कि हर व्यक्ति के धैर्य की परीक्षा संकट की ऐसी ही घड़ियों में होती है। उचित हो अथवा अनुचित पर मैं तो इसे धार्मिक दृष्टि से ही देखता हूँ और यह भी जानता हूँ कि व्यक्ति को मौस-भक्षी नहीं होना चाहिए। खैर, डॉक्टर साहब ! इन बातों को जाने दीजिये। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। मैं आपका इलाज तो अब करा नहीं सकता। पर मुझे नाड़ी और हृदय-गति देखना नहीं आता है। मैं यह चाहता हूँ कि समय-समय पर आप मेरे यहाँ आते रहें और इसकी शारीरिक जाँच करके शरीर में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों की मुझे जानकारी कराते रहें तो आपकी बड़ी कृपा होगी। आशा है आप अपने मूल्यवान समय का एक भाग यहाँ भी देते रहेंगे।"

डॉक्टर समय-समय पर रोगी की जाँच करने का आश्वासन देकर चले गये। अब गाँधीजी ने अपने बच्चे मणिलाल की 'जल चिकित्सा' प्रारम्भ की, पर कुछ लाभ न देखकर वे एक क्षण को घबड़ा गये, उनके मन में उथल-पुथल मचने लगी। पर गाँधीजी आसानी से अपने दृढ़ निश्चय को बदलने वाले न थे। उन्होंने एक चादर पानी में भिगोई और उसे निचोड़कर सिर से लेकर पैर तक लपेट दिया। सिर पर भीगा तौलिया रखकर ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये। पसीना न आने के कारण ही ज्वर कम नहीं हो रहा था। शरीर बहुत ही गर्म था। थोड़ी ही देर बाद उन्होंने देखा कि मणिलाल का शरीर पसीने से तर हो गया है और माथे पर भी पसीने की कुछ बूँदें चमकने लगी हैं ज्वर भी पहले से कम हो गया था। आशा के विपरीत एकदम इतना बड़ा परिवर्तन। गाँधीजी को अपने प्रयत्नों पर बड़ी प्रसन्नता हुई। कस्तूरबा जो पिछले दिनों से अपने बच्चे की सेवा करते-करते उदासीन सी रहने लगी थीं उन्हें अब बचने की आशा दिखाई देने लगी। गाँधी जी ने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया।

डॉक्टर ने अन्ततः यह स्वीकार ही किया कि चिकित्सा के नाम पर की जाने वाली हिंसा न तो आवश्यक ही है और न अमोघ है। बिना हिंसा का सहारा लिये भी रोगी अच्छे किये जा सकते हैं और अपेक्षाकृत कम समय तथा कम खर्च में।

प्रलोभन से बचाव

बैरिस्टरी की शिक्षा पाने, गाँधीजी विलायत गये हुए थे। वहाँ एक वृद्धा उनकी परिचित थी। वह उन्हें यदा-कदा आमन्त्रित करती। वृद्धा के यहाँ एक युवती रहती थी। गाँधीजी ने यह देखा कि वृद्धा इस प्रयास में रहती है कि युवती और वे परस्पर घुलें-मिलें। इस हेतु एकान्त में भी उन्हें छोड़ देती।

गाँधीजी किसी को भ्रम में नहीं रखना चाहते थे, पर संकोची स्वभाव के कारण अपने विवाहित होने की बात भी न कह पाते। इसलिए उन्होंने एक पत्र में वस्तुस्थिति लिखकर वृद्धा को पत्र भेज दिया।

लौटती डाक से ही वृद्धा का उत्तर मिला-"इतने खुले दिल से पत्र लिखने के लिए धन्यवाद। हम दोनों खुश हुईं, हँसी भी। हमारी मैत्री पूर्ववत् रहेगी। अगले रविवार को आप आमन्त्रित हैं। हम प्रतीक्षा करेंगी।"

सदुपयोग की कला

गाँधीजी के सामने डाक का ढेर लगा था। वह आये हुए प्रत्येक पत्र को ध्यान से पढ़ते जाते और जो हिस्सा कोरा होता उसे कैंची से काटकर अलग रख लेते। एक सज्जन वहीं पास में बैठे थे और बहुत देर से गाँधीजी को कतरते देख रहे थे। उन्होंने बहुत आश्चर्य से पूछा-"मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप इन कतरनों को एक ओर एकत्रित कर क्यों रखते जा रहे हैं? इनका क्या उपयोग है?"

"मुझे जब पत्रों के उत्तर देने होते हैं तब मैं इन्हीं कतरनों का उपयोग करता हूँ। यदि ऐसा न करूँ तो यह कागज बेकार हो जायेंगे और इससे दो प्रकार की हानियाँ होंगी, एक तो अनावश्यक खर्च की वृद्धि हो जायेगी और दूसरे राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट होगी। किसी देश में जितनी वस्तुएँ होती हैं वह सब उस देश की सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। हमारा देश निर्धन है। ऐसी स्थिति में हमें धन का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।"

गरीब-अमीर का अन्तर

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था-"अहिंसात्मक स्वराज्य की कुंजी आर्थिक समानता है। हमारा उद्देश्य देश के मुट्ठी भर धन-कुबेरों को नीचे लाना और करोड़ों भूखे-नंगों को ऊपर उठाना है। स्वतन्त्र भारत में जबकि सबको समान अधिकार है, नई दिल्ली के भव्य भवनों और गरीब मजदूरों की झोंपड़ियों का अन्तर एक दिन भी नहीं चल सकेगा। अगर जनहित के लिए स्वेच्छापूर्वक उस वैभव, उस अधिकार का त्याग नहीं किया गया तो निश्चय ही एक दिन भयंकर हिंसात्मक क्रान्ति होकर रहेगी।"

गाँधीजी के प्रेरणा स्रोत

जिन व्यक्तियों से महात्मा गाँधी अपने जीवन काल में प्रभावित हुए, बम्बई के एक विख्यात व्यापारी रायचन्द भाई भी उनमें से ही एक थे। वे बम्बई में हरि-जवाहरात का व्यापार किया करते थे।

एक व्यापारी से सौदा किया कि अमुक तिथि तक अमुक भाव में वह व्यापारी रायचन्द भाई को इतने हरि दे देगा। व्यापारी और रायचन्द भाई ने लिखित स्टाम्प पर हस्ताक्षर कर दिये।

संयोग से हीरों के भाव बढ़ने लगे इतने बढ़ गये कि समझौते के अनुसार वह व्यापारी रायचन्द भाई को जवाहरात दे तो उसे अपना मकान और जमीन-जायदाद सब कुछ बेचनी पड़े।

रायचन्द भाई को इस बात का पता चला तो वे व्यापारी की दुकान पर पहुँचे। उन्हें देखते ही

व्यापारी चिन्तित हो उठा और बोला-आपके सौदे के लिए मैं स्वयं चिन्तित हूँ। चाहे जो हो वर्तमान भाव के अनुसार मैं आपको घाटे के रुपये अवश्य दे दूँगा, आप चिन्ता न करें।

रायचन्द भाई ने कहा-“नहीं भाई तुम्हें परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी चिन्ता से मैं भी चिन्तित हूँ। हम दोनों की चिन्ता का कारण है वह लिखा-पढ़ी उसे ही समाप्त कर दिया जाय तो हम दोनों की चिन्ता ही नष्ट हो जायगी।”

व्यापारी ने कहा- नहीं-नहीं। यह तो व्यापारिक ईमानदारी के सिद्धान्तों से विपरीत बात हुई। मैं आपको दो दिन के अन्दर सारा रुपया अवश्य चुका दूँगा।

परन्तु रायचन्द भाई नहीं माने और कागज टुकड़े-टुकड़े करते हुए बोले-“इस लिखा-पढ़ी से तुम बंध गये थे ना किन्तु मैं तुम्हारी परिस्थिति को जानता हूँ। इन कागजों के अनुसार मेरे चालीस-पचास हजार रुपये तुम पर निकलते हैं परन्तु ये रुपये मैं तुमसे नहीं लूँगा। रायचन्द दूध पी सकता है खून नहीं।”

दूसरे की परिस्थिति देखकर ही सच्ची सहानुभूति से लाभ उठाना व्यापार का श्रेष्ठतम आदर्श है।

कोई काम छोटा या बड़ा नहीं होता

मगनबाड़ी आश्रम में एक दिन महात्मा गाँधी ने यह योजना बनायी कि सबके जूते बरतन बारी-बारी से दो-तीन व्यक्ति मौँजा करें। इससे आश्रमवासियों में प्रेमभाव बढ़ेगा तथा एक-दूसरे के बरतन मौँजने से जो घृणा होती है वह मिट जायेगी। इस कार्य का महत्व भी एक आश्रमवासी को बताया तो उसके गले यह बात न उतरी। उक्त आश्रमवासी कहने लगे-“सबके जूते बरतन मौँजने से अव्यवस्था होने का डर है।”

गाँधी जी ने कहा-“अव्यवस्था का निराकरण कर व्यवस्था लाना हमारा काम है। सबसे पहले मेरी और बा की बारी है।” इसके तुरन्त बाद गाँधीजी और बा बरतन मलने में लग गये। अन्य आश्रमवासियों ने जब यह देखा तो उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा और वे भी उनके साथ हो गये। तब गाँधीजी ने कहा-“इस काम को लोग छोटा समझकर करने में डरते हैं। जबकि कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं है। छोटा या बड़ा तो दृष्टिकोण होता है।”

सदुपयोग करना सीखें

बापू का उस दिन मौन व्रत था। वे प्रातःकाल आश्रम के बच्चों को साथ लेकर टहलने गए।

रास्ते में एक तीन इंच लम्बा सुई का टुकड़ा पड़ा दिखाई दिया। गाँधीजी ने एक छोटी लड़की से उसे उठा लेने का इशारा किया।

लड़की ने उसे उठा तो लिया पर उलट-पुलट कर देखने पर उसे निरर्थक पाया और आगे चलकर फेंक दिया।

शाम को मौन टूटा तो गाँधीजी ने लड़की से वह टुकड़ा माँगा। पर वह तो उसे निरर्थक समझकर फेंक चुकी थी। गाँधीजी नाराज हुए और दूँद लाने के लिए उसे भेजा।

टुकड़ा मिल गया और उसे साफ करके गाँधीजी ने सूत काता और कहा-“वस्तुओं का पूरा सदुपयोग करने की आदत सभी को डालनी चाहिए। बर्बादी हम तनिक भी न करें।”

सजा तुझे नहीं मुझे भोगनी चाहिए

दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थियों को गाँधीजी कई-कई दिन का अस्वाद व्रत कराते थे। कुछ विद्यार्थी पहले तो लम्बा व्रत ले लेते और बाद में उनका संकल्प कमजोर पड़ने लगता। ऐसे विद्यार्थियों को वे कड़ाई से नियम पालन करने के लिए कहते।

एक बार देवदास गाँधी आठ दिन का अस्वाद व्रत लेकर बीच में ही तोड़ने लगे। नमक पड़ी कढ़ी बनी थी और वे उसके लिये अड़ बैठे। गाँधीजी ने लाख मनाया पर माने नहीं। उलटे रोने लगे। गाँधीजी ने विचार किया वे भी तो कुछ दिन पहले देवदास की तरह ही संकल्प तोड़ देते थे। बेटे का क्या दोष? दोष मेरा है। दण्ड मुझे मिलना चाहिए। अतः वे जोर-जोर से अपने ही गालों पर तमाचे मारने लगे। “देवदास यह मेरी ही भूल का परिणाम है जो तू मचल रहा है। सजा तुझे नहीं मुझे भोगनी चाहिए।”

गाँधीजी के इस व्यवहार का देवदास पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे व्रत पर दृढ़ हो गये।

हृदय परिवर्तन इस तरह

गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था। ब्रिटिश सरकार भी गाँधीजी के नये-नये आन्दोलनों से तंग आ गई थी। एक अंग्रेज अधिकारी ने तो क्रोध में यहाँ तक कह दिया “यदि मुझे गाँधी अभी कहीं मिल जाय तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ।”

बात छिपने वाली न थी, गाँधी जी को भी सुनने को मिल गई। वह दूसरे दिन सुबह ही उस अंग्रेज के बैंगले पर अकेले ही पहुँच गये। उस समय वह अंग्रेज सो रहा था, जगने पर गाँधीजी की भेंट हुई उन्होंने कहा-“मैं गाँधी हूँ। आपने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है। आपकी प्रतिज्ञा आसानी से पूर्ण हो सके अतः मैं यहाँ तक अकेला ही चला आया हूँ। अब आपको अपना काम करने में सुविधा होगी।” इतना सुनकर अंग्रेज पानी-पानी हो गया। मारने की कौन कहे उसके मुख से कोई अपशब्द तक न निकला। उसका हृदय उसी समय बदल गया और बाद को तो वह गाँधीजी का परमभक्त बन गया।

वचन-भंग सबसे बड़ा पाप

इंग्लैण्ड के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर भोज था। उसमें गाँधीजी भी आमन्त्रित थे। नियत समय पर गाँधीजी पहुँच गये। भोज में एकत्रित सभी व्यक्ति उच्च प्रतिभा और

सम्मान वाले व्यक्ति थे। भोजन परोसा गया। उन्होंने देखा भोजन की थाली में माँस है तो वे उठकर खड़े हो गये और खाने से इन्कार कर दिया। लोग आश्चर्यचकित रह गये। तभी एक अँग्रेज ने कहा-माँस खाने से क्या होता है? गाँधीजी बोले-माँ को दिये गये वचन को तोड़ना ही क्या कम पाप है, जो मैं माँसाहार के पाप पर विचार करूँ।

संयम का प्रभाव

कस्तूरबा उन दिनों अस्वस्थ थीं। स्वास्थ्य सुधारने के कितने ही प्रयत्न हो चुके थे पर सभी निष्फल गये। एक दिन गाँधीजी ने दाल और नमक छोड़ने की सलाह दी। अपनी बात के समर्थन में स्वास्थ्य सम्बन्धी साहित्य के कुछ अंश भी पढ़कर सुनाये पर 'बा' उनकी बात मानने को तैयार नहीं हुई। उन्होंने झुंझलाते हुए कहा-"आप मेरे इतने पीछे पड़े हैं दाल और नमक तो आप भी नहीं छोड़ सकते।"

गाँधीजी को यह बात चुभ गयी, अच्छी बात है तुम नहीं छोड़ना चाहती तो मत छोड़ो मैंने आज से एक वर्ष के लिये दोनों ही वस्तुयें छोड़ दीं। गाँधीजी को 'बा' के प्रति प्रेम व्यक्त करने का यह अपूर्व अवसर मिला था, इसे वह सहज छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा यदि मैं अस्वस्थ होता और मेरा चिकित्सक इस प्रकार का परहेज करने के लिये कहता तो मैं खुशी-खुशी तैयार हो जाता।

गाँधीजी की एक साल तक नमक और दाल छोड़ने की प्रतिज्ञा ने कस्तूरबा को यह समझाने में सफलता प्राप्त की कि संयम से कुछ भी कठिन नहीं बन सरल है और लाभदायक भी।

ईश्वर पर भरोसा

गाँधीजी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में थे। उनके साथ जर्मनी के निवासी कैलन बैंक रहते थे। दोनों में अच्छी मित्रता थी। वहाँ के पठानों को गाँधीजी की नीति पसन्द न आई तो वह नाराज हो गये। कुछ व्यक्तियों ने पठानों के कान और भर दिये।

कैलन बैंक को ऐसा अनुभव हुआ कि वह पठान कभी भी गाँधीजी पर आक्रमण कर सकते हैं, अतः उन्होंने गाँधीजी की सुरक्षा हेतु एक रिवाल्वर की व्यवस्था कर ली गाँधी जी के साथ कैलन बैंक को जहाँ-कहीं जाना होता वह अपने कोट की जेब में रिवाल्वर छिपाकर ले जाते। गाँधी जी को इस सम्बन्ध में तनिक भी जानकारी न थी।

एक दिन अचानक गाँधीजी की दृष्टि कैलन बैंक के कोट में रखी रिवाल्वर पर पड़ी। उन्होंने पूछा 'इतना तो बताइये कि यह रिवाल्वर आप अपनी जेब में क्यों रखते हैं?'

"मुझे ज्ञात हुआ है कि कुछ पठान आपसे रुठ हो गये हैं। पता नहीं कब आप पर आक्रमण कर दें।"

"अच्छा! तो आप मेरी रक्षा उनसे करना चाहते हैं।"

"इरादा तो यही है।" फिर तो मैं निश्चिन्त हो गया कि मेरी रक्षा का दायित्व अब तक ईश्वर के हाथ में था

और अब आप उसे अपने हाथ में ले रहे हैं। जब तक आप जीवित हैं तब तक मेरा बाल-बाँका नहीं हो सकता। यह भी खूब रही। आप ने मेरे प्रति मैत्री और आत्मीयता का भाव रखने के कारण ईश्वर के अधिकार को छीनने का साहस किया।"

कैलन बैंक अब क्या कहते। उन्होंने रिवाल्वर निकाल कर बाहर फेंक दिया।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता

भारतीय संस्कृति पर लेख लिखने के लिए गाँधी जी ने कलम उठाई। उन्होंने प्रथम वाक्य लिखा-"भारत की संस्कृति से तुलना करने वाली विश्व की कोई भी संस्कृति नहीं है।" पहला ही वाक्य पूरा लिख पाये थे कि कलम रुक गई। अभी तो बहुत कुछ लिखना शेष था। अब बार-बार उस वाक्य पर ही उनकी दृष्टि जाने लगी वे स्तब्ध हो गये। और कुछ लिखने के स्थान पर उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

गाँधीजी से उनकी आत्मा ने पूछा-"तुम तो सत्याग्रही हो, फिर क्या सोचकर अपनी संस्कृति की इतनी प्रशंसा करने लगे। क्या तुम्हें ध्यान नहीं कि देश के लाखों अस्पृश्य नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनसे अच्छी स्थिति तो पशु-पक्षियों की है। फिर यह तुमने कैसे लिख दिया कि इस संस्कृति की समानता विश्व की अन्य कोई संस्कृति नहीं कर सकती।" और बाद को भारतीय संस्कृति की महिमा पर लेख लिखने का विचार ही छोड़ दिया।

बचपन के गुरु

स्वराज्य आन्दोलन के दिनों की बात है। राजकोट में कठियावाड़ राज्य प्रजा परिषद का अधिवेशन हो रहा था। बापू अन्य नेताओं के साथ मंच पर बैठे थे। तब ही उनकी दृष्टि दूरी पर बैठे एक वृद्ध पर पड़ी। वे गाँधीजी को कुछ जाने-पहचाने से लगे। स्मरण शक्ति पर जरा जोर देने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि ये तो मेरे बचपन के अध्यापक हैं।

बापू शीघ्र ही मंच से उतरकर उनके पास गये और प्रणाम करके उनके चरणों के समीप बैठ गये। गुरुजी से उन्होंने परिवार की कुशल-क्षेम पूछी। जब काफी समय बीत गया तो गुरुजी ने बापू से कहा-"अब आप मंच पर पधारिये। नेतागण आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे।" बापू बोले-"नहीं-नहीं मैं यहीं पर ठीक हूँ। अब मैं मंच पर नहीं जाना चाहता। यहीं बैठकर सारा कार्य देखूँगा। आप चिन्ता न कीजिये।" सभा समाप्त होने पर वे चलने लगे तो अध्यापक ने गद्गद होकर आशीर्वाद दिया-"जो व्यक्ति तुम जैसा अहंकार रहित हो, महान कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है।"

ऐसे थे गाँधी जी

बेतिया में कोई कार्यक्रम था। बिहार का एक किसान भी गाँधीजी को देखना चाहता था सो वह भी बेतिया के लिये चल पड़ा।

किसान की कल्पना में महात्मा गाँधी का बड़ा-चढ़ा स्वरूप था। वे विलायती कपड़े पहनते होंगे। बड़े डील-डौल वाले होंगे। फर्स्ट क्लास में चलते होंगे। राजाओं-महाराजाओं का-सा भोजन करते होंगे। उस बेचारे को क्या पता था कि सच्चे सेवक अपना जीवन महत्वाकांक्षाओं से नहीं विनयशीलता, सेवा-भाव, लगन और सादगी से सजाते हैं।

किसान रेलगाड़ी में सवार हुआ। थर्ड क्लास के डिब्बे। कई आदमी बैठे थे उन्हीं के बीच एक सज्जन लेटे थे। काफी थके जान पड़ते थे। किसान ने हाथ पकड़ कर उन्हें उठाते हुए कहा-“उठकर बैठें ऐसे लेटे हो जैसे तुम्हारे बाप की गाड़ी है।”

वह महाशय उठ बैठे। उन्हें इस तरह उठाये जाने से न तो खिन्नता थी न द्वेष-भाव। अब किसान मजे से बैठ गया और छेड़ ही तो दी तान उसने “धन-धन गाँधीजी महाराज दुःखियों का दुःख मिटाने वाले।” उधर डिब्बे के सब लोग मुस्कराते रहे। बेतिया में गाड़ी रुकी तो लोग गाँधीजी को उतारने दौड़े। उनकी जय-जयकार से स्टेशन गूँज उठा। किसान बेचारा यह देखकरा स्तब्ध रह गया कि जिस व्यक्ति को उसने हाथ से उठाकर बैठा दिया वही गाँधीजी थे।

अन्याय के विरोध की शक्ति

स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगों की हवा चल पड़ी थी। एक दिन शाम को किसी कार्यकर्ता ने आकर गाँधीजी को कोई दर्दनाक बात बताई। अब तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे बोले-“इस तरह इन घटनाओं का अन्त होने वाला नहीं है। अब मुझे उपवास रखना ही पड़ेगा।” और दूसरे ही दिन से गाँधीजी ने उपवास-व्रत ले लिया।

अगले दिन शाम को कुछ कार्यकर्ता गाँधीजी से भेंट करने गये तो उन्होंने गाँधीजी को बहुत ही प्रसन्न पाया। वे सोच रहे थे कि जब व्रत शुरू किया है तब तो उन्हें कुछ उदास होना चाहिए था। आखिर वह पूछ ही बैठे “गाँधीजी! आज आप इतने प्रसन्न क्यों नजर आ रहे हैं?”

गाँधीजी ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया-“कल तक मैं अन्याय की बातें सुनता था और चुप हो जाता था। पर आज से अन्याय का विरोध करने की शक्ति भी मुझमें आ गई है और अब मैंने अन्याय का सामना करने का संकल्प भी कर लिया है। मेरे लिये इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती है।”

अपव्यय की वृत्ति कितनी घातक

महात्मा गाँधी से एक मारवाड़ी सेठ भेंट के लिये आये। वह बड़ी-सी पगड़ी बाँधे थे और मारवाड़ी वेशभूषा में थे। बात-चीत के बीच उन्होंने पूछा-“गाँधीजी! आपके नाम पर लोग देशभर में गाँधी टोपी पहनते हैं और आप इसका इस्तेमाल ही नहीं करते ऐसा क्यों?”

गाँधीजी मुस्कराते हुए बोले-“आपका कहना बिल्कुल ठीक है, पर आप अपनी पगड़ी को उतारकर तो देखिये, इसमें कम से कम बीस टोपियाँ बन सकती हैं। जब बीस टोपियाँ के बराबर कपड़ा आप जैसे धनी व्यक्ति अपनी पगड़ी में लगा सकते हैं, तो बेचारी उन्नीस आदमियों को नंगे सिर रहना ही पड़ेगा। उन्हीं उन्नीस आदमियों में मैं भी एक हूँ।”

गाँधीजी का उत्तर सुनकर सेठजी को कुछ कहते न बना। वह चुप हो गये, पर गाँधीजी ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा-“अपव्यय, संचय की वृत्ति अन्य व्यक्तियों को अपने हिस्से से वंचित कर देती है।” तो मेरे जैसे अनेक व्यक्तियों को टोपी से वंचित रहकर उस संचय की पूर्ति करनी पड़ती है।

कठिनाइयों से जूझने वाले-

अब्राहम लिंकन

सन् १८१६ केन्टू-की हार्डिन काउन्टी स्थित कुटी में रहने वाला एक निर्धन परिवार। परिवार के चार सदस्य पिता-थामस लिंकन, माता नैन्सी हैक्स, नौ वर्षीय पुत्री और सात वर्षीय पुत्र एव। कुछ परिस्थितियों ने इस परिवार को अपना निवास स्थान छोड़ने के लिये विवश किया। उत्तर-पश्चिम के जंगल की ओर यह चारों चल पड़े। जंगल बीहड़ था, कुल्हाड़े से मार्ग बनाना पड़ता था। भोजन का कोई साधन न होने के कारण थामस लिंकन अपनी बन्दूक से शिकार करते और सबका निर्वाह उसी से होता था।

इण्डियाना की जैन्ट्रविले बस्ती में पहुँचकर एव ने कुटिया का निर्माण किया। बिस्तर के स्थान पर सूखे पत्ते बिछा लिये गये। इसके अतिरिक्त सामान के नाम पर उस कुटिया में स्टूल, मेज और धर्म ग्रन्थ बाइबिल ही देखी जा सकती थी। एव अपनी माता से अधिक स्नेह करता था पर अधिक समय उसकी देख-रेख में एव का पालन पोषण न हो सका क्योंकि वह शीघ्र ही परलोकगामी हो गई। एव माता के विछोह पर बहुत रोया, बाद को उसने इण्डियाना से बाहर की दुनिया को भी देखना शुरू किया।

अब पढ़ाई के प्रति उसकी रुचि बढ़ती जा रही थी, पर निर्धन पिता साधन जुटाने में असमर्थ था। ऐसी विवशता के बीच उसने गरीबी और दुर्भाग्य को कोसने की अपेक्षा सूझ-बूझ और परिश्रमशीलता को ही वरण किया। वह अपने परिचित व्यक्तियों तथा विभिन्न पुस्तकालयों से पुस्तकें ले आता था और पढ़कर समय पर वापस कर आता, पर एक बार एक पुस्तक उससे खराब हो गई तो बदले में तीन दिन मजदूरी करके उसकी कीमत चुकाई। ऐसा स्वाभिमानी बालक था वह एव।

कुछ दिनों पश्चात् उसका विवाह एक विधवा से हो गया। उसने अपने तीन बच्चों के साथ परिवार में प्रवेश किया। एव की पत्नी बड़े अच्छे स्वभाव की थी वह अपने

४.१६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

पति को सदैव अधिक से अधिक पुस्तकों का अध्ययन करने के लिये प्रेरित करती रहती थी। वह यही समझती कि जिस कार्य का प्रारम्भ करो, अनेकानेक आपत्तियाँ आ जाने पर भी उसे बीच में न छोड़ो। आपत्तियाँ तो मनुष्य की परीक्षा लेने के लिये आया करती हैं। फिर उनसे घबराने की क्या आवश्यकता? पत्नी के प्रति एव की श्रद्धा बढ़ती ही जा रही थी।

एव को कहीं वाशिंगटन की जीवनी पढ़ने को मिल गई। पुस्तक बड़ी प्रेरणाप्रद थी। वह अमेरिका के राष्ट्रपति बनने का स्वप्न देखने लगा। यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य की पूर्ति हेतु जुट जाता है। तो प्रारम्भ में लगने वाला स्वप्न भी एक दिन पूर्ण होकर रहता है। एव के साथ भी तो यही हुआ। वह दिन में किसानों के साथ खेत में काम करता, पौधे लगाता, लकड़ी फाड़ता और रात्रि का समय स्वाध्याय में लगाता था।

उस समय एव की आयु केवल १८ वर्ष की थी। एक दुकान पर नौकरी लग गई। नौकरी में उसका मन कम ही लगता था पर जीविका उपार्जन के लिए भी तो कुछ करना जरूरी था। वहाँ से १५ मील दूर न्यायालय लगता। न्यायाधीश दोनों पक्ष के वकीलों की दलीलें सुनकर निर्णय दिया करते। एव को जब कभी समय मिलता १५ मील दौड़ा जाता और मुकदमों की कार्यवाही सुनता। वकीलों की बहस सुनने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह गाँव की दुकान पर काम करते हुए भी कानून की पुस्तकें पढ़ने लगा।

एक वकील हत्यारे के पक्ष में बहस कर रहा था और एक से एक बढ़कर दलीलें प्रस्तुत कर रहा था। एव ने प्रथम बार ही ऐसी बहस सुनी थी। न्यायालय का समय समाप्त हुआ तो एव उस वकील से हाथ मिलाने और प्रशंसा करने के लिये आगे बढ़ा, वह वकील बिना हाथ मिलाये उपेक्षा से ही आगे बढ़ गया। इस तरह अनेक उपेक्षाएँ और अपमान एव को अपने जीवन में सहन करने पड़े, पर वह घबराया नहीं, बाधाओं के सामने झुका नहीं।

एव प्रगति की राह पर निरन्तर बढ़ता जा रहा था। अब वह आटा चक्की तथा दूकान का व्यवस्थापक बन गया। आस-पास चारों ओर उसकी ख्याति 'ईमानदार' एव के नाम से बढ़ती जा रही थी। यदि उसके पास किसी ग्राहक का कुछ रह जाता या पैसों में भूल हो जाती तो वह कई मील पैदल जाकर पैसे लौटाता। एव का जन्म किसी धनी परिवार में तो हुआ न था और न उसे किसी व्यवसाय का विशेष ज्ञान था, ऐसी स्थिति में उसे जैसा काम मिल जाता उसी में लगन के साथ जुट जाता।

साक्य कबीले के सरदार ब्लैकहोल के साथ युद्ध छिड़ जाने पर सैनिकों की भर्ती शुरू हो गई। एव की नियुक्ति सैनिक कम्पनी के कप्तान के पद पर हो गई और वह भी युद्ध भूमि में पहुँच गये। वहाँ वह अपने कष्टों को भूलकर दूसरों की सेवा में लगे रहते और अपने साथियों की

अधिक चिन्ता करते थे। यही कारण था कि उनके मित्र और स्नेही बढ़ते जा रहे थे।

युद्ध की समाप्ति पर अनेक साथियों ने राज्य सभा का चुनाव लड़ने का परामर्श दिया पर एव यह समझने लगे मानो उनका मजाक किया जा रहा है क्योंकि अब तक उनमें पूर्णरूप से आत्मविश्वास नहीं जग पाया था। वे चुनाव में सम्मिलित हुये पर सफलता उनसे दूर ही रही। असफलता के पश्चात् निराश होना या उस कार्य को छोड़ देना उन्होंने सीखा न था। वह हर असफलता से शिक्षा ग्रहण करने वाले थे। वह बारीकी से असफलता प्रदान करने वाली परिस्थितियों का अध्ययन करते और फिर उन्हें दूर करने का प्रयास करते थे।

दूसरी बार चुनाव आया तो वह पुनः प्रत्याशी बने इस बार वह जनता की कठिनाइयों को ईमानदारी से अनुभव करने लगे। पर इस समय उनके पास इतने पैसे तक न थे कि नया सूट बनवाते। आखिर इस आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने उधार पैसे लेकर की। अब राजनीति उनका कार्य-क्षेत्र था। वकालत की पुस्तकें पढ़कर वह पूरी तरह से वकील बन गये थे। सत्य पक्ष पर आधारित मुकदमों को ही वह लेते थे। न्यूओर्लियन्स जाने पर उन्होंने देखा कि काले रंग के अनेक स्त्री-पुरुष जंजीरों में भेड़-बकरियों की तरह से बँधे हुए हैं और उन दासों को मंडियों में बेचने ले जाया जा रहा है। मानवता के साथ यह दुर्व्यवहार उन्हें बहुत अखरा और उन्होंने दास व्यापार के उन्मूलन की दिशा में भरसक प्रयत्न किया।

सन् १८६० का वर्ष एव के जीवन में बड़े महत्व का था क्योंकि ए० डगलस को परास्त कर अमेरिका जैसे विशाल देश के राष्ट्रपति बनने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ। एक ओर इतना बड़ा पद उन्हें मिला तो दूसरी ओर अनेक आन्तरिक समस्याएँ थीं, जिनका सुलझना भी बड़ा आवश्यक था। बहुत से दक्षिणी राष्ट्रों ने संघ से अलग होने की घोषणा कर दी। कई युद्ध हुये पर एव ने संघ की रक्षा का नारा लगाया। हजारों युवक एक ही आवाज पर एव के पीछे चलने को तैयार हो गये। बचपन में एव के नाम से पुकारा जाने वाला वह युवक अब्राहम लिंकन के नाम से सम्पूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त कर चुका था।

लिंकन की सेवाओं का ही यह प्रभाव था कि वह दूसरी बार राष्ट्रपति चुने गये। उनकी वैचारिक दृढ़ता और आत्मविश्वास सफलता पर सफलता दिलाते जा रहे थे। उन्होंने सत्य पर आरुढ़ रहने के अपने निश्चय को दुहराया और कहा 'गृहयुद्ध के समाप्त हो जाने पर मेरा कार्य समाप्त हो जायेगा' और हुआ भी यही। जनरल ली के आत्मसमर्पण के पाँच दिन पश्चात् जब लिंकन फोर्ड थियेटर में खेल देखने गये तो एक देशद्रोही ने उनके पीछे से गोली मारकर जीवन लीला समाप्त कर दी।

लिंकन के द्वारा उठाया गया कार्य समाप्त हो चुका था। पुनर्निर्माण के युग का आरम्भ हो रहा था। उन्होंने

जिस ईमानदारी, योग्यता और साहस के साथ राष्ट्र का नेतृत्व किया वह राजनेताओं के लिये प्रकाश-स्तम्भ के समान है।

सफलता का मूल्य

एक नौजवान नदी के किनारे पर बैठा मछलियाँ पकड़ने की कोशिश कर रहा था। पानी में तट पर छोटी-छोटी सुनहरी मछलियाँ दिखाई पड़तीं तो वह दौड़ता और पानी में हाथ डालता और वापस आ जाता। क्योंकि इतनी देर में तो मछलियाँ वापस भाग जाती थीं। उसके पास मछली पकड़ने के उपकरण भी नहीं थे। न उसने इनकी आवश्यकता समझी थी। शायद उसकी दृष्टि में उनका कोई उपयोग था भी नहीं। इनके अभाव में वह बार-बार प्रयत्न करता, खाली हाथ लौटता रहा और निराश होकर तट के किनारे आकर बैठ गया।

एक मछुआ जो बहुत देर से उसे देख रहा था पास आया और बोला-भाई! मछलियाँ पकड़ने के साधन नहीं होंगे तो तुम कभी अपने इरादे पूरे नहीं कर सकोगे और उसने नौजवान को कील-काँटा, छड़ी और चारा दिया। उसने काँटे में चारा फँसाया और नदी के पानी में डोर से बाँधकर फेंक दिया। अब वह यह सोचता हुआ निश्चिन्त-सा बैठा था कि ढेर सारी मछलियाँ स्वयं ही फँस जायेंगी। घण्टा भर बीत गया। सूरज पश्चिम की ओर ढलने लगा था। नौजवान ने कील-काँटा पानी से निकाला और देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। एक भी मछली काँटे में नहीं फँसी थी। उसे लगा मछुए ने उसे गलत बात कही है। वह दौड़ा हुआ मछुए के पास गया और शिकायत भरे स्वर में बोला कि तुमने मुझे अन्धेरे में रखा है। एक भी मछली नहीं फँसी है।

सारी बात जान लेने के बाद मछुए ने समझाया कि 'दोस्त मछली केवल उपकरणों से ही नहीं पकड़ी जाती। कील-काँटा पानी में डालकर निरन्तर सजग रहना पड़ता है और बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है।'

मछुए की यह शिक्षा उसे गुरुमन्त्र-सी लगी और उसने अपने व्यावहारिक जीवन में भी इसे उतारा अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह नौजवान बार-बार असफल होकर भी निराश न होते हुए प्रयत्नशील रहने के कारण संसार के एक बहुत बड़े और सर्वाधिक समृद्ध देश का राष्ट्रपति बना, उस नौजवान का नाम था- 'अब्राहम लिंकन।'

लिंकन जब राष्ट्रपति बने तो वे अक्सर इस घटना का उल्लेख किया करते थे। एक बार उनके किसी मित्र ने उनसे पूछा- "जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए क्या करना पड़ता है?"

उन्होंने उत्तर दिया - "सफलता प्राप्त करने के लिये उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। बिना मूल्य चुकाये कोई

भी चीज प्राप्त नहीं की जा सकती। मंजिल तक पहुँचने के लिये पहले से मार्ग की जानकारी होना आवश्यक है।"

"मार्ग तो खैर मैं जानता हूँ परन्तु आप मूल्य के बारे में बताइये।"

"मार्ग जानते ही उसका मूल्य भी मालूम हो जाता है" लिंकन बोले- "मार्ग जानने के बाद सफलता तक पहुँचने के लिये उस मार्ग पर चलने का साहस और धैर्य सफलता की कीमत है। जीवन का मार्गदर्शन करने वाले सैकड़ों तत्व दुनिया में मिलते हैं। परन्तु ये सब कील-काँटे की तरह हैं। बिना प्रयत्न किये इनका कोई मूल्य नहीं। इनका होना भर अपर्याप्त है, निरर्थक है। यही नहीं हानिकारक भी है। केवल इतने पर ही आस लगाये बैठे रहने से अवसरवादी तत्व पास में जो कुछ होता है वह भी छीन भागते हैं। कील-काँटे के साथ जिस तरह प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार मार्ग और साधनों के साथ-साथ साहस और धैर्य भी जुड़ा होना चाहिए।"

लिंकन का यह निचोड़ कितना सारगर्भित है। मार्ग-दर्शन देने वाली, रास्ते के अवरोध, कठिनाइयाँ और संघर्ष बताने वाली शक्तियाँ तो बहुत हैं और वे बड़ी सहजता से उपलब्ध भी हैं परन्तु कमी तो हममें हैं जो उस दिशा में चलने का प्रयत्न करने से ही घबराते हैं। प्रयत्न न करने और जल्दी ही निराश होकर बैठ जाने से हम इन शक्तियों और ईश्वर प्रदत्त सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकेंगे। इस कृपणता को त्यागकर सफलता का मूल्य चुकाने के लिये जितनी जल्दी उन्नत हुआ जा सकेगा हम अपने उद्देश्य की ओर उतने ही शीघ्र बढ़ने लगेंगे।

अविचल निष्ठा और ईमानदारी

अब्राहम लिंकन जो अमेरिका के सर्वाधिक प्रसिद्ध राष्ट्रपति रहे तथा जिन्होंने अमेरिकी इतिहास में कई स्वर्णिम पृष्ठ जोड़े-को आरम्भ में कोई भी काम नहीं आता था तथा न ही उनमें कोई योग्यता थी। पूँजी के रूप में उनके पास कुछ था तो केवल कार्य के प्रति अविचल निष्ठा तथा ईमानदारी। इन गुणों को लेकर ही वे जीविकोपार्जन के क्षेत्र में उतरे। धन्या तो उन्हें कोई आता नहीं था और न ही उनके पास एक पैसा भी था अतः जो भी काम उनके सामने आता वही वे करने लगे।

प्रारम्भ में साल भर तक वे किसानों के साथ मजदूरी करते रहे। उन दिनों बारह घण्टे का कार्य दिन समझा जाता था। अतः वे सुबह से लेकर शाम तक किसानों के साथ काम करते रहते। मजदूरी तो जमकर की नहीं जा सकती। मालिक लोग जब तक जरूरत होती है तभी तक मजदूरी करवाते हैं और काम समाप्त होने पर छुट्टी कर देते हैं। लिंकन को भी इसी प्रकार यत्र-तत्र मजदूरी की

तलाश में भटकते रहना पड़ा। कभी वे एक किसान के यहाँ काम करते और कभी दूसरे के यहाँ।

एक बार उन्हें तथा उनके सौतेले भाई को किसी ने नाव बनाकर दी और उस नाव को नदी द्वारा न्यूऑर्लियन्स लाने ले जाने के लिए नौकर रख लिया। लिंकन ने अपना कार्य बड़ी मेहनत और दायित्व निष्ठा के साथ पूरा किया। इससे नावों का मालिक जिसका नाम ओप्फुट था बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने लिंकन को न्यूसलेम में अपनी चक्की तथा एक दुकान का प्रमुख कर्मचारी बना दिया। लिंकन अपने ग्राहकों के साथ पूरी ईमानदारी और विनम्रता से पेश आते थे। एक बार उन्होंने किसी ग्राहक स्त्री को सवा आठ रुपये का सामान बेचा। हिसाब करने के बाद उक्त स्त्री ने सवा आठ रुपये चुका दिये और कैशमीरो लेकर चली गयी। शाम को जब सारी बिक्री का हिसाब किया गया तो लिंकन ने पाया कि वह स्त्री चार आने अधिक दे गयी।

लिंकन ने तुरन्त पता देखा और दुकान बन्द कर उस पते पर जाने लगे। वह स्त्री दुकान से लगभग चार मील दूरी पर रहती थी। लिंकन चार मील पैदल गये और उस स्त्री को चार आने वापस कर क्षमा माँगने के बाद पैदल ही वापस लौटे। चार आने वापस करने के लिए लिंकन को इतनी दूर आया देखकर वह स्त्री चकित तो हुई ही उनकी ईमानदारी से प्रभावित हुए बिना भी न रही।

इसी प्रकार एक बार उन्होंने किसी ग्राहक को पाव भर चाय बेची। ग्राहक चाय लेकर चला गया। बाद में दूसरे ग्राहक को सामान तोलते समय उन्होंने देखा कि पूर्व ग्राहक को पाव भर चाय तौलते समय उन्होंने आधा पाव का बाट ही रखा था। उस ग्राहक को निबटाने के बाद लिंकन आधा पाव चाय लेकर तुरन्त उस ग्राहक के पास गये तथा बाकी की चाय देकर आये।

जीवन निर्वाह के लिये मजदूरी करते हुए भी लिंकन पढ़ते रहे तथा अपनी योग्यता बढ़ाते रहे। अपनी ईमानदारी के कारण वे काफी लोकप्रिय हो गये थे। ओप्फुट की दुकान पर काम करते हुए ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। अपने सद्व्यवहार तथा ईमानदारी से उन्होंने न्यूसलेम में अपने कई मित्र बना लिये थे और जब वे राज्य संसद के चुनाव में खड़े हुए तो वह मित्र ही उनकी पूँजी थे। लोग कहा करते थे कि "लिंकन के पास और कुछ नहीं केवल बहुत सारे मित्र हैं।" यद्यपि इस चुनाव में उनकी हार हुई थी लेकिन वोट से हारने वाले लिंकन मन से तो अपराजित ही रहे। वे तब तक संघर्ष करते रहे जब तक सफल न हुए।

इस सफलता का रहस्य स्वयं लिंकन के शब्दों में कार्य के प्रति निष्ठा और ईमानदारी ही था। राष्ट्रपति बनने पर जब उन्होंने दास प्रथा का अन्त कर दिया तब भी उन्हें इसी बात का सन्तोष था कि वे अपना वचन पूरा कर सके।

उदारमना की उदारता

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने अत्यन्त निर्धन और अभावग्रस्त परिवार में जन्म लेकर अपने चरित्र, पुरुषार्थ और अध्यवसाय से इतनी उन्नति की। निरन्तर की प्रयत्नशीलता, सच्चाई और निर्धारित लक्ष्य के प्रति निष्ठा ऐसे सद्गुण हैं जो मनुष्य को कहीं से कहीं ले पहुँचते हैं। गुणों का अभाव, आलस्य, निराशा और हीन मनोवृत्ति के लोग जीवनभर जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं, आगे बढ़ना तो दूर कई बार वे इन्हीं दुर्गुणों के कारण नीचे गिरने लगते हैं, जो आगे बढ़े हैं उन्होंने ज्ञात या अज्ञात रूप से अपना निर्माण अवश्य किया है। अपने को गिरी मानसिक स्थिति में रखकर कोई व्यक्ति उन्नति कर सका हो और उस उन्नति को स्थिर रख सका हो ऐसा देखा नहीं गया। प्रगति का एक सुनिश्चित मूल्य है—आत्मनिर्माण। अब्राहम लिंकन ने वह मूल्य चुकाया और वे एक महापुरुष की भाँति इतिहास के पृष्ठों में अमर हैं। उन्हें संसार में बहुत दिन तक याद किया जायगा।

वे नौकरी करते हुए पढ़ते भी जाते थे। धीरे-धीरे उन्होंने वकालत तक पास कर ली। वे ईमानदार वकील के नाम से विख्यात थे। वे कोई ऐसा मुकदमा नहीं लेते थे जिसकी सच्चाई में उन्हें तनिक भी अविश्वास हो। एक झूठे मुकदमे में दो युवक बन्दी बनाये गये और उन्हें फाँसी की सजा मिलने की सम्भावना थी, पर वस्तुतः युवक निर्दोष थे। लिंकन ने उनका मुकदमा लड़ा, उन्हें जिताया और उनकी गरीबी को देखते हुए फीस भी नहीं ली। ऐसी थी उनकी उदारता।

लिंकन ने राजनीति में प्रवेश किया तो इसी उद्देश्य से कि दास-प्रथा का अन्त कराने के लिए कानून बनाया जाय। एक बार उन्होंने एक काली स्त्री को जंजीरों में कसी हुई घसीटे जाते देखा था। वह गुलाम थी, उसके मालिक उसे कहीं ले जा रहे थे और यातनाएँ दे रहे थे। वह आर्त क्रन्दन कर रही थी। इस बर्बरता पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि दास-प्रथा का अन्त कराके ही दम लेंगे। राजनीति में उन्होंने प्रवेश किया, चुनाव लड़े और संसद सदस्य बने। गुलाम प्रथा को लेकर दक्षिण अमेरिका के साथ गृह युद्ध आरम्भ हो गया। लिंकन उस वक्त राष्ट्रपति थे। उन्होंने ७५,००० स्वयं सेवकों की जनता से माँग की। उनकी यह माँग पूरी हुई। युद्ध लड़ा गया और संघ की विजय हुई। उन्होंने युद्ध संचालन का कार्य भी बुद्धिमत्ता के साथ पूरा किया।

एक बार फौज से चौबीस जवान सेना छोड़कर भाग निकले। पकड़े जाने पर कोर्टमार्शल ने उन्हें गोली से उड़ाने का हुक्म दिया। लिंकन को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मृत्यु दण्ड को रोका और कहा—अमेरिका में

पहले ही दुःख के आँसू बहाने वाली विधवाएँ बहुत हैं, मैं उनकी संख्या में और वृद्धि नहीं करना चाहता। इन्हें मारकर जमीन में गाढ़ देने की अपेक्षा यह अच्छा है कि इन्हें जमीन के ऊपर रहने और काम करने दिया जाय।

दास प्रथा के उन्मूलन की घोषणा करते हुए लिंकन ने कहा-“मैंने अपने भगवान के सामने शपथ ली थी कि दास प्रथा को समाप्त करूँगा। प्रभु को धन्यवाद है कि वह साधना पूरी हो गई।” दूसरी बार जब वे फिर राष्ट्रपति चुने गये तो पद ग्रहण करते समय उन्होंने कहा-“हमें किसी के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। उदारता ही मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है। हम संकीर्ण नहीं दूरदर्शी बनें और सबके दुःखों को अपना दुःख मानें।” युद्ध हो चुका अब हमारा काम है कि जर्जरित राष्ट्र के घावों पर मरहम पट्टी लगावें।”

लिंकन निष्ठा की मूर्ति थे। वे आदर्श के लिए जिए और उसी के लिए मर गये। वे अपने पैरों खड़े हुए, आप ही उठे, आगे बढ़े और वहाँ तक पहुँचे, जहाँ तक पहुँचना उनकी स्थिति के लोग असम्भव मानते हैं और आरम्भ से ही निराश होकर चुप बैठे रहते हैं।

भूल को कर्तव्य की सजगता से सुधारो

द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। अमेरिकी सेना काफी क्षतिग्रस्त हुई, किन्तु कर्तव्यपरायण अमेरिकी सैनिकों का हौसला कम न हुआ।

विलियम स्काट नामक एक सिपाही उस युद्ध में लड़ रहा था। एक दिन उसे लम्बी पैदल यात्रा करनी पड़ी। अपनी रेजिमेण्ट में लौटने पर वह थककर चकनाचूर हो गया था, फिर भी सैनिकों की कमी थी इसलिये उसने रात की ड्यूटी भी स्वीकार कर ली।

उसका एक साथी बीमार हो गया था। उसके हृदय में सहानुभूति जाग पड़ी-स्काट ने अपने साथी से कहा-मित्र मैं केवल थका हूँ इसलिये मुझे कुछ भय नहीं है, थोड़ा अधिक थक जाऊँगा यही तो होगा पर तुम्हारा जीवन तो बहुमूल्य है। आज आराम करने से कल तक अच्छे हो जाओगे। लाओ तुम्हारी ड्यूटी भी मैं ही पूरी किये देता हूँ।

स्काट ने वह भी ड्यूटी दी पर अन्तिम क्षण थकान ने बुरी तरह आक्रमण किया। स्काट सो गया और जाँच के समय पकड़ा गया। सैनिक न्यायालय ने उसे गोली से उड़ा देने की सजा दी।

भाषनायें उदात्त होते हुए भी मनुष्य जीवन की जटिलतायें तंग करती हैं और सच्चे सेवा-भावी, लोगों को भी स्काट की तरह दंड भुगतना पड़ जाता है। पर सच्चाई की अपनी महत्ता ही अनोखी है। कठिन परिस्थितियों में भी वह शान्ति और सन्तोष प्रदान करती रहती है। स्काट भी मृत्यु दंड से विचलित न हुआ। उसे इस बात

का संतोष था कि उसने मानवीय कर्तव्य का पालन करने का प्रयास तो किया। भूल स्वाभाविक है उसके लिये दुःख क्यों किया जाय? हाँ, उसे यह दुःख अवश्य था कि वह अपने कर्तव्य को जिसे उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया था ईमानदारी और जागरूकता के साथ पूरा न कर सका।

इसी दुःख में चिन्तित स्काट अपनी जेल-कोठरी में बैठा था। उस दिन राष्ट्रपति लिंकन सैनिक टुकड़ियों का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हें स्काट से भी भेंट करने का अवसर मिला। लिंकन ने पूछा-जवान! तुम्हें गोली नहीं मारी जायेगी, पर तुम्हारे कारण सेना को जो तकलीफ हुई, उसका ऋण चुका सकोगे क्या?

स्काट ने अनुमान लगाया उसकी कुल जायदाद जो कई हजार रुपये की थी। उसने राष्ट्रपति से कहा-मैं यह सारी जायदाद छोड़ने के लिये तैयार हूँ।

लिंकन हँसे और स्काट के कंधे पर हाथ रखकर उन्होंने कहा-“स्काट कर्तव्य की चूक का ऋण धन और जायदाद से नहीं चुकाया जा सकता। तुमने जो भूल की है और जिसके कारण पराजय की परिस्थिति बनने वाली थी उसका प्रायश्चित्त सिर्फ एक तरह से हो सकता है, तुम प्रतिज्ञा करो कि वैसी भूल दुबारा न होने दोगे। कर्तव्य में चूक न होने देने का संकल्प पूरा कर सके तो तुम पिछली भूल से उद्धार समझे जाओगे।”

स्काट की सजा रद्द कर दी गई। उसने इस क्षमा का अनुचित उपयोग नहीं किया। सच्चे हृदय से वह फिर युद्ध भूमि में जा डटा। घमासान युद्ध और जीवन के खतरे के बीच भी कर्तव्य का दिया जलता रहा। थका पर सोया नहीं, भूखा हुआ, बिना खाये लड़ता रहा। कठिन से कठिन स्थिति में भी उसने अपनी सुविधा और सुरक्षा की परवाह न की, अब कर्तव्य पालन ही उसका इष्ट था।

कुछ समय ही बीता था एक दिन पता चला स्काट युद्ध में लड़ते हुए बुरी तरह घायल हो गया। मरने से पूर्व उसने राष्ट्रपति लिंकन को पत्र लिखा-“आपको जो वचन दिया था संतोष है, उसे पूरा कर इस संसार से विदा हो रहा हूँ।”

स्वावलम्बन ही प्रगति का रहस्य

अब्राहम लिंकन चुनाव जीत गये। बधाई देने वाले व्यक्तियों का अपार समूह उमड़ पड़ा उनके निवास स्थान की ओर। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा धनी मानी व्यक्ति पहुँचे उनके पास। उस समय वह अपनी गाय का दूध निकाल रहे थे। उनके इस कार्य को देखकर लोगों में कानाफूसी होने लगी। एक बोला “इतने बड़े नेता होकर भी छोटे-छोटे कामों को यह खुद करते हैं।” तब तक दूसरा बोल पड़ा-“बात बड़ी अजीब है इस व्यस्तता के बीच भी यह इन कार्यों के लिये समय कहाँ से निकाल लेते हैं?”

बड़े आश्चर्य से अब्राहम लिंकन के इस कार्य को आगन्तुकों के द्वारा देखा गया। लोगों को मौन खड़े देखकर उन्होंने संकेत से बैठने के लिये कहा। तब तक गाय दुहने का कार्य समाप्त हो चुका था।

एक सज्जन ने बड़ी उत्सुकता से पूछा-“आप अमेरिका जैसे देश के इतने बड़े नेता हैं फिर गाय दुहने के इस छोटे कार्य को स्वयं करने में आपको लज्जा नहीं आती?”

“लज्जा आती है बुरे कार्य करने में। अपने कार्य को स्वयं करने में लज्जा कैसी? मैं तो किसी काम को छोटा या बड़ा समझता नहीं। अधिक व्यस्तता या समयाभाव के कारण जब लोगों ने अपना काम दूसरों के सुपुर्द कर दिया तो वह काम छोटा माना जाने लगा। यदि कोई व्यक्ति मेरी प्रगति का रहस्य पूछे तो मैं उससे कहूँगा कि स्वावलम्बन की इस आदत ने ही मुझे आज यहाँ तक पहुँचा दिया है।”

स्वावलम्बी महापुरुष

एक दुबला-पतला बालक लकड़ियाँ काट रहा था। परिश्रम और पसीने से उसकी देह लथपथ थी, किन्तु वह बड़ी तल्लीनता से अपने काम में जुटा रहा। फिर उठा खाना पकाया। घर की झाड़ू लगाने से लेकर पानी ढोने तक का काम उसने अपने हाथों से किया था। फिर उसे दिन ढलते ही नींद आना स्वाभाविक था। किन्तु जीवन में सफलता की इच्छा रखने वाले व्यक्ति आराम नहीं, श्रम से आलस्य नहीं उद्योग से प्रेम करते हैं। ऐसा लगता है कि इस बच्चे ने भी यह निश्चय कर लिया था कि उसे बड़ा आदमी बनना है इसलिए अभी वह चारपाई पर नहीं गया, उसने दीपक जलाया और पढ़ने बैठ गया।

एक दिन ब्लैक स्टोन की एक पुस्तक पढ़ने की इच्छा हुई। वह प्रत्येक बड़े लेखक के आदर्शों को अपनाता था इसलिए गुण-संचय की उसे धुन हो गई थी पर वह पुस्तक मिलती कैसे? वहाँ से चार मील दूर एक लाइब्रेरी से पुस्तक मिल सकती थी। “चार मील कौन जाय?” थका देने वाली कुत्सा बच्चे के जीवन में न थी वह तो तुरन्त चल पड़ा। लौटते समय रास्ते में ही पुस्तक पढ़ डाली। दुबारा घर पढ़कर लौटा दी।

सतत् कर्मरत यही छोटा-सा बालक एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना और अब्राहम लिंकन के नाम से विख्यात हुआ।

कार्यों का परिणाम

अब्राहम लिंकन के एक मित्र ने समाचार-पत्र की एक कटिंग उनके सामने रखते हुये कहा “देखिये न! लोग किस तरह से आपकी आलोचना करने लगे हैं और आप चुप्पी ही साधे बैठे हैं क्यों न इसका प्रतिवाद आप भी समाचार पत्र को भिजवा दीजिए।”

अमेरिका के महान राष्ट्रपति लिंकन का साधारण-सा उत्तर था, मेरे प्यारे दोस्त। यदि मैं आलोचकों की हर आलोचना को देखूँ और उनके उत्तर छपाने का प्रयास करूँ तो राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्य करने का समय शेष न रहेगा। यह तो आप सब जानते हैं कि अच्छे ढंग से राष्ट्र की सेवा सम्भवतः मैं करता हूँ, यदि मेरे कार्यों के परिणाम देश की जनता के हित में निकलते हैं तो आलोचकों की बातें स्वतः ही निरर्थक सिद्ध हो जायेंगी और यदि लोक-कल्याण की भावना पूर्ण नहीं होती, देशवासियों को सुख और सुविधाएँ नहीं मिल पाती तो मैं क्या देवता भी आकर मेरे कार्यों का पक्ष लेते तो भी कोई उस बात को सुनने के लिए तैयार न होगा।”

मित्रता का प्रभाव

अब्राहम लिंकन से उनके मन्त्रियों ने कहा-“आप शत्रुओं के साथ नम्रता का व्यवहार क्यों करते हैं? इनका तो सफाया ही कर देना चाहिए।”

लिंकन ने कहा-“मैं इनका सफाया ही कर रहा हूँ। सिर्फ मेरे और आपके तरीके सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। मैं इनकी गरदन काटने की अपेक्षा इनको मित्र बनाकर इनका स्वरूप ही बदले दे रहा हूँ।”

सरलता और सादगी की प्रतिमूर्ति

एक बार एक बालिका ने अब्राहम लिंकन को उनका चित्र अपने हाथ से बनाकर भेजा जिसमें दाढ़ी थी। इससे पूर्व वे दाढ़ी नहीं रखाते थे। साथ में सुझाव भी भेजा “क्योंकि आप लम्बे हैं एवं देखने में दुबले लगते हैं। यदि आप दाढ़ी रख लें तो आपके व्यक्तित्व में और निखार आवेगा। इससे आप के पद की गरिमा भी कम नहीं होगी।”

बालिका का सुझाव पसन्द आया, उन्होंने दाढ़ी बढ़ाना आरम्भ कर दिया। बहुत समय बाद जब लड़की से उनकी भेंट अचानक हुई तो उन्हें उसके सुझाव की बात याद आई।

लिंकन भले ही अमेरिका के सर्वोच्च पद पर थे किन्तु थे सरल और सादा। छोटों के सुझावों का वे सम्मान करते और उन्हें क्रियान्वित भी करते थे।

स्वावलम्बन से बढ़कर और कुछ नहीं

अब्राहम लिंकन दैनिक कामों से निवृत्त होकर सुबह ही सुबह अपने जूतों पर पालिश कर रहे थे। उनका एक मित्र आया। एक राष्ट्रपति को अपने जूतों पर पालिश करते देखा तो उसे लगा उसकी आँखें धोखा खा रही हैं। आखिर उस पर न रहा गया तो बोला-“लिंकन! यह क्या करते हो? तुम्हें अपने जूतों पर स्वयं पालिश करनी पड़ती है?”

“तो क्या तुम दूसरों के जूतों पर पालिश करते हो?” लिंकन ने कहा।

इस बात पर कुछ देर के लिए कमरा कहकहों से गूँज उठा।

मित्र ने कहा “मैं तो जूतों पर पालिश स्वयं न करके दूसरों से करवा लेता हूँ।”

“मेरी समझ में दूसरों के जूतों पर पालिश करने से भी यह बुरी बात है कि अपने जूतों पर किसी मनुष्य से पालिश करवाई जाये। इतने छोटे-छोटे कार्यों के लिए हमें दूसरों पर आश्रित नहीं रहना चाहिए।”

लिंगन की बात सुनकर मित्र के पास उत्तर के लिए अब शेष ही क्या रह गया था ? उनके मित्र ने भी अपना काम अपने हाथ से करने का संकल्प किया।

झगड़ा नहीं सुलह-समझौता

अमरीका के दो किसानों में खेत की सीमा के बारे में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। एक किसान अब्राहम लिंगन को अपना वकील बनाने के लिए उनके घर पहुँचा। लिंगन ने उससे कहा, “दोनों इस प्रकार झगड़ते रहोगे तो पीढ़ियों तक यह झगड़ा चलता ही रहेगा। तुम्हारा विरोधी भी मुझे ही अपना वकील बनाने आया है। मेरी एक सलाह है। दोनों मेरे इस कार्यालय में बैठो। मैं भोजन करने जाता हूँ। जब तक मैं लौटकर आऊँ तब तक तुम आपस में बात-चीत करके कोई समाधान कर लो।”

अब्राहम लिंगन देर तक जानबूझ कर नहीं लौटे। किसानों ने आपस में बातचीत शुरू कर दी। दिन ढलने पर लिंगन लौट आये। उन्होंने देखा कि दोनों किसानों ने बातचीत के बाद सुलह कर ली है।

पुरुषार्थी व्यक्तित्व

उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। एक अमेरिकन युवक नाव में बैठकर नदी पार कर रहा था। उसे एक जमींदार के यहाँ मजदूरी करने के बदले कानूनी ज्ञान सीखने का अवसर मिला था। वह उसे खोना नहीं चाहता था, सो वह एक क्षण गँवाये बिना जमींदार के यहाँ चल दिया।

नदी में बर्फ के टुकड़े बह गये थे। एक बड़ी-सी बर्फ की चट्टान टकराई और नाव टूटकर चकनाचूर हो गई। युवक के हाथ में केवल खेने के काम आने वाला चप्पू रह गया। वह किसी तरह नदी पार करके निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा।

जंगल में ईंधन काटकर लाने और पानी भरने का कठोर काम उसे करना पड़ता था, पढ़ाई में बढ़ने पर उसने हिम्मत नहीं हारी। पढ़ता ही रहा और एक दिन प्रसिद्ध वकील बन गया।

यह वकील अन्ततः अमेरिका का राष्ट्रपति बना। नाम उसका था अब्राहम लिंगन। वह सदा यही कहता रहा सफलताएँ कठोर पुरुषार्थ के बिना नहीं पाई जा सकती।

कटुता नहीं मधुरता

अब्राहम लिंगन के युद्धमन्त्री एडविन स्टेन्टन ने एक जनरल को एक कड़ा पत्र लिखा जिसने कभी उसे गालियाँ

दी थीं। वह पत्र उसने अब्राहम लिंगन को पढ़कर सुनाया। उन्होंने उसकी लेखन शैली की प्रशंसा करते हुए कहा “बहुत खूब स्टेन्टन ! तुमने बड़ा अच्छा पत्र लिखा है।”

स्टेन्टन उस पत्र को मोड़कर लिफाफे में रखने लगा तो लिंगन ने उससे पूछा “अब तुम इस पत्र का क्या करोगे ?” “उसे भेज रहा हूँ।” “नहीं इसे भेजने की आवश्यकता नहीं इसे फाइल कर दो।” लिंगन बोले – “इस प्रकार कटुता बढ़ती है और समय आने पर उसे स्वयं अपनी गलती ज्ञात हो जायेगी तथा तुम्हारा मूल्य बढ़ जायेगा।”

असफलताओं से सीख

अब्राहम लिंगन से एक बार उनके जन्मदिन पर एक पत्रकार ने पूछा आप साधारण मनुष्य से राष्ट्रपति बने इस सफलता का रहस्य क्या है ? लिंगन बोले मैंने अपनी जीवन की पग-पग पर परीक्षा की। हर असफलता से कुछ सीखा, संभला और नये रास्ते बनाता चला गया।

सद्गृहस्थ राजनीतिज्ञ-

पं० जवाहर लाल नेहरू

नेहरू जी बचपन में बड़े नटखट स्वभाव के थे। एक दिन वे ऊपर के कमरे में ऊधम मचा रहे थे। उछल-कूद के कारण उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू का ध्यान अपने काम से हट गया। इस कारण उन्होंने अपने पुत्र को नीचे बुलाया और डाँटकर पूछा-“ऊधम क्यों मचा रहे हो ?”

जवाहरलाल जी अपने पिता से बहुत डरते भी थे। इस डाँट को सुनकर सकपका गये और हकलाते हुए बहाना बनाने लगे-“जी जी वो नौकर जो ऊपर के कमरे का दरवाजा खोल गया था न बगीचे में से एक बन्दर भीतर घुस आया सब गड़बड़ कर गया...पिताजी।”

पिताजी इस बहाने को सुनकर मुस्करा उठे, अपने लाइले के शरारती और भयमिश्रित चेहरे को देखकर हँसते हुए कहा-“तो भगा दिया न उस बन्दर को।”

“जी हाँ परन्तु वह भागकर कहाँ जायगा, पास के ही एक पेड़ पर चढ़ गया है।” पिता समझ चुके थे कि वह बन्दर कोई पशु नहीं उनका ही बेटा जवाहरलाल है। बोले-“हूँ तो ऐसे बन्दर को मैं रस्सी से बाँधकर रखूँगा।” और उन्होंने अपने बच्चे को रस्सी से बाँध दिया। जवाहर चुपचाप टुकुर-टुकुर देखते रहे।

लेकिन उनका नटखटपना नहीं छूटा। जवान होने तक स्कूल के सहपाठी और कॉलेज के अध्यापक उनकी शिकायत लेकर आते और पिता अपने बेटे को उसी प्रकार प्यार भरा दण्ड देते। एक दिन उन्होंने देखा कि वे बड़े हो गये हैं। कद में भी बराबर। जवानी में भरता हुआ।

फिर भी बाँधना तो था ही । लेकिन अब की बार उन्होंने रस्सी से नहीं सत्रह वर्षीय कमला के पवित्र आँचल से बाँध दिया । नेहरू पति बन गये और कमला उनकी पत्नी । दोनों पति-पत्नी को भौतिक धरातल की सभी सुख-सुविधायें उपलब्ध थीं । मोतीलाल जी का विश्वास था कि इस उत्कृष्ट वैभव को पाकर कोई भी पुत्र अपने को गौस्वान्वित अनुभव करेगा और सचमुच ही उनके लाड़ले का मस्तक गर्व से ऊँचा हो उठा । बाल सुलभ चपलता यौवन के उत्साह और कर्मशीलता में बदल गयी । कमला- सी सुगहणी पत्नी पाकर नेहरू जी को लगा सारे संसार का सुख उन पर न्योछावर हो गया ।

आनन्द भवन की अपार सम्पदा, कमला-सी कमनीय पत्नी, पिता का विवेकपूर्ण स्नेह इन सबने मिलकर नेहरू को स्वर्गीय सुख प्रदान किया । परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए । लगा कहीं रीतापन है तभी आनन्द भवन में एक बालिका का क्रन्दन गूँज उठा । कमला ने फूल-सी कोमल और सुन्दर इन्दिरा को जन्म दिया था और नेहरू जी चौंक उठे । उन्होंने अपनी आकुलता को समझा और दिशा मिल गयी ।

नेहरू जी अपनी पुत्री इन्दिरा, पत्नी कमला एवं आनन्द भवन के सामीप्य और सुखोपभोग को तिलांजलि देकर कर्मक्षेत्र में आ डटे । कमला मन मसोस कर रह गयीं । जब उसे अपने पति और इन्दिरा को पिता का सान्निध्य भोगना था उन्हीं क्षणों में जवाहर दूर हो गये । प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण और वरणीय कर्तव्य लगा था । अकेले भोगे जाने वाले सुख-वैभव की अपेक्षा उन्हें करोड़ों लोगों की आजादी आवश्यक लगी ।

जिसके शरीर पर दिन भर में कितनी ही बार अलग-अलग कीमती पोशाक पहनी जातीं वही जवाहर अब मोटी खादी पहनते थे । जिसके ऐश्वर्य-सुख को देखकर कई धनी मानी व्यक्तियों को ईर्ष्या होने लगती, वही नेहरू सीलन और बंबई भरी जेल की कोठरियों में जमीन पर सोने लगे । थालियों का भोजन, नमक मिर्च या मिठाई के जरा भी कम तेज होने से कष्ट प्राप्त जवाहर को खुश करने के लिए कुत्तों को फेंक दिया जाता था, वही वैभव विलास में पला राजकुमार कई दिनों तक उपवास करने लगा, दीखने में मोटी खादी, जमीन का बिस्तर और भूख-प्यास कितना असह्य कष्टकर लगता है, परन्तु नेहरू ने इन्हें स्वेच्छा से वरण किया ।

पिता मोतीलाल तड़प उठे । पहले उन्होंने अपने पुत्र को समझाया, लाख मना करने पर भी नहीं माने तो विवश मौन होकर सब कुछ देखते रह जाना पड़ा । उनकी यह तपस्या रंग लाई और पं० मोतीलाल भी उसी मार्ग के पथिक बन गये । बेटी इन्दिरा भी अपने पिता की अनुगामिनी बनी ।

नेहरू जी के चेहरे पर एक तेज आलोकित हो उठा । इस अभिजात पुरुष ने देशहित के लिये स्वयं को

तपस्या की आग में झोंककर निखार लिया । पत्नी कमला को आरम्भ में यह सब कष्टकर लगा, परन्तु अपने पति के महान उद्देश्य को समझने के बाद उन्होंने भी अपने व्यक्तिगत सुख को तिलांजलि दे दी और वह भी अपने पति की पूर्ण सहयोगिनी बन गयी ।

कमला नेहरू के इस निष्ठाभाव का प्रमाण है-एक घटना । पं० नेहरू का अधिकांश समय उन दिनों जेलों में बीतता था और कमला नेहरू का अस्पताल में । वे बीमार रहने लगी थीं । रुग्ण इतनी कि लगता था इस बीमारी से शायद ही बचें । नेहरू जी को इस स्थिति का पता जेल में चला और उन्होंने विचार किया-जिस महिला ने अपने अधिकार सुख को देश और समाज के लिए तिलांजलि दे दी, मैं भी उसे कभी सन्तुष्ट नहीं कर पाया, इतना भी साथ नहीं रह सका कि उसे आभास हो मैं एक गृहस्थ व्यक्ति हूँ । अब अन्त समय में किसी भी प्रकार उसे यह अधिकार सुख उपलब्ध कराया जाना चाहिए और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो वे अपनी पत्नी के समीप जाकर रहेंगे ।

ब्रिटिश सरकार से इस आशय का निवेदन किया सरकार ने शर्त लगायी कि यदि वे राजनीति से संन्यास ले लें तो उन्हें कमला के पास रहने की इजाजत दी जा सकती है । नेहरूजी अजीब धर्म संकट में पड़ गये ।

समाचार फैला कि पं० नेहरू ने ब्रिटिश सरकार की यह शर्त स्वीकार कर ली है और वे राजनीति से संन्यास ले रहे हैं । यह समाचार आग की तरह देश भर में फैल गया । नेहरू का उस समय तक देश की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था । अस्पताल में रोग-शय्या पर पड़ी कमला नेहरू तक भी यह खबर पहुँची और वे अस्फुट किन्तु दृढ़ स्वरों में कह उठी-“उनसे कह देना कि इसकी हरगिज आवश्यकता नहीं है । सरकार को वे इस प्रकार का कोई आश्वासन न दें ।”

नेहरू जी तक उनकी पत्नी का यह संदेश भिजवा दिया और उन्होंने अधिकारपूर्वक कहे गये इन शब्दों पर ही अमल किया । आखिर वे चाहते भी तो यही थे कि कमला नेहरू को अपने पत्नीत्व का अभिनव सुख मिले । बरसों से वह मौन रहकर नेहरू जी को घर परिवार से विमुख होते देख रही थीं । इसका परिणाम कहीं उलटा न हो इसी कारण तो उन्होंने यह निर्णय किया था । परन्तु उनकी भ्रांति टूट गयी, उन्हें आभास हुआ कि कमला नेहरू उनके चरण चिह्नों पर नहीं-नहीं । उनके साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही हैं ।

क्रूर काल ने कुछ ही दिनों बाद कमला को नेहरू जी से छीन लिया । नेहरू उद्विग्न हो उठे । तप त्याग की अग्नि से कंचन हुई जीवन सहचरी जब प्रेरणा स्रोत बनकर आगे आई थी तभी भगवान ने उसे उठा लिया । किन्तु नेहरू ने इसे प्राकृतिक विधान का मंगलमय परिणाम जानकर ही सन्तोष कर लिया । वस्तुतः उनकी यह विचार प्रक्रिया सही भी थी । अभी तक तो कमला का पार्थिव शरीर उन्हें प्रेरणा

दे रहा था, परन्तु अब उसकी आत्मा नेहरू की आत्मा में आकर एकाकार हो गयी थी। वे प्रेरणायें उनकी रग-रग में समा गयीं। कमला ने नेहरू के जीवन और हृदय पर एकाधिकार शासन किया था। उनकी यही पत्नीव्रत निष्ठा जवाहर को कमला से तादात्म्य कर गयी।

पत्नी से दूर रहते हुए भी उन्होंने आदर्श पत्नीव्रत धर्म निभाया। कमला नेहरू का देहान्त हो जाने के बाद उन्हें कई व्यक्तियों और सम्बन्धियों ने दूसरा विवाह करने की सलाह दी परन्तु नेहरू जी ने उस सलाह को अस्वीकार दिया। जब स्वजनों की ओर से दबाव दिया जाने लगा तो उन्होंने एकटूक जबाब दिया—“कोई भी भारतीय पति यह नहीं चाहता कि उसके मरने के बाद उसकी पत्नी किसी और की जीवन संगिनी बने। स्त्रियों की भावना भी इसी प्रकार की होती है। मैं दूसरे विवाह के सम्बन्ध में सोचना भी अपनी पत्नी की आत्मा से बेवफाई करने के बराबर मानता हूँ।”

इस उत्तर में पत्नी के प्रति कितनी निष्ठा छुपी हुई है। नेहरूजी के घोर विरोधियों तक ने उनकी इस दाम्पत्य-निष्ठा की मुक्त-कण्ठ से सराहना की है। नेहरू परिवार का ही विरोध करने वाले डॉ० राममनोहर लोहिया ने उनके देहान्त हो जाने पर कहा था कि “वे एक सद्गृहस्थ राजनीतिज्ञ थे।” चक्रवर्ती राज गोपालाचारी भी इस अवसर पर कह उठे “वृद्धावस्था में भी नेहरू जी में युवकों जैसी क्रियाशक्ति मौजूद थी। उनका राजनैतिक स्वरूप चाहे जो रहा हो परन्तु उनकी पत्नीव्रत निष्ठा और दाम्पत्य जीवन प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है।”

नेहरू जी का कथन बिल्कुल ठीक था कि स्त्रियों की भावनाएँ भी कुछ इसी प्रकार की होती हैं। इसलिए मैं दूसरे विवाह के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकता क्योंकि इससे कमला के प्रति वफादारी नहीं निभा सकूँगा।

इतिहास में सती महिलाओं और पतिव्रता स्त्रियों की घटनायें तथा कहानियाँ एक से एक बढ़ी-चढ़ी सुनी हैं। लेकिन नेहरू जैसे पत्नीव्रत पुरुष की कहानी अद्वितीय है। लोग जानते थे और मानते थे कि नेहरू एक नास्तिक व्यक्ति हैं। परन्तु किसे मालूम था कि वे सत्ताईस साल से अपनी पत्नी की अस्थि-राख बिना किसी को कुछ भी बताये अपने सिराहने रखकर सोया करते थे। भावना और प्रेम से बढ़कर कोई धर्म नहीं।

जो लोग नेहरू को नास्तिक मानते और कहते हैं भूल करते हैं। इतना जरूर था कि वे धर्म के आडम्बर और प्रदर्शन से सर्वथा दूर रहे। एकान्त के क्षणों में गीता का अध्ययन और अध्यात्म चिन्तन में रत जीवन सुखों का राष्ट्रहित में त्याग, सेवा और परोपकार के लिए समर्पित व्यक्ति यदि नास्तिक है तो फिर इस दुनिया में आस्तिक व्यक्ति कहीं नहीं मिल सकता।

किसी ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है—“सूर्य के सात रंगों की समन्वित आभा की भाँति उनका व्यक्तित्व अद्भुत था और उन रंगों में मधुवर्षी हरा रंग था—पत्नी के प्रति अगाध स्नेह।”

जीवन कला के कलाकार

भारत सरकार के फिल्म डिवीजन ने ‘हमारे मन्त्री’ नाम से एक वृत्तचित्र बनाया था, जिसमें पं० जवाहरलाल नेहरू की दिनचर्या, कार्यक्षमता, श्रमशीलता, चुस्ती-फुर्ती स्वास्थ्य, सतर्कता और निस्पृहता आदि उन गुणों का दिग्दर्शन कराया था; जिनके आधार पर वे उतना अधिक कार्य करने और इतने ऊँचे पद का उत्तरदायित्व भली प्रकार वहन कर सकने में समर्थ हो सके।

नेहरूजी की दिनचर्या मशीन की तरह पूर्णतया नियमित और व्यवस्थित थी। वे प्रायः ५ घण्टे सोते थे और शेष सारे समय अपने व्यस्त कार्यक्रम में लगे रहते थे। व्यक्तिगत कार्यों को वे फुर्ती से निपटाते थे ताकि अधिक समय अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के निर्वाह में लगा सकें।

चुस्ती और फुर्ती उनका विशेष गुण था। स्टेनो से जब वे पत्रों का उत्तर लिखाते थे तो औसतन वे एक मिनट में १२४ शब्द बोलते थे। कभी उत्तेजना में आ जायें तो वह चाल २०१ तक जा पहुँचती थी। उनके पास महत्त्वपूर्ण तार व पत्रों की संख्या लगभग डेढ़ हजार रहती थी वे सभी को सावधानी से पढ़ते, देखते और गम्भीरतापूर्वक उत्तर लिखाते थे। चुनाव के दिनों उन्होंने तीन-तीन सौ मील की यात्राएँ लगातार हफ्तों तक की हैं और बहुत बार उन्होंने पन्द्रह-बीस सभाओं तक में भाषण दिये हैं फिर भी कभी उन्होंने थकान की शिकायत नहीं की और न कभी बीमार पड़े।

उनकी इस क्षमता के आधार मूल गुण थे—नियमितता, मिताहार, तत्परता, निश्चिन्तता, निश्छलता और कर्तव्य-निष्ठा। समय का एक क्षण भी बेकार नहीं गँवाते थे। दिनचर्या ऐसी नपी-तुली और व्यवस्थित रहती थी कि बेकार की बातों और बेकार के कार्यों में एक क्षण भी नष्ट न हो। जो काम करना उसे पूरी चुस्ती, मुस्तैदी और तन्मयता के साथ करना—इस गुण ने उनकी कार्यशक्ति कई गुनी बढ़ा दी थी। दूसरे लोग जबकि उतने समय में बहुत कम काम कर पाते थे, ढीले हाथ और उदास मन से किसी प्रकार समय काटते हुए बहुत समय में थोड़ा काम कर पाते थे, तब पं० नेहरू उतने ही समय में अपनी फुर्ती और मुस्तैदी के कारण दूसरे साथियों की तुलना में दस गुना अधिक काम निबटा देते थे।

वे भरपेट भोजन कभी भी नहीं करते थे। पेट को खाली रखते थे ताकि आलस्य न आये, पेट पर अनावश्यक वजन न पड़े और पाचन-क्रिया में गड़बड़ी उत्पन्न न हो। वे शौच-स्नान के उपरान्त नियमित व्यायाम का क्रम अवश्य पूरा करते थे। व्यायामों में उन्हें सर्वांगसन जैसे योगासन अधिक अनुकूल पड़ते थे।

बहुत उत्तरदायित्वों और समस्याओं में उलझे रहने पर भी वे उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देते थे। चिन्तित

४.२४ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

उन्हें कभी नहीं देखा गया। निराशा क्या होती है, यह उन्होंने जाना ही नहीं। कठिन से कठिन और विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में मानसिक सन्तुलन बनाये रहना और समाधान क्या हो सकता है? इसका शांतचित्त से खोज करना उनकी मानसिक विशेषता थी। यही कारण था कि वे बिना उलझन में फँसे दुरूह समस्याओं के हल निकालने में सफल होते रहे। जो हल नहीं निकले उन असफलताओं में भी उन्होंने खिलाड़ी की मनोभूमि कायम रखी। दुःखी या खीजते, कोसते उन्हें कभी किसी ने नहीं पाया।

व्यक्तिगत द्वेष, अहंकार और लोभ, स्वार्थ से वे कोसों ऊँचे थे। साथियों पर कभी-कभी वे झल्ला भी पड़ते थे, पर वह आवेश एक क्षण भर का ही होता था। द्वेष या दुराव छू भी नहीं गया था। वे साथियों को सच्चे मन से प्यार करते थे फलतः जिन्हें खरी-खोटी सुननी पड़ती वे भी न तो बुरा मानते थे और न अपना अपमान अनुभव करते थे। जो भी उनके सम्पर्क में आया वह प्रेम के बन्धनों में जीवन भर के लिए बँधकर रह गया। देश-भक्ति, लोक-मंगल की कामना, कर्तव्यनिष्ठा का स्तर सदा इतना ऊँचा रहा कि व्यक्तिगत लोभ, मोह और अहंकार के प्रवेश की पहुँच वहाँ तक हो ही नहीं सकी। पं० नेहरू का पद, सम्मान और उत्तरदायित्व बहुत ऊँचा था और उससे भी ऊँचा था उनका महान चरित्र एवं व्यक्तित्व।

साहसी नेहरू

१९२४ में प्रयाग में हुए अर्ध कुम्भ की बात है। संगम स्थल की गहराई देखते हुए सरकारी अधिकारियों ने वहाँ स्नान करने पर प्रतिबंध लगा दिया। स्नानार्थी लाखों यात्रियों ने अधिकारियों से निवेदन किया पर व्यर्थ। अंग्रेज सरकार के अधिकारी भला जनता की बात क्यों मानते।

स्नानार्थियों को भीड़ रोकने के लिये शस्त्रधारी, डण्डेधारी पुलिस की व्यवस्था बनाई गयी थी। मालवीय जी ने स्नानार्थियों और अधिकारियों में समझौता करने का प्रयास किया। इस प्रयास में चार घंटे लग गये पर फल कुछ नहीं निकला। तभी एक युवक पुलिस के घेरे को चीरता हुआ गंगा में जा कूदा। उसके साथ ही दूसरा फिर तीसरा और देखते ही देखते सब लोग स्नान करने लगे। पुलिस ताकती रह गयी। पहले-पहले गंगा में कूदने वाले प्रथम युवक थे पं० जवाहरलाल नेहरू।

कमला नेहरू की त्यागशीलता

जब कमला नेहरू बीमार दशा में स्विट्जरलैण्ड में थीं, नेहरू जी उनके पास थे। भारत से तार गया-शीघ्र चले आओ। भारत माता के लाल माँ की बेड़ियों को काटने के लिये तुम्हें आह्वान करते हैं। तार पढ़कर जवाहरलाल की आँखों के सामने अँधेरा-सा छा गया। एक तरफ पत्नी मरणासन्न और दूसरी ओर भारत माता की पुकार। किंकर्तव्यविमूढ़ हो चिंतामग्न हो गये। कमला ने पति को अन्यमनस्क देख पूछा-चिन्तित क्यों

हो? उत्तर मिला-कुछ नहीं। कमला बोली-“बात कुछ अवश्य है। आप कभी किसी बात को मुझसे नहीं छिपाते फिर आज चोरी क्यों?” जवाहर ने मौन तोड़कर स्पष्ट कर ही दिया कि एक ओर तुम इस दशा में हो, दूसरी ओर भारत माता का आह्वान है। यदि तुम्हारे मोह में तुम्हारे पास रहता हूँ तो दुनिया कहेगी कि कैसा स्वार्थी है जवाहर, चालीस करोड़ जनता की परवाह न कर मायाजाल में फँस गया और यदि जाता हूँ तो तुम कहोगी कि अन्त समय में भी साथ नहीं दिया। उत्तर मिला-नहीं प्राणनाथ! तुम चिन्ता न करो। मैं ठीक हो जाऊँगी। तुमको माता स्वरूप रानी ने कमला के लिये नहीं, अपितु चालीस कोटि भारत माता के पुत्रों की पराधीनता की बेड़ियों को विच्छिन्न करने के लिये जन्म दिया है। तुम्हें अविलम्ब भारत चले जाना चाहिए।

कितनी त्याग की भावना थी इस उत्तर में। जवाहर आये निज देश की गुलामी छुड़ाने और उधर चिरसंगिनी कमला इस दुनिया से सदा के लिये चल बसीं।

नेहरू की संवेदनशीलता

पंडित जवाहरलाल नेहरू कार से कहीं जा रहे थे। खिड़की से सिर बाहर निकाल कर देखा कि एक लड़का बस से टकराकर सड़क पर गिर पड़ा है और खून से लथपथ है।

पंडितजी ने अपनी कार रुकवाई और उस लड़के के पास गये। वहाँ पर काफी लोग उस लड़के को घेरे खड़े थे पंडितजी को देखते ही उन्होंने जय-जयकार शुरू कर दी। वह पास में खड़े लोगों पर बरस पड़े “जय-जय क्या चिल्ला रहे हो, तुम्हें इस बच्चे को अस्पताल ले जाते हुए शर्म आ रही है” इतना कह उन्होंने अपनी कार में उस लड़के को लिटाया और अस्पताल ले गये इसके बाद ही वह पूर्व निर्धारित स्थान की ओर रवाना हुये।

प्रामाणिकता हो तो गंगाधर शास्त्री जैसी

दो मित्र आपस में बातें करते हुए चले जा रहे थे। एक कह रहा था-“व्यक्तित्व यदि प्रामाणिक हो, तो सहयोग-सहकार मिलने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होती।”

“किन्तु” दूसरा मित्र कुछ कहते-कहते रुक गया। “किन्तु क्या? क्या तुम मेरी बातों से सहमत नहीं हो?”

“सहमत तो हूँ, पर जो स्वयं अपनी आँखों से देख रहा हूँ उसे कैसे झूठला दूँ।”

“क्या देख रहे हो?”-मित्र ने प्रश्न किया।

“क्या तुमने सदाशिव के बारे में नहीं सुना। किस प्रकार लोगों की आँखों में धूल झोंक कर पैसे ऐंठ रहा है। आजकल तो उसकी चाँदी है। पाँचों अँगुलियाँ घी में हैं। कभी-कभी तो मैं भी सोचता हूँ कि क्यों न उसी का

रास्ता अपना लूँ ? कम से कम मौज-मस्ती की जिन्दगी तो कटे । दिन भर का पसीना बहाकर बस उतना उपार्जित कर पाता हूँ, जिससे किसी प्रकार खींचतान कर परिवार का गुजर चल पाता है । दूसरी तरफ सदाशिव को देखो । काम न धाम, फिर भी अमीरी जैसे ऐश । कितना पक्षपाती है भगवान । एक तो श्रम कर-करके मर रहा है और दूसरा हाथ तक नहीं हिलाता व कमाता रहता है ।

“भगवान को दोष तुम दो, दोस्त ! मुझे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिए कि हम परिश्रम की कमाई खाते हैं और मुफ्त के माल को हाथ भी नहीं लगाते । सारी बीमारियाँ मुफ्त के माल के साथ ही जुड़ी होती हैं । सबसे अधिक रोगी और बीमार ऐसे ही लोग होते हैं, क्योंकि वे पसीना बहाने से जी जो चुराते हैं । अनैतिक कमाई के कारण समाज में अपमान और अनादर होता है सो अलग और कोई फिर क्या तुम्हें नहीं मालूम काठ की हाँड़ी चूल्हे में एक ही बार चढ़ती है ।”

“हाँ, मालूम तो है और यह भी जानता हूँ कि ऐसे लोगों के झाँसे में व्यक्ति एक बार से दूसरी बार नहीं आता, भले ही दूसरी बार वह सही ही क्यों न हो, क्योंकि उसने अपनी प्रामाणिकता जो खो दी ।”

“बिल्कुल ठीक कहा । क्या तुमने भेड़िये और बालक की वह कहानी नहीं सुनी, जिसमें बालक प्रतिदिन झूठमूठ भेड़िया-भेड़िया चिल्लाकर किसानों को इकट्ठा कर मजा लेता और एक बार जब भेड़िये से सचमुच सामना हो गया, तो उसकी चीख-पुकार से भी कोई मदद के लिये नहीं आया । वह जान गया बैठा, क्योंकि किसान उसे मसखरा बालक समझ बैठे थे । अतः मित्र अप्रामाणिकता की हानियों को समझने की कोशिश करो ।”

“क्या तुमने काशी के शासकीय संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य श्री गंगाधर शास्त्री के बारे में नहीं सुना है ?”

नाम तो कुछ परिचित-सा जान पड़ता है, पर इससे अधिक कुछ विशेष उनके बारे में मालूम नहीं । तनिक उन पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे ?

“अवश्य-अवश्य । मैं उन्हें अत्यन्त निकट से जानता हूँ । कई बार निजी रूप से भी मिल चुका हूँ । अतिशय शालीन और नम्र प्रकृति के व्यक्ति हैं । कथनी और करनी में काया और छाया जैसी समानता । किसी को भी वचन दे दिया, वे उसे समय पर पूरा करते हैं । जो कहते हैं, वही करते भी हैं अन्दर और बाहर कोई असमानता नहीं । जो बात मन में है, उसी को वे प्रकट करते और तदनु रूप करते भी हैं । इन्हीं गुणों के कारण तो समाज में उनका सम्मान और प्रतिष्ठा है और मितव्ययिता की तो बात ही क्या ? ऐसा प्रतीत होगा, मानो प्राचीनकाल के किसी अपरिग्रही ऋषि से साक्षात्कार हो गया हो ।

“कुछ और विस्तार से बताने की कृपा करो ।”

“हाँ १८९७ की घटना है । एक दरिद्र ब्राह्मण के मन में विशाल यज्ञायोजन की इच्छा हुई, पर वह स्वयं और

अपने परिवार का मुश्किल से ही किसी प्रकार गुजारा कर पाता था । पैतृक सम्पदा कुछ थी नहीं । नित कुँआ खोदने और पानी पीने जैसी स्थिति थी, फिर इतना विशाल यज्ञ कैसे सम्पन्न हो । बहुत विचार करने के बाद उसके मन में एक उपाय सूझा-काशी संस्कृत कॉलेज के आचार्य गंगाधर शास्त्री के पास चला जाय । वही इस संदर्भ में सहायता कर सकते हैं । उनकी सज्जनता और सहृदयता की प्रशंसा उसने भी सुन रखी थी, सो एक दिन वह उनके घर पहुँच गया । समस्या बतायी, पर शास्त्री जी तो स्वयं छोटे से वेतन में अपना, अपने परिवार का निर्वाह कर रहे थे । फिर छोटी-मोटी रकम की बात होती, तो कहीं से प्रबन्ध भी कर देते, किन्तु ब्राह्मण की योजना तो विशाल आयोजन की थी, जो उनके बूते के बाहर की बात थी । मगर कुछ सोचकर उन्होंने हाँ कर दी । ब्राह्मण तैयारी में जुट पड़ा और शास्त्री जी ने पूरे क्षेत्र में यह ऐलान करवा दिया कि एक विशाल यज्ञायोजन हेतु जनता की सेवायें तन, मन, धन से अपेक्षित हैं । आपके सहयोग के बिना यह सफल नहीं हो सकता । एक ब्राह्मण की प्रतिज्ञा का सवाल है । आशा है-आप सब इस क्षेत्र में कोताही नहीं करेंगे । इतना ऐलान करवाना था कि दूसरे ही दिन से उनके घर के सामने दानदाताओं का ताँता लग गया । कई दिनों तक यह क्रम चलता रहा । काफी बड़ी राशि दान में आ गयी । फिर भी दान-दाताओं की कतार लगी रहती ।

शास्त्री जी ने जब यह महसूस किया कि अपेक्षित धन एकत्र हो गया है और इतने से यज्ञ की सफलता में कोई कमी नहीं पड़ने वाली है, तो उन्होंने कातर भाव से विनीत होकर दाताओं से आग्रह किया कि “बड़ी विवशतापूर्वक कहना पड़ रहा है कि जितने धन की आवश्यकता थी, वह जमा हो गया है । अब और की जरूरत नहीं रही । अतः शेष लोगों की सेवायें बाद में आवश्यकता पड़ने पर ले ली जायेंगी । आशा है मुझे क्षमा करेंगे ।” इस घोषणा के बाद लोग बेमन से वहाँ से चल पड़े । उन्हें दुःख इस बात का था कि वह सुपात्र को सत्प्रयोजन के लिये सहायता करने से वे चूक गये, पर गंगाधर शास्त्री के बार-बार समझाने पर उनकी पीड़ा कुछ हलकी हुई । बाद में नेपाल नरेश ने भी अपने यहाँ ऐसे ही यज्ञ सम्पन्न करने के लिये उन्हें आमन्त्रित किया । वे गये और इस प्रकार के अनेक यज्ञ सम्पादित किये । दान-दक्षिणा के रूप में वहाँ उन्हें जो कुछ भी धन प्राप्त हुआ, उसे वहाँ एक पाठशाला के निर्माण के लिये दान कर दिया । स्वयं के लिये उस राशि से एक फूटी कौड़ी भी नहीं रखी । इसे प्रामाणिकता कहते हैं, मित्र ! व्यक्ति प्रामाणिक हो तो गंगाधर शास्त्री की तरह ।

सखा ने समर्थन में सिर हिलाया और कहा “आज इसीलिए हर व्यक्ति एक-दूसरे को शंकिता दृष्टि से देखता है, क्योंकि उसके आचरण और व्यवहार में जमीन आसमान का अन्तर होता है । अभी जो कुछ कहा, दूसरे ही क्षण उसके विपरीत आचरण । प्रामाणिकता के अभाव

में कोई किसी की सहायता करने से भी हिचकिचाता है । हमें भी श्री गंगाधर शास्त्री की तरह बनने की कोशिश करनी चाहिए, मित्र ।'' यह संकल्प लेकर दोनों मित्र अपने-अपने घर गये । सचमुच प्रामाणिकता सबके द्वारा सराही जाती है ।

उत्कट देशभक्ति के प्रतीक

राव तुलाराम

असफलताएँ जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आती हैं वैसे ही देश व समाज के जीवन में भी आती हैं और वे सफलता का प्रथम सोपान बनकर अपनी भूमिका निभा जाती हैं । हम जब इनका मूल्य आँकने बैठते हैं तो प्रायः सफलताओं पर ध्यान केन्द्रित कर बैठते हैं और असफलता के रूप में आयी उन घटनाओं का मूल्यांकन करना भूल जाते हैं । १८५७ की क्रान्ति के बारे में भी हमारे कुछ ऐसे ही विचार हो सकते हैं पर ये सही नहीं हैं ।

१८५७ के संग्राम के सेनानी का मूल्य असहयोग के किसी सेनानी से कम आँकना उनके साथ अन्याय करना ही होगा । युग के संदर्भ में उनकी भूमिकाएँ भी उतनी ही महत्वपूर्ण थीं जितनी बाद वालों की रहीं । अतीत के गर्भ में दबे उन स्वतन्त्रता के दीवानों का व्यक्तित्व व कर्तृत्व हमारे लिये आज भी प्रेरणा का स्रोत बन सकता है । ऐसे ही एक सेनानी की बात हम करने जा रहे हैं, राव तुलाराम की, जिन्होंने हरियाणा में इसका नेतृत्व किया ।

राव तुलाराम ९ दिसम्बर, १८२५ में रेवाड़ी के राज परिवार में जन्मे । सुख-सुविधाएँ और हास-विलास के साधनों की सुलभता ने अधिकांश व्यक्तियों को स्वकेन्द्रित और अकर्मण्य बनाया है । अँग्रेज इस तथ्य को अच्छी तरह जानते थे अतः उन्होंने देशी राजाओं के राज्यों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर उन्हें इन्हीं सब पतन के जंजालों में उलझाकर वर्चस्वहीन बना दिया था । किन्तु तब उन्हें बड़ी ठोकर लगी । १८५७ की क्रान्ति के पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण था । किन्तु राव तुलाराम के सामने ऐसी कोई दिक्कत नहीं थी । वह तो विशुद्ध रूप से देशप्रेम से ही प्रेरित हो इस संग्राम में कूदे थे ।

जिस नवयुवक को दैहिक सुखोपभोग के समस्त साधन उपलब्ध हों वह फिर क्रान्ति और देशप्रेम की बातें कैसे करने लगा, जबकि उसकी तरह अन्यान्य राजकुमार तो इन्हीं से उलझे हुए थे । इस परिवर्तन का श्रेय उनकी अध्यात्म दृष्टि को जाता है जो अपने कुलगुरु से मिली थी । स्मरण रहे १८५७ की क्रान्ति में गुप्त प्रचार का काम समाज के इसी वर्ग ने किया था ।

अँग्रेज अपना राज्य स्थापित करके ही चुप नहीं रह गये थे । उनका पहला हमला तो भारत की भूमि पर हुआ

था और वे अपनी भेदनीति के कारण उसमें सफल भी हो गये पर उनका अगला हमला भारतीयों के धर्म और उनकी संस्कृति पर था, यदि वे इसमें सफल हो जाते तो फिर उन्हें यह सोने की चिड़िया छोड़नी न पड़ती । पर इस दूसरे हमले से भारत का जनमानस आन्दोलित हो उठा था । यह कहना कि १८५७ की क्रान्ति थोड़े से राजाओं का विद्रोह था सरासर गलत होगा । इस क्रान्ति के जन्म के मूल में धर्म संस्कृति पर होने वाला आक्रमण ही था । तभी तो सैनिक, साधु-संन्यासी और सामान्य प्रजाजनों ने भी इसे अपनी लड़ाई मानकर इसे जारी रखा था । अँग्रेज इतिहासकारों ने इसे विप्लव की संज्ञा देकर सत्य पर परदा डालने का प्रयास किया है । वस्तुतः यह आंशिक रूप से राजनैतिक और आंशिक रूप से धर्मयुद्ध था ।

राव तुलाराम कुशल प्रशासक व योग्य सेनानी थे । इस तथ्य को उनके बड़े भाई कृष्ण गोपाल राव भली प्रकार जानते थे । बड़े भाई ने इस युद्ध में रेवाड़ी का मोर्चा अपने छोटे भाई को सम्हालाया । और स्वयं मेरठ की कमान सम्हालने जा पहुँचे राव तुलाराम ने रेवाड़ी का प्रबन्ध हाथ में आते ही भारत माँ की बेड़ियाँ तोड़ फेंकने के कार्य में जी जान से जुट पड़ने का निश्चय कर लिया ।

रेवाड़ी एक छोटी-सी रियासत थी । एक रियासत के छोटे से अधिपति की क्या हिम्मत थी कि वह एक ऐसे साम्राज्य को चुनौती दे जिसमें कभी सूर्य अस्त ही नहीं होता । किन्तु यहाँ स्मरणीय तथ्य यह है कि इस बार देशी राजाओं ने संगठन की शक्ति को समझा था, साथ ही देश धर्म को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के ऊपर स्थान दिया था । राव तुलाराम की शक्ति भी ये उदात्त भावनाएँ ही थीं ।

क्रान्ति की बारूद में आग समय के पहले पड़ जाने पर भी अँग्रेजों को छठी का दूध याद आ गया था । क्रान्ति का बिगुल बजते ही राव तुलाराम ने गुडगाँव मेकनरल फोर्ड की अँग्रेज सेना की ओर रुख किया । कर्नल फोर्ड व उसके सैनिक इन देशभक्तों के आगे ठहर न सके । इस लड़ाई में उन्हें रसद, गोला बारूद की प्राप्ति भी हुई । अब तो उन्होंने रेवाड़ी के निकट की अँग्रेजी-छावनी का भी सफाया कर उस पर अधिकार कर लिया ।

गोकुलगढ़ में तोपें ढालने व टकसाल आरम्भ करके उन्होंने दिल्ली और आसपास के देशभक्त क्रान्तिकारियों की धन व शस्त्रास्त्र से सहायता की । १६ नवम्बर को नसीबपुरा में इनका मुकाबला कर्नल जोरार्ड से हुआ । अँग्रेजी सेना के पास तोपें, गोला-बारूद व सैनिक संख्या अधिक होने के बावजूद भी वे इन अल्प प्रशिक्षित देशभक्तों के सामने नहीं ठहर सके । कर्नल जोरार्ड व उसके बहुत से सैनिक राव तुलाराम व उनके साथियों के द्वारा मारे गये । किन्तु दूसरे ही दिन पंजाब व राजस्थान के देशी राज्यों की सेनाएँ अँग्रेजों की मदद

के लिये आ पहुँची । उनसे हुए संग्राम में वे बुरी तरह घायल हुए । उनके साथियों ने उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया ।

इस पराजय से राव तुलाराम निराश नहीं हुए । देशव्यापी क्रान्ति में एक स्थान पर हुई पराजय का उनके लिये कोई अर्थ नहीं था और फिर वे इस संग्राम में कूदे तो सब आगा-पीछा सोचकर ही कूदे थे । देश और धर्म के लिये मरे तो स्वर्ग और जीवित रहे तो विजय श्री का वरण, इस भावना ने उन्हें निराश होने का अवसर ही नहीं दिया ।

उन्होंने अपनी बची-खुची शक्ति को एकत्रित किया और हजार कष्ट-कठिनाइयों को सहते हुए भी आजादी की लड़ाई को जारी रखने के लिये कालपी के निकट ताँत्याटोपे से जा मिले ।

इस समय उस क्रान्ति के स्तम्भ एक-एक करके टूटते जा रहे थे । नाना साहब और ताँत्याटोपे भी इस स्थिति में नहीं थे कि इसको सफल बना सकें । समय के पूर्व भिन्न-भिन्न समय में भिन्न स्थानों पर क्रान्ति फूटने का कारण उसमें वह शक्ति नहीं रही जो यकायक विस्फोट में हो सकती थी फिर भी राव तुलाराम निराश नहीं हुए । वे अँग्रेजी सरकार की आँखों में धूल झाँकते हुए भारत की भावी स्वतन्त्र सरकार के राजदूत बनकर विदेशी सरकारों से सहायता लेने के लिये भारत से बाहर निकले । वहाँ पुनः शक्ति संगठित करने का प्रयास किया । बचकर भारत से भाग निकलने वाले क्रान्तिकारियों को उन्होंने संगठित भी किया पर वे उनसे कुछ काम ले पाते, उसके पूर्व उनका देहान्त हो गया । उनकी देशभक्ति की यह भावना भारत की नयी पीढ़ी को व्यक्तिगत सुखों से ऊपर उठकर राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्नों को सुलझाने की प्रेरणा देती रहेगी ।

जिन्होंने जनता को नया स्वर दिया—

ठाकुर दयानन्द

सन् १९०५ में जब राष्ट्रीय नेताओं ने स्वदेशी अपनाने का आह्वान किया तो भारतीय देशभक्तों में, लाख अच्छी हो पर विदेशी वस्तु परित्याग्य और कितनी भी बुरी हो पर अपने देश की चीज अच्छी, इस विचारधारा ने लाखों व्यक्तियों के आन्तरिक और बाहरी जीवन में उथल-पुथल मचा दी । उस समय तो राजनैतिक आन्दोलन बड़ी तेजी से भड़का पर शीघ्र ही उसका जोश ठण्डा पड़ने लगा । यह आन्दोलन कुछ ही समय में शान्त भले ही पड़ गया हो पर इसका प्रभाव चिरस्थायी हुआ ।

जो भावनाशील लोग इस आन्दोलन के प्रवाह में बह गये थे उन्होंने बहना ही स्वीकार किया । बंगाल के एक

शासकीय कार्यालय में कार्यरत एक कर्मचारी ने देश-प्रेम की भावना में अपनी नौकरी छोड़ दी और राष्ट्रीयता तथा भारतीयता के प्रति स्वयं को समर्पित कर दिया । युवक का चिन्तन दूसरी ही दिशा में चल रहा था । वह सोचता था वर्षों की गुलामी ने भारतीय जनमानस को इस बुरी तरह दिवालिया बना दिया है कि वह अपने गौरवशाली सांस्कृतिक मूल्यों को भी भूलता जा रहा है । कई शताब्दियों के इस्लामी राज्य ने भारतीय जनता को अपनी संस्कृति के प्रति उतना उदासीन नहीं बनाया जितना कि लगभग १०० वर्ष के ब्रिटिश राज्य ने । युवक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक भारतीय जनता के हृदय में भारतीय जीवन मूल्यों के प्रति आस्था को पुनर्जाग्रत नहीं किया जाता तब तक स्वदेश प्रेम का स्थायी आधार नहीं बनेगा ।

स्वदेशी आन्दोलन जब ठण्डा पड़ गया तो कई विचारशील व्यक्तियों ने भी इस स्थिति को अनुभव किया । वे भी सोचने लगे कि हम लोग अपने जातीय महत्व और गौरव को शनैः-शनैः भूलते जा रहे हैं । विस्मृति का यह गम्भीर रोग अपनी सीमा पर पहुँच गया है अगर थोड़े समय और ऐसा चलता रहा तो भारत में ब्रिटिश राज के पैर स्थायी रूप से जड़ें जमा लेंगे । अतः मूर्धन्य नेताओं का ध्यान सांस्कृतिक पुनर्जागरण की ओर भी गया । कई लोग अभियान स्तर के प्रयास में जुटे, सभाएँ होतीं, संगठन खड़े किये जाने लगे, जन-सम्पर्क आरम्भ हुआ और जन-साधारण को भौति-भौति के तरीकों से अपने सांस्कृतिक गौरव का स्मरण कराया जाने लगा ।

पर वह युवक जिसकी आयु मुश्किल से तीस वर्ष रही होगी-अपने लिए भिन्न रास्ता बना रहा था । वह आसाम के सिलचर नगर में गया और वहाँ से तीन मील दूर पहाड़ी जगह पर एक आश्रम की स्थापना की । जिसका नाम रखा-अरुणाचल आश्रम । अन्य लोग जहाँ सभायें आयोजित कर भाषणों द्वारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कार्य वैचारिक धरातल पर कर रहे थे, वहाँ इस युवक ने विचार से भी अधिक गहरे प्रभावित करने वाली भावनाओं के तार छेड़े । आश्रम में नित्य प्रति संकीर्तन चलता और उनके माध्यम से लोगों की भावनायें जगायी जातीं । संकीर्तन और भजन गायन से किसको परहेज होता सो सभी वर्ग के लोग आश्रम आते । युवक की वाणी में ऐसा जादू था कि वह हर किसी के हृदय को छू जाती और मन में ऐसी टीस कि सुनने वालों के अन्दर तक घुसती जाती । यही कारण था कि आश्रम में आने वाले युवक धीरे-धीरे देश और जाति के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की भावना से संन्यास लेने लगे । इस प्रकार जन जागरण का विशेष प्रयोजन पूरा करने के लिए धर्म के माध्यम से ही आगे पग बढ़ाने वाले अरुणाचल आश्रम के संस्थापक का नाम था ठाकुर दयानन्द । जिन्होंने आगे चलकर जब स्वतन्त्रता आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो एक से एक तपे हुए स्वतन्त्रता सेनानी देश को दिये ।

अरुणाचल आश्रम में भगवान शंकर और महाकाली की प्रतिमा स्थापित की गयी थी और उसकी अध्यक्षता स्वामी विवेकानन्द की शिष्या भगिनी निवेदिता को बनाया गया। सिस्टर निवेदिता उस समय भारत में स्त्री शिक्षा और समाज सेवा का कार्य कर रही थीं तथा युवकों को राष्ट्र प्रेम और देशभक्ति की प्रेरणा भी देती। आश्रम में हर वर्ग और हर स्थिति के व्यक्ति को आने तथा मिशन का कार्य करने की छूट थी। लिंग और जाति भेद के कारण किसी से असमानता का व्यवहार नहीं किया जाता था। इस कारण ठाकुर दयानन्द के इस प्रयास की सामाजिक और विचारशील धार्मिक नेताओं ने भी सराहना की।

आश्रम यों तो संकीर्तन का केन्द्र और धर्म प्रचार का कार्य करता दिखाई देता था। पर मूलतः वहाँ से जो प्रवृत्तियाँ चलती थीं वे राष्ट्रीयता के जागरण और लोगों में स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना जगाने का ही प्रयोजन पूरा करती थीं। इस मिशन की कार्यप्रणाली बहुत कुछ बंकिम बाबू के उपन्यास 'आनन्दमठ' की तरह थी, आनन्दमठ उपन्यास ने अपने समय में स्वतन्त्रता आन्दोलन को जो बल दिया वह एक संगठन से भी अधिक है। इसमें एक ऐसे संन्यासी दल की कहानी है जो किसी घने जंगल में गुहा बनाकर रहता है और विदेशी शासकों को मातृभूमि से खदेड़ देने का प्रयत्न करता है।

अरुणाचल आश्रम के कार्यकर्ता कुछ दिनों बाद गाँव-गाँव में भ्रमण करने लगे और प्रचार तथा संगठन बनाने लगे। उनके भजनों से सांस्कृतिक जागरण की ध्वनि सुनकर अँग्रेज अधिकारियों को शंका होने लगी कि ठाकुर दयानन्द कहीं 'आनन्द मठ' की योजना को कार्यान्वित करने में तो नहीं लगे हैं, इसकी जाँच करने के लिए जासूस भी लगाये गये पर सारा काम इतने सुनियोजित ढंग से चलता रहा कि अँग्रेजों को उन पर हाथ डालने का मौका भी नहीं आया।

लेकिन अधिकारियों को तो जैसे विश्वास हो गया था। इसलिए सरकार ने अरुणाचल आश्रम के आस-पास पुलिस का पहरा लगा दिया। वे आश्रम से सम्बन्धित लोगों को भी तरह-तरह से डराने-धमकाने लगे। शासकीय कर्मचारियों पर आश्रम से कोई सम्बन्ध न रखने के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उनका आना जाना भी रोक दिया गया पर आश्रमवासी इससे न तो विचलित हुए और न भयभीत। वे अपना काम पूर्ववत् करते रहे। अँग्रेज सरकार ने जब आश्रम के कार्यकर्ताओं को परेशान करना आरम्भ किया तो सन् १९११ में ठाकुर दयानन्द ने घोषणा की कि सरकार हम पर जो दोष लगा रही है और हम पर अत्याचार कर रही है उससे मजबूर होकर हम भी यह घोषणा करते हैं कि उसे हम अपना शासन नहीं मानते। आश्रमवासी उससे परेशान होकर जो कदम उठाये उसकी जिम्मेदारी शासक वर्ग पर ही होगी।

इस घोषणा से सरकारी अधिकारियों का रोष और बढ़ गया तथा ८ जुलाई, १९१२ को पुलिस के एक बड़े

दल ने आश्रम पर धावा बोल दिया। आश्रमवासियों ने पुलिस वालों का प्रतिरोध नहीं किया तो भी शीघ्र ही पुलिस के सिपाहियों ने गिरफ्तार कर लिया और उन्हें बन्दूक के कुन्दों तथा संगीनों से बहुत मारा। महात्मा गाँधी ने इससे आठ वर्ष बाद असहयोग का शंखनाद किया था पर ठाकुर दयानन्द ने जैसे उसी समय असहयोग का एक उदाहरण प्रस्तुत किया। आक्रमण उन पर भी हुआ और उनकी रक्षा करते हुए माता मैत्रेयी की हड्डी टूट गयी।

सब मिलाकर लगभग ६० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। जिन्हें शाम तक थाने में रखा गया। उनमें से ४५ को छोड़ दिया गया और शेष पर मुकदमा चलाया गया जिनमें ठाकुर दयानन्द भी थे। ठाकुर दयानन्द ने अदालत में भी बयान देने से इन्कार कर दिया और वहाँ भी असहयोग किया। उन्होंने इतना ही कहा—“अभी तक सरकार ने हमारी शिकायतों पर ध्यान न देकर पक्षपात किया है। इसलिए मुझे अपना बचाव के लिए कुछ नहीं कहना।”

ठाकुर दयानन्द के अन्य शिष्यों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया और उन्होंने भी अपने बचाव में कुछ नहीं कहा। जब किसी ने अपने बचाव में कुछ नहीं कहा तो फैसला करने में क्या लगता था। अँग्रेज न्यायाधीश ने ठाकुर दयानन्द को डेढ़-डेढ़ वर्ष की और शेष व्यक्तियों को तीन महीने से लेकर एक वर्ष तक की सजा दी। जेल जाते समय उन्होंने अपने अनुयायियों को धैर्य बँधाते हुए कहा—“जिन लोगों में आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो चुका है, उनकी गति को कोई नहीं रोक सकता। यहाँ तक कि भगवान भी।”

उनके शिष्यों को आतंककारी कार्यों का भय नहीं था वरन् अपने गुरु पर आयी इस विपत्ति का दुःख था। लेकिन वे हाथ पर हाथ रख कर बैठे नहीं रहे। कुछ समय बाद, अरुणाचल आश्रम के कार्यकर्ता पुनः संगठित होकर अपना कार्यक्रम चलाने लगे। अब जगह-जगह कीर्तन यज्ञ होते। पवना नगर के एक कार्यकर्ता ने अपने यहाँ सात दिन अखण्ड कीर्तन चलाया। इससे वहाँ के अधिकारियों में बड़ी खलबली और चिन्ता फैली। उन्होंने किसी तरह कीर्तन मण्डली को वहाँ से हटाया।

राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने के साथ-साथ अरुणाचल मिशन की दूसरी विशेषता थी समाज सुधार के कार्यक्रम। उस समय ऊँच-नीच, बाल-विवाह, सती प्रथा आदि कितनी ही कुरीतियाँ समाज को घुन की तरह चाटे जा रही थीं। स्वामी जी द्वारा चलाये गये कीर्तन कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन से चेतना जाग्रत हुई।

इसके साथ ही ठाकुर दयानन्द ने सामाजिक विचारधारा भी समाज को दी और अरुणाचल मिशन की विचार और कार्यपद्धति को स्पष्ट करते हुए मिशन की एक पत्रिका में लिखा—एक नवीन शक्ति प्राप्त करके संन्यासियों

का एक दल कार्य सिद्धि के लिए उद्यत होगा। अनेक युवक साधनारत होकर अग्रसर होंगे। भारत जाग्रत होगा, समस्त विश्व में धर्म का राज्य स्थापित करने के लिए अब नया प्रकाश और नवीन आनन्द लेकर नया युग आ रहा है। भारतवासी क्षुद्र होकर नहीं रहेंगे वरन् सारे विश्व में एक विराट और उदार सभ्यता का प्रचार करेंगे।

इस प्रकार विश्वधर्म और विश्व मैत्री का संदेश देते हुए ठाकुर दयानन्द ने सन् १९३१ में महाप्रयाण किया। उन्होंने भारतीय जनता को नवजागरण का संदेश देते हुए विश्वधर्म का जो उदार स्वरूप विचारशील व्यक्तियों के सम्मुख रखा आज भी जन-जन के लिए प्रेरणास्रोत का कार्य कर रहा है।

दास बाबू की दानशीलता

श्री चितरंजनदास के पिता श्री भुवन मोहन सिर से पैर तक कर्ज में डूबे हुये थे। वे स्वयं एक अच्छे वकील थे और काफी आमदनी थी पर अत्यन्त उदार और उग्र स्वभाव के कारण उन्होंने दूसरे कितने ही लोगों की देनदारी स्वीकार कर ली थी। एक बार अपने क्लर्क की प्रार्थना पर वे किसी व्यक्ति के जमानतदार हो गये, पर वह धोखेबाज आदमी निकला और भुवन मोहन पर उसके ३० हजार रुपये की देनदारी आ गई। जिस समय दास बाबू ने वकालत आरम्भ की ये सारे ऋण, पिता-पुत्र दोनों के नाम लिख दिये गये। कुछ लोग तो अपना रुपया वसूल करने अदालत तक जा पहुँचे। इस कारण भुवन मोहन और चितरंजन दोनों को दिवालिया घोषित कर दिया गया और १६ जून, १८९६ को उनकी जायदाद और माल-असबाव पर सरकारी कब्जा हो गया।

चार साल से भी अधिक समय तक दास बाबू को अपने बड़े परिवार का भरण-पोषण करने के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा। कलकत्ता हाईकोर्ट के बड़े-बड़े वकील प्रायः दीवानी मुकदमे ही करते हैं। पर इस क्षेत्र में वकालत चल निकलने और सफलता मिलने में काफी देर भी लगती है। दास बाबू की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे इतने दिन प्रतीक्षा कर सकें। इसलिये उनको फौजदारी मुकदमे भी लेने पड़ते थे और उनकी पैरवी के लिये जिलों की छोटी अदालतों में जाना पड़ता था। जब अन्य सब वकील अपनी घोड़ागाड़ी (उस समय तक मोटों नहीं चली थीं) में बैठकर हाईकोर्ट जाते थे तब दास बाबू ट्राम द्वारा जाते और वहाँ से पैदल घर आते। इतना ही नहीं उनको अनेक बार अपनी हैसियत के बैरिस्टर्स की अपेक्षा कम फीस स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ता था।

उस समय दास बाबू की आर्थिक दशा कितनी खराब थी इस सम्बन्ध में नाटोर के महाराज ने एक बार एक

घटना सुनाई थी। उनकी चितरंजन से घनिष्ठ मित्रता थी और वे उनके यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे। एक बार जब महाराज उनके यहाँ पहुँचे तो देखा कि चितरंजन उदास और अकेले बैठे हैं। कुछ समय बाद जब फिर वे वहाँ गये तो उनको पहले की अपेक्षा बहुत प्रसन्न पाया। इसका कारण यह था कि उनको एक ऐसा मुकदमा मिल गया था जिसमें ३०० रु० फीस मिलने वाली थी। महाराज एक बड़े मुकदमे के लिये इतनी छोटी रकम देखकर आश्चर्य करने लगे पर दास बाबू ने उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया था, क्योंकि उन दिनों उनके पास घर के दैनिक खर्चों के लिये भी पैसा न था।

पर इतना होने पर भी दास बाबू के हृदय में न किसी प्रकार की दीनता आई थी और न वे धन को अनुचित महत्व देने लगे थे। उनको अपने ऊपर लगे 'दिवालिया' के कलंक को मिटाने की भी बड़ी चिन्ता थी और कुछ वर्षों बाद जब उनकी बैरिस्टरी अच्छी तरह चल निकली तो उन्होंने कानूनी तौर पर बाध्य न होने पर भी तमाम कर्जदारी का एक-एक पैसा चुका दिया। इतना ही नहीं जो लोग कर्ज का रुपया लेने न आये अथवा जिन्होंने मित्रतावश लेने से इन्कार किया उनके नाम का रुपया अदालत में जमा कराके अपना तथा अपने पिता का नाम दिवालियों की सूची से कटवा दिया।

इस तरह का आर्थिक संकट सहन करने पर भी दास बाबू की उदारता और त्यागवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आया था। इस दृष्टि से कहा जाय तो वे अपने पिता के 'योग्य उत्तराधिकारी' थे। इतना अन्तर अवश्य था कि जहाँ उनके पिता ने धूर्त लोगों के फन्दे में फँसकर घाटा उठाया, वहाँ दास बाबू ने ऐसे कार्यों में धन व्यय किया जिनसे उनका नाम चिरस्थायी हो गया और वे लोगों की दृष्टि में पूजनीय बन गये।

ऋण-मुक्ति

चितरंजन दास के पिता दस लाख रुपया कर्ज छोड़कर मरे थे। नवयुवक दास ने निश्चय किया कि वे सब का कर्ज चुकावेंगे। कर्ज रिश्तेदारों का था। सभी आसूदा थे इसलिए लड़के की परेशानी को देखते हुए कर्ज वापस नहीं लेना चाहते थे पर दासबाबू भी किसी का ऋण रखना अपनी बेइज्जती समझते थे। वे जो कमाते गये, अदालत में जमा करते गये। बाद में उन्होंने विज्ञापन प्रकाशित कराया कि जिनका कर्ज हो वह अपना पैसा ले जायें। बहुत दिनों वह पैसा जमा रहा तब उन्होंने हूँद-हूँदकर कर्जदारों का पता लगाया उनका हिसाब चुकता किया। हालांकि लोगों को यह विश्वास नहीं था कि अपना पैसा वापस आयेगा। परन्तु बाबू चितरंजन दास ने वह सब अदा किया।

किसी व्यक्ति की बेइज्जती यह है कि वह अनिवार्य आपत्ति के अवसर को छोड़कर अपना खर्च बढ़ाकर उसके लिए कर्ज ले और उससे भी बड़ी बेइज्जती यह है कि होते हुए भी ऋण चुकाने में आनाकानी करे। चित्रंजदास ने अपने लिए निर्धनता निमन्त्रण करके भी ऋण मुक्त होना अपना कर्तव्य समझा। यही आदर्श हर ईमानदार व्यक्ति का होना चाहिए।

समय पर सहायता

एक बार एक वृद्ध ने, कोठी से निकलते हुए किसी भद्र पुरुष से पूछा-“क्या आप मुझे इस कोठी के स्वामी से मिला देंगे।”

“क्या काम है उनसे, मुझसे कहिये?” भद्र-पुरुष ने कहा।

“मेरी बेटी का विवाह है। तीन सौ रुपये चाहिए, हुजूर! यदि उनसे मिल गये तो मैं अपनी बेटी का विवाह कर सकूँगा।” गरीब वृद्ध ने कहा।

आओ मेरे साथ। और भद्र-पुरुष वृद्ध को कार में अपने साथ बैठाकर ले गया। थोड़ी दूर जाकर कार रुकी। भद्र-पुरुष उतरे और सामने खड़ी बिल्डिंग में प्रवेश कर गये। जाते-जाते वह वृद्ध को भी पास के एक बरामदे में बैठने को कह गये।

थोड़ी ही देर बाद एक चपरासी बरामदे में आया और वृद्ध को पाँच सौ रुपये सँभालवाते हुये बोला-“भाई! यह पाँच सौ रुपये हैं। तीन सौ में अपनी बेटी का विवाह करना और बाकी दो सौ से विवाह के बाद कोई ऐसा धन्धा कर लेना, जिससे आगे की जीविका चलती रहे।”

वृद्ध ने रुपये तो ले लिये, किन्तु बोला-“भाई! मुझे उस कोठी के स्वामी तो मिले ही नहीं।”

अभी-अभी जिनके साथ कार में बैठकर आप इस दफ्तर में आये हैं, वे ही हैं उस कोठी के स्वामी बाबू चित्रंजनदास!” चपरासी ने कहा।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

आज से लगभग १०० साल पूर्व इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कालेज में टूर्नामेण्ट के खेल हो रहे थे। उसके प्रबन्धक प्रोफेसर हिल नामक एक अँग्रेज थे। उन्होंने जगह-जगह पुलिस के जवान तैनात किए थे, ताकि कोई गड़बड़ी न होने पाए। कॉलेज के छात्रों की राय थी कि हम विद्यार्थी ही सारा प्रबन्ध करेंगे, पुलिस न बुलाई जाए पर हिल साहब न माने।

खेल शुरू होने ही वाला था कि एक विद्यार्थी मैदान के एक ओर से दूसरी ओर जाने लगा। मि० हिल पास ही खड़े थे। उन्होंने एक पुलिस वाले से कहा-‘इस सुअर से कहो कि यहाँ से हट जाए।’ नजदीक ही खड़े एक नवयुवक को यह बहुत बुरा लगा, पर प्रोफेसर का लिहाज कर वह चुप

रहा। थोड़ी देर बाद दूसरा लड़का खेल देखने की उत्सुकता से मैदान में घुस आया। पुलिस वाले ने उसे गालियाँ दीं और धक्के देकर बाहर निकालने लगा। अब उस नवयुवक से न रहा गया। पुलिस वाले को डाँटकर बोला-“क्यों धक्के दे रहे हो? बच्चा है खड़ा रहने दो।” पुलिस वाला अपने बीच में दूसरे का दखल न सह सका। वह नवयुवक से उलझ पड़ा। नवयुवक को जोश आ गया। उसने पास खड़े आदमी के हाथ से लाठी छीन ली और पुलिस वाले को धमकाते हुए बोला-“खबरदार। अब और कुछ बोले तो इसी डण्डे से सिर फोड़ दूँगा।”

उन दिनों पुलिस का बड़ा दबदबा था। उससे झगड़ा मोल लेना आसान नहीं था। अँग्रेज अफसर पुलिस के खिलाफ कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते थे। वे भारतीयों को बड़ी नीची निगाह से देखते थे। हिल भी एक अँग्रेज थे। उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों के राय की परवाह न करके पुलिस बुलाई थी। वह नवयुवक अपने कॉलेज की क्रिकेट टीम का कप्तान था। उसके दिल में अँग्रेज और अँग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह की आग सुलग रही थी। उसके ही एक अदना नौकर-एक मामूली सिपाही के हाथों अपने भाई का अपमान वह न सह सका और पुलिस वाले से भिड़ने को तैयार हो गया।

वह नवयुवक और कोई नहीं, स्वयं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन थे। उनके मन में अपने देश और अपने देशवासियों के लिए इतना गौरव था कि जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। आखिर उस अँग्रेज अफसर को टंडन जी के इस साहसपूर्ण एवं धीरोदात्त कदम के आगे झुकना पड़ा और उन्होंने टंडन जी से क्षमा-याचना करते हुए उन्हें शांत किया।

एक बार वे इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के सभापति चुने गये। उस समय जब गवर्नर लखनऊ से इलाहाबाद आते, तब उनके नहाने के तालाब में पीने का पानी भरा जाता था। इसका इन्तजाम म्यूनिसिपल बोर्ड करती थी। उस साल जब गवर्नर साहब आये तब इलाहाबाद में पानी की बेहद कमी थी। लोगों को बड़ी मुश्किल से पीने का पानी मिल पाता था। टंडन जी से जब तालाब में पानी भरवाने को कहा गया तो वे बड़ी उलझन में पड़ गये। एक ओर जनता की प्यास बुझाने के लिए पानी की जरूरत थी, दूसरी ओर गवर्नर साहब को तालाब में तैरने के लिए पानी चाहिए था। टंडन जी ने प्यासी जनता का पक्ष लिया। उन्होंने गवर्नर का तालाब भरने से साफ इन्कार कर दिया। सरकार की ओर से उन पर काफी दबाव डाला गया पर वे अपने निर्णय से नहीं हटे।

टंडन जी का जन्म सन् १८८२ में इलाहाबाद में हुआ था। बचपन में प्रथम उन्होंने फारसी पढ़ी। कुछ दिनों बाद अँग्रेजी पढ़ने के लिए हाईस्कूल में भर्ती किए गये। वे पढ़ने में बड़े तेज थे। एक बार मास्टर साहब ने कक्षा में कुछ हिन्दी के वाक्य अँग्रेजी में अनुवाद करने के लिए दिये। उन्होंने बड़ी जल्दी अनुवाद करके काफी मास्टर साहब के

टेबल पर रख दी। मास्टर साहब को शक हुआ कि लड़के ने शरारत के कारण बिना अनुवाद किए ही कापी दे दी है। उन्होंने गुस्से से कापी जमीन पर फेंक दी। टंडन जी ने कापी दुबारा टेबल पर रख दी। जब मास्टर साहब ने उसे देखा तो सब अनुवाद ठीक निकला। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस दिन से मास्टर साहब उन्हें बहुत मानने लगे। स्कूल की पढ़ाई पूरी करके उन्होंने म्योर सेण्ट्रल कालेज से बी० ए० पास किया। बाद में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और वकालत करते हुए उन्होंने एम० ए० भी पास किया।

टंडन जी अपमान जरा भी सहन नहीं कर सकते थे। वे जब वकालत कर रहे थे, तब नाभा-नरेश ने उन्हें अपने राज्य का मंत्री बनाया। इस ज़िम्मेदारी को उन्होंने बड़ी कुशलता से निभाया। नाभा-नरेश उनके काम से बड़े खुश थे। एक बार उन्हें जरूरी काम से इलाहाबाद जाना था। उन्होंने राजा साहब से छुट्टी माँगी पर उन्होंने इन्कार कर दिया। इसे टंडन जी ने अपना अपमान समझा और वे उसी समय त्यागपत्र देकर इलाहाबाद चले आये। बाद में राजा साहब ने उन्हें बुलाने का काफी प्रयत्न किया पर वे नहीं गये तो नहीं ही गये।

सच्चाई और ईमानदारी टंडन जी के स्वभाव की दो बड़ी विशेषतायें थीं। उनके समय में मैट्रिक की परीक्षा में सोलह साल से कम आयु का विद्यार्थी नहीं बैठ सकता था। उनके लड़के की उम्र सोलह साल से कम थी। स्कूल के प्राध्यापक ने कहला भेजा कि यदि आप लिखकर दें कि आपके लड़के की आयु सोलह साल की है, तो यह परीक्षा में बैठ सकेगा। टंडन जी ने जबाब दिया—“मेरा लड़का भले ही इस साल परीक्षा में न बैठे, पर मैं झूठा बयान नहीं दूँगा।”

टंडन जी का अधिकांश समय सार्वजनिक सेवा कार्यों में व्यतीत होता था। इससे वे जमकर वकालत नहीं कर पाते थे। आमदनी का कोई दूसरा जरिया नहीं था। इसलिए उन्हें हमेशा आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता था। घर का खर्च जैसे-तैसे पूरा कर पाते। ऐसे समय वे म्युनिसिपल बोर्ड के अध्यक्ष चुने गए। उन दिनों दूसरे अध्यक्ष घूस ले लेकर लाखों रुपये कमाते थे पर टंडन जी ने भूलकर भी वैसी आमदनी की इच्छा नहीं की। बल्कि उन्होंने अपने निजी खर्च में कई प्रकार से कटौती की। वे जूते की जगह खड़ाऊँ पहनने लगे। घर से म्युनिसिपल ऑफिस चार मील दूर था, किन्तु वे बिना किसी सवारी के वहाँ से पैदल ही आया-जाया करते थे।

टंडन जी को एक बार जो बात जँच जाती थी, उसे वे कभी छोड़ते नहीं थे। जब देश में स्वदेशी का आन्दोलन चला, तब विदेशी कपड़ों का जोरदार बहिष्कार हुआ। इससे देश का करोड़ों रुपया विदेशों में जाने से बच गया। चीनी भी उस समय बाहर से आती थी। उसके लिए भी देश का बहुत-सा धन दूसरे देशों में चला जाता था। टंडन

जी को यह बात अखर गई और उन्होंने उसी समय से विदेशी वस्त्र और चीनी का व्यवहार बन्द कर दिया।

ऐसी ही एक दूसरी घटना है। एक शहर में कसाईखाना खुलने वाला था। वहाँ के कुछ नागरिक उनके पास आये। नागरिकों ने उनसे कसाईखाना रोकने में मदद माँगी। उनकी समझ में यह बात नहीं आई कि जब उस शहर में माँस खाने वाले कम हैं, तब यहाँ कसाईखाना क्यों खुल रहा है? नागरिकों ने बताया कि वहाँ गायें माँस के लिए नहीं, बल्कि चमड़े के लिए काटी जायेंगी। आस-पास के इलाके में जानवर बहुत सस्ते मिलते हैं। चमड़े के व्यापार में इस समय बहुत मुनाफा है। चमड़े के लिए गायों की हत्या की बात सुनकर टंडन जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उस दिन से चमड़े की जगह कपड़े के जूते पहनने शुरू किए। ये जूते पहनकर वे हाईकोर्ट में भी जाते थे। उनके मित्र इन जूतों का मजाक उड़ाते थे पर टंडन जी जीवन भर कपड़े के ही जूते पहनते रहे।

टंडन जी प्राकृतिक चिकित्सा के बड़े समर्थक थे। बीमारी में टंडन जी को डॉक्टरी दवा कराना बिल्कुल पसंद नहीं था। इसके लिए वे खतरा मोल लेने को भी तैयार रहते। एक बार उनका लड़का मलेरिया से बीमार पड़ा। उन्होंने उसे गीली चादर में लपेटकर रखने का प्रयोग शुरू किया। लड़का धीरे-धीरे काफी कमजोर हो गया, फिर भी बुखार दूर नहीं हुआ। वैसी हालत में प्राण जाने का खतरा था, फिर भी प्राकृतिक इलाज पर उनका विश्वास जमा रहा और अन्ततः उन्हीं की प्राकृतिक चिकित्सा से लड़का स्वस्थ हो गया।

टंडन जी भोजन के विषय में भी नये-नये प्रयोग करते रहते थे। कुछ दिनों तक वे गेहूँ का कच्चे आटा सानकर खाते रहे और कुछ दिनों तक उन्होंने गेहूँ की रोटियाँ, धूप में सुखाकर खाईं। नमक और शक्कर न खाने का व्रत तो उन्होंने जीवन भर निभाया। इससे उनके विचारों की दृढ़ता और टेक निभाने के स्वभाव का पता लगता है।

पंजाब के 'जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड' के बाद काँग्रेस की जो जाँच-समिति बनी थी, टंडन जी उसके एक मुख्य सदस्य थे। असहयोग आन्दोलन के समय उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी। नमक सत्याग्रह के दिनों में वे अपने प्रान्त के डिक्टेटर बनाए गए। वे काफी अरसे तक काँग्रेस कार्य समिति के सामान्य सदस्य रहे। काँग्रेस की नीति निर्धारित करते समय उनकी सलाह हमेशा ली जाती थी। वे अपने प्रदेश अर्थात् उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्ष चुने गए थे। इस पद पर वे जब तक रहे, किसी दल को उनकी ईमानदारी पर शक करने का मौका नहीं मिला। एक बार वे काँग्रेस महासभा के सभापति भी चुने गये थे। सभापति के नाते काँग्रेस को संगठित और क्रियाशील बनाने के लिए उन्होंने अथक प्रयास किया। देश

की आजादी की लड़ाई में वे कई बार जेल गए और घोर यातनाएँ सहन कीं ।

टंडन जी हिन्दी के प्राण थे । उन्होंने इसकी जो सेवा की वह सदा अमर रहेगी । वे मानते थे कि हिन्दी हमारी संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है । उनके प्रयत्न का ही यह फल है कि आज भी हिन्दी सेवा, देश सेवा का एक अंग मानी जाती है । हिन्दी को वे राष्ट्र की एकता का साधन समझते थे । इसकी उन्नति के लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना की । वे शुरू से इसके प्रधानमंत्री थे । वे इसके सभापति भी बनाये गए थे । वे सम्मेलन के कार्यों में ऐसे लगे रहते कि लोग सम्मेलन को टंडन जी का मानते थे और टंडन जी सम्मेलन के कहलाते थे । उनकी लगातार कोशिशों का ही फल है कि आज हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा बन सकी है । सारे देश में हिन्दी-प्रचार के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया ।

सन् १९५० की बात है । साहित्यकारों ने टंडन जी को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की योजना बनाई । टंडन जी उन दिनों दिल्ली में थे । उन्हें इस आयोजन की सूचना दी गई तब उन्होंने अभिनन्दन लेना अस्वीकार करते हुए आयोजकों को लिखा कि व्यर्थ के कार्यों में अपनी शक्ति क्यों गँवाते हैं, मुझे इसमें कोई रुचि नहीं ।

यह थे महापुरुष टंडन जी जिन्होंने अपने ही लिए अभिनन्दन को व्यर्थ की संज्ञा दी और एक हैं आज के लोलुप साहित्यकार और राजनेता जो स्वयं ही अपने अभिनन्दन के लिए कितने ही प्रपंच रचते हैं ।

राजर्षि टंडन जी १ जुलाई, १९६२ को इस संसार को छोड़कर विदा हो गये । मृत्यु के पहले टंडन जी कई साल तक रोग-शैथिल्य पर पड़े रहे । रोग-शैथिल्य पर वे उन्हें अपने देश की भलाई की चिन्ता लगी रहती थी । राजर्षि ने बचपन से सच्चाई, ईमानदारी, निर्भीकता एवं दृढ़ता का जो रास्ता एक बार अपनाया, उसे जीवन भर नहीं छोड़ा । धन्य है, ऐसा महापुरुष जिसे पाकर धन्यता भी धन्य हो गई ।

लोकमंगल के लिए सर्वस्व समर्पण भी कम

लोक सेवक मण्डल (सर्वेण्डस आफ पीपुल्स सोसायटी) के सभापति लाला लाजपतराय का देहावसान हो गया । तब उस स्थान की पूर्ति की समस्या आ गई । बहुत ही कम आजीविका में योग्य व्यक्ति का मिलना कठिन ही नहीं असम्भव दिख रहा था ।

यह खबर श्री टंडन जी को मिली तो उन्होंने अपना तेरह सौ मासिक का पंजाब नेशनल बैंक की लाहौर शाखा का मैनेजर पद त्याग दिया और लोकसेवक मण्डल के सभापति बन गये । गाँधीजी ने पूछा-आपको इस अपार धन-हानि का कोई दुःख नहीं हुआ ? टंडन जी ने भरे गले

से उत्तर दिया-बापू लोकमंगल के लिए धन तो क्या जीवन भी उत्सर्ग कर दिया जाये तो वह थोड़ा है ।

नैतिकता की राह

उन दिनों राशन का बड़ा कंट्रोल था । राशन कार्ड पर सीमित गेहूँ मिलता था । पुरुषोत्तम दास टण्डन के घर में हजारों का ताँता लगा रहता । उतने राशन से काम न चलता । फलतः वे प्यार-बाजरा जैसे खुले बाजार में मिलने वाले सस्ते अनाज लेकर काम चलाते ।

एक बार कई बड़े नेता अफसर उनके मेहमान थे । वे सभी को प्यार-बाजरे की रोटी परोसी गई । उन्हें चकित देखकर टण्डन जी ने स्वयं कहा-“ब्लैक का अनैतिक तरीका अपना कर आप लोगों को गेहूँ खिलाने की अपेक्षा ईमानदारी ने यही उपाय सुझाया जो अभ्यस्त भोजन के रूप में आपके सामने है ।”

सफलता-असफलता में समान-दृष्टि

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन उन दिनों बीमार थे । उन्हें देखने के लिए उनके एक पुराने सहपाठी मित्र प्रयाग गये । तब राजर्षि ने बातों ही बातों में अपना एक संस्मरण सुनाया-किसी समय मैं देशी रियासतों में राजाओं का सुधार करने के लिए एक आदर्श योजना बना रहा था ताकि यह दिखाने का अवसर मिले कि भारतीय अँग्रेजों से अच्छा शासन कर सकता है । इसी उद्देश्य के लिये बनायी गयी योजना को क्रियान्वित करने हेतु मैंने नामी रियासत में नौकरी की परन्तु मैं असफल रहा ।

उनके मित्र ने कहा-“यह तो बड़ा अच्छा रहा ।”

“यही तो मैं भी कहना चाहता था । अँग्रेजों के कारण मैं असफल हुआ तो मैंने अपना ध्यान अँग्रेजों को यहाँ से हटाने में लगाया । ईश्वर के प्रति मैं धन्यवाद से भर गया हूँ । नाभा में सफल होने पर सम्भव था कि मैं कूपमण्डूक बना रह जाता । इस असफलता ने मेरे लिए सफलता और साधना का नया द्वार खोल दिया”-टण्डन जी बोले । अपने कार्यों में मिली सफलता-असफलता के प्रति सृजनात्मक दृष्टि भर अपनाने से ही वे राजर्षि उपाधि के अधिकारी सिद्ध होते रहे ।

राष्ट्रीय सेवाव्रती महान वैज्ञानिक-

प्रफुल्ल चन्द्र राय

इंग्लैण्ड से रसायन विज्ञान की उच्च परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् जब प्रफुल्ल बाबू भारत वापस आकर जीविकोपार्जन का कोई कार्य ढूँढ़ने लगे तो उनके प्रेसीडेन्सी कॉलेज में सहायक प्रोफेसर की जगह मिली, जिसका वेतन २५० रुपया मासिक था । वे जानते थे कि उनकी योग्यता के जो अँग्रेज इस देश में शिक्षक का कार्य करने को आते हैं, उनको केन्द्रीय सेवा में नियुक्त करके

एक हजार से भी अधिक वेतन दिया जाता है। ऐसी दशा में अपने को २५० रुपया की प्रांतीय सेवा की नौकरी दिया जाना उनको सरासर अन्याय जान पड़ा। उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने सीधे शिक्षा विभाग के अध्यक्ष क्राफ्ट साहब से इसकी शिकायत की। उन्होंने किसी प्रकार की सहानुभूति दर्शानी तो दूर स्पष्ट शब्दों में कहा कि आपको कोई इस बात के लिए बाध्य नहीं करता कि आप इस नौकरी को स्वीकार ही करें। यदि आप अपनी योग्यता को इतनी अधिक समझते हैं तो कहीं भी वैसा कार्य करके दिखा सकते हैं।" उपयुक्त अवसर न देखकर उस समय प्रफुल्ल बाबू ने इस अपमान को तो सहन कर लिया, पर अपने मन में निश्चय कर लिया कि अवसर पाते ही अपनी योग्यता को प्रदर्शित करके इस गवर्नर का उत्तर अवश्य देंगे।

इसके पश्चात् वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज की नौकरी और विज्ञान सम्बन्धी नई-नई खोजें करते रहे। उनका मुख्य कार्य अपने युवक शिष्यों को रसायन विज्ञान के क्षेत्र में व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना था। इसके लिए वे उनको केवल कॉलेज में पढ़ाते ही न थे, वरन् जो होनहार छात्र आर्थिक कारणों से आगे बढ़ने में असमर्थ होते थे, उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे। इसलिए अपना खर्च अत्यन्त कम रखने पर भी उनके पास कुछ बचता न था। उन्हें क्राफ्ट साहब की चुनौती का ख्याल बराबर बना रहा और सन् १९०६ में केवल ८०० रुपया लगाकर 'बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल वर्क्स' की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि आर्थिक दृष्टि से असमर्थ छात्र उस कारखाने में कुछ काम करके जीवन निर्वाह में सहायता प्राप्त कर सकें।

आरम्भ में यह ८०० रुपये की पूँजी वाला कारखाना नाममात्र को ही था, पर प्रफुल्ल बाबू द्वारा आविष्कृत प्रभावशाली दवाओं और उनके सद्व्यवहार से इसकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी और दस बारह वर्ष में ही यह एक बहुत बड़े कारखाने के रूप में परिणत हो गया जिसका वार्षिक व्यय लाखों रुपया था। इसके द्वारा पचासों युवक विद्यार्थियों को कॉलेज में अध्ययन करने का साधन प्राप्त हो गया। जिनमें से अनेक आगे चलकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने। प्रफुल्ल बाबू विद्यार्थियों की प्रायः इस बात के लिए भर्त्सना किया करते थे कि सब नौकरी के लिए ही दौड़ते हैं, किसी उद्योग-धन्धे या कारोबार की तरफ ध्यान नहीं देते। जिसमें अपनी तथा देश की उन्नति की सम्भावनायें अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती हैं। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से बंगाली युवकों का ध्यान इधर गया और उसके पश्चात् कुछ वर्षों में वहाँ रासायनिक पदार्थों के कारखानों की काफी वृद्धि हुई।

प्रफुल्ल बाबू ने यद्यपि विदेश में शिक्षा पाई थी और वे भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध कॉलेज के प्रोफेसर थे, पर वे थे एक सच्चे सन्त। हमारे देशवासी अभी तक गेरुआ वस्त्र

धारण करने वालों और जटाजूट रखने वालों को ही साधु-महात्मा समझते हैं, पर वास्तव में ऐसे महात्मा प्रफुल्ल बाबू की साधुता के आगे नगण्य हैं। अपनी योग्यताओं और परिश्रमशीलता के फल से उनका वेतन कुछ ही दिनों में एक हजार मासिक के लगभग हो गया था और वैज्ञानिक आविष्कारों से भी काफी आय हो जाती थी, पर वे उसमें से अपने लिए केवल ४० रुपया मासिक खर्च करते थे। शेष सब जरूरतमन्दों को दान कर देते थे, जिनमें से अधिकांश विज्ञान के छात्र ही थे।

वे कहा करते थे 'मेरी जरूरतें ही क्या हैं।' उन्होंने विज्ञान की साधना और परोपकार के ख्याल से विवाह ही नहीं किया था और बहुत ही मामूली ढंग से जीवन निर्वाह करते थे। यद्यपि उनकी गिनती संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों में थी और विदेशों के बड़े वैज्ञानिक भी उनके सामने बड़ी नम्रता से आकर बैठते थे, पर उनका रहन-सहन सदा वैसा ही अति सामान्य बना रहा। वे जो धोती पहनते थे वह घुटनों से कुछ ही नीची होती थी, ऊपर एक बन्द गले का कोट लटका लेते थे जिसे देखकर फैशनेबल लोग तो अपनी हैसी नहीं रोकते थे।

वे और लोगों की तरह कहते ही न थे वरन् सबसे पहले स्वयं करके दिखाते थे। जब बंगाल में भीषण बाढ़ आई तो अन्य नेता जहाँ एकाध सहानुभूति सूचक बयान निकालकर और दो चार सौ रुपया चन्दा इकट्ठा करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे, वहाँ आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय अपने विद्यार्थियों के दल को लेकर घटना-स्थल पर पहुँचते और सब तरह की कठिनाइयों का मुकाबला करके पीड़ितों की सहायता करते। उनके इस वास्तविक सेवाभाव को देखकर लोगों ने उनकी अपील पर सौ की जगह हजार चन्दा दिया और बड़े सम्पन्न घरों के युवक सेवा करने को आगे आ गये।

इसी प्रकार जब महात्मा गाँधी ने खद्दर चर्खा का प्रचार आरम्भ किया तब पहले आचार्य राय उससे अलग रहे। पर जब उन्होंने अच्छी तरह विचार करके तर्क और प्रमाणों के आधार पर उनकी उपयोगिता को समझ लिया तब वे स्वयं क्रियात्मक रूप में करने लगे। देश भर में बड़े जोर-शोर के साथ उसका आन्दोलन किया और बंगाल में उसको बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया।

इसी प्रकार जब तक अपने प्रेसीडेन्सी कॉलेज में काम किया तो अपने को उसी में पूरी तरह खपा दिया। सभी विद्यार्थी आपको केवल अपना शिक्षक ही नहीं वरन् परम शुभचिन्तक, सहायक और सखा भी मानते थे। सन् १९१६ में जब आप कॉलेज को छोड़कर यूनिवर्सिटी के साइन्स कॉलेज में जाने लगे तो विद्यार्थियों ने आपको मान-पत्र देते हुए कहा कि-'आपने जो कार्य करके दिखाये हैं वे साधारण नहीं हैं। आप जीवन भर हमारे मार्गदर्शक, तत्त्व चिन्तक और मित्र रहे हैं। हमको तो आप प्राचीन भारतीय गुरुओं के अवतार की तरह जान पड़ते हैं। प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता के आप में

प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। आपने सदैव सच्ची सलाह, सूचना और गरीब विद्यार्थियों की धन से भी जिस प्रकार सहायता की है वह वर्णनातीत है।

प्रफुल्ल बाबू जब इसका उत्तर देने को खड़े हुए तो भावावेश में उनका शरीर काँपने लगा और उन्होंने कहा-“मैंने इस कॉलेज में जो एक मन्द ज्योति प्रज्ज्वलित की है विद्यार्थियों के आगे आने वाले दल उसको प्रज्ज्वलित रखेंगे, बढ़ते-बढ़ते वह हमारी समस्त मातृभूमि को प्रभावित कर देगी। सम्भवतः आप में से बहुत लोग जानते होंगे कि दुनियादार जिसे धन समझते हैं मैंने उसकी तनिक भी परवाह नहीं की है। तो भी अगर कोई मुझसे पूछे कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज में इतने बरस काम करते हुए तुमने जो पूँजी इकट्ठी की है तो मैं इसका उत्तर रोम की एक प्राचीन महिला कार्नेलिया के शब्दों में दूँगा। कार्नेलिया से मिलने एक बड़े घर की स्त्री आई। वह अपने आभूषण और रत्न आदि दिखलाकर अपना बड़प्पन दिखलाने लगी। अन्त में उसने कार्नेलिया से कहा-“तुम्हारे रत्न आभूषण कहाँ हैं?” थोड़ी ही देर में कार्नेलिया के दो पुत्र स्कूल से पढ़कर आ गये और उनकी ओर देखते हुए सगर्व उसने कहा-‘मेरे आभूषण और रत्न ये ही हैं।’ मैं भी कार्नेलिया की तरफ अपने एकनिष्ठ होकर कार्य करने वाले अनेक शिष्यों की तरफ आँगुली उठाकर कह सकता हूँ कि मेरा माल खजाना यही हैं।

“भाइयो ! यह सोचना कि मैं प्रेसीडेन्सी कॉलेज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा हूँ, एक असम्भव बात है। मेरे हृदय में एकत्रित समस्त संस्मरण इसी के आस-पास लिपटे हुए हैं। इसकी रसायनशाला का कोना-कोना और ईट-चूना तक मेरे लिये बड़े-बड़े संस्मरणों से युक्त प्रतीत होता है। जब मैं याद करता हूँ कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज की उपसंस्था ‘हेयर स्कूल’ में मैं चार वर्ष तक पढ़ा था और उसके पश्चात् चार वर्ष इसके विज्ञान विभाग में विद्यार्थी के रूप में रहा था तो मुझे मालूम पड़ता है कि मेरा सम्बन्ध तुम्हारे कॉलेज के साथ ३५ वर्ष लम्बा है। जब मेरे पार्थिव जीवन का अन्त होगा तब भी मेरी अन्तिम इच्छा यही होगी कि मेरी एक मुट्ठी राख इस पवित्र भूमि पर कहीं रख दी जाय।

इस प्रकार प्रफुल्ल बाबू ने अपना तन-मन-धन सर्वस्व मातृभूमि की सेवा और उसे ऊँचा उठाने में लगा दिया। उन्होंने जीवन भर अध्ययन, मनन, खोज, शोध करके जो कुछ प्राप्त किया वह सब कुछ भारतीय राष्ट्र और समाज के उत्थान में ही लगाया। अपने समस्त अध्ययन के रूप में जो ग्रन्थ-‘हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास’ उन्होंने लिखा वह भी इस देश के प्राचीन वैज्ञानिक-सिद्धान्तों की कीर्ति बढ़ाने वाला है। यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अपूर्व और स्थाई

महत्त्व रखने वाला माना जाता है और १०० वर्ष पहले लिखा जाने पर भी आज तक भारत ही नहीं विदेशों के साइन्स कॉलेजों तक में पाठ्य-पुस्तक की तरह काम में लाया जाता है।

प्रफुल्ल बाबू भारतवर्ष को सच्चे अर्थों में महान बनाने के पक्षपाती थे। सन् १९२३ में उन्होंने गुजरात विद्यापीठ का उद्घाटन करते हुए कहा था-“किसी भी देश के निवासी अपने ही प्रयत्न और पराक्रम से ऊँचा उठते हैं। हमको भी स्वराज्य लेना है, वह अपनी कमाई का ही होना चाहिए। जो स्वराज्य भारी परिश्रम और उद्योग से मिला हो तभी उसका महत्त्व है। अगर कोई हमको स्वराज्य भेंट की तरह प्रदान करे तो उसका मूल्य एक दमड़ी भी नहीं होगा।”

हमको अपने प्रयत्न को देखते हुए स्वराज्य जल्दी मिल गया। पर वह हमारे प्रयत्नों से ही मिला है इसमें सन्देह नहीं। हम चाहें तो आगे चलकर उसे अधिक पूर्ण और पक्का बना सकते हैं। खेद इतना ही है कि वे उसे न देख सके और उसके मिलने के तीन वर्ष पूर्व ही अर्थात् सन् १९४४ में प्रफुल्ल बाबू की प्रबल आत्मा ८३ वर्ष पुराने और दुर्बल शरीर को छोड़कर परलोक को प्रयाण कर गई। वे देश सेवा के लिए स्वेच्छा से जिन्दगी भर कुँवारे और ब्रह्मचारी रहे। इसलिये अपने पीछे कोई सन्तान तो नहीं छोड़ गये, पर सन्तान से बढ़कर ऐसे अनेक घनिष्ठ और सुयोग्य शिष्य अवश्य छोड़ गये हैं जो अपनी तथा अपने गुरु की कीर्ति को देश में बढ़ाते जाते हैं सन् १९२३ से १९३७ तक उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के साइन्स कॉलेज में वैतनिक रूप से काम किया, पर वह समस्त वेतन जो लगभग दो लाख रुपया होगा विश्वविद्यालय को ही विज्ञान की उन्नति के लिए दान कर दिया। उन्होंने अपने जीवन में स्वदेशी उद्योग धर्मों की उन्नति के लिए अनेक व्यापारिक योजनाओं में सहयोग दिया था, उससे उनके पास जितना रुपया एकत्रित हुआ उसका आधा भाग ‘साधारण ब्राह्मी समाज’ को समाज सुधार के कामों के लिए दे दिया। उनके पास आर्थिक सहायता के लिए जितने विद्यार्थी जाते थे, उनमें से उन्होंने किसी को निराश करके नहीं लौटाया। वे दानवीर थे पर अपने दानीपन का अभिमान उनको छू भी नहीं गया था। वे कहा करते थे कि मेरे दान का कोई महत्त्व नहीं। यह धन का दान तो सब दानों में घटिया होता है। सर्वश्रेष्ठ दान तो सहानुभूति रखना, प्रेम भरे शब्द कहना, प्रसन्नता प्रदान करना, हितकारी सम्मति देना, धके हुए को विश्राम देना है। इनकी तुलना धनदान कभी नहीं कर सकता। प्रफुल्ल बाबू स्वयं एक गरीब की तरह रहते हुए जीवन भर सब प्रकार के दान करते रहे। यही मानव सेवा उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

जिनका धर्म ही अन्याय से लड़ना है—

रानाडे

अँग्रेजों के शासन से भारत ने मुक्ति पा ली थी, पर उसका एक भू-खण्ड 'गोवा' पुर्तगालियों के अधिकार में रह गया। अँग्रेज तथा पुर्तगालियों ने लगभग साथ ही भारत के भू-खण्डों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया था। अँग्रेजों के जाने के साथ ही उन्हें भी उस भाग को मुक्त कर देना चाहिए था, किन्तु उन्होंने तो उलटे गोवावासियों पर अत्याचार करके उन्हें कुछ बोलने से भी वंचित कर दिया।

गोवावासी भय से चुप थे तथा पुर्तगाली उसे उनकी शान्ति तथा सहमति कहकर अपना शासन बनाये रखने के लिये संसार के राष्ट्रों के आगे दलीलें दिया करते थे। ऐसे समय में गोवावासियों का मनोबल बढ़ाया जाना पहली आवश्यकता थी।

इस प्रयोग की सिद्धि के लिये राष्ट्रभक्त साहसी भारतीय नागरिकों ने गोवा में प्रवेश करके-वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर स्थानीय नागरिकों के मनोबल को जगाने का कार्य प्रारम्भ किया। उसी के फलस्वरूप गोवा में मुक्ति आन्दोलन तीव्रता पकड़ सका। अन्यथा क्रूर पुर्तगालियों का दमन तथा शोषण गोवा पर न जाने कब तक छाया रहता ?

अपने आपको संकट में डालकर गोवा मुक्ति हेतु प्रयास करने वालों में वीर मोहन रानाडे भी अग्रणी थे। उन्होंने जिस वीरता, शूरता तथा सूझ-बूझ का परिचय दिया वह अविस्मरणीय रहेगा। राष्ट्र हित में अपने कर्तव्यों के पालन के लिए उनका त्याग एवं कष्ट सहन की कहानी अपने आप में बड़ी प्रेरक तथा गौरवमय है।

श्री रानाडे जब गोवा में प्रवेश पाने में छद्मवेश से सफल हो गये तो उनके सामने प्रश्न उठा कि किस प्रकार कार्य प्रारम्भ किया जाये ? हिम्मत हारी जनता को जगाने तथा संगठित करने के लिये किस दिशा से प्रयास प्रारम्भ किया जावे। उन्हें लगा कि कोई स्थूल कार्यक्रम चालू करने के लिये नागरिकों के अन्तःकरणों में स्फुरणा पैदा की जानी चाहिए। उनमें स्वयं एक लहर उठे, उत्साह जागे, तभी स्थूल कार्यक्रम सार्थक हो सकेंगे।

यह सोचकर उन्होंने शिक्षक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। हिन्दी, मराठी शिक्षक का स्वरूप तो उनके सिद्धान्त का प्रतीक मात्र था। वह तो वास्तव में बड़े पैमाने पर लोकशिक्षण के लिये सम्बद्ध हुए थे। उन्होंने उनके लिए विभिन्न प्रकार से कार्य किये। समाज, देश तथा संसार के सम्बन्ध में जानकारी जिन्हें नहीं ऐसे नागरिक कुछ कर सकेंगे, इसकी आशा उन्हें प्रान्ति ही लगी उसके लिये व्यक्ति को शिक्षित होना भी आवश्यक है। केवल किशोरों की ही शिक्षा इस दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। जिन्हें सीधे-सीधे संघर्ष में प्रवेश करना है, प्रत्यक्ष भाग लेना है

ऐसे प्रौढ़ वर्ग को भी शिक्षित होना चाहिए। अस्तु, उन्होंने प्रौढ़ शिक्षण के लिये घर-घर, गाँव-गाँव जाकर कार्य करना प्रारम्भ किया। सक्रिय सहयोगियों के सहयोग से कार्य तेजी से गति पकड़ने लगा।

दूसरा पक्ष लोगों की भावनायें जगाने का था। उसके लिये उन्होंने भूदान पदयात्रा का भी कार्य संचालन किया। इस माध्यम से उन्होंने लोकशिक्षण एवं भाव-जागरण का कार्य वृहद् रूप में सम्पन्न किया। उनके प्रयासों में सिद्धान्त का बल था, वाणी में अन्तःकरण की तड़प थी। उनके द्वारा प्रसारित प्रेरणा प्रवाह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। उनके शिक्षण से प्रभावित लोगों ने उन्हें 'रानाडे गुरुजी' के सम्मानास्पद सम्बोधन से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। लोकशिक्षण के इस कार्य के साथ वह उपयुक्त साधियों के चुनने तथा संगठन का भी कार्य करते गये। इस प्रकार पुर्तगाली दमन चक्र के विरुद्ध प्रत्यक्ष संघर्ष के उपयुक्त भूमिकायें बढ़ती तथा पुष्ट होती गईं।

इस प्रकार आधारभूत तैयार पूरी हो जाने पर वीर रानाडे ने सीधे संघर्ष का कार्य प्रारम्भ कर दिया। उनके हर कदम के साथ समग्र योजना होती थी व हर चोट में जन-सहयोग की प्रबलता तथा सूझ-बूझ का पैनापन होता था। मोहन रानाडे के कारनामों से एक ओर पुर्तगाली अधिकारी बाँखला उठे, तो दूसरी ओर मुक्ति आन्दोलनकारियों में जोश भर उठा। इसी शृंखला में दादरा नागर हवेली काण्ड ने तो गोवा में हलचल मचा दी। २७ जुलाई, १९५४ को वीर मोहन के सफल नेतृत्व में उक्त हवेली पर उनके साधियों ने आक्रमण किया। बात की बात में वहाँ के पुर्तगाली अधिकारियों को बन्दी बनाकर उसे पुर्तगाल के नियन्त्रण से मुक्त करा लिया।

उक्त घटना से गोवा के पुर्तगाली अधिकारी खीझ उठे। वीर रानाडे को जीवित या मृत पकड़वाने के दस हजार रुपये का इनाम घोषित कर दिया गया। किन्तु जो व्यक्ति सीधा मोर्चा लेने के लिये ही कृत संकल्प हो उन पर इस प्रकार की कार्यवाहियों का क्या असर होता ? 'रानाडे गुरु' तो गुरुद्रोण की तरह 'शास्त्रादपि शरादपि' के लिये तैयार थे। उन्होंने सैनिक वेश तथा शस्त्रास्त्रों का उपयोग प्रारम्भ कर दिया। उसका सबसे बड़ा अस्त्र तो जाग्रत जन-चेतना थी तथा सबसे बड़ा कवच जन-सद्भावना। पुर्तगालियों की खीझ, धमकी, कार्यवाही कुछ भी उनके कार्यों को रोकने में समर्थ न हो सकी। उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

सफलतायें मिलती गईं, हौसले बढ़ते रहे और २५ अक्टूबर, १९५५ को उनके दल ने एक भारी साहसिक अभियान कर डाला। 'बेटिन' पुलिस केन्द्र पर पुर्तगाली शासन का महत्वपूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार था। उस पर इन पुंगवों ने छापा मारा। सुनियोजित अभियान, आत्माहुति की भावना से ओत-प्रोत हर सैनिक, फिर सफलता तो मिलनी ही थी। शस्त्र-भण्डार पर उनका अधिकार हो

गया। किन्तु अपनी परवाह न करके भी साथियों को उत्साहित करने तथा संचालन के लिये आगे बढ़कर कार्य करते हुए वीर रानाडे घायल होकर गिर पड़े। अब समस्या थी कि अधिकार में आये भण्डार को अपने सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया जावे अथवा नेता की रक्षा का प्रयास किया जाये। साथी उनकी ओर बढ़े, किन्तु उन्हें आदेशात्मक स्वर ने रोक दिया। भारतीय वीर परम्परा के उपयुक्त ही निर्देश रानाडे ने दिया—“पहले अस्त्र-शस्त्रों को अपने स्थान पर ले जाने की व्यवस्था करें, तब तक मुझे ईश्वर सहारे छोड़ दें।” और अनुशासनवद्ध साथी फुर्ती के साथ अधिकृत शस्त्रास्त्रों को सुरक्षित स्थान पर रखकर लौटे तब तक वीर रानाडे पुर्तगालियों के हाथ पड़ चुके थे।

पुर्तगालियों के साथ एक संघर्ष का दौर पूरा होकर दूसरा प्रारम्भ हुआ। अब भारतीय देशभक्त की निष्ठा, सहिष्णुता तथा धैर्य का मुकाबला पुर्तगाली अधिकारियों की क्रूरता, दुष्टता तथा अत्याचारों से था। किन्तु वहाँ भी पहले ही की तरह पुर्तगाली शासक हर कदम पर मुँह की खाते गये। स्वदेश प्रेम और सद्भावना ने अनैतिक कष्टों से अप्रभावित रहकर श्रेष्ठता प्रमाणित की।

२९ दिसम्बर को सैनिक अदालत ने उन्हें २६ वर्ष की कठोर कैद का दण्ड सुनाया। उनके व्यक्तित्व से भयभीत अधिकारियों ने सुरक्षा के नाम पर तीन वर्ष तक उन्हें किसी भी तरह के प्रतिबन्ध में रखने की विशेष घोषणा की। लोग समझते थे कि वह इस भीषण दण्ड से काँप उठेंगे किन्तु उनकी आत्मविश्वास पूर्ण मुस्कराहट ने उनके सारे स्वप्नों को काटकर फेंक दिया। उनकी शान्त हँसी जैसे चुनौती देकर कह रही थी “इस संसार में दुष्टता कभी भी स्थिर होकर नहीं रह सकती, असुरता से देवत्व की आयु अधिक है। तुम समाप्त हो जाओगे और मैं रहूँगा—इसी प्रकार हँसता-मुस्करता हुआ”

साढ़े पाँच वर्ष तक उन्हें एकान्त में यन्त्रणा दी गई। फिर ६ माह तक बेड़ियाँ डालकर रखा गया। पर रानाडे भी किसी कच्ची मिट्टी के बने नहीं थे। उन्होंने अपनी निगरानी करने वाले अफ्रीकियों से जल्दी ही सद्भाव बना लिया। रक्षक उनके प्रति आत्मीयता अनुभव करने लगे तथा पुर्तगालियों की करतूतों का वर्णन सुनकर उनके मन में भी प्रतिक्रियाएँ उठने लगीं।

क्रुद्ध होकर अधिकारियों ने रानाडे को पुर्तगाल की सबसे खराब जेल में भेज दिया। उन्हें राजनैतिक बन्दी भी नहीं माना गया। निर्धारित संख्या से दुगने-तिगुने तक कैदियों से भरी कोठरियों में उन्हें रहना पड़ा। निकृष्ट भोजन तथा डॉक्टरों सुविधा लगभग नहीं के बराबर थी। इस स्थिति के प्रति भी रानाडे ने कोई खीझ प्रकट नहीं की—कोई कमजोरी नहीं दिखाई। अधिकारियों के सामने उनकी दृढ़ता पूर्ववत् थी। किन्तु बन्दिनों के प्रति उनका समाज-सेवी हृदय अपना प्यार उडेलने लगा। वह उनके प्रति सद्भावना व्यक्त करते, उनकी माँगों के साथ अपनी सहानुभूति तथा सहयोग देते रहते थे। उत्कृष्ट व्यक्तित्व

अपने आप में पूरा होता है। उत्कृष्ट व्यक्तित्व का धनी व्यक्ति जहाँ भी रहता है, सम्मानित तथा प्रिय बनकर रहता है। उनकी कोठरी के बन्दी उनके साथ घुल-मिल गये। उन्हें परस्पर प्रेम से जेल यन्त्रणाएँ फीकी लगने लगीं तथा अधिकारियों के अनैतिक दबाव का भय कम होने लगा। भारतीय पानी यहाँ भी खरा उतर रहा था। जेल अधिकारियों ने भी रानाडे को सबके साथ, त्रास देने के लिए रखा था, किन्तु उलटे उन्हें त्रास होने लगा। उनका क्रोध रानाडे के साथ उस कोठरी के कैदियों पर भी बरसने लगा। अनेक प्रकार की प्यादितियाँ होने लगीं, हाथापाई तक नौबत आने लगी। जेल डायरेक्टर ने उनके सहित उनकी कोठरी के तमाम कैदियों की पिटाई भी की। किन्तु इन नृशंस तरीकों पर उतर कर भी न तो वह उन्हें भयभीत कर सके और न ही अपनी सैद्धान्तिक हारों को छिपा सके।

वीर मोहन रानाडे १३ वर्ष तक पुर्तगाली अधिकारियों के राक्षसी शिंकजे में रहे। वैसे यदि सन् १९६२ में बन्दिनों के आदान-प्रदान की सूची में उनका नाम भूल से न छूट गया होता तो वह तभी छूट जाते। किन्तु शायद पुर्तगालियों को भारतीय शौर्य, साहस तथा दृढ़ता का अधिक परिचय मिलना आवश्यक था। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्भवतः श्री रानाडे को अधिक समय तक रहना पड़ा। रानाडे उसी मस्त मुस्कराहट के साथ स्वदेश लौट आये। भारतीय जनता की पुकार एवं भारत सरकार के प्रयासों से जेल से छूटकर भी उन्हें कोई उतावली नहीं हुई। वे रोम में रुककर एक दूसरे सेनानी श्री डा० मास्कर हंस की मुक्ति का प्रयास करने लगे। डा० टेली मास्कर हंस भी पुर्तगाल में बन्दी थे तथा पहले बम्बई से प्रकाशित पुर्तगाली भाषा के साप्ताहिक ‘रिसर्च गोवा’ के सम्पादक थे। उनको भी मुक्त कराने का प्रयास भी सफल रहा। पकड़े जाकर जेल जाने पर भी तथा जेल से मुक्ति पाने पर भी वीर रानाडे ने दुःख-सुख की तुलना में कर्तव्य का ही महत्व देकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी।

अभेद आदर—निर्विकार न्याय

इस युग में भी जबकि बुद्धि-विकास तेजी से हो रहा है लोगों में ऊँच-नीच, छूत-अछूत, छोटे-बड़े का भाव देख कर हर विचारशील व्यक्ति को कष्ट होता है। उस परिस्थिति में तो और भी जबकि सामाजिक न्याय के लिये भी पक्षपात होता है। साधारण कर्मचारी से लेकर बड़े-बड़े पदाधिकारी और न्यायाधीशों में भी इस तरह की प्रवृत्ति देखने में आती है तो उन महापुरुषों की यादें उभर आती हैं जिन्होंने कर्तव्य-परायणता से अपने पद को सम्मानित किया, आज की तरह उस पर कलंक का टीका नहीं लगाया।

बम्बई हाईकोर्ट के जज गोविन्द रानाडे को कौन नहीं जानता। पर इसके लिए नहीं कि वे अँग्रेजी युग के सम्माननीय जज थे वरन् इसलिये कि उन्होंने अपने पद की

अपेक्षा कर्तव्यपालन को उच्च माना और उसकी पूर्ति में कभी हिचक न होने दी।

एक बार की बात है—‘रानाडे साहब अपने कमरे में पुस्तक पढ़ रहे थे, उस समय कोई अत्यन्त दीन और वेष-भूषा से दरिद्र व्यक्ति उनसे मिलने गया। अफसरों के लिये इतना ही काफी होता है, अपने पास से किसी को भगा देने के लिये। कोई अपना मित्र, सम्बन्धी, प्रियजन हो तो सरकारी काम की भी अवहेलना कर सकते हैं, पर न्याय के लिये हर आम की बात गौर से सुन लेना अब शान के खिलाफ माना जाता है।

रानाडे इस दृष्टि से निर्विकार थे। उन्होंने अपने चपरासी से कहा—“उस व्यक्ति को आदरपूर्वक भीतर ले आओ।” कोई छोटी जाति का आदमी था। नमस्कार कर एक ओर खड़ा हो गया। कहने लगा—“हुजूर! मेरी एक प्रार्थना है।”

“सो तो मैं सुनूँगा।” जज साहब ने सौम्य शब्दों में कहा—“पहले आप कुर्सी पर बैठिये।”

“हुजूर मैं छोटी जाति का आदमी हूँ, आपके सामने कैसे बैठ जाऊँ, यों ही खड़े-खड़े अर्ज कर देता हूँ।”

रानाडे जानते थे इनके साथ हर जगह उपेक्षापूर्ण बर्ताव होता है, इसीलिये वह यहाँ भी डर रहा है। उनके लिए यही बड़ा दुःख था कि मनुष्य, मनुष्य में भेद जताकर उसका अनादर करता है। परिस्थितियों से किसी को हीन स्थिति मिली तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उन्हें दुत्कारा जाय और सामाजिक न्याय से वंचित रखा जाय। भेद किया जाय तो हर व्यक्ति दूसरे से छोटा है। तब चाहे जो चाहे जिसका अनादर कर सकता है। ऐसा होने लगे तो संसार में प्रेम, आत्मीयता और आदर का लेशमात्र स्थान न बचे।

जज साहब ने उसे पहले आग्रहपूर्वक कुर्सी पर बैठाया और फिर अपनी बात कहने के लिए पूछा।

बम्बई नगरपालिका के विरुद्ध अभियोग था। साधारण व्यक्ति होने के कारण कोई सुनवाई न हुई थी, वरन् उसे जहाँ गया डाँट-फटकार ही मिली थी। आजकल वैसा नहीं तो बहानेबाजी, रिश्वतखोरी की बातें चलती हैं, दोनों एक-सी हैं। फिर जितना ऊपर बढ़ो सुनवाई की सम्भावना भी उतनी ही मन्द पड़ती जाती है।

जज साहब ने सारी बात ध्यान से सुनी और कहा—“मैं सब कुछ आज ही ठीक कर दूँगा।” आश्वासन पाकर उस दीन-जन की आँखें भर आईं। जज साहब ने उसी दिन उस बेचारे का वर्षों का रुका काम निबटाया। यह भी हिदायत दी कि किसी को निम्न वर्ग वाले की, अशिक्षित या अछूत मानकर उपेक्षित और न्याय से वंचित न किया जाय।

जज साहब की यह आदर्शवादिता यदि आज के पदाधिकारियों में होती तो भारतीय लोकतन्त्र उजागर हो जाता।

मितव्ययी न्यायाधीश

जस्टिस रानाडे के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। एक बार वे अपने नौकर को बाजार से सामान मँगाने के लिए भेज रहे थे। वे नौकर से हर एक चीज का दाम पूछते जाते थे और जितने सामान की आवश्यकता थी उसकी तौल तथा रुपया, आने-पैसे में उसकी कीमत एक कागज पर नोट करते जाते थे। पर्चा तैयार कर नौकर को भेज दिया इसी बीच उनके एक मित्र जो स्वयं भी जज थे, वहाँ पहुँच गये। मामूली सामान का पर्चा बनाते देखकर उन्होंने आश्चर्य से पूछा—“सर आपको इसकी क्या आवश्यकता है।” रानाडे ने कहा—“भाई मैं जज होऊँ या कोई और जो घर के खर्च का हिसाब नहीं रखते उन पर सदा ही कर्ज बना रहता है।” अंग्रेज जज उनकी इस बात से बड़ा प्रभावित हुआ और स्वयं ने भी वैसा ही करना शुरू कर दिया।

ताकि अनुशासन भंग न हो

न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के पास किसी मित्र ने कीमती हापुस आमों का टोकरा भेजा। भोजन के समय श्रीमती रमाबाई रानाडे आम ले आईं। उन्होंने चाकू से आम काटकर तीन फाँके पति को दीं। तीन फाँके खाकर रानाडे बोले—“बस अब नहीं चाहिए।” क्यों और लीजिए न! क्या स्वादिष्ट नहीं हैं। “स्वादिष्ट तो हैं, पर इससे अधिक खाना मेरे स्वाद के अनुशासन से बाहर होगा।” रानाडे कहते गये ये आम कीमती हैं। मैं इन्हें उतना ही खाना चाहता हूँ, जितने से जीभ की आदत न बिगड़े और जितना मैं खरीदकर भी खा सकूँ। किसी ने भेंट किये हैं, इसलिए ज्यादा खा लेना अनुशासन बिगाड़ना होगा।”

उदार हृदय

एक बार पूना के सरकारी जज श्री मदनकृष्ण की पत्नी का देहान्त हो गया। जज साहब हरिजन थे। यद्यपि दाह-संस्कार में शरीक होने वालों में रूढ़िवादिता की कुछ हिचकिचाहट-सी थी। फिर भी शर्मा-शर्मा आ ही गये।

पत्नी की मृत्यु के ठीक १५ दिन बाद स्वयं जज साहब का देहान्त हो गया। अब समस्या दाह-संस्कार की सामने आयी। लोग यह सोचकर नहीं आये कि एक बार धर्म बिगाड़ लिया सो बिगाड़ लिया। अब की बार हम धर्म न बिगाड़ेंगे परिणाम यह हुआ कि कोई भी न आया और लाश घण्टों रखी रही।

उस समय न्यायमूर्ति महादेव रानाडे स्वयं भी जज थे, जो कि उसी दिन दौरे से लौटकर आये थे।

जैसे ही उन्हें जज साहब के देहान्त के बारे में मालूम हुआ, वे फौरन वहाँ पहुँचे। उन्होंने मुर्दों को उठाने की व्यवस्था स्वयं ही की।

यह था हृदय की भावनात्मक एकता के प्रश्न का हल, जिसका कि जाति-पाँति के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

पाप का धन

एक न्यायाधीश सरकारी काम पर पैदल ही सतारा जिले का दौरा कर रहे थे। उन्होंने अपनी पत्नी को संदेश दिया था कि पीछे घोड़ा गाड़ी से आ जाना।

मार्ग में एक अमराई में बढ़िया आम दिखायी दिये। न्यायाधीश की पत्नी की इच्छानुसार गाड़ीवान ने कुछ आम पेड़ से तोड़े। संयोगवश एक बड़ा आम उनके हाथ पर आ गिरा और उनका सोने का कंगन टूट गया। टूटे हुए कंगन का एक टुकड़ा भी नहीं मिल पाया। जिसके कारण उन्हें बड़ा पछतावा रहा।

पड़ाव पर आकर न्यायाधीश की पत्नी ने सारी कहानी पतिदेव को सुनायी। न्यायाधीश कहने लगे-ठीक ही हुआ। बिना अधिकार के पराया माल प्राप्त करने का यही परिणाम होना चाहिए। भविष्य में इस प्रकार की मनोवृत्ति से दूर रखने के लिए प्रभु ने यह दण्ड दिया है। तुम्हारे अपराध की थोड़ी-सी सजा मुझे भी मिल गयी है। मेरा भी चाकू कहीं खो गया है। पाप की कौड़ी पुण्य का सोना भी खींच लेती है।

ये न्यायाधीश थे श्री महादेव गोविन्द रानाडे जो केवल दूसरों के मुकदमों के फैसले ही नहीं करते थे वरन् अपने और अपने स्वजनों के क्रिया-कलापों का भी विवेकपूर्ण तरीके से निरीक्षण करते हुए उस न्यायाधीश को नहीं बिसारते थे जो इस संसार का स्वामी है। यह सब पर दया भी करता है और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार दण्ड भी देता है।

सुधार के लिये इतनी सहिष्णुता

श्री महादेव गोविन्द रानाडे के एक मित्र थे श्री कुण्टे। ये दोनों एक साथ पढ़े थे और इसलिए एक प्रकार से लैंगोटिया यार थे। बड़े हो जाने पर भी दोनों में घनिष्ठ मित्रता बनी रही। पर सन् १८८५ में जब लार्ड रियन ने भारतवासियों को स्वायत्त-शासन (नगर पालिका) का अधिकार दिया तो उसके चुनाव के समय दोनों में मतभेद हो गया। श्री रानाडे तो उसमें अधिकाधिक संख्या में भारतीय सदस्य रखे जाने के पक्ष में थे और कुण्टे महोदय उसमें अँग्रेज अफसरों का बहुमत रखने के समर्थक थे। एक दिन रानाडे ने कुण्टे को उनकी अँग्रेज परस्त नीति के लिये फटकारा तो वे उनसे क्रुद्ध हो गये और बहुत खुले तौर पर जोर-शोर के साथ अँग्रेज अफसरों के चुने जाने का प्रचार करने लगे। वे प्रायः सभा किया करते और उनमें रानाडे पर तरह-तरह के आक्षेप करते हुए हिन्दुस्तानियों के चुनाव का विरोध किया करते। रानाडे को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि हम लोग आप्रस में ही लड़कर अँग्रेजों को अपने ऊपर हँसने का मौका दे रहे हैं। इसलिये उन्होंने इस झगड़े का अन्त करने का निश्चय किया और सन्ध्या के समय स्वयं ही कुण्टे की सभा में

चले गये। उस दिन भी कुण्टे ने इन पर खूब आक्षेप किये पर इसकी कुछ परवाह न करके भाषण समाप्त होने पर वे उनके पास गये। कुण्टे ने नाराजगी से अपना मुँह दूसरी तरफ फेर लिया। पर वे उसके और भी पास चले गये और जबरदस्ती बातें करने लगे। फिर इन्होंने कुण्टे से अपनी गाड़ी में बैठकर चलने के लिये कहा, तो कुण्टे ने उसे अस्वीकार कर दिया। इसके बाद जब कुण्टे अपनी गाड़ी में जाकर बैठे तो ये भी उसी गाड़ी में जा बैठे और कहा-“यदि आप मेरी गाड़ी पर नहीं चल सकते तो मैं आपकी गाड़ी पर चलूँगा।” कहना अनावश्यक है कि मार्ग में दोनों में जो वार्तालाप हुआ उससे कुण्टे महोदय ठिकाने आ गये और उन्होंने अँग्रेज अफसरों का पक्ष लेना छोड़ दिया।

सेवा एवं मानवता की मूर्ति-

महामना मालवीय जी

“जब तक मैं इस मकान में हूँ तब तक ये गरीब आदमी इसी प्रकार यहाँ आते रहेंगे। मुझे भारत ही नहीं संसार भर के गरीबों से सहानुभूति है। मुझे उनसे हार्दिक प्रेम है। अपने घर आने को मैं इनकी कृपा मानता हूँ। इनको घर बैठे देखने का अवसर पाकर मैं देश के विषय में बहुत-सी बातें समझ लेता हूँ।”

ये शब्द थे महामना मदनमोहन मालवीय जी के, जो उन्होंने अपने पुत्र श्री गोविन्द मालवीय की इस शिकायत पर कहे थे कि बैठक में ऐसे बहुत से आदमी बिना पूछे चले आते हैं, जिनके पैर धूल से सने होते हैं और कपड़े निहायत गंदे रहते हैं मुझे इनका आना बिल्कुल पसंद नहीं, मैं इनके आने पर प्रतिबंध लगा दूँगा।

पं० मदनमोहन मालवीय एक पूर्ण धार्मिक व्यक्ति थे किन्तु उनकी धर्म-भावना में घृणा नहीं प्रेम की प्रधानता थी। उन्हें किसी से मिलने, बात करने में संकोच नहीं होता था।

पं० मदनमोहन मालवीय सनातन धर्म के साकार रूप थे। धर्म की अनुभूति उनके रोम-रोम में भरी हुई थी। उन्हें अपने ब्राह्मणत्व पर स्वयं ही बहुत श्रद्धा थी। वे अपने ब्राह्मण संस्कारों को किसी भी स्थिति अथवा अवसर पर त्यागने को तैयार नहीं थे। धार्मिक नियमों की रक्षा और उनके पालन को वे जीवन का सबसे बड़ा कर्त्तव्य मानते थे।

उनका कथन था-“धर्म वह शक्तिशाली तत्व है जिसको अपनाने से बड़े से बड़े पतित हृदय का अनुराग भी महामना बन सकता है। मुझे अपने धर्म पर अनन्त श्रद्धा है। धर्म मेरा जीवन और प्राण है। मैं जीवन की सारी सुख-सुविधायें, यहाँ तक कि परिवार और प्रेमीजनों तक को धर्म पर न्योछावर कर सकता हूँ।”

महामना मालवीय जी का यह कथन केवल मात्र ही न था बल्कि उसका एक-एक शब्द उनके दैनिक जीवन में कदम-कदम पर परिलक्षित होता था। वे हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान के पूर्ण उपासक थे और जीवन भर इन्हीं के लिए काम करते हुए, इन्हीं के लिए मर-मिटे।

महामना मालवीय जी को अपने देश-भारत की दो कमियाँ बहुत खटकती थीं। एक अविद्या और दूसरी निर्धनता। वे बनारस के एक परम प्रतिष्ठित व्यक्ति और उस तीर्थ के सर्वमान्य नेता थे। जहाँ काशी की जनता उन्हें देवता के समान पूजती थी, वहाँ काशी नरेश उन्हें गुरु के समान मानते थे।

मालवीय जी का यह प्रभाव केवल इसलिए नहीं था कि वे एक अद्वितीय ब्राह्मण थे बल्कि उनका सारा सम्मान उनकी उन समाज सेवाओं पर निर्भर था जो समय-समय पर वे करते रहते थे।

पं० मदनमोहन मालवीय पोंगापंथी धार्मिक नहीं थे। उनके धर्म में सत्य और संयम का समन्वय रहता था। यद्यपि वे अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को सदैव तत्पर रहा करते थे तथापि जो धार्मिक नियम रूढ़ि बनकर देश, जाति अथवा समाज को हानि पहुँचाने लगते थे उनका त्याग कर देने में उन्हें जरा भी संकोच न होता था। इसका प्रमाण उन्होंने अछूतों और दलित वर्ग के प्रति सेवा भावना से दिया।

गरीबी और गरीबों के प्रति महामना मालवीय जी का प्रेम सर्वविदित था। किसी गरीब को देखकर तत्काल उनका हृदय करुणा से भर जाता था और वे उसकी यथासम्भव सहायता किया करते थे। काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था के संस्थापक और उसके उपकुलपति होने पर भी वे अपने व्यक्तिगत जीवन में एक साधारण भारतीय नागरिक की तरह ही रहते थे। वे अपने जीवन पर एक सामान्य नागरिक की औसत आय से अधिक कभी खर्च नहीं करते थे और न कभी ऐसे बड़े प्रीतिभोजों में शामिल होते थे, जिनमें ऐसी वस्तुएँ खाने के लिए बनी हों जो भारत के एक सामान्य नागरिक को आसानी से न मिल सकें।

वे ऐसे अपव्ययी एवं बहुव्ययी प्रीतिभोजों का बहिष्कार ही नहीं बल्कि उनकी इन शब्दों में निन्दा भी करते थे—“जहाँ तुम्हारे घर में हजारों-लाखों तुम्हारे भाई आधे पेट भोजन की पीड़ा सह रहे हों वहाँ इस प्रकार के विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े-बड़े प्रीतिभोज अशोभनीय ही नहीं बल्कि निंदास्पद भी हैं।” इस प्रकार के अपव्ययी प्रीतिभोजों को चलाने और रहन-सहन पर बेतहाशा खर्च करने वाले देश के गरीबों के प्रति सहानुभूति दिखलाकर दुःख प्रकट करते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि जैसे वे गरीब भारतीय जनता का उपहास करते हैं। जिसको कष्ट का एक कौंटा नहीं चुभा, जिसने गरीबी के दर्द का कोई अनुभव नहीं किया वह गरीबों से सच्ची सहानुभूति किस प्रकार रख सकता है? उनका दुःख दूर करने के लिए

क्या कर सकता है? गरीब जनता के नेताओं को अमीरों की जिन्दगी बिताने और विलासपूर्वक रहने का क्या अधिकार है? मैं किसी अमीर को गरीबों का नेता मानने को तैयार नहीं हूँ। गरीबों का नेता तो उन्हीं की तरह अभावों को अंगीकार करने वाला होना चाहिए।

वे द्वार पर आए गरीबों के प्रति नेताओं का विषमतापूर्ण व्यवहार पर आँसू बहाते हुए कहा करते थे—“यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आप देश के नेता जनता से दूर सजे हुए बैंगलों और वातानुकूल कोठियों में बैठकर उसकी गरीबी पर विचार-विमर्श करते हैं, सोफों पर पड़े-पड़े उसका उपाय सोचा करते हैं। अपने चाँदी जैसे चमकते कपड़ों को गरीबों के स्पर्श से बचाते हैं और अपने कमरे में बिछी कालीनों को किसी आगन्तुक गरीब के पैरों से मैला होने देने में संकोच करते हैं। यह कैसा नेतृत्व है, यह कैसी हिमायत है? जिसने गरीबों का अभिशाप नहीं देखा उसकी आहों-कराहों को नहीं सुना वह भला गरीब जनता का नेतृत्व कैसे कर सकता है? आज तो देश को ऐसे नेताओं, ऐसे सेवकों की आवश्यकता है जिनके हृदय देश के प्रति करुणा से भरे रहते, जिनके आँसू गरीबों की पद-धूलि के लिए सदैव आँखों से भरे रहते हों और जिनका हृदय स्वभावतः अमीरी और आरामपूर्ण जिन्दगी से घृणा रखता हो। मैं भगवान से नित्य यही प्रार्थना करता हूँ कि हे करुणाकर जगदीश! तुम्हरे हृदय में गरीबों के प्रति इतनी दया, इतना प्रेम भर कि मैं अपने अस्तित्व को उनकी सेवा में विसर्जित कर दूँ और देश को ऐसे नायक दे जो समाज की आवश्यकता, उसकी पीड़ा और परेशानी को ठीक-ठीक अनुभूत कर सकें।”

महामना का मानवतामय व्यक्तित्व धर्म की उदात्त पृष्ठभूमि पर विकसित हुआ था। यद्यपि नित्य-प्रति पूजा-पाठ करना मालवीय जी की दिनचर्या का एक विशेष अंग था। जब तक वे नियमित रूप से पूजा न कर लेते थे जीवन के नये दिन का कोई कार्य प्रारम्भ न करते थे, किन्तु मानवता की सेवा करना वे व्यक्तिगत पूजा-उपासना से भी अधिक बड़ा धर्म समझते थे। इसका प्रमाण उन्होंने उस समय दिया जबकि एक बार प्रयाग में प्लेग फैला। अभागे नर-नारी कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने लगे। मित्र-पड़ोसी, सगे-सम्बन्धी तक एक-दूसरे को असहाय दशा में छोड़कर भागने लगे थे। किन्तु यह मानवता के सच्चे पुजारी श्री महामना ही थे जिन्होंने उस आपत्तिकाल में अपने जीवन के सारे प्राणप्रिय कार्यक्रमों एवं कर्मकांड छोड़कर तड़पती हुई मानवता की सेवा में अपने जीवन को दौव पर लगा दिया था। वे घर-घर, गली-गली पैदल दवाओं तथा स्वयंसेवकों को लिए हुए, दिन-रात घूमते रहते थे और खोज-खोजकर रोगियों के घर जाते। उन्हें दवा देते, उनकी सेवा-सुश्रूषा करते, उनके मल-मूत्र साफ करते और अपने हाथों से उनके निवास स्थान तथा कपड़ों को धोते थे। अपने इस सेवा कार्य में वे नहाना-धोना, पूजा-

पाठ तथा खाना-पीना सब कुछ भूल गये । कब दिन निकला ? कब रात हुई ? इसका पता ही न रहता था ।

उदारचेता मालवीय जी स्वयंसेवकों से ऊपर का काम तो ले लेते थे किन्तु रोग के प्रभाव के भय से उन्हें रोगियों के पास न आने देते थे । जब उनके भक्तजन उनसे यह कहा करते थे कि आप दूसरों को रोगियों के पास रोग के संक्रमण के भय से तो जाने नहीं देते किन्तु स्वयं उनका मल-मूत्र तक साफ करते हैं । आप देश, जाति की अमूल्य निधि हैं, क्या आपको रोग की शंका नहीं होती ? तब उनका यही उत्तर होता था कि एक तो मैं अपने सेवा कार्यों में किसी का साझा नहीं करना चाहता, दूसरे मेरे हृदय में इस त्रस्त मानवता के लिए इतनी तीव्र आग जल रही है कि मेरे पास रोग के कीटाणु आकर स्वयं भस्म हो जायेंगे और यदि इनकी सेवा करता-करता मैं स्वयं मर जाऊँ तो भी अपने मानव-जीवन को धन्य समझूँगा ।

यह थी महामना मालवीय जी की सेवा-भावना जिसके लिए वे अपना तन, मन और धन सब कुछ न्योछावर करते रहते थे । उनके धर्म का ध्येय मोक्ष अथवा निर्वाण न होकर मानवता की सेवा मात्र था । जिसको वे जीवन भर सच्चाई के साथ निभाते हुए एक दिन उसी मार्ग पर चलते-चलते परम तत्व में विलीन हो गए ।

कहना न होगा कि धर्म के अभाव में कोई मनुष्य सच्चा मनुष्य नहीं बन सकता और बिना सेवा-भाव के धर्म का कोई महत्व नहीं ।

सिद्धान्तनिष्ठा

कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह ने 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र आरम्भ किया ही था कि उसके लिए सुयोग्य सम्पादक की आवश्यकता सामने आ खड़ी हुई । उन्हीं दिनों मदनमोहन मालवीय कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके निकले ही थे और अध्यापन का कार्य करने लगे थे । पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेखों एवं भाषणों से राजा साहब बहुत प्रभावित हुए और उन्हें हिन्दुस्तान के सम्पादन के लिए आमन्त्रित किया ।

मालवीय जी उन दिनों आर्थिक तंगी में थे । तब अध्यापकों को वेतन भी कम मिलता था । राजा साहब उन्हें ढाई सौ रुपये मासिक देना चाहते थे, जो आज की दृष्टि से कई हजार के लगभग होता था । सम्मान का पद भी था और आर्थिक दृष्टि से आकर्षक भी, पर महामना के सामने एक कठिनाई थी कि राजा साहब शराब पीते थे और उन्हें शराब से घोर घृणा थी । यह भिन्नता किस प्रकार मिटेगी, यह बात उन्हें असमंजस में डाले थी ।

सम्पादन का उत्तरदायित्व लेने की शर्तें तय करते समय मालवीय जी ने स्पष्ट कह दिया कि राजा साहब नशे की हालत में उनसे न मिलें । यह शर्त उन्होंने स्वीकार कर ली । बहुत दिन तक निभी भी, पर एक दिन नशे की हालत में ही वे मालवीय जी के कार्यालय पर भेंट करने जा पहुँचे ।

आदर्श और स्वाभिमान को प्रधान मानने वाले महामना मालवीय जी स्तीफा देकर वापस लौट आये और लाख कहने पर भी उस उत्तरदायित्व को फिर से नहीं स्वीकारा । राजा साहब पर मालवीय जी की आदर्शवादिता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनका वेतन ढाई सौ रुपये मासिक वकालत पढ़ने की छात्रवृत्ति के रूप में उन्हें वे सतत भेजते रहे ।

परीक्षा

पं० मदनमोहन मालवीय बम्बई में ठहरे हुये थे । रात्रि के समय बम्बई के प्रसिद्ध विद्वान पं० रमापति मिश्र उनसे मिलने के लिये आये । मिश्र जी बोले-“मालवीय जी ! मैंने तो अपने में काफी सहनशीलता बढ़ा ली है, आप चाहें तो सौ गाली देकर देख लीजिए मुझे क्रोध नहीं आयेगा ।” मालवीय जी हँसते हुए बोले-“मिश्र जी ! आपकी बात तो ठीक है पर क्रोध की परीक्षा तो सौ गाली देने के बाद होगी । उससे पूर्व ही पहली गाली में मेरा मुँह गन्दा हो जायेगा ।” मालवीय जी के इस उत्तर को सुनकर मिश्र जी नत-मस्तक हो गये ।

मानवीय भावना

एक लड़का दौड़ता हुआ डॉक्टर के पास पहुँचा और उनसे अत्यधिक आग्रह करके एक रोगी को दिखाने ले गया । डॉक्टर ने देखा-सड़क पर एक कुत्ता घायल पड़ा है, उसी के इलाज के लिये उसे लाया गया है । इस पर डॉक्टर बहुत झल्लाया, पर लड़का भी अपनी आन पर पूरा था । उसने कहा-मनुष्य के समान ही कुत्ते को भी कष्ट होता है । हम मनुष्यों का ही दुःख दूर करें और दूसरे प्राणियों का नहीं, क्या यह उचित है ? डॉक्टर की झेंप मिटी और उसने कुत्ते का उपचार किया । कुछ दिन में वह कुत्ता अच्छा भी हो गया । इस सहृदय बालक का नाम था-महामना मदनमोहन मालवीय ।

कर्तव्य पालन

मदनमोहन मालवीय किसी अंग्रेजी अफसर से मिलने जा रहे थे । अभी थोड़ी ही दूर पहुँचे थे कि रास्ते में पड़ी हुई एक निर्धन स्त्री दिखाई दी । उसके पाँव में घाव हो गये थे । मक्खियाँ काट रही थीं । इससे उसे असह्य वेदना हो रही थी ।

मालवीय जी ने अपनी घोड़ागाड़ी रुकवाई । स्वयं उतरे और उस स्त्री को उठाकर गाड़ी में बैठाकर अस्पताल की ओर चल पड़े । एक युवक ने यह देखा तो दौड़ा-दौड़ा आया और बोला पण्डित जी इस स्त्री को लाइये मैं अस्पताल पहुँचा देता हूँ आप किसी आवश्यक कार्य में जा रहे हैं वहाँ जाइये । आपका समय ज्यादा मूल्यवान है ।

मालवीय जी ने कहा-“यह कार्य ज्यादा आवश्यक है, मैं उसी के लिये जिन्दा हूँ ।” यह कहकर उन्होंने गाड़ी आगे बढ़वाई और उस स्त्री को स्वयं अस्पताल पहुँचाकर आये ।

कल्याणकारी दान

एक बार एक सेठजी स्वयं महामना मालवीय जी के पास अपने यहाँ विवाह पर आयोजित विशाल भोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देने के लिए पहुँचे। महामना जी ने उनके इस निमन्त्रण को इन विनम्र किन्तु मर्मस्पर्शी शब्दों में अस्वीकार कर दिया—“यह आपकी कृपा है जो मुझे अकिंचन के पास स्वयं निमन्त्रण देने पधारे किन्तु जब तक मेरे इस देश में, मेरे हजारों-लाखों भाई आधे पेट रह कर दिन काट रहे हों, तो मैं विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े भोजों में कैसे सम्मिलित हो सकता हूँ। ये सुस्वादु पदार्थ मेरे गले कैसे उतर सकते हैं। क्या भोजन मात्र से ही यश मिलता है। यश अर्जन का आप कोई अच्छा तरीका नहीं सोच सकते ?

महामना जी की यह मर्मयुक्त बात सुन सेठजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भोज में व्यय होने वाला सारा धन गरीबों के कल्याणार्थ दान दे दिया।

भागवत-कथा-वाचन

जयपुर के अग्रवाल महाविद्यालय भवन में अ० भा० आयुर्वेद सम्मेलन हो रहा था। महामना मालवीय जी को अध्यक्षता करनी थी। उन दिनों देशी रजवाड़े किसी राष्ट्रीय विचार वाले को अपने क्षेत्र में प्रवेश न करने देते थे। अस्तु, मालवीय जी के जुलूस एवं भाषण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

मालवीय जी ने पैतरा बदला उन्होंने भागवत कथा कहना आरम्भ कर दिया जो पूरे दो घण्टे चली। जनता मन्त्र मुग्ध रह गई।

समाचार राजमहल पहुँचा तो राजा ने मालवीय जी को कथा सुनाने उन्हें राजमहल में आमन्त्रित किया। बड़े ध्यान से उन्होंने कथा सुनी। इसके उपरान्त हिन्दू विश्व-विद्यालय के लिए राण्यकोष से लाखों रुपये की सहायता भी दी गई।

सेवा धर्म

गुजराँवाला का खालसा कॉलेज—जहाँ मार्शल लॉ के दिनों में अँग्रेज सैनिकों ने निर्दयतापूर्वक गोलियाँ बरसाई थीं। देखने के लिये महामना मालवीय जी, पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द तथा श्री व्यंकटेश नारायण तिवारी गये थे। जून की दोपहर सूर्य आग बरसा रहा था। तिवारी जी के अलावा तीनों नेताओं के पास छाते थे। तिवारी जी को बिना छाते के देख महामना उनके सिर पर छाता लगाकर चलने लगे। ज्यों-ज्यों तिवारी उनके छाते से दूर भागते, त्यों-त्यों मालवीय जी उनके पास ही आते जाते। तिवारी जी से न रहा गया। बोले—“महाराज आप मुझे पाप का भागी क्यों बना रहे हैं ?” महामना ने उत्तर दिया—“तुम उस सेवा-समिति के मन्त्री हो, जिसका सभापति मैं हूँ। क्या मुझे सेवा के धर्म से बिल्कुल वंचित

करना चाहते हो ? तुम जनता की सेवा कर रहे हो, तुम्हारी सेवा कर मैं पुण्य का भागी होना चाहता हूँ।”

अद्भुत याचक

रक्षाबन्धन का पुनीव पर्व। बीकानेर नरेश का दरबार लगा हुआ था। राजद्वार पर ब्राह्मणों की लम्बी कतार थी। उन्हीं ब्राह्मणों के मध्य मालवीय भी एक नारियल लिये खड़े थे। शनैः-शनैः कतार छोटी होती जा रही थी। प्रत्येक ब्राह्मण, नरेश के पास जाकर राखी बाँधता और दक्षिणा के रूप में एक रुपया प्राप्त कर खुशी-खुशी घर लौटता जा रहा था।

मालवीय जी का नम्बर आया तो वे नरेश के समक्ष पहुँचे राखी बाँधी, नारियल भेंट किया और संस्कृत में स्वरचित आशीर्वाद दिया। नरेश के मन में इस विद्वान ब्राह्मण का परिचय जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। जब उन्हें मालूम हुआ कि यह तो मालवीय जी हैं तो वह बहुत प्रसन्न हुए और अपने भाग्य की मन ही मन सराहना करने लगे। मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की रसीद बही उनके सामने रख दी। उन्होंने भी तत्काल एक सहस्र मुद्रा लिखकर हस्ताक्षर कर दिये। नरेश अच्छी तरह जानते थे कि मालवीय जी द्वारा संचित किया हुआ सारा द्रव्य विश्वविद्यालय के निर्माण कार्यों में ही व्यय होने वाला है।

मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की समूची रूपरेखा नरेश के सम्मुख रखी। उस पर सम्भावित व्यय तथा समाज को होने वाला लाभ भी बताया तो नरेश मुग्ध हो गये और सोचने लगे इतने बड़े कार्य में एक सहस्र मुद्राओं से क्या होने वाला है, उन्होंने पूर्व लिखित राशि पर दो शून्य और बढ़ा दिये, साथ ही अपने कोषाध्यक्ष को एक लाख मुद्राएँ देने का आदेश प्रदान किया।

युग की पुकार

मालवीय जी चाहते थे कि हरिजन भाई हिन्दू धर्म के ही एक अंग बने रहें। यदि ब्राह्मणों के द्वारा उन्हें भी मन्त्र दीक्षा दी जा सके तो ये भी अपने को सहयोगी मानते रहेंगे और देश को स्वतन्त्र कराने में उनसे जो बन पड़ेगा उसे करने में पीछे न रहेंगे। इस आशय से उन्होंने देश के विभिन्न भागों से प्रकांड पण्डितों को आमन्त्रित किया।

ओरियन्टल महाविद्यालय के सभा भवन में सभा का आयोजन किया गया। कार्यवाही प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में ही मालवीय जी ने बड़े ही नम्र शब्दों में अपनी बात कही और उपस्थित विद्वानों से यह निवेदन किया कि इस समस्या को युग की पुकार समझकर अपने-अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

पं० प्रथमनाथ तर्क भूषण जैसे पण्डितों ने उनका समर्थन किया। वहाँ कितने ही कट्टर ब्राह्मणों ने उनके प्रयत्न को निन्दनीय ठहराया। एक सज्जन ने उनके प्रयास

की आलोचना करते हुए यहाँ तक विरोध प्रकट किया कि मालवीय जी को इन कार्यों से नरकगामी होना पड़ेगा।

इतना सुनकर मालवीय जी हँस पड़े उन्होंने कहा—“सज्जनों यदि हिन्दू धर्म के उत्थान और उसकी एकता बनाये रखने के लिये मुझे एक बार नहीं हजार बार नरक जाना पड़े फिर भी मैं वहाँ के कष्टों को भोगने के लिये सहर्ष तैयार हूँ। इस समय तो आपको हमारा समर्थन करना चाहिए।” अब उनकी आलोचना करने की किसी में हिम्मत न थी।

सरलता की प्रतिमूर्ति—

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

घटना उस समय की है जब प्रसिद्ध राष्ट्रीय समाचार पत्र ‘लीडर’ के सम्पादक थे श्री सी० वाई० चिंतामणि। वे पत्रकारिता के माध्यम से जन जागरण की मुहिम चलाने के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया करते थे। इस सिलसिले में उनसे मिलने के लिए कई राजनेता भी आया करते थे। चिंतामणि जी का स्वभाव था कि जब वे गम्भीर लेखन में व्यस्त रहते थे तो उस समय बीच में किसी का आना या बातचीत करना उन्हें बहुत अखरता था। उस दिन भी चिंतामणि जी लीडर का सम्पादकीय अग्रलेख लिख रहे थे और चपरासी को आदेश दे रहा था कि यह किसी को अन्दर न आने दे। चपरासी गेट पर बैठा—किसी भी आने वाले को चिंतामणि जी के आदेश से अवगत करा देता और उसे दरवाजे पर ही रोक देता।

कुछ ही देर बाद एक सादा कुरता और धोती पहने एक भद्र पुरुष वहाँ आये। गेट पर चपरासी ने संपादक के कक्ष में जाने से रोका तो भद्र पुरुष ने अपना विजिटिंग कार्ड उसके हाथ में थमा दिया और कहा—“इसे चिंतामणि जी को दे आओ और उनकी आज्ञा पूछ लो।”

चपरासी ने उस भद्र पुरुष को अपरिचय भरे भाव से देखा और कहा—“क्षमा करना साहब, साहब का हुक्म है कि मैं भी उनसे किसी के बारे में बात न करूँ”।

“अच्छा तो तुम यह कार्ड उनकी मेज पर रखकर ही आ जाना। वे जब कभी इसे देखेंगे तो मुझे बुला लेंगे। मुझे उनसे बहुत ही जरूरी बात करनी है।” भद्र पुरुष ने कहा।

चपरासी ने उस भद्र पुरुष को कई बार चिंतामणि जी के साथ देखा था और वह यह भी जानता था कि चिंतामणि जी से इनके अन्तरंग सम्बन्ध हैं। वह कार्ड ले जाकर उनकी टेबिल पर रख आया। चिंतामणि जी इतने तन्मय होकर लिख रहे थे कि उन्हें चपरासी के आने का आभास भी नहीं हुआ था।

जाड़े का मौसम था। बाहर बरामदे में कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। राजेन्द्र बाबू को सर्दी मालूम पड़ने लगी। उन्होंने देखा कि नीचे मुख्यद्वार पर कुछ कर्मचारी

सूखी लकड़ियाँ और पत्तियाँ जलाकर आग ताप रहे हैं। भद्र पुरुष उठे, नीचे उतरे और नौकरों के बीच बैठकर आग तापने लगे। यही नहीं, वे कर्मचारियों से जो भृत्य वर्ग के थे उन्हीं की बोली में, उनके गाँव, उनके परिवार और उनकी खेती के बारे में पूछने लगे। वे लोग भी उन्हें आत्मीय समझकर बड़े आनन्द से बातें करने लगे।

करीब घण्टा भर बीत गया। चिंतामणि जी का अग्रलेख समाप्त हुआ और उन्होंने कागजों पर झुका हुआ सिर उठाया तथा हाथ में पकड़ी हुई कलम एक ओर रखी तनाव दूर करने के लिए हाथों को कन्धों से पीछे ले जाकर जरा ताना ही था कि उनकी दृष्टि मेज पर पड़े हुए उस कार्ड पर गयी जिसे चपरासी रख गया था। उन्होंने तुरन्त चपरासी को बुलाया और पूछा—“इन साहब को कितनी देर ही गयी और उन्हें कहाँ बिठाया है?”

चपरासी ने सहज भाव से बताया—“करीब घण्टा भर हो गया उन्हें आये। कुछ देर तक तो थे मेरी बगल को बेंच पर बैठ रहे फिर बाद में जहाँ अलाव जल रहा है, वहाँ जाकर बैठ गये हैं।” यह सुनते ही चिंतामणि जी उठे और दौड़े हुये उस भद्रपुरुष के पास पहुँचे—“बाबूजी क्षमा करना। आपको कष्ट हुआ, चलिये।” और बाबूजी कहने लगे—“अरे! इसमें मुझे क्या कष्ट हुआ। यहाँ सर्दी थी, इसलिए मैं अलाव के पास चला गया और मेरा समय उन लोगों से बातें करते हुए बड़े आनन्द के साथ बीता। साथ ही मुझे उन लोगों से इस जिले के गाँवों के जन-जीवन की बहुत-सी नई बातें मालूम हुई।” इस प्रकार सरलता से उत्तर देने वाले भद्र पुरुष और बाबूजी थे डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जो स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने। जिस समय की बात है उस समय बाबूजी काँग्रेस अध्यक्ष थे और उन दिनों काँग्रेस अध्यक्ष की उतनी ही प्रतिष्ठा थी जितनी कि अँग्रेज गवर्नर की होती थी इतने ऊँचे पद पर रहते हुए भी बाबूजी को गर्व का भाव छू भी नहीं गया था।

कथ्य और तथ्य—भूल और आत्मविश्वास

विद्यालय में आज छात्रों का अच्छा खासा जमघट जमा हो रहा था। कई दिनों तक अवकाश रहने के बाद आज विद्यालय खुल रहा था। हफ्तों पूर्व परीक्षाएँ निबटी थीं और आज के दिन वे छात्र भी विद्यालय में उपस्थित थे जो कई-कई दिनों तक अनुपस्थित रहते थे। कारण था—आज परीक्षाफल घोषित होने वाला था। वर्ष भर की मेहनत और परिश्रम अथवा लापरवाही, आलस्य या उच्छृंखलता का प्रतिफल सुनने के लिए शायद सभी उत्सुक थे। पता नहीं दुर्भाग्यवश मेहनत और परिश्रम करने वाले छात्र भी इस परीक्षा में असफल हो जायें इसलिए मेहनती छात्रों की छाती भी धुक-धुक कर रही थी और जिन विद्यार्थियों को अपनी अतीत का पता था वे भी यह आशा दृष्टि लेकर इकट्ठे हुए थे कि शायद अकस्मात किस्मत साथ दे जाय।

इस प्रकार दोनों ही तरह के छात्र अधीरता लिए समय से पूर्व ही एक-एक कर इकट्ठे हो गये । समय हुआ-विद्यालय शुरू होने का घण्टा बजा । प्रार्थना के बाद सभी परीक्षाफल की लिस्ट लेकर कक्षाओं में पहुँचे ।

और कुछ क्षणों बाद ही अध्यापक भी परीक्षाफल की लिस्ट लेकर कक्षाओं में आ गये । परीक्षा परिणाम घोषित हुए तो अनिश्चितता का वातावरण तो छँट गया परन्तु किन्हीं चेहरों पर प्रसन्नता नाच उठी और किन्हीं पर निराशा व पश्चाताप ।

इसके बाबजूद भी एक कक्षा में विचित्र स्थिति उत्पन्न हुई । परीक्षाफल घोषित हो जाने के बाद एक छात्र ने उठकर पूछ ही लिया कि साहब मेरा नाम क्यों नहीं आया ?

छात्र के इस प्रश्न पर कक्षा में बैठे सभी विद्यार्थी खिलखिला कर हँस उठे । वे भी अपने चेहरे पर मुस्कान को जब्त नहीं कर सके, जो अपना नाम उत्तीर्ण छात्रों में न आने पर उदास हुए बैठे थे । अध्यापक ने कहा-“नाम नहीं आया तो स्पष्ट है कि तुम अनुत्तीर्ण हो गये हो ।”

“नहीं ऐसा नहीं हो सकता-” छात्र ने कहा ।

“ऐसा क्यों नहीं हो सकता”-शिक्षक ने सहृदयता के साथ कहा- ‘मैं जानता हूँ कि तुम परिश्रमी और अध्ययनशील छात्र हो । परन्तु इस वर्ष परीक्षा के पूर्व ही तुम्हारे स्वास्थ्य का बिगड़ना तुम्हारे परीक्षाफल के लिए घातक सिद्ध हुआ है ।’

“भले ही मेरा स्वास्थ्य खराब हो गया हो । परन्तु मैं मेहनत से पढ़ा हूँ और फेल नहीं हो सकता”-विद्यार्थी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा ।

अध्यापक समझे कि लड़का जिद कर रहा है, अतः उन्होंने जरा कठोर हो कर कहा-“बैठ जाओ ।”

“नहीं बैठूँगा । मेरे परीक्षाफल की पुनः जाँच होनी चाहिए ।”

शिक्षक महोदय को इस पर और भी गुस्सा आ गया । वे बोले-“बैठते हो या नहीं । अन्यथा तुम्हें दण्डित किया जायगा ।”

“भले ही दण्डित किया जाय । परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं फेल नहीं हुआ हूँ । रिजल्ट फिर से देखा जाना चाहिए । मैं पूरी मेहनत और ईमानदारी के साथ पूरे साल पढ़ा हूँ । परीक्षा का नक्शा मेरी आँखों के सामने है और मुझे अपने उत्तरों पर पूरा विश्वास है ।”

आचार्य ने पाँच रुपये जुर्माना कर दिया । फिर भी छात्र नहीं बैठा । निदान जुर्माना बढ़ाया गया-दस रुपये हो गया फिर भी विद्यार्थी की जिद जहाँ की तहाँ । जुर्माना पचास रुपये तब बढ़ गया लेकिन छात्र टस से मस नहीं हुआ । इस विवाद से पूरे विद्यालय में हंगामा मच गया ।

बात प्राचार्य तक पहुँची । उन्होंने सोचा कि क्यों अपनी जिद पर अड़े रहा जाय । सम्भव है कार्यालय में ही भूल हो गयी हो । अन्यथा इतने आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ कौन अपनी बात पर अड़ा रहेगा । फलतः

परीक्षाफल की पुनः जाँच की गयी और पता चला कि लिपिक की भूल से ही उस छात्र का नाम उत्तीर्ण छात्रों की लिस्ट में चढ़ने से रह गया है अन्यथा वह सबसे अधिक अंकों से उत्तीर्ण है । भूल सुधार में उस छात्र को उत्तीर्ण घोषित किया गया और विद्यार्थी के आत्मविश्वास को सराहा भी गया । यह छात्र थे भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद । मनोयोग और श्रमशीलता के बल पर अर्जित आत्मविश्वास की नींव पर खड़ा उनका व्यक्तित्व आगे भी महानता के मार्ग पर लोगों को इसी प्रकार प्रेरित करता रहा ।

पुरुषार्थ का प्रतीक-राजेन्द्र सेवा आश्रम

बिहार के सारण जिले में भैरवा एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन है, जहाँ से करीब दो मील की दूरी पर अनुग्रह नगर बसा हुआ है । यह स्थान जो १९ वर्ष पूर्व बिल्कुल उजाड़ और वीरान था और लोगों के लिए दिन में भी भय का कारण बना रहता था, वह आज राजेन्द्र सेवा आश्रम के कारण बहुचर्चित है और लोगों के लिए एक तीर्थ स्थान-सा बन गया है । कुछ सेवा के लिए निर्मित यह आश्रम अब विशाल भवनों में विकसित हो गया है और इसकी करीब ३० एकड़ जमीन पर कृषि और बागवानी का काम होता है । आश्रम की व्यवस्था २४ लोग सँभाल रहे हैं ।

सन् १९५३ में जब बाबा राघवदास की प्रेरणा और सलाह पर श्री जगदीश दीन इस जगह पर कुछ रोगियों की सेवा करने पहुँचे थे, तब तक यहाँ कोई आश्रम नहीं बना था । श्री जगदीश दीन ने अपनी सेवा-कामना और अर्जित अनुभवों के आधार पर यहाँ कुछ रोगियों के बीच दवा बाँटना शुरू किया । तब उनके पास आश्रम बनाने के लिये न तो पर्याप्त धन था और न ही इस चिकित्सा में उन्हें कोई विशेष प्रशिक्षण प्राप्त था । परन्तु लगन और सेवा भावना से उन्होंने यह काम उठाया था, इसलिए वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया चूँकि यह इलाका गरीब है और यहाँ पर कुछ रोगी अधिक पाये जाते हैं, इसलिए कुछ निवारण के लिए यहाँ एक चिकित्सालय की नितान्त आवश्यकता थी । श्री जगदीश दीन ने सभी गाँवों से चिकित्सालय के निर्माण के लिये धन एकत्रित किया । आज भी इसका व्यय स्थानीय आर्थिक सहायता से चल रहा है । सरकार से केवल ५० हजार रुपये वार्षिक अनुदान के रूप में प्राप्त होता है । गाँव पंचायतें समय-समय पर आश्रम की सहायता के लिए धन एकत्र करती हैं और अन्य कई तरह से सहयोग देती रहती हैं ।

आश्रम में ६ पक्की इमारतें हैं, जिनमें रोगियों के कमरे, उद्योगशाला, बालवाड़ी, प्रयोगशाला और अतिथि शाला शामिल हैं । कई कुछ रोगी यहाँ पर अपना इलाज करवा रहे हैं । चिकित्सालय में यद्यपि एक ही प्रमुख चिकित्सक है, लेकिन उनकी सहायता के लिये ३-४ अन्य डॉक्टर हैं, जो विभिन्न रोगों के विशेषज्ञ हैं और

अपना आधा समय रोगियों की चिकित्सा के लिये निःशुल्क देते हैं। स्त्री-पुरुष और बच्चों के लिये अलग-अलग कमरे हैं और एक बार्ड केवल उन रोगियों का है, जिनसे रोग की छूत का भय अधिक है। सप्ताह में तीन बार बाहरी रोगियों के लिए अस्पताल खुला रहता है और अनुमानतः ३०० बाहरी रोगियों को सप्ताह भर में इलाज मिलता है। आश्रम के १२ अन्य छोटे केन्द्र हैं जो विभिन्न गाँवों में कुछ रोगियों को दवा बाँटा करते हैं और इस प्रकार सुदूर गाँवों में बसे करीब १८ हजार रोगियों की भी इस आश्रम के द्वारा सेवा हो रही है। आश्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर रोगियों का इलाज दवा से कम और मन से अधिक होता है। कुछ रोगियों के मन से हीन भावना और घृणा से देखे जाने की लज्जा को खत्म करने के मनोवैज्ञानिक प्रयास किये जाते हैं एवं भविष्य में कुछ रोग को समाप्त करने की योजना भी बन रही है।

सन् १९५५ में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस आश्रम का शिलान्यास किया था, तभी से इसका नाम राजेन्द्र सेवा आश्रम पड़ा। इसके बाद सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण और डा० अनुग्रह नारायण इस आश्रम के विकास में प्रयत्नशील रहे। इस आश्रम में रोगी एवं स्वस्थ सबको ग्रामोद्योगों का प्रशिक्षण भी दिया जाता है ताकि वे प्रतिष्ठापूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर सकें।

आश्रम के कार्यकर्त्ताओं द्वारा कृषकों को कृषि उद्योग की उन्नति के लिए नवीनतम कृषि-विधियों की प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है। आश्रम का जीवन सांस्कृतिक आयोजनों से भी ओतप्रोत है, जिनमें रोगी और स्वस्थ सभी लोग सम्मिलित होते हैं और इस कारण आश्रम में आकर्षण और प्रसन्नता का वातावरण बना रहता है।

धन का सदुपयोग

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद एक बार कई राज्यों का दौरा करके राँची (बिहार) पहुँचे। वहाँ उनके पैर में दर्द होने लगा। पता चला कि उनके जूते के तले घिस गये हैं और उनमें उभरी कीलें उन्हें चुभती हैं।

राष्ट्रपति के शिविर से 'अहिंसक चर्मालय केन्द्र' दस मील था। उनके सचिव तुरन्त ही वहाँ से नया जोड़ा खरीद लाये। जूता पहनते हुए राजेन्द्र बाबू ने कीमत पूछी जवाब मिला—“उन्नीस रुपये”। राजेन्द्र बाबू विचार में पड़ गये। कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा—“पर गत वर्ष ऐसे जूते ग्यारह रुपये में लिये थे।” सचिव ने कहा—“जी हाँ, ग्यारह रुपये वाले भी वहाँ थे, पर वे इनसे कमजोर थे। यह जोड़ा अधिक मुलायम चमड़े का है।” राजेन्द्र बाबू को इस पर सन्तोष नहीं हुआ वे कहने लगे—“यदि ग्यारह रुपये वाले जोड़े से काम चलता हो तो उन्नीस रुपये क्यों खर्च किये जायें? और मेरे पैर तो कड़े जूते पहनने के अभ्यस्त हैं। अतः तुम ये लौटाकर ग्यारह रुपये वाला

जोड़ा ले आओ।” सचिव राष्ट्रपति के स्वभाव से परिचित थे, अतः वे जूते लौटाने को तैयार हो गये। इतने में राष्ट्रपति जी ने पूछा—“इतनी दूर कैसे जाओगे?” जी, मोटर में चला जाऊँगा।” सचिव ने कहा।” यह तो उचित नहीं। जितने रुपये तुम जूते खरीदने में बचाओगे, उतने पेट्रोल में चले जायेंगे। सो ये जूते अभी तो तुम यही रहने दो। हमें यहाँ तीन दिन रहना है। इस बीच उधर जाने वाले किसी आदमी द्वारा इन्हें बदलवा देंगे।” राजेन्द्र बाबू का उत्तर था।

बड़ा नाम ही नहीं बड़ा काम भी

भूकम्प-रिलीफ का काम उत्तर बिहार में देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद की देखरेख में बड़े जोरशोर से चल रहा था। कुछ लोग प्रोफेसर बलदेव नारायण जी के नेतृत्व में दरभंगा में काम कर रहे थे, उनमें एक डा० राम बहादुर सिंह भी थे। राजेन्द्र बाबू कार्य का निरीक्षण करने हेतु दरभंगा पहुँचे। वहाँ से लौटते समय साथ में डा० राम बहादुर सिंह को भी ले लिया। दोनों आदमी साथ ही साथ ट्रेन में बैठे। दिन के लगभग ३ बजे होंगे। गाड़ी धीरे-धीरे सरकती हुई सोनपुर स्टेशन पर आ पहुँची। बैसाख का महीना था, सूर्य मानो आग उगल रहा था। सारा संसार तप्त होकर जल रहा था। कहीं भी थोड़ा चैन नहीं। यात्रियों का प्यास के मारे गला सूख रहा था।

सोनपुर स्टेशन बड़ा स्टेशन पड़ता है। यहाँ ट्रेन को काफी लम्बे समय तक रुकना होता है। ज्यों ही ट्रेन रुकी—सबकी नजर बाहर की ओर थी। सब लोगों की एक आवाज थी—पानी पाँड़े पानी चाहिए, पानी पाँड़े पानी चाहिए। पर पानी पाँड़े का कहीं भी पता नहीं। नल में भी पानी नहीं था जिससे लोग अपनी प्यास बुझाते।

इसी बीच राजेन्द्र बाबू अपने डिब्बे से गायब। डा० राम बहादुर यह भी नहीं देख सके, कि कब वे वहाँ से चले गये। अपने समीप उन्हें न पाकर उन्होंने अनुमान लगाया कि कहीं पानी पीने चले गये हों। कुछ देर बाद क्या देखते हैं कि राजेन्द्र बाबू एक बाल्टी में पानी और दूसरे हाथ में लोटा लिये हुए यह आवाज लगा रहे हैं, “पानी पिओगे बाबू?” लोग उन्हें देख-देख कर ये कह रहे थे, “ऐ पानी पाँड़े हमें पानी पिलाओ।” जहाँ से भी आवाज आती वहाँ दौड़-दौड़ कर पानी पिला रहे थे। देशरत्न को आवश्यकता के समय केवल कार्य की चिन्ता थी, अपनी पद, प्रतिष्ठा और सम्मान का उन्हें तनिक भी ध्यान न था।

सादगी और सरलता

राजेन्द्र बाबू उन दिनों राष्ट्रपति तो नहीं पर देश के अग्रणी नेता अवश्य थे। उन्हें इलाहाबाद पं० नेहरू से मिलने जाना था। निश्चित ट्रेन पर उन्हें लेने के लिए कितने ही व्यक्ति पहुँचे, पर वे उन्हें असाधारण सादगी के कारण पहचान न सके। निदान वापस लौट आये।

राजेन्द्र बाबू इसके पर बैठकर आनन्द भवन पहुँचे । रात अधिक हो गयी थी । लोगों को जगाने की अपेक्षा उन्होंने यही उचित समझा कि दरवाजे के बाहर खुले फर्श पर सोया जाय सो, सो भी गये ।

रात्रि के अन्तिम पहर जब उन्हें दमे की खाँसी उभरी तो पं० नेहरू ने आवाज पहचानी और उतरकर नीचे आये । राजेन्द्र बाबू की इस सादगी और सज्जनता से उनकी आँखें भर आई ।

दायित्व का निर्वाह

परिवार के सारे उत्तरदायित्व अपने अग्रज श्री महेन्द्र प्रसाद पर छोड़कर राजेन्द्र प्रसाद देश सेवा में लग गये । वकालत छोड़ देने के कारण घर की आर्थिक स्थिति में तो अन्तर आया ही था कि अचानक बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया । अब तो और भी हालत बिगड़ी । परिवार की सारी व्यवस्था बड़े भाई ही किया करते थे, राजेन्द्र बाबू को इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी नहीं थी । परिवार ऋण ग्रस्त हो गया था कई महाजनों का । सब लोगों ने राजेन्द्र बाबू से तकाजा किया परन्तु घर में इतना पैसा था नहीं कि सभी कर्जदारों को निपटारा जा सके ।

बाबूजी ने फिर भी देश सेवा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम न आने दिया । ऋण उतारने के लिए उन्होंने तीन चौथाई संपत्ति बेच दी और कर्ज चुकाया । इस प्रकार उन्होंने धैर्यपूर्वक सारा ऋण अदा कर दिया । कोई और व्यक्ति होता तो उन परिस्थितियों में अपना सन्तुलन खो बैठता ।

आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति

काँग्रेस कार्यकारिणी के प्रधान सदस्य परेशान थे । वह रिपोर्ट नहीं मिल रही थी जिसके आधार पर महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित करने के लिए कार्यकारिणी की विशेष बैठक बुलाई गयी थी । स्वतन्त्रता आन्दोलन का समय था, जबकि हर कदम ठीक समय पर उठाना अत्यधिक आवश्यक था । बिना आधार के कार्य आगे कैसे बढ़े ।

अचानक ध्यान आया कि वह रिपोर्ट महात्मा गाँधी तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद पढ़ चुके हैं । राजेन्द्र बाबू वरिष्ठ नेताओं पं० नेहरू, आचार्य कृपलानी, मौलाना आजाद आदि के साथ चर्चा कर रहे थे । उनसे पूछा गया तो बोले 'हाँ मैं पढ़ चुका हूँ और आवश्यक हो तो उसे बोलकर पुनः नोट करा सकता हूँ ।'

लोगों को विश्वास न हुआ कि इतनी लम्बी रिपोर्ट एक बार पढ़ने के बाद ज्यों की त्यों लिखाई जा सकती है, किन्तु और कोई चारा न था । खोज के साथ-साथ पुनर्लेखन भी आरम्भ कर दिया गया ।

राजेन्द्र बाबू सौ से भी अधिक पृष्ठ लिखा चुके तब वह रिपोर्ट भी मिल गयी । कौतूहल वश लोगों ने मिलान

किया तो कहीं भी अन्तर न मिला । लोग आश्चर्यचकित रह गये । पंडित नेहरू ने प्रशंसा भरे स्वर में पूछा "ऐसा आला दिमाग कहाँ से पाया राजेन्द्र बाबू ? और देशरत्न की चिरपरिचित सौम्य मुस्कान से उत्तर मिला । "यह दिमाग दूध से बना है अण्डे से नहीं ।"

उदारता की मूर्ति

बात १९३७ की है । पटना जंक्शन पर गाड़ी रुकी । तीसरी दर्जे के डिब्बे में लगभग पैंतालीस-पचास साल का एक व्यक्ति सवार हुआ और उसका एक साथी भी । उसी डिब्बे में कॉलेज के पाँच-छह छात्र भी आ गये । जाड़े का मौसम था । उस व्यक्ति ने मोटा कम्बल ओढ़ रखा था । बेतरतीब सिर के बाल और घनी खिचड़ी मूँछों से वह भोजपुरी किसान प्रतीत होता था । छात्रगण उस व्यक्ति का मजाक उड़ाने लगे । इसी समय डिब्बे में टिकट चेकर आया । टिकट किसी छात्र के पास न था । इस पर टिकट चेकर छात्रों को भला-बुरा कहने लगा । अब उस व्यक्ति से न रहा गया । उसने टिकट चेकर से कहा-"आप बेकार इन बच्चों को भला-बुरा कह रहे हैं । अपना चार्ज ले लीजिये और आपको चाहिए ही क्या ?"

छात्रों की समझ में नहीं आ रहा था कि एक अजनबी व्यक्ति ने, जिसका उन्होंने मजाक उड़ाया था, ऐसा क्यों किया । गाड़ी अगले स्टेशन पर रुकी । सारा प्लेटफार्म 'देशरत्न की जय', 'राजेन्द्र बाबू की जय' के नारों से गूँज उठा । छात्रों को काटो तो खून नहीं । उन्हें अब पता चला कि वे राजेन्द्र बाबू हैं और दूसरे उनके सेक्रेटरी श्री मथुरा प्रसाद ।

स्वागत के लिए आये लोगों की ओर से हटकर राजेन्द्र बाबू छात्रों की ओर मुड़े और स्नेहपूर्वक एक-एक की पीठ थपथपाते हुए बोले "पेरेशानी की कोई बात नहीं । इस समय आपकी उम्र ही ऐसी है । उसका यही तकाजा है । जाइये, खुश रहिये, खूब पढ़िये और देश का काम कीजिये ।"

भारतीय परम्परा के आधुनिक ग्रहण-

डॉ० राधाकृष्णन्

सन् १९४७ में डॉ० राधाकृष्णन् ने भगवद्गीता पर एक अद्वितीय टीका लिखी । पुस्तक को प्रेस में देने से पूर्व उन्होंने यह निश्चय किया कि यह ग्रन्थ धर्म, अध्यात्म और राजनीति के संगम व्यक्तित्व वाले, महात्मा गाँधी को समर्पित की जाय । समर्पण के लिए उन्होंने गाँधी जी से अनुमति लेना भी आवश्यक समझा और पुस्तक लेकर पहुँचे उनके पास । महात्मा गाँधी ने भगवद्गीता पर लिखा गया ग्रन्थ देखे बिना ही कहा-मेरा विश्वास है कि आपने

कोई अयुक्त बात नहीं लिखी होगी। लेकिन इसके लिए अनुमति लेने आये हैं तो मैं चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान करें।

डॉक्टर साहब गाँधीजी के मुख से यह वचन सुनकर जरा संकोच में पड़ने लगे। ऐसा देखकर बापू ने कहा-देखिये। आप संकोच मत कीजिए। दरअसल इस समय मैं अर्जुन की भूमिका में हूँ और आप कृष्ण की तरह दिखाई दे रहे हैं। मेरी इन जिज्ञासाओं का समाधान आप ही कर सकते हैं।

किसी तरह डॉक्टर साहब गाँधीजी की जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए तैयार हुए और फिर दोनों में चर्चा चली। डॉक्टर साहब के उत्तरों से गाँधीजी संतुष्ट हुए और उन्होंने भगवद्गीता पर लिखा गया ग्रन्थ सहर्ष स्वीकार कर लिया। भगवद्गीता भाष्य से पूर्व भी उनकी अनेकों कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं। उन कृतियों ने केवल भारतीय बौद्धिक प्रतिभाओं को ही संतुष्ट नहीं किया वरन् विदेशों में भी भारतीय दर्शन का ऐसा डंका बजाया कि विदेशी विद्वान और दार्शनिक बुद्धिजीवी सभी हतप्रभ रह गये।

“उन्होंने भारतीय विचार भूमि पर खड़े होकर विश्व के सम्मुख भारतीय समतावाद को उद्घाटित किया। इस दृष्टि से उन्होंने न केवल दर्शन को एक नयी दिशा दी वरन् अशान्त विश्व को शान्ति का मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया”- एक विख्यात पत्रकार द्वारा कहे गये ये शब्द उनके कृतित्व की चिन्मय झँकी प्रस्तुत करते हैं। एक दार्शनिक के रूप में, एक अध्यापक के रूप में, एक स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में और एक राजनेता के रूप में वे इन महान विभूतियों में सिरमौर कहे जा सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द के बाद भारतीय दर्शन की कीर्ति पताका विश्व भर में फहराने वाला कोई व्यक्तित्व खोजा जाय तो अनायास ही दृष्टि डॉक्टर राधाकृष्णन् की ओर केन्द्रित हो जाती है।

मद्रास शहर से चालीस मील दूर तिरुंतरी गाँव है। उसी गाँव में उनके पूर्वज सर्वपल्लि से चलकर आये थे। चूँकि उनका पेशा पुरोहिताई था, सर्वपल्लि में इस पेशे से ठीक प्रकार निर्वाह नहीं हो पाता था इसलिए उनके पूर्वज आजीविका की खोज में तिरुपति की ओर चल दिये। तिरुपति से कुछ ही दूर इस गाँव में आकर वे ठहर गये इसी ब्राह्मण वंश में वीर स्वामी उच्चा पुरोहितबाई के साथ अध्यापक का कार्य करते थे। डॉ० राधाकृष्णन् ने उनके परिवार में पुत्र बनकर ५ सितम्बर, १८८८ ई० को जन्म लिया।

कहा जा चुका है कि डॉक्टर राधाकृष्णन् के पूर्वजों ने आजीविका की खोज में सर्वपल्लि से चलकर तिरुंतरी आये थे और वहीं बस गये थे। वहाँ उन्हें निर्वाहोपयोगी आवश्यक उपार्जन होने लगा। सन्तोषी ब्राह्मण परिवार ने

और अधिक की आकांक्षा ले कर दौड़ न लगाई, जो मिला उसी में सन्तोष कर लिया और इसी कारण उनका परिवार सम्पन्न और धनवान तो नहीं हो सका लेकिन अभावग्रस्त और सर्वथा निर्धन भी नहीं रहा।

बारह वर्ष की आयु तक वे अपने गाँव में ही रहे। धर्मशास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान पिता के सान्निध्य में रहकर अक्षर ज्ञान प्राप्त किया तथा शास्त्रों का अध्ययन भी। परिवार ने उन्हें भले ही कोई भौतिक सम्पदा न दी हो, परन्तु धर्म-निष्ठा, जिज्ञासा, ईश्वर अनुरक्ति तथा धर्मानुराग की जो भावनायें विरासत में दीं वे ही उन्हें एक सामान्य बालक से महान दार्शनिक और आदर्श राष्ट्रपति तक पहुँचा सकीं। श्री वीरस्वामी अपने पुत्र को आवश्यक शस्त्राभ्यास और अक्षरज्ञान प्राप्त कराने के बाद आगे की शिक्षा का प्रबन्ध करने लगे। उन्हीं दिनों श्री वीरस्वामी ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आये। मिशनरियों द्वारा चलाई जाने वाली पाठशालाओं और शिक्षालयों में प्रवेश दिलाना उन्होंने उपयुक्त समझा। इसका एक कारण यह भी था कि राधाकृष्णन् भारतीय धर्म शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ ईसाई धर्म और पाश्चात्य जीवन दर्शन का परिचय भी प्राप्त कर सकें।

वैल्लोर के वूरहीज कॉलेज में एफ० ए० की शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् मद्रास आये और वहाँ के क्रिश्चियन कॉलेज में भरती रहे। उन दिनों ईसाई शिक्षण संस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य था छात्रों के मन में हिन्दू धर्म तथा भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा-वितृष्णा उपजाना तथा ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगना था। राधाकृष्णन् के सामने भी ऐसी परिस्थितियाँ आई जब उनकी आस्थाओं पर चोट पहुँचती परन्तु उनका व्यक्तित्व उस पक्की मूर्ति के समान बन गया था जो कितनी ही औंधियाँ और कितनी ही तूफान आने पर निखरती है।

इन परिस्थितियों के साथ डॉक्टर राधाकृष्णन् को आर्थिक समस्याओं ने भी परेशान रखा। बाहर का निवास, शहर का खर्च और महँगी शिक्षा तथा परिवार की आर्थिक स्थिति में कहीं तालमेल नहीं बैठ रहा था परन्तु उन्होंने फूँक-फूँक कर कदम रखते हुए शिक्षा और ज्ञान साधना को भी एक पवित्र तपश्चर्या बना लिया। वो अपने से नीची कक्षाओं के छात्रों को द्यूशन पर पढ़ाते। उन्हीं दिनों मद्रास में स्वामी विवेकानन्द का आगमन हुआ। उनके प्रवचनों ने युवक राधाकृष्णन् को बड़ा प्रभावित किया और धर्म के प्रति उनकी निष्ठा, जिज्ञासा व विचार पूर्ण हो गये। स्वामी विवेकानन्द के प्रवचनों का प्रभाव स्वीकार करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है-“उनके अद्भुत साहस और अद्भुत वाग्मिता ने हिन्दू धर्म के प्रति मेरे उस अभिभाव को जाग्रत किया जिस पर ईसाई मिशनरियों द्वारा बार-बार आघात किया जा रहा था।”

स्वामी विवेकानन्द से ही प्रभावित होकर उन्होंने बी० ए० के बाद भी दर्शनशास्त्र ही लिया। एम० ए० में शोध

विषय के लिए उन्होंने वेदान्त को चुना और इस विषय पर उच्च कोटि का शोध निबन्ध लिख कर एम० ए० पास किया। जिस समय उन्होंने एम० ए० पास किया तब उनकी आयु मात्र २० वर्ष की थी। इस निबन्ध को देखकर उनके अध्यापक श्री ए० जी० हाग ने अलग से एक प्रमाण पत्र भी दिया था।

उसी वर्ष सन् १९०८ में उनकी नियुक्ति मद्रास प्रेसिडेन्सी कॉलेज में हो गयी। वे तर्कशास्त्र के अध्यापक (असि० प्रोफेसर) बनकर छात्रों को यह विषय पढ़ाने लगे। पढ़ाने के साथ-साथ पढ़ने का क्रम भी जारी रहा। उन्होंने अपनी एक मंजिल बना ली थी-विश्व में भारतीय तत्वदर्शन का परिचय देना। यह लक्ष्य उन्होंने उसी समय निर्धारित कर लिया था जब वे शैशव से किशोरवस्था को पार कर ही रहे थे। उस समय क्रिश्चियन मिशन के स्कूल कॉलेजों में हिन्दू धार्मिक धारणाओं तथा आस्थाओं पर आक्षेप तथा कुठाराघात किये जाते। सुनकर डॉक्टर राधाकृष्णन् का हृदय दहल उठता था। यथावस्था वे अध्यापकों द्वारा किये गये प्रश्नों के समुचित उत्तर भी देते, उन उत्तरों को सुनकर अध्यापकों के मुँह बन्द हो जाते। परन्तु इससे क्या असर पड़ना था। समूची मिशन व्यवस्था ही हिन्दू आस्थाओं की जड़ें खोदने के लिए विनिर्मित की गई थी। एक कॉलेज एक कक्षा में एक अकेले छात्र का प्रतिकार कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता था। लेकिन इस वातावरण ने डॉ० राधाकृष्णन् के हृदय में हिन्दू धर्म और भारतीय तत्वदर्शन के प्रति अटूट आस्थाएँ तो जाग्रत कर ही दीं और वे कृत संकल्प हो उठे-उन आस्थाओं को साकार रूप देने के लिए।

मद्रास प्रेसिडेन्सी कॉलेज से डॉ० राधाकृष्णन् ने ऐसी व्याख्यान शैली अपनायी कि कक्षाओं में आवाज कहे जाने वाले प्रायः अनुपस्थित रहने वाले छात्र भी नियत रूप से कक्षाओं में देखे जाने लगे। उनके व्याख्यान प्रभावोत्पादक वागधारा में तो बहते ही थे, शब्दों के यथोचित समन्वय श्रोताओं को विषय से सम्बन्धित अनेकानेक जानकारियाँ देते चलते। यह क्षमता समय, श्रम और साहस की थी और इसे अर्जित करने में युवा प्रोफेसर को धैर्यपूर्वक अनवरत अध्यवसाय करना पड़ा होगा।

डॉ० राधाकृष्णन् अपनी क्षमताओं के सम्बन्ध में आश्वस्त थे, उनके प्रति आत्मविश्वास भी पर्याप्त अर्जित कर चुके थे और उन क्षमताओं के विकास पर भी उनका पूरा-पूरा ध्यान था। क्षमताओं के अर्जनपूर्वक वे अपनी शक्तियों का यथावेष्टा लाभ अन्य औरों को उठाने देने के लिए भी कम सतर्क नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने अध्ययन के साथ-साथ लेखन कार्य भी आरम्भ किया। १९१८ और १९२० में क्रमशः उनकी दो कृतियाँ प्रकाशित हुईं दि फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा दि रीजन ऑफ रिलीजन इन कोरेस्पेंडेंसी फिलॉसफी। इन पुस्तकों के प्रकाशन ने डॉक्टर राधाकृष्णन् की प्रतिभा का परिचय दिया। पूर्वी तथा पश्चात्य दर्शन दोनों में उनकी गहरी

पैठ और गहन अध्ययन का निचोड़ इन पुस्तकों में उद्भूत हुआ। विदेशों में उनकी ये कृतियाँ काफी पसन्द की गयीं।

१९२६ ई० में हैदराबाद विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित विश्व दर्शनशास्त्र सम्मेलन में उन्हें आमंत्रित किया गया। वहाँ देश-विदेश के कई दार्शनिक उपस्थित थे। डॉ० राधाकृष्णन् के व्याख्यानों को सुनकर सब उनका लोहा मान गये। यही कारण था कि उन्हें शिकागो के हसकल कॉलेज में भाषण देने के लिए भी आमंत्रित किया गया। तब तक उनकी तीन चार कृतियाँ और प्रकाशित हुईं। इण्डियन फिलॉसफी तथा 'दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ' ने तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का व्यक्ति बना दिया था। 'दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ' १९२६ में ऑक्सफोर्ड के मेनचेस्टर कॉलेज में जीवन का हिन्दू दृष्टिकोण विषय पर दिये गये व्याख्यानों के लिए उन्हें विशेष आग्रहपूर्वक निमंत्रित किया था।

घोती और पगड़ी पहनने, अत्यन्त सादा वेश-भूषा और सरल रहन-सहन रखने वाले डॉ० राधाकृष्णन् जब मेनचेस्टर कॉलेज में व्याख्यान देने जाते तो अनायास ही स्वामी विवेकानन्द की विजय यात्रा का स्मरण हो जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि उस जमाने में विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त करना बड़े गौरव की बात मानी जाती थी। लेकिन डॉ० राधाकृष्णन् को ऐसा अवसर तो नहीं मिला। फिर भी उन्हें विदेशों में जाकर पढ़ाने का ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, जिसके लिए वहाँ के बुद्धिजीवी और प्राध्यापक विद्वान सभी नतमस्तक हो उठे। व्याख्यानमाला में उनके व्याख्यानों को सुनकर प्रख्यात पत्रकार डॉ० जैम्स ने अपने पत्र दि हर्बट जर्नल में लिखा था "भारत से बाहर हमारे विद्यालय में सर्वप्रथम व्याख्यान देकर आपने हमारा गौरव बढ़ाया है।"

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भी उनके व्याख्यान हुए। वहाँ के प्रतिपादनों को सुनकर बुद्धिजीवियों ने एक मत से यह स्वीकार किया था कि "प्रो० राधाकृष्णन् का ज्ञान अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है। भारतीय और पश्चिमी दोनों दर्शनों के वे महापण्डित हैं। राधाकृष्णन् हिन्दू धर्म के सर्वसमर्थक प्रसिद्ध विद्वान हैं। हम लोगों को हिन्दू धर्म के विषय में उनसे ज्यादा अच्छे ढंग से अन्य कोई और नहीं बता सकता।" इन्हीं दिनों डॉ० राधाकृष्णन् ऑक्सफोर्ड के मेनेचेस्टर कॉलेज में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का विभागाध्यक्ष बनाने के लिए भी पेशकश की गयी। अमेरिका के तथा ब्रिटेन के विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देने के साथ डॉ० राधाकृष्णन् चर्च और गिरजाघरों में भी बुलाये जाते। ये वहाँ जाते और धर्म तथा अध्यात्म के गहन आधारभूत तथ्यों का उद्घाटन करते। जर्मनी के कई विश्वविद्यालयों में भी उनकी व्याख्यान मालाएँ चलीं और विदेशों में भारत का एक नया गौरव मण्डित स्वरूप उजागर हुआ।

१९१८ तक वे विभिन्न विश्वविद्यालयों में उच्च पदों पर आसीन रहे। इस बीच उन्हें व्याख्याओं के लिए विदेशों से निमंत्रण मिलते रहते थे। सन् १९१३ से १९३५ तक वे आन्ध्र विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। १९३१ में ही वे इण्टर नेशनल इण्टेलेक्चुअल कोऑपरेशन कमेटी' अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग समिति के सदस्य बने। यह समिति सट्ट संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिक सहयोग की स्थापना के लिए गठित की थी। इस समिति के सदस्य रहते हुए उनका परिचय कई विदेशी प्रतिभाओं से हुआ। प्रायः सभी लोग उनकी वाग्मिता और सहृदयता से प्रभावित होते थे।

वस्तुतः व्यवहार क्षेत्र में वाक-कौशल का ही प्रभाव नहीं होता वरन् प्रभाव तो उत्पन्न करती है व्यक्ति के हृदय में अपने उद्देश्यों के लिए कसक। डा० राधाकृष्णन् का एकमात्र उद्देश्य था सन्तत मानवता को शान्ति की शीतलता प्रदान करना। इस उद्देश्य के लिए उनके हृदय में निरन्तर एक टीस-सी उठा करती थी। इस टीस का प्रभाव कहना चाहिए कि लौह हृदय स्टालिन-हजारों खून जिसकी आँखों के सामने हो चुके थे-भी जब डा० राधाकृष्णन् को रूस के राजदूत के रूप में विदा करने लगे तो उनकी भी आँखें नम हो उठीं।

वे १९४९ से १९५२ तक रूस में भारत के राजदूत रहे थे। इससे पूर्व वे बनारस विश्वविद्यालय के मानद कुलपति तथा भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष पदों को सुशोभित कर चुके थे। पीड़ित मानवता के प्रति वे इतने दुःखित थे कि उस भावना ने उन्हें सर्वथा निर्भीक और स्पष्टवादी बना दिया था। यहाँ तक कि रूस के जनजीवन के सम्बन्ध में कई तथ्य बड़ी निर्भीकता के साथ रखे और अपनी सद्भावनायें भी प्रकट कीं। जिस समय राधाकृष्णन् रूस से विदा होने लगे तो स्टालिन से उनकी अन्तिम मुलाकात का जिक्र करते हुए प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि 'स्टालिन की आँखें सूजी हुईं और लाल थीं। राधाकृष्णन् ने स्टालिन के गालों पर हाथ फेरा और उनकी पीठ को धपथपाया। स्टालिन ने कहा-“आप पहले व्यक्ति हैं जिसने मुझे मनुष्य समझकर व्यवहार किया। आप हम सबको छोड़ कर जा रहे हैं-इसका मुझे भारी दुःख है।” यह कहते स्टालिन की आँखें सजल हो उठी थीं।

१९५२ में भारतीय संविधान के अधीन वयस्क मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ। इसी वर्ष डा० राधाकृष्णन् निर्विरोध उपराष्ट्रपति चुने गये तथा बाबू राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति। पाँच वर्ष बाद वे पुनः उपराष्ट्रपति चुने गये। १९६२ में बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने रुग्णावस्था के कारण राष्ट्रपति पद से अवकाश ले लिया और उनके स्थान पर डा० राधाकृष्णन् राष्ट्रपति बने। यद्यपि इससे पूर्व ही वे राष्ट्रपति का सारा काम-काज सम्भालने लगे थे। डा० राजेन्द्र प्रसाद १९५६ में ही भयंकर रूप से बीमार हो गये थे। उनकी अक्षमता की दशा में सारा काम-काज डा० राधाकृष्णन् ही चलाते, यद्यपि वे रहे पुराने स्थान पर ही।

१९६२ में राष्ट्रपति होते ही देश पर चीनी आक्रमण हुआ। इस समय डा० राधाकृष्णन् को एक अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ा। इस अग्नि परीक्षा से गुजरने के बाद उन्होंने अफगानिस्तान, ईरान, अमेरिका, इंग्लैण्ड, सोवियत संघ और आयरलैण्ड की यात्रायें कीं और वे यात्रायें पर्याप्त सफल रहीं। डा० राधाकृष्णन् का राष्ट्रपतित्व काल निःसन्देह रूप से अनेक चुनौतियों से घिरा हुआ था। चीनी आक्रमण, लज्जा जनक पराजय, जनता पर सरकार का क्षीण होता प्रभाव, शासन तंत्र की फूट देश के विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ते उत्पात आदि कई समस्यायें खड़ी हुईं लेकिन डा० राधाकृष्णन् ने बड़े धैर्यपूर्वक उन समस्याओं से उभरने के भरसक प्रयत्न किये।

१९६७ में डा० राधाकृष्णन् ने पुनः राष्ट्रपति के लिए खड़े होने से इन्कार कर दिया। वे भारतीय राजनीति और व्यवस्था से क्षुब्ध हो उठे थे। उनकी यह व्यथा २५ फरवरी, १९६७ को गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में व्यक्त हुयी। उन्होंने आशा व्यक्त की कि-“वर्तमान संकट का सामना करने के लिए पूर्ण अन्तिम परिवर्तन अनिवार्य है। हमें आवश्यकता है ऐसे नैतिक जागरण की जिससे अधिक से अधिक लोगों का सहयोग हम प्राप्त कर सकें।”

भारतीय राजनीति से संन्यास लेने के बाद वे अपने घर मद्रास ही रहने लगे। जीवन के अन्तिम दिनों में उनका हृदय देश में घटने वाली घटनाओं के बारे में सुन कर रो उठा था। १७ अप्रैल, १९७५ को पक्षाघात से उनका देहान्त हो गया। वे भले ही न रहे हों परन्तु मानवता के लिए उनकी सेवारें भारतीय संस्कृति का तुमुल घोष और उनका चिन्तन साहित्य उन्हें अमर बनाये रहने में समर्थ है।

हिन्दू-धर्म किसी अन्य धर्म का अपमान नहीं करता

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जब एक छोटे ईसाई स्कूल में पढ़ते थे तभी से हिन्दू धर्म के प्रति ईसाई अध्यापकों के द्वेष पूर्ण उद्गारों को सुनते आये थे। स्कूल में लड़कों को 'बाइबिल' तो पढ़ाई ही जाती थी पर बात-बात में हिन्दू धर्म की हैसी उड़ाना भी ईसाई पादरियों का नित्यकर्म बन गया था। बालक राधाकृष्णन् को यह बुरा तो लगता था पर धर्म के रहस्यों से अनजान होने के कारण वे अधिक बोल नहीं सकते थे। फिर भी इन बातों से उनका मन धर्म के स्वरूप की तरफ आकर्षित हो गया और वे इस विषय की पुस्तकों को पढ़कर उन पर विचार करने लगे। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ीं और उनसे उनको निश्चय हो गया कि हिन्दू धर्म ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिक सारयुक्त और उपयुक्त है। अब वे ईसाई पादरियों की बातें चुपचाप न सुन लेते थे, वरन् कभी-कभी अपना असन्तोष भी प्रकट कर देते थे, वे ईसाई धर्म की निन्दा

नहीं करते थे, वरन् पादरियों की दोषदर्शी मनोवृत्ति की ही आलोचना करते थे। जब कोई पादरी उनके सामने हिन्दू धर्म की निन्दा करता तो वे कहने लगते-

“पादरी महोदय। आपका धर्म दूसरे धर्मों की निन्दा करना ही सिखाता है क्या?”

पादरी उत्तर देते-“और हिन्दू धर्म? क्या दूसरों की प्रशंसा करता है?”

“हाँ, वह कभी दूसरों के धर्म को बुरा नहीं कहता। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने यही कहा है कि किसी भी देव की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है और मैं उसका प्रतिफल देता हूँ। ये विभिन्न मजहब और सम्प्रदाय उन अनेक रास्तों की तरह हैं जो विभिन्न दिशाओं से आकर एक ही केन्द्र पर मिल जाते हैं। इनमें से किसी को सच्चा और अन्यो को झूठा कहना उचित नहीं।”

जब कभी कोई पादरी हिन्दू रीति-रिवाजों की आलोचना करता तो वे कहते-

“पादरी साहब। हो सकता है आप हमारे इन रीति-रिवाजों का महत्व न समझें, किन्तु चिरकाल से चली आ रही इन्हीं प्रथाओं ने हमारे विश्वास और श्रद्धा को स्थिर रखा है, जो धर्म का मूल है। मेरे देश का एक साधारण किसान भी, जो इन्हीं विश्वासों के साथ अपना जीवनयापन करता है, आज के विज्ञान की चकाचौंध से पागल बने किसी भी पाश्चात्य देश के अपने को ज्ञान सम्पन्न कहने वाले व्यक्ति से अधिक धार्मिक है। अधिकचरे विज्ञान ने तो आज करोड़ों पाश्चात्यजनों की श्रद्धा को ऐसा निर्बल बना दिया है कि वे किसी भी धर्म के विश्वासी और अनुयायी नहीं रह पाते। इस प्रकार धर्म बल से रहित व्यक्ति क्या कभी सच्चा सुख पा सकता है? आप निश्चय समझ लें कि भारतवर्ष के जिन तपस्वियों और आचार्यों ने संसार को ऐसी महान संस्कृति दी और उसका लाभ बिना धर्म और सम्प्रदाय के भेद-भाव के मानव मात्र को पहुँचाया उनको कभी धर्म शून्य नहीं कहा जा सकता?”

एक दिन आया जब इसी नवयुवक का लिखा ‘भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास’ योरोप और अमरीका में प्रसिद्ध हो गया और ऑक्सफोर्ड (इंग्लैण्ड) संसार प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ने इनको बुलाकर अपने यहाँ दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बनाया। वहाँ पर उनको बड़े-बड़े पादरियों द्वारा गिरजाघरों में भाषण करने बुलाया जाता। उस समय भी वे सब धर्मों की अच्छाइयाँ दिखाते हुए अन्त में डंके की चोट पर यही कहते-“यद्यपि हमारे देश में अनेक अन्धविश्वास हैं और उन्होंने बहुत अहित भी किया है, तो भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि हमारे सामान्य देशवासियों में सच्ची धार्मिकता पाई जाती है।”

संवेदना-सहानुभूति की प्रतिमूर्ति

राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जब रूस में भारतीय राजदूत होकर मास्को में रहते थे, तब एक बार उन्होंने स्टालिन से कहा-“भारत के महान सम्राट संग्राम में विजय पाकर भिभु बन गये थे। कौन जाने शायद आप भी उसी प्रशस्त मार्ग पर चल पड़ें।”

स्टालिन ने उत्तर दिया था-“हाँ कई बार चमत्कारी घटनाएँ भी हो जाती हैं। ऐसा चमत्कार भी सम्भव तो है ही।”

रूस से विदा लेते हुए डा० राधाकृष्णन् जब स्टालिन से मिलने गये, तो विदा लेते हुए स्टालिन के सिर पर हाथ रखा, तो स्टालिन ने भीगी आँखों से विदा देते हुए कहा-“आप प्रथम व्यक्ति हैं, जो मुझे मानव-सा व्यवहार करते हैं, शेष सब राजदूत तो मुझे दैत्य मानकर दूर रहते हैं। मुझे अब अधिक दिन नहीं जीना, ईश्वर आपको चिरायु करे।” इस सम्वाद के छह महीने बाद स्टालिन ने शरीर छोड़ दिया।

जिन्होंने हर क्षेत्र में अनुठा काम किया— राजाजी

राजाजी उन दिनों केन्द्रीय सरकार में गृह मन्त्री थे। एक दिन उनके कोई परिचित के साथ प्रसिद्ध जैन विद्वान् पं० गोविन्द राम शास्त्री आये। शास्त्री जी ने महान सन्त तिरुवल्लुवर की एक रचना का हिन्दी में पद्यानुवाद किया था। मूल ग्रन्थ तमिल में था। अनुवाद कहीं मूल ग्रन्थ से अलग तो नहीं जा रहा है। इस बात को परखने के लिए शास्त्री जी उनके पास आये थे। राजाजी उस समय काफी व्यस्त थे इसलिये दस मिनट का समय ही मिला। इस दौरान शास्त्री जी से कुछ अंशों का सस्वर पाठ करने के लिए कहा गया। पाठ शुरू हुआ तो वे विभोर होकर सुनने लगे। दस मिनट कब हुए कुछ पता ही नहीं चला, फिर बीस-तीस, लगभग एक घण्टा हो गया। राजाजी इतने भाव-विभोर हो गये कि उन्हें समय का ध्यान न रहा। ध्यान तो तब आया जबकि शास्त्री जी ने ही कुछ सोचकर पाठ रोका। अध्यात्म और भक्ति भाव में इस प्रकार डूब जाने वाले, स्वयं को और समय को भी भूल जाने वाले राजाजी अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इतने जागरूक तथा सावधान रहे हैं कि उन्होंने परिस्थितियों का अध्ययन कर समय से पहले ही जो बातें कही थीं वस्तुतः सत्य सिद्ध हुईं। यह उनकी दूरदर्शी बुद्धि और चिन्तनशील मस्तिष्क की प्रदत्त विशेषता थी।

महात्मा गाँधी और अन्य नेता जब देश-विभाजन न होने देने के लिये बड़ी-बड़ी बातें कर रहे थे तब राजाजी ने तत्कालीन परिस्थितियों और राजनेताओं की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर कहा था कि चाहे जो हो जाये पाकिस्तान बनने की सम्भावना को समाप्त करना किसी के

बस की बात नहीं है। उस समय कई लोगों ने राजा जी की बात का मजाक उड़ाया था। परन्तु उस समय सब आश्चर्यचकित रह गये जब पाकिस्तान बनने, पंजाब और बंगाल का विभाजन होने की योजना दोनों पक्षों ने स्वीकार कर ली और उसे मूर्त रूप देने का भी निश्चय कर लिया। देश की और नेताओं की चल रही गतिविधियों के दुष्परिणामों से उन्होंने कई बार अवगत कराया। भारतीय जब हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा लगा रहे थे और एक-दूसरे के गले में हाथ डाले शान्ति, मैत्री का रेतीला वायदा कर रहे थे तो राजाजी ने इस दोस्ती को बहुत थोड़े समय तक कायम रहने वाली और अन्त में शत्रुता में बदल जाने वाली कहा था। उस समय भी उनकी बातों को उपहासास्पद कहा गया। परन्तु सच वे ही निकलीं।

अपनी प्रतिभा और बौद्धिक क्षमता से देश और समाज को समय-समय पर सावधान करते रहने वाले चक्रवर्ती राज गोपालाचारी का जन्म तमिलनाडु के एक ग्रामीण मुंसिफ परिवार में ८ दिसम्बर, १८७७ ई० को हुआ। अपनी योग्यता, लगन, कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बल पर वे निरन्तर आगे बढ़ते गये और भारत के अन्तिम तथा सर्वप्रथम गवर्नर जनरल बने। भारत सरकार से मतभेद होते हुए भी उन्हें स्वतन्त्र देश के सर्वोच्च अलंकरण भारत रत्न से सम्मानित किया गया।

जन्म से ही वे काफी कमजोर थे, दुबले-पतले और कमजोर-बीमार राजगोपाल के सम्बन्ध में उनकी माता ने आशंका प्रकट की कि यह थोड़े बहुत समय तक भी जीवित रहेगा या नहीं। पिता ने उस समय विश्वास व्यक्त किया था कि राज गोपाल थोड़े बहुत समय तक नहीं पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहेगा और वह भी साधारण मनुष्यों की तरह नहीं महामानव और प्रतिभावान विभूतियों की तरह। उनका यह विश्वास कुछ अन्तर से एकदम सही निकला। वे महामानव तो बने ही जीये भी अपने पिता के विश्वास से कुछ ही कम वर्षों तक। यदि उन्हें प्राणलेवा श्वास रोग नहीं होता तो पूरे सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक आयु तक जीवित रहते। फिर भी इस खतरनाक बीमारी का बोझ उठाते हुए ९५ वर्ष देख लिये जबकि भारत का औसत आदमी मुश्किल से ६०-७० साल तक जीता है।

इस जीवन शक्ति का समूचा श्रेय उनके आहार-विहार, श्रम, उत्साह, सेवा-निष्ठा और निस्पृहता को ही दिया जाना चाहिए। दीर्घ जीवन का मुख्य आधार ये सद्गुण ही तो हैं और राजाजी ने तो बचपन से ही अपना जीवन इस प्रकार साधा था कि जिसके बल पर आर्यऋषि तो मृत्यु को भी जीत चुके थे। राजाजी भारतीय संस्कृति और जीवन-पद्धति के कट्टर अनुयायी थे। खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन, वेषभूषा सभी इस देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप था। हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार यशपाल जैन ने उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है—“उन्हें देखकर भारत के प्राचीन ऋषि मुनियों की स्मृति हो जाती है। धोती-

कुर्ता पहने, सरल और सौम्य व्यक्तित्व के धनी, चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान लिये राजा जी जब भी किसी से मिलते तो उनके सन्त और साधु स्वभाव के सम्मुख हर किसी को नत-मस्तक हो जाना पड़ता था।”

सांस्कृतिक परम्पराओं का निष्ठापूर्वक अनुसरण करते हुए भी वे कभी अन्धानुयायी नहीं बने। परिस्थिति दोष से अविवेकजन्य परम्पराओं और कुरीतियों का उन्होंने डटकर मुकाबला किया। संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा और श्रद्धा एकदम परिष्कृत थी। भारतीय समाज की बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने कभी संस्कृति के नाम पर समर्थन नहीं किया, जिन्हें तत्कालीन और अर्वाचीन रूढ़िवादी लोग भी धर्मसम्मत मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन एक समाज सुधारक के रूप में आरम्भ किया। जब महात्मा गाँधी अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। दुनिया में गाँधीजी को जानने वालों की संख्या भी अधिक नहीं थी। तब तो भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उनका पदार्पण भी नहीं था। उस समय उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सन्धिकाल में राजाजी ने वर्ण और जातिभेद के विरुद्ध आवाज उठायी। भगवान को किसी की सम्पत्ति और अपना व्यक्तिगत अधिकार समझने वाले कट्टरपन्थी लोगों को उन परम्पराओं के दुष्परिणामों से सावधान किया जिसे वे धर्म का आधार बनाकर गले से चिपटाये हुए थे। राजाजी ने सर्वप्रथम हरिजनोद्धार के लिए योजनाबद्ध प्रयास किये और जातिवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया और हरिजनों के मन्दिर प्रवेश की माँग उठायी।

इसके कारण उन्हें पुरातनपन्थी ब्राह्मणों और सवर्ण हिन्दुओं का कोपभाजन भी बनना पड़ा। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि सन् १९१४ में जब उनके पिता का देहान्त हुआ तो कोई भी कर्मकाण्डी ब्राह्मण उनका मरणोत्तर संस्कार करवाने के लिए तैयार नहीं हुआ। इस हालत में भी वे अपने मार्ग से नहीं हटे।

अपने विचारों और विश्वासों में आस्था और निष्ठा तो उनके स्वभाव का अविच्छिन्न अंग बन गया था। दूसरों की कही हुई बातों भी जब उनकी समझ में आ जाती तो वे दृढ़तापूर्वक उसे भी क्रियान्वित कर डालते। हरिजनोद्धार का कार्यक्रम और आन्दोलन भी उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण सुनकर चलाया था। जो स्वामी जी ने उस कॉलेज में दिया था जिसमें कि राजाजी पढ़ते थे। हिन्दू समाज की बुराइयों के सम्बन्ध में बताते हुए स्वामी जी ने उन्हें दूर करने की आवश्यकता बताई थी और कानून के विद्यार्थी राज गोपालाचारी इस अन्धे सामाजिक कानून के क्षेत्र में कूद पड़े। हरिजनोद्धार के लिए तो उन्होंने सदैव ही प्रयत्न किया और रूढ़िवादीजनों के विरोध के बावजूद भी अपने प्रयासों में किसी प्रकार शिथिलता न आने दी। सन् १९०८ में जब वे मद्रास प्रान्त के मुख्यमन्त्री बने तो सबसे पहले उन्होंने हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का वैधानिक अधिकार दिलवाया।

शराब के विरुद्ध भी सर्वप्रथम उन्होंने ही आन्दोलन छेड़ा। उनके नशाबन्दी के विचारों से गाँधीजी ने भी प्रेरणा प्राप्त की थी और इसे एक राष्ट्रीय आवश्यकता मानकर जोरदार आन्दोलन चलाया। राजाजी ने उस समय जबकि वे मद्रास के मुख्यमंत्री थे शराबबन्दी का कानून बनवाया था। मद्यपान के वे आजीवन कट्टर विरोधी रहे और इस प्रश्न पर अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति का भी विरोध किया। जब मद्रास की करुणानिधि सरकार ने शराबबन्दी तोड़ी तो वे बहुत क्रोधित हो उठे थे और इसी प्रश्न पर उन्होंने करुणानिधि सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया था।

स्कूल जीवन में वे ही उस समय चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर राजनीति के क्षेत्र में आये। उस समय वे सबसे अधिक प्रभावित थे लोकमान्य तिलक से। उनके भाषणों तथा विचारों को सुन-पढ़कर राजाजी ने अनुभव किया कि स्वतन्त्रता भारतीय समाज की प्रथम आवश्यकता है। वे अपने स्वभाव के अनुरूप ही राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। १९२० में जब भारत के राजनीतिक आकाश में गाँधीजी का उदय हुआ तो राजाजी भी उनके साथ हो गये। गाँधीजी के साथ होने से पूर्व उन्होंने काफी समय तक गाँधीजी के कार्यों और सिद्धान्तों का अध्ययन किया। देश के लिए लाभदायक समझकर वे गाँधीजी के निष्ठावान समर्थक बन गये और सारे दक्षिण भारत में काँग्रेस का संगठन कर डाला।

गाँधीजी भी राजाजी को अपने सबसे अधिक योग्य अनुयायियों में से एक समझते थे। उन पर गाँधीजी को इतना विश्वास था कि वे हर प्रश्न पर कोई भी विचार या राय उनसे पूछकर ही दिया करते थे। यहाँ तक कि कलकत्ता-काँग्रेस अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव भी मात्र राजाजी के समर्थन सहयोग के कारण रखा। इस विश्वास का कारण था उनकी बौद्धिक कुशाग्रता। सर्वसाधारण और आम-कार्यकर्त्ता को भी राजाजी के बुद्धि कौशल पर इतना विश्वास था कि उस समय मतदान के वक्त, प्रस्ताव के समर्थन में राजाजी सहमत हैं यह जानकर ही अपना वोट दे दिया था। अन्यथा कलकत्ता काँग्रेस में असहयोग प्रस्ताव का विरोध तो चित्तरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू जैसे नेताजी तक ने किया था।

राजाजी काँग्रेस संगठन तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे। सरकार का कोषभाजन भी बनना पड़ा परन्तु वे तो आरम्भ से ही निर्भयता के उपासक थे। उन्होंने सदा ही सत्य और औचित्य का समर्थन किया। जो सच था उसे बिना लाग लपेट कह दिया। जो उचित लगा वह तुरन्त कर डाला। यहाँ तक उन्होंने अपने आराध्य और श्रद्धेय गाँधीजी तक की चिन्ता नहीं की। उनके प्रति राजाजी के हृदय में असीम अनुराग और अगाध श्रद्धा थी परन्तु किसी प्रश्न पर मतभेद हुआ तो उसे निर्भय होकर स्पष्ट कहने में कभी संकोच नहीं किया। इस बात की उन्होंने कतई चिन्ता नहीं की कि कही हुई बात की क्या प्रतिक्रिया होगी। राजनीति जैसे टेढ़े-मेढ़े क्षेत्र में इतना

स्पष्टवादी और खरा आदमी कोई नहीं हुआ, जिसने खुलकर अपना मतभेद व्यक्त किया हो और अपने नेता तथा अगुओं की भी आलोचना की हो। गाँधीजी के बाद तो राजाजी को अपने इसी स्वभाव के कारण काँग्रेस छोड़ देनी पड़ी कि वे अनौचित्य को कभी देख और सह नहीं सकते थे। उनके विरोध में हुंकार कर उठ खड़े होते थे।

अनौचित्य का विरोध करने में वे कभी पीछे नहीं हटे तो औचित्य का समर्थन करने में कभी पीछे नहीं रहे। इस शताब्दी के तीसरे दशक में काँग्रेस में दो विचारों ने जन्म लिया। एक पक्ष चाहता था कि काँग्रेस को चुनाव लड़ना चाहिए और दूसरा दल चाहता था कि असहयोग जारी रखा जाय। पहले पक्ष के समर्थक थे मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजन दास और सत्यमूर्ति जैसे प्रतिष्ठित नेता और दूसरे पक्ष में अकेले प्रवक्ता थे राजा जी। १९३८ के काँग्रेस अधिवेशन में पहला पक्ष विजयी हुआ और चुनाव लड़ने का फैसला किया गया। अब अनुशासन का प्रश्न उठा खड़ा हुआ। बहुमत से निर्णय हो जाने पर उसे क्रियान्वित तो करना ही था। औचित्य का तकाजा था किसी भी प्रकार दल में फूट न पड़ने दी जाय और उसके लिए अपने मतभेद को भुलाकर अनुशासन का पालन किया जाये। राजाजी ने अपना हठ छोड़ दिया और काँग्रेस के चुनाव लड़ने के निर्णय का खुलकर समर्थन किया।

अनुशासन-दलीय हित में हो या सामाजिक, हर दृष्टि से अनिवार्य है। राजाजी ने इस अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए स्वयं भी चुनाव लड़ा और उसी वर्ष मद्रास के मुख्यमंत्री भी बन गये। उस समय जब वे कुशल प्रशासक के रूप में देश भर में विख्यात हो रहे थे तो काँग्रेस ने सभी पदों के त्याग का अभियान छेड़ा और सर्वप्रथम इस्तीफा देने वालों में से थे राजाजी। अनुशासननिष्ठा ने उन्हें सदैव निस्पृह बनाये रखा। उन्होंने प्रशासन व्यवस्था के कई उच्च पदों पर रहकर काम किया और जब उन्हें छोड़ा तो इतनी निश्चिन्तता के साथ कि उसके तुरन्त बाद-“यह व्यक्ति अमुक पद पर था”-कहना मुश्किल हो गया।

१९३८ में वे मद्रास के मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देकर उसी सहजता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। १९४७ में वे स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने और १९५० में यह पद छोड़कर वापस अपने घर मद्रास चले आये। मद्रास आये अभी उन्हें अधिक समय नहीं हुआ था कि उन्हें पं० बंगाल का राज्यपाल बनाकर भेज दिया गया फिर गृहमंत्री बने। नये संविधान के अन्तर्गत चुनाव हुए तो उन्हें मद्रास का मुख्यमंत्री बनाया गया। इतने सारे महत्वपूर्ण पदों पर काम करने के बाद भी उन्हें कुर्सी का मोह कभी नहीं रहा।

राजनीति में इतने व्यस्त होते हुए भी उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उनका साहित्यकार। राजनीति में भाग लेने के साथ-साथ उन्होंने साहित्य को भी दिशा दी। वे अँग्रेजी और तमिल भाषा के

वे सिद्धहस्त लेखक थे। रामायण और महाभारत पर लिखे उनके चक्रवर्ती तिरुमगन (रामायण) तथा व्यासर विरन्दु (महाभारत) भारतीय भाषा साहित्य की अनमोल निधियाँ मानी जाती हैं। इन कृतियों का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ, जिनका सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया। हिन्दी में राजाजी की कृतियाँ दशरथ नन्दन श्री राम तथा महाभारत-कथा के नाम से प्रकाशित हुई हैं। सामयिक समस्याओं पर वे 'स्वराज्य' में भी लिखते। उन्होंने साहित्य के माध्यम से आदर्शवाद के व्यावहारिक स्वरूप को उद्घटित किया है। नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अनुसंधानों में उनकी गहन रुचि रही है।

संसार के प्राचीन तथा अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान की धाराओं का अद्भुत समन्वय उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को उपलब्ध कराया है। वे व्यापक प्रतिभा के धनी थे। जिस क्षेत्र में भी जिस विद्या को भी उन्होंने स्पर्श किया, उसमें गहराई तक पैठते गये और मणि-मुक्ता खोज लाये जो संस्कृति और सभ्यता के लिए वरदान बन गयी।

राजाजी भीड़ में रहे हों या एकान्त में, राष्ट्रपति भवन में निवास किया हो राजभवन में, गाँधीजी के साथ उनके समर्थक या उनसे दूर और उनके विरोधी बनकर जहाँ भी रहे उनके व्यक्तित्व में एक विचित्र अनुठापन रहा। यश, प्रतिष्ठा, श्रेय और विरोध हर परिस्थितियों में वे अविचलित रहे। जीवन में हजारों कड़वे घूँट पीकर भी वे मीठे ही बने रहे।

जिन्होंने राजनीति को राष्ट्र सेवा का माध्यम बनाया

रफी अहमद किदवई

स्वतंत्र भारत के लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के विगत वर्षों का लेखा-जोखा करने बैठते हैं कि हमने क्या खोया है और क्या पाया है इन पिछले वर्षों में, तो बरबस हमें उन जननेताओं का अभाव जिन्हें काल ने राष्ट्र के हाथों से छीन लिया, बुरी तरह खलने लग जाता है। यों राजनेता और जननेता तो इस देश में बहुत हुए पर ऐसे राजनेता और जननेता अँगुलियों पर गिनने जितने ही हुए हैं जिनके व्यक्तित्व में राष्ट्र के करोड़ों नागरिक अपनी-अपनी जीवन मरण की समस्याओं का समुचित हल पा लेने के सम्बन्ध में पूरी तरह आश्वस्त थे। आज उन थोड़े से नररत्नों का अभाव हमें बुरी तरह खलता है और भीतर से एक दीर्घ निःश्वास-सा उठ खड़ा होता है। इस विश्वास का स्वर होता है काश आज वे होते !

आज के इस स्पर्धा से व्यस्त और अभावों से, त्रस्त जन-जीवन में जब आदमी को घण्टों लाइन में खड़े रहने के बाद भी पूरा राशन नहीं मिलता। बाजार में चीजों के दर्शन ही नहीं होते। कभी गेहूँ गायब तो कभी चीनी।

कभी वनस्पति भी गायब तो कभी मिट्टी का तेल। इस विषम और विकट परिस्थिति में मुँह से निकलता है काश ! आज किदवई साहब होते- भारत के सफलतम खाद्य मंत्री- रफी अहमद किदवई।

खादी की ढीली-ढीली अचकन, खादी का ही चौड़े पाँयचे का पाजामा और सिर पर खादी या फर की गर्म टोपी उनके शरीर पर उसी प्रकार खिलती थी जैसे गोल भरे चेहरे पर आठों पहर खिलने वाली आत्मीयता भरी सहज मुस्कान। सिर पर टोपी और होठों पर मुस्कान यह उनके व्यक्तित्व के अनिवार्यतम प्रतीक थे। इस साधारण से दिखने वाले व्यक्ति ने जो असाधारण करतब अपने जीवन में कर दिखाये थे उन्हें भुला देना कृतघ्नता ही होगी।

राजनेता उनके समय में भी थे, उन्हें राजनेता की बजाय जननेता कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उनमें से अधिकांश को राजनीति में लाने वाली प्रेरक शक्ति जनता का दुःख-दर्द थी। राजनेता आज भी हैं पर वे अब जन नेता नहीं रहे क्योंकि जनता के दुःख-दर्द और राष्ट्र के हित के साथ एकात्म भाव स्थापित करने वाली चारित्रिक शक्ति को लोग खोते चले जा रहे हैं जो रफी साहब के चरित्र और व्यक्तित्व में देखने को मिलती थी। यह शक्ति मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति होती है। आज व्यक्ति, देश और समाज के सामने जो अनेकानेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं उन्हें सुलझाने के लिये उस शक्ति का उपजना बहुत आवश्यक है जो किदवई साहब की शक्ति थी।

उनका जन्म सन् १८९८ में हुआ था। २४ वर्ष की आयु में अलीगढ़ से बी० ए० करके वे कानून की परीक्षा पास करने की तैयारियाँ कर ही रहे थे कि देश में असहयोग आन्दोलन की लहर उठ खड़ी हुई। असहयोग आन्दोलन का स्वरूप इतना विशाल था कि इसमें छोटे से छोटे और बड़े से बड़े भारतवासी के लिये करने को बहुत कुछ था। वह इसमें अपनी मनचाही भूमिका खोज सकता था। कहना न होगा कि उस समय हर भारतवासी के मन में यह तूफान उठ खड़ा था कि अँग्रेज भारत छोड़कर चले जायें। अब तक उस तूफान की सार्वजनिक अभिव्यक्ति का मार्ग खुला नहीं था। असहयोग के सिद्धान्त ने वह मार्ग सुझा दिया तो भावनाशील युवक रफी अहमद के पाँव भी अनायास उस मार्ग पर चल निकले। कानून की पढ़ाई धरी की धरी रह गयी। यह वह प्रथम अवसर था जब उन्होंने इस सत्य को जाना कि अपने व्यक्तिगत हित को अधिकतम लोगों के हित में विसर्जित कर देने में भी एक सुख मिलता है। साथ ही वे यह भी जान गये कि यही प्रगति का सच्चा मार्ग भी है।

पं० मोतीलाल नेहरू उन दिनों काँग्रेस के माने हुए नेताओं में से थे। उन्हें युवक रफी अहमद का प्रखर व्यक्तित्व कुछ ऐसा भाया कि उन्होंने उन्हें अपना निजी सचिव बना लिया। यहाँ उन्हें एक कठिन परीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा। आनन्द भवन का यह वैभव-विलास और नेहरू परिवार का ऐश्वर्य और रफी साहब की सादगी के

बीच रस्साकसी चलने लगी। वे एक आम हिन्दुस्तानी की तरह रहना चाहते थे। इस्लाम की सादगी और भारतीय जीवन दर्शन का अपरिग्रह उनके व्यक्तित्व में दूध और पानी की तरह एकाकार हो गया था।

एक मुसलमान किस प्रकार अपने मजहब व रहन-सहन के प्रति एकनिष्ठ रहते हुए भारत और भारतीयता के प्रति एकनिष्ठ रह सकता है, वे इस सत्य की जीती-जागती मूर्त थे। हमारे देश की विविधता में एकता वाली सच्चाई को उन्होंने मूर्तरूप दिया।

अंग्रेजी वेशभूषा को उन्होंने आपत्तिकालीन स्थिति की तरह जीवन में केवल दो बार ही स्वीकार किया था। एक बार तो राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में पुलिस को चकमा देने के लिये और दूसरी बार मन्त्री पद पर आसीन होने के बाद जब उन्हें अपने आपको छिपाकर वस्तुस्थिति का ज्ञान करने की आवश्यकता पड़ी तब। नंगे सिर रहना भी उन्हें कतई पसंद नहीं था। उन्हें अपनी पारम्परिक वेशभूषा, सादगी और शालीनता से कितना मोह था यह उनके वेश विन्यास से प्रकट हो जाता था।

परम्पराओं को कहीं महत्व दिया जाना चाहिए और कहीं नहीं इस मामले में वे पूरे विवेकशील थे। विचारों से वे पूरे क्रान्तिकारी थे। किसी भी बात को चाहे वह कितने ही बड़े व्यक्ति ने क्यों न कही हो वे स्व-विवेक की कसौटी पर कसे बिना नहीं मानते थे। जिसे वे अपने आन्तरिक विवेक से सही मान लेते थे तो उसे किसी के आग्रह पर त्यागना सीखा ही नहीं था। वे मन्त्री पद पर रहे, वर्षों तक रहे पर जहाँ मानवता और मन्त्रित्व के बीच संघर्ष की स्थिति आ जाती वहाँ वे मानवता के पक्षधर बन जाते थे। यह उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी जो किसी भी लोकतंत्र के मन्त्री का अनिवार्य गुण होना चाहिए। उन्होंने अपना स्वार्थ कभी देखा नहीं। देश और देशवासियों के हित में ही वे अपना हित देखते थे।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। उन्होंने दस वर्ष से भी अधिक समय देश को स्वतन्त्र कराने के लिये जेल में गुजारा। बत्तीस वर्ष की आयु में वे लोकसभा के सदस्य बने तत्पश्चात् स्वराज्य दल के मुख्य सचेतक रहे। नमक सत्याग्रह में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। रायबरेली क्षेत्र में विदेशी सरकार को कर नहीं देने के लिये आन्दोलन चलाया।

व्यक्तित्व, लगन और कर्मठता के धनी रफी साहब को काँग्रेस के बड़े नेताओं में से एक बनने में कोई अधिक देर नहीं लगी। १९३१ में वे उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) काँग्रेस कमेटी के महासचिव और १९३५ में उसके अध्यक्ष बनाये गये। १९३७ में प्रदेश में काँग्रेस को जिताने में उनका बड़ा हाथ रहा पर मजे की बात यह रही कि काँग्रेस के अन्य सदस्यों को चुनाव जिताने के कार्य में वे इतने व्यस्त रहे कि अपने क्षेत्र में प्रचार ही नहीं कर पाये। परिणाम यह हुआ कि वे हार गये। कुछ समय

पश्चात् वे उपचुनाव में खड़े हुए और विजयी होकर राजस्व मन्त्री बने।

वे राजनेता होते हुए भी राजनीति को व्यक्तिगत स्वार्थ साधना का हेतु बनाने को निन्दनीय मानते थे धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में भी उनके विचार उसी प्रकार विवेकयुक्त थे। इस्लाम में आस्था रखते हुए भी वे उसकी हर बात को आँख मीचकर मान लेने वाले नहीं थे। उनका विवाह इक्कीस वर्ष की आयु में ही हो गया था। उनकी एकमात्र सन्तान, एक पुत्र सात वर्ष की आयु में चल बसा। उसके बाद पत्नी से कोई संतान नहीं हुई। इस पर लोगों ने उन्हें दूसरा विवाह करने की राय दी पर वे इसे गलत मानकर अस्वीकार करते रहे। लोगों ने शरियत का उल्लेख करते हुए उन्हें राय भी दी कि हमारे मजहब में चार निकाह जायज हैं पर वे मजहब से अधिक महत्व स्त्री पुरुष के समानता के अधिकार को देते थे। एक स्त्री, दो पुरुषों से विवाह नहीं करती तो पुरुष को इसका क्या अधिकार। अतः वे अन्त तक मजहब के नाम पर अन्याय से सहमत नहीं हुए, उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया।

अपनी अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध कोई काम करना उन्हें स्वीकार नहीं होता था। १९३९ में जब नेताजी सुभाषचन्द्र बोस गाँधीजी के न चाहते हुये भी काँग्रेस अध्यक्ष पद के लिये खड़े हुए तो उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर उनका समर्थन किया। स्मरण रखने की बात है कि उन दिनों वे प्रदेश के मन्त्रिमण्डल में थे। उनका यह कदम उनके मन्त्री पद के लिये घातक हो सकता था पर उन्होंने कभी ऐसी बातों की चिन्ता नहीं की। मन्त्री पद उनकी मानवता का मुहताज रहा पर वे कभी उसके मुहताज नहीं रहे।

व्यक्ति में योग्यता हो, वह कर्मठ हो, व्यवहार कुशल हो, नीतिज्ञ हो पर इतना ही पर्याप्त नहीं है यदि उसमें नैतिक और चारित्रिक बल न हो। देश के वर्तमान नेताओं में इन दोनों गुणों का ह्रास हो गया है। इस कारण वे देश की समस्याओं को सुलझाने के बजाय अपने स्वार्थ साधन में ही योग्यता, कर्मठता व अन्य गुणों का दुरुपयोग कर रहे हैं नहीं तो वे भी किदवाई साहब की तरह वैसे चमत्कार दिखा सकते थे जो उन्होंने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रहते हुए दिखाये थे। वे दो बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हुए। पहली बार वे परिवहन और संचार मन्त्री बने और दूसरी बार खाद्य व कृषि मन्त्री। इन दोनों अवसरों पर उन्होंने जो साहसपूर्ण कदम उठाये वे मिसाल बनकर रह गये हैं।

परिवहन व संचारमन्त्री के रूप में उन्होंने समस्त डाक तार कर्मचारियों को साप्ताहिक अवकाश देने की व्यवस्था की जो प्रायः असम्भव लग रही थी। ठीक उसी प्रकार नागपुर होते हुए दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई व मद्रास को जोड़ने वाली रात्रिकालीन डाकसेवा प्रारम्भ की जिसके सम्बन्ध में भी लोगों के ऐसे ही विचार थे।

कृषि व खाद्यमन्त्री के रूप में उन्होंने जो सेवा की उसे आज तक लोग याद करते हैं। उन्होंने अपने समय की खाद्यान्न समस्या को जिस प्रकार सुलझाया, जिस प्रकार सब कन्ट्रोल तोड़ दिये वैसा स्वतन्त्र भारत के इतिहास में आज तक नहीं हुआ। लोग उनके इस कार्य को चमत्कार की संज्ञा देते हैं।

सच पूछा जाय तो यह उनकी ईमानदारी, निष्ठा, कार्यकुशलता व सूझबूझ का फल था। उनकी कार्यप्रणाली में आरामतलबी और गैर जिम्मेदारी को कोई स्थान नहीं था। वे अपने को जनता का सेवक मानते थे। जनता ने उनके कंधों पर जिस दायित्व का भार रखा था उसे भी वे बखूबी जानते थे और स्वीकारते थे। उन्हें देश की समस्याओं को सुलझाने के लिये हेलीकाप्टर और विदेशी कारों में दौरे करने की और पुलिस और गुप्तचरों की फौज अपने साथ लिये फिरने की कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। जैसा कि आजकल के अधिकांश मन्त्री करते हैं। जनता के प्रतिनिधि को जनता के बीच जाने से भय क्यों? और यदि वे भय अनुभव करते हैं तो निश्चय ही वे जिनके प्रतिनिधि हैं उनके विश्वास की रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं। किदवई साहब की यही मान्यता थी। उन्होंने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिये कई बार देशव्यापी दौरा किया पर उनका यह दौरा दूसरे ही ढंग का था। स्थान-स्थान पर वे जनता से, व्यापारियों से मंत्रियों तथा जनप्रतिनिधियों से प्रकट रूप से भी मिले तो वस्तुस्थिति को जानने के लिये छद्म रूप में भी निकले।

वे मोटर कार की बजाय रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में साधारण वेशभूषा में बिना किसी पूर्व सूचना के सफर करते। उनके साथ चलने वालों को पता ही नहीं चलता था कि उनके साथ जो साधारण-सा आदमी सफर कर रहा है वह भारत का खाद्य मन्त्री है। इससे उन्हें वास्तविक स्थिति जानने में भरपूर सहायता मिलती थी। वे कई नगरों में वेश बदल कर घूमे थे। उन्होंने कई व्यापारियों से अनाज के भाव पूछे थे, उनसे सौदा किया था तब उन्हें पता ही न था कि वे केन्द्रीय खाद्य मन्त्री से भाव-ताव कर रहे थे। अपनी इस विलक्षण सूझबूझ व कार्यपद्धति के कारण वे खाद्यान्नों के कृत्रिम संकट को समाप्त करने में आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए थे।

बम्बई की बात है। वे फटी कमीज और मैला-सानेकर पहनकर एक घरेलू कर्मचारी के रूप में एक कारखाने में पहुँचे और भिन्न-भिन्न कतारों में खड़े होकर वहाँ की कार्य-पद्धति का निरीक्षण किया। इस निरीक्षण में दोषी पाये गये पाँच कर्मचारियों को उन्होंने बाद में काम ठीक न करने के कारण सजा दी। यह था उनका मन्त्री पद के निर्वाह का तरीका। उनकी यह निष्ठा राजनेताओं के लिये आदर्श उपस्थित करती है।

वे वर्षों तक उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमण्डल में रहे। दो बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रहे। इस बीच उनके घर का द्वार हर मिलने वाले के लिये खुला रहता था। सुरक्षा में

नियुक्त किये गये पुलिस कर्मचारियों को उन्होंने स्पष्ट निर्देश दे रखे थे कि कोई भी आदमी किसी भी समय उनसे मिल सकता है। वे इसके लिये किसी को रोकें नहीं। उनका स्वभाव बड़ा सरल था। छोटे-बड़े का भेद करना उन्होंने कभी सीखा नहीं। उनसे मिलने वाला हर व्यक्ति उनके बारे में एक ही राय लेकर लौटता था कि वे देवता पुरुष थे। आत्मीयता भरी मुस्कान उनके चेहरे पर सदा खेलती रहती थी जो हर आगन्तुक का सहज भाव से स्वागत करती थी।

उनकी सादगी और निरभिमानीता ने उन्हें राजनेता के रूप में जो लोकप्रियता दिलायी थी वह प्रचार से सम्भव नहीं थी। राजनेता के रूप में देश और देशवासियों के प्रति उनको जो एकान्तिक निष्ठा थी वह किसी भी व्यक्ति के दबाव की परवाह नहीं करती थी। जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति के क्षेत्र में आत्मा की आवाज का अनुसरण करने वाला व्यक्ति सफल नहीं होता। किदवई साहब का जीवन उनकी इस मिथ्या धारणा का उत्तर देने के लिये पर्याप्त है।

उन्होंने अकेले ने जिस असम्भव कार्यों को सम्भव किया वे एक व्यक्ति के नहीं एक संस्था के कार्य थे पर उनके अपराजेय साहस, नीति-निष्ठा और विलक्षण सूझबूझ ने वे सब कार्य अकेले ही सम्पादित करवा दिये।

२४ अक्टूबर, १९५४ को उनका देहावसान हो गया। दिल्ली में एक सभा में भाषण करते ही उनकी तबीयत खराब हुई और घर लौटते ही वे सदा के लिये चल बसे। अपनी अमर यादगार छोड़कर कि ऐसे भी राजनेता होते हैं।

आपकी बेटी मेरी बेटी है

रफी अहमद किदवई साहब के एक मित्र की पुत्री का विवाह था। उनसे किदवई साहब का राजनैतिक विरोध था। बोल-चाल तक न थी। यहाँ तक कि उन्होंने किदवई साहब को विवाह में आमन्त्रित तक न किया। किन्तु वे स्वयं ही वहाँ पहुँचे और कन्या को आशीर्वाद दिया।

उन सज्जन ने जब रफी साहब को वहाँ देखा, तो पश्चाताप, आत्मग्लानि तथा स्नेह का ऐसा स्रोत उमड़ा कि वे रफी साहब के गले से लिपट गये और क्षमा-याचना की। रफी साहब विनम्र स्वर में इतना ही बोले “हमारा आपका राजनैतिक मतभेद हो सकता है। किन्तु यह तो घर का मामला है। आपकी बेटी, मेरी बेटी है।” इस घटना से आपस का वह मनमुटाव भी समाप्त हो गया।

नेता नहीं खिदमतगार

स्वर्गीय रफी अहमद किदवई के पास कुछ सज्जन अपने किसी कार्यवश पहुँचे। सामान्य शिष्टाचार के पश्चात् उन्होंने पूछा-“कहिए मैं क्या सेवा कर सकता हूँ आपकी?”

आगन्तुक बोले "देखिये हमारा सम्मेलन निकट ही है और हमें अभी तक टेलीफोन नहीं मिला है, इससे बड़ी असुविधा है और आने वालों की संख्या बहुत है। सो यदि आप ट्रेन में एक विशेष बोगी और लगवा दें तो बहुत सुविधा हो जायेगी और आप भी सम्मेलन में जाने की अवश्य कृपा करेंगे। टेलीफोन लग गया। नियत समय पर ट्रेन में विशेष बोगी की सुविधा भी मिल गई। किन्तु तीसरी बात के उत्तर में उन्होंने कहा "सम्मेलन वगैरह से तो मैं दूर ही रहता हूँ। मैं नेता नहीं हूँ। खिदमतगार हूँ। मुझे तो इसी काम के लिए रहने दीजिए।"

मानव रत्न—

लाल बहादुर शास्त्री

सन् १९२१। असहयोग आन्दोलन का बिगुल बज उठा। भावनाशील लोग समय की पुकार सुनकर लाखों की संख्या में रणक्षेत्र में जा कूदे। विद्यार्थियों ने विद्यालय छोड़ दिये, कर्मचारियों ने काम करना छोड़ दिया, न्यायालय बन्द पड़ गये, किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया, रेल, तार, डाक सेवा का उपयोग बन्द हो गया। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया।

सोलह वर्ष के एक किशोर की आत्मा भी युग की पुकार सुनकर अधीर हो उठी। वह जानता था कि विद्यालय छोड़ने से उसका ही नहीं उसकी विधवा माँ का भविष्य भी अन्धकारमय हो जायेगा। पिता जिसे मझाधार में छोड़ गये थे अब बेटा भी आन्दोलन करने लगा यह जानकर वह कितनी दुःखी होगी। रिश्तेदार तो पहले ही उसकी देशभक्ति को खतरनाक कहते रहे हैं। ये विवशताएँ उसके मार्ग में बाधा बनकर खड़ी थीं फिर भी जीत अन्तःकरण की आवाज की हुई वह अध्यापक के सम्मुख जा खड़ा हुआ। "गुरुजी अब आज्ञा दीजिये।" अध्यापक इस किशोर की भावनाओं को समझते थे और घर की स्थिति भी जानते थे। उन्होंने समझाया "बेटा हाईस्कूल परीक्षा में कुछ महीने रहे हैं। परिश्रम करके तुम अच्छी डिग्रीजन से पास हो जाओगे तो माँ को सहारा हो जाएगा।" किशोर ने गुरुजी की बात सुनी पर वह रुक न सका। अपने तथा अपनी बेसहारा माँ के हितों को देशहितों पर बलिदान करके असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाला यही किशोर एक दिन भारत का प्रधानमंत्री बना। अन्य राष्ट्रों के नेताओं ने आश्चर्य से सुना कि भारत के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के पास अपना घर का मकान भी नहीं, जिन्होंने प्रधानमंत्री बनकर किराँतों पर कार खरीदी। महामन्त्री चाणक्य जैसा ही यह एक अनुपम उदाहरण था।

शास्त्रीजी न तो बड़े बाप के बेटे थे, न किसी के सहयोग ने ही उन्हें इस पद तक पहुँचने में सहायता की थी। उनके मानवीय सद्गुणों व कर्मठता ने ही उन्हें इस महान पद पर पहुँचाया था।

शास्त्रीजी का जन्म २ अक्टूबर, १९०४ में मुगल सराय में हुआ। इनके पिता श्री शारदा प्रसाद एक शिक्षक थे। अल्पायु में ही पिता का देहावसान हो गया। बचपन से ही इनकी अग्नि परीक्षा आरम्भ हो चुकी थी, घर की आर्थिक स्थिति बहुत ही कमजोर थी तथा सहारे के नाम पर केवल माता रामदुलारी का सहारा था। पितृहीन बालक ने अपने आप एक सहारा खोज लिया। वह सहारा था पुण्य-सलिला गंगा का। गंगा ने उन्हें तैरना सिखाया, जीवन के उतार-चढ़ावों में साहसी बने रहने का पाठ पढ़ाया और अपनी ही तरह निर्मल, निष्कलुष बने रहने की सामर्थ्य प्रदान की।

बारह वर्ष की आयु में वे अपने साथियों के साथ गंगा पार मेला देखने गये। वापस लौटने के लिये उनके पास नाव वाले को देने के पैसे नहीं थे। आधा मील गंगा का पाठ उन्होंने तैरकर पार किया जिसे अच्छी खासे पहलवान भी नहीं कर पाते थे। परिस्थितियों से जूझना वे बचपन से ही सीखने लगे थे। साधन का अभाव प्रगति में बाधक नहीं होता यह प्रेरणा उन्हें बचपन से ही मिल चुकी थी।

पढ़ने के लिये वे नाना के घर रहे, फिर मौसा के घर रहे किन्तु परावलम्बन को उन्होंने कभी नहीं अपनाया। उन्होंने अपनी स्थिति को स्वीकार तो किया कि उनके पिता नहीं हैं पर यह स्वीकारोक्ति उन्हें सदाचारी, परिश्रमशील तथा ईमानदार बनाये रही।

शास्त्रीजी तीव्र बुद्धि नहीं थे वे कक्षा में यदा-कदा ही प्रथम आये। इसके पीछे उनका परिश्रम ही था। वे मन लगाकर पढ़ते थे-परिश्रम करते थे। इसी का शुभ परिणाम था कि वे हिन्दी विद्यापीठ से 'शास्त्री' परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर सके। उनका प्रमुख विषय दर्शन था।

पारिवारिक स्थिति साधारण होते हुए भी लालबहादुर शास्त्री ने अपना लक्ष्य साधारण नहीं रखा। ऐसी परिस्थितियों में कोई अन्य साधारण साहस वाला आदमी होता तो हाईस्कूल पास करके कहीं नौकरी खोज लेता, कहीं क्लर्क या अध्यापक बन जाता। शास्त्रीजी ने एक सच्चे देशभक्त की भूमिका निभाने में इस स्थिति को कभी बाधा के रूप में नहीं माना।

पढ़ाई समाप्त करने के बाद यदि वे स्वयं को अकिंचन मानते तो कोई नौकरी खोजते पर उन्हें अपने देशवासियों की सेवा करनी थी। रोटी का सवाल अवश्य सामने था। उसे पूरा करने की तैयारी वे बचपन से ही कर चुके थे। अपनी आवश्यकता वे कम से कम रखते थे। अपना सारा काम हाथ से कर लेते थे। उन्होंने लोकसेवा संघ में अपने मित्र अलगूराय चौधरी के साथ अछूतोद्धार का काम आरम्भ किया। इनकी लगन, श्रम तथा तत्परता से लाला लाजपतराय बड़े प्रभावित हुए, वे इस संघ के आजीवन सदस्य बना दिये गये। उन्हें सात रुपये भत्ता मिलता यह बाद में सौ रुपये हो गया, जिसे वे घर वालों को दे देते थे।

सन् १९२७ में उनका विवाह ललिता देवी के साथ हुआ। शास्त्री जी ने अपने जीवन का ध्येय उनको

४.५६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

बताया। अपने पति के इस ध्येय को ललिता देवी ने अपना ध्येय मान लिया। शास्त्रीजी की देश-जाति के लिये जो उपयोगिता थी उसे श्रीमती ललिता देवी ने स्वीकार किया तथा उनके उद्देश्य में सहायक बनीं। पत्नी का सहयोग पाकर जहाँ वे पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निश्चित हो गये वहाँ ललिता देवी अपने पति की महानता के आगे श्रद्धाभूत हो उठी।

शास्त्री जी को जो भी काम दिया जाता उसे वे पूरे मनोयोग से ईश्वर की उपासना की तरह करते। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी महत्ता स्वीकार की जाने लगी। बड़े-बड़े नेता इन पर विश्वास करने और कांग्रेस के माने हुए नेताओं में गिने जाने लगे। इनकी प्रगति का आधार परिश्रमशीलता, कर्म के प्रति निष्ठा और मनोयोग था।

आदर्शों के प्रति इनका आग्रह निरन्तर पुष्ट होता गया। जब ये नैनी जेल में थे उनकी पुत्री सख्त बीमार हो गई। पैरोल पर छूटने के लिए यह लिखित आश्वासन देना पड़ता था कि वे इस अवधि में किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे। यद्यपि वे किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेने वाले थे फिर भी लिखकर देना अनुचित मानते थे। इस कारण वे अपनी पुत्री को देखने का विचार स्थगित कर चुके थे। जेलर को उन्हें बिना शपथ लिखाए ही छुट्टी देनी पड़ी।

अपनी आवश्यकताओं के प्रति उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। जेल के जीवन में जहाँ अन्य लोग छोटी-छोटी चीजों के लिए जेल अधिकारियों से प्रार्थना करते थे, वहाँ शास्त्रीजी स्वयं के हिस्से की वस्तु भी दूसरे को देकर प्रसन्न होते थे। अपना लैम्प एक साथी को देकर उन्होंने कड़ुये तेल के दिये के सामने टालस्टाय का 'अन्ना केरेनिना' पढ़ डाला था। जेल जीवन उन्होंने एक तपस्या समझकर बिताया। उन्हें देखकर जेल के अधिकारी तथा सहयात्री आश्चर्य करते थे कि जेल में भी इनका जीवन एक व्यवस्थित क्रम से चलता रहता है। इस काल में उन्होंने कितने ही ग्रन्थ पढ़े। जेल में ही उन्होंने 'मेडम क्यूरी' की जीवनी लिखी।

आजादी के आन्दोलन में शास्त्रीजी की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही थी। वहाँ जेल में रहे। रात-दिन श्रम करते रहे। जेल में रहे या खुले में उनका यह श्रम चलता ही रहा। आन्दोलन के नेतृत्व में, जन-जागरण के प्रयासों में, संगठन में जहाँ भी उनका हाथ लगा वहाँ-वहाँ काम बना, बिगड़ा नहीं। इसका कारण यह था कि उन्होंने अपने काम की चिन्ता की, नाम की चिन्ता नहीं की। अन्य नेताओं से आगे बढ़ने का एकमात्र कारण यही था कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा कोई रखी ही नहीं।

दुबला, पतला, ठिगना साधारण-सा दीखने वाला यह लौहपुरुष अपने कठोर परिश्रम, निष्ठा, विश्वास के कारण उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल में संसदीय सचिव बनाया गया।

उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल में जब ये गृहमन्त्री पद पर थे तब कांग्रेस के महामन्त्री बनाये गये। इनका एक ऐसा व्यक्तित्व बन गया था कि इन्हें आपत्तिकालीन स्थिति में कोई काम सौंपा जा सकता था। सौंपे काम की सफलता निश्चित थी।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रेल मन्त्री के रूप में इन्होंने बड़ा अच्छा काम किया। दो रेल दुर्घटनाओं के कारण इन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। इसके विरोध में हजारों तार आये पर उन्होंने फिर इस पद को स्वीकार नहीं किया। इस त्याग ने उनकी महत्ता को और बढ़ा दिया।

एक साधारण नागरिक के दायित्व को वहन करने में ईमानदारी बरतने का शुभ परिणाम यह हुआ कि भारत को एक ईमानदार नेता, एक ईमानदारी प्रधानमन्त्री मिल सका। पद का कभी मोह शास्त्रीजी को नहीं रहा। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ईमानदार रहे। उन्होंने राष्ट्र के पैसे को अपने उपयोग में लेने को सोचा तक नहीं। सदा वे अपने को एक साधारण आदमी जनता का सेवक मानते रहे। उनकी ईमानदारी ने ही उन्हें रेलमन्त्री पद से स्तीफा देने को मजबूर किया। उनकी ईमानदारी ही थी जिसने कामराज योजना के अन्तर्गत सबसे पहले अपना पद छोड़ा।

श्री नेहरू के मरने के बाद भारतीय तथा विदेशी शास्त्रीजी को आरम्भ में उस रूप में स्वीकार नहीं कर पाये, जिस रूप में नेहरू को किया जाता था किन्तु अपने अठारह महीनों के अल्प समय में उस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

भारत पाकिस्तान युद्ध के समय भारत का जो स्वरूप दुनिया के लोगों ने देखा और शास्त्रीजी की ललकार सुनी वे जानते हैं कि इस नन्हे से कलेवर में कितनी सशक्त आत्मा बैठी हुई है।

इनका जीवन कर्ममय रहा। कभी-कभी तो ये काम में इतने लीन रहते थे कि भोजन करना तक भूल जाते थे। कर्मक्षेत्र में शिथिल होते इन्हें कभी नहीं देखा गया। असम्भव दीखने वाला कार्य जब शास्त्रीजी को दिया गया तो उनके परिश्रम ने उसे सहज सम्भव बना दिया, शास्त्री जी ने अपने एक-एक क्षण को कर्म करने में बिताया।

शास्त्रीजी जब प्रधानमंत्री बने तो उनका कुछ ऐसा व्यवहार रहा कि विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते थे। लोकप्रियता का यह गुण उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन से ही विकसित करना आरम्भ कर दिया था। कांग्रेस में आपसी मतभेद दूर करने में इनके सानी का कोई दूसरा न था। राजनीति सरोवर के पंकज, शास्त्रीजी सदा राजनैतिक छल-छद्मों से दूर रहे।

सन् १९६५ में हुई ताशकन्द वार्ता की समाप्ति पर यह सूचना सुनकर विश्व का प्रत्येक नागरिक रो पड़ा कि एक महान व्यक्ति अब हमारे बीच नहीं रहा।

मरने पर अपने उत्तराधिकारियों के लिये कोई तो मकान, जमीन-जायदाद, धन-दौलत छोड़ जाते हैं पर शास्त्री जी ने कभी स्वयं को अपने परिवार तक सीमित

नहीं रखा। वे सारे देश के थे। अपने परिवार व परिजनों के लिये आदर्श जीवन जीने की महान पूँजी छोड़ गये।

अपने आप बढ़ो, विकसो, बड़े बनो

लालबहादुर शास्त्री ने अपने १८ माह के प्रधानमन्त्रित्व काल में वह यश व श्रेय प्राप्त कर लिया जो संसार का कोई भी नेता नहीं पा सका। शास्त्रीजी एक साधारण परिवार के थे। वह स्वयं बढ़े, विकसे और बड़े बने। आत्मावलम्बन की शक्ति ही उनके जीवन में दृढ़ता बनकर विकसित हुई थी।

यही गुरुमन्त्र उन्होंने अपने सन्तान को भी दिया। एक बार उनसे किसी मित्र ने प्रश्न किया “आप अपने बच्चों को थोड़ा सहारा देते तो वे भी आज अच्छे स्थानों पर होते?” शास्त्रीजी ने हँसकर बोले—“अवश्य होते, पर उनमें योग्यता न होती। जो स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास के साथ बढ़ता है, उसकी योग्यता, दृढ़ता, कर्मठता, साहस और कर्तव्य भावना अदम्य होती है।”

उन्होंने कहा—“फूल कहीं भी हो वह खिलेगा ही। बगीचे में हो, जंगल में हो या कमरे में, बिना खिले उसे मुक्ति नहीं। बगीचे का फूल पालतू फूल है, उसकी चिन्ता स्वयं उसे नहीं रहती। जंगल का फूल इतना चिन्ता मुक्त नहीं, उसे अपना पोषण आप जुटाना पड़ता है, अपना निखार आप करना पड़ता है। कहते हैं कि इसीलिए खिलता भी वह मन्दगति से है। सौरभ भी धीरे-धीरे बिखेरता है। किन्तु सुगन्ध उसकी बड़ी तीखी होती है। काफी दूर तक वह अपनी मंजिल तय करती है। जंगल का फूल यद्यपि अपने आकार में छोटा होता है और कई बार वह पूरा खिल भी नहीं पाता है तो भी अपनी सुगन्ध में वह दूसरे फूलों से हल्का नहीं पड़ता बजनी ही होता है।”

यह सिद्धान्त मनुष्य के विकास में भी लागू है। दूसरों का सहारा लेकर बहुत ऊँचे पहुँचे हुए लोगों में न तो साहस, दृढ़ता होती है और न वे ‘गट्स’ होते हैं, जो अपने आप विकसित हुये व्यक्ति में स्थायी रूप से होते हैं। सफलता की मंजिल भले ही देर से मिले पर अपने पैरों की गई यात्रा, विकास यात्रा अधिक विश्वस्त होती है। मोटर, रेल का सहारा लेकर बढ़ने में जहाँ शीघ्र पहुँचना सम्भव है वहाँ अनियमित होना, रास्ते में टूट-फूट, लेट होना और बिगड़ जाना भी सम्भव है। पद यात्रा से अधिक विश्वस्तता सहारे की यात्राओं में नहीं, भले उसमें कुछ अधिक सुविधा हो।

संसार में कार्य करने के लिए स्वयं का विश्वासपात्र बनना आवश्यक है। आत्मशक्तियों पर जो जितना अधिक विश्वास करता है, वह उतना ही सफल और बड़ा आदमी बनता है। वाशिंगटन एक मामूली सिपाही से अमेरिका की स्वतन्त्रता का प्रतिस्थापक बना। अमेरिका के प्रायः सभी राष्ट्रपति अत्यन्त छोटी अवस्था से स्वयं विकसित

हुये। नैपोलियन फ्रान्स का एक छोटा-सा सिपाही था, वह स्वयं बढ़कर सेनापति बना। एक अस्पताल में साधारण प्यून से बढ़ते-बढ़ते राष्ट्रपति बनने वाले सनयात सेन को कोई नहीं भूल सकता। इन महापुरुषों ने ‘मन्त्र यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती।’ जिसने अपने आप पर विश्वास किया उसने सिद्धि सफलता पाई कहावत को चरितार्थ किया है।

कारडिनल लिखते हैं—“हर व्यक्ति के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जिनका बुद्धिमानी से उपयोग करके मनुष्य बिना भाग्य की प्रतीक्षा किये बड़ी सफलताएँ प्राप्त कर सकता है।”

नेल्सन की कहानियाँ अँग्रेज बड़े प्रेम से पढ़ते हैं और आत्मविश्वास की शक्ति की व्याख्या करते समय उसके उदाहरण देते हैं। नेल्सन कहा करता था—“अविश्वास के लिये मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है। मैं जहाँ जुट जाता हूँ, वहाँ सफलता निश्चित रहती है। जिसके पास दृढ़ और अडिग आत्मविश्वास और साहस है, वह निश्चय ही अपना भाग्य निर्माण करता है।”

श्रीयुक्त नाना भाई थोपड़े, व्यापार के क्षेत्र में बम्बई के अब्दुल भाई करीम, शिक्षा के क्षेत्र में सुबोध चन्द्र राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, व्यावसायिक प्रगति के लिए सेमुअल एण्टून आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, इन्होंने कठिनाइयों और अगर-मगर की परवाह किये बिना आत्मशक्तियों को जीवन क्षेत्र में उतारा और मनुष्य-शक्ति को सार्थक सिद्ध कर दिखाया।

बहुत से लोग कहा करते हैं—‘यदि मैं स्वतन्त्र होता और मेरे पीछे बाल-बच्चों का झगड़ा न होता, मेरी शिक्षा इतनी होती, मुझे इतनी पूँजी मिल गई होती तो मैं बहुत काम कर सकता था। परन्तु यह उनकी निर्बलता है। बड़ा काम करने के लिए न बाल-बच्चे रुकावट हैं और न धनाभाव। परिस्थितियाँ संसार के न्यूनाधिक एक जैसी ही हैं। जिन्हें रुकावट समझा जाता है, ये समस्याएँ ही सफल व्यक्तियों की प्रेरक बनी हैं। कई महामानवों ने तो जेल में भी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। सोच-समझ के साथ जीवन के प्रत्येक दिन को अमूल्य मानकर अपने मन को ऊँची अवस्था में ले जाने को अपने आप प्रयत्न करते हैं। उनकी थोड़ी-सी सफलता भी चिरस्थायी, सन्तोषदायक और व्यावहारिक होती है।

अपने आप बढ़ने में सच्चाई और ईमानदारी रहती है, मनुष्य की वह बड़ी शक्ति है, इससे उसका हृदय खुला रहता है, वह किसी भी समय अपने आपको व्यक्त कर सकता है। वह घबराता नहीं, परेशान भी नहीं होता। यह कष्ट तो परावलम्बियों को ही होते हैं। जो दूसरों के सहारे उठता है उसे बात-बात पर गिर जाने का भी भय बना रहता है। सच्चे लोग अपने गुण, अपनी प्रतिभा और अपने

सौन्दर्य के बारे में नहीं सोचते। अपनी इस सरल अबोधता के कारण वे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, उनके हृदय में विश्वास, प्रेम और प्रतिष्ठा का स्थान पाते हैं, यह सफलता ही किसी बड़ी से बड़ी सम्पन्नता जैसी सुखदायक होती है।

अपने भाग्य को स्वयं बन जाने की राह देखना भूल ही नहीं, मूर्खता भी है। यह संसार इतना व्यस्त है कि लोगों को अपनी परवाह से ही फुरसत नहीं। यदि कोई थोड़ा सा सहारा देकर आगे बढ़ा भी दे और उतनी योग्यता न हो तो फिर पश्चात्ताप, अपमान और अवनति का ही मुख देखना पड़ता है। स्वयं ही मौलिक सूझ-बूझ और परिश्रम से बनाये हुए भाग्य में इस तरह की कोई आशंका नहीं रहती, क्योंकि वैसी स्थिति में अयोग्य सिद्ध होने का कोई कारण ही नहीं होता। जितनी योग्यता बढ़ती चले सफलता की मंजिल उतनी ही प्राप्त करता चले, रास्ता सबके लिए खुला है, उस पर चलकर कितना पार कर सकता है, यह व्यक्ति की अपनी लगन, साहस और विश्वास पर निर्भर है।

शास्त्रकारों ने पुरुषार्थियों की स्थान-स्थान पर वन्दना की है। कोई महानुभाव लिखते हैं—

धीमन्तो वन्द्य चरिता मन्यन्ते पौरुषं महत् ।

अशक्ता पौरुषं कर्तुं क्लीबा दैवमुपासते ॥

अर्थात्— बुद्धिमान व्यक्तियों ने सदैव व्यक्ति के उत्थान के लिए पुरुषार्थ को प्रधान माना है। भाग्य और देवों से उन्नति के मार्ग खोजने वाले नपुसंक पुरुषार्थविहीन व्यक्तियों की विद्वज्जन निन्दा करते हैं।

हर मनुष्य को परमात्मा ने अपार शारीरिक शक्तियाँ दी हैं। बुद्धि भी सब में कुछ न कुछ होती है, संसार इतना बड़ा है कि दूँढ़ने से इच्छित परिस्थितियों का अम्बार मिल सकता है। यहाँ अभाव किसी वस्तु का नहीं, कुछ सच्ची बात है तो यह है कि सब कुछ दूँढ़ने वाले को मिलता है। जो स्वयं कुछ करता है, वह पाता है। जो चलता है, वही लक्ष्य तक पहुँचता है। सोना-सोना चिल्लाने से पास रखा हुआ सोना भी हाथों में नहीं आ जाता। उसे उठाने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है। सफलता के हर क्षेत्र में यह सिद्धान्त अटल है। दूसरा बड़ा नहीं बनाता, मनुष्य अपने प्रयत्नों के अनुरूप ही परिणाम उपलब्ध करता है। यह सृष्टि का अकाद्य नियम है।

उल्लास के बिना उत्सर्ग क्या ?

महात्मा गाँधी का नमक कानून तोड़ने वाला सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ तब की बात है—राष्ट्रीय नेता जेलों में दूँसे जा रहे थे। श्री लालबहादुर शास्त्री के भी पकड़े जाने की पूरी सम्भावना थी।

एक दिन उन्होंने एक जेल-यात्री कार्यकर्ता के स्त्री, बच्चों को रोते हुये देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि इससे त्याग

और बलिदान का वर्चस्व घटता है कहीं हम भी जेल गये तो ? निश्चित है कि अम्माजी, धर्मपत्नी ललिता और हमारे अन्य सब लोग भी ऐसे ही रोयेंगे। शास्त्रीजी को वह कल्पना भी अच्छी नहीं लगी। उन्होंने जितना विचार किया उतना ही लगा कि रोने-धोने से तो सेवा और त्याग की गरिमा ही कम होती है। उन्होंने निश्चय किया वे अपने घर में ऐसा नहीं होने देंगे।

सायंकाल भोजन के लिए बैठे शास्त्रीजी ने अम्मा को बुलाया, ललिता शास्त्री पहले से ही वहाँ उपस्थित थीं उत्सुकतावश बच्चे भी आ गये। उपयुक्त समय देखकर शास्त्रीजी ने अपनी माताजी से प्रश्न किया—अम्मा बताओ यदि कोई युवक किसी महिला की रक्षा करते हुए मारा जाये, कोई युवक हिम्मत कर डकैतों से भिड़ जाये और उसमें जख्मी हो जाये, समाज के उत्थान के लिये किसी गृहस्थ से निवृत्त व्यक्ति को वानप्रस्थ लेना पड़ जाये, किसी सामाजिक बुराई के प्रतिरोध में किसी युवक को बहिष्कृत कर दिया जाये, इन दिनों सारे देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन चल रहा है उसमें किसी सत्याग्रही को जेल जाना पड़ जाये तो क्या उसके घर वालों को यह उचित है कि वे रोयें-धोयें और त्याग, बलिदान एवं स्वस्थ सामाजिक परम्पराओं की स्थापना का मूल्य घटायें ?

माताजी शास्त्रीजी के भाव ताड़ गई बोली—बेटे! त्याग और बलिदान के आदर्शों से ही धर्म संस्कृतियाँ, समाज और राष्ट्र जिन्दा रहते हैं कौन अभागा होगा जो इन्हें बुरा कहेगा पर मोह-ममता का भी तो अपना स्थान है यदि प्रियास्पद को कष्ट होगा, इस कल्पना से कोई स्वजन, सम्बन्धी रो पड़े तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिए।

शास्त्रीजी चूकने वाले नहीं थे, उन्होंने कहा—चलो यह मान लें कि आत्मभाव का प्रदर्शन बुरा नहीं पर उन रोने-धोने वालों के बीच में घर के वह सुकुमार बच्चे भी तो होते हैं जिन्हें आगे चलकर समाज और राष्ट्र के नेतृत्व की बागडोर सम्भालनी होती है जो उस समय आदर्श की महत्ता नहीं समझ पाते। वे यदि माता-पिता और बड़ों को रोते-बिलखते देखेंगे तो क्या उनमें भय पैदा नहीं होगा। इस मोह बन्धनों से नवागत पीढ़ी में आशंका की भावना नहीं पैदा होती ? यदि हाँ तो क्यों न ऐसे अवसरों पर—त्याग और बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करने वाले का स्वागत है—हँस कर किया जाये, प्रसन्नता अनुभव की जाये और उनका अभिनन्दन गीत गाकर किया जाये ताकि ऐसे कार्यों के प्रति बच्चों में स्वाभिमान और अनुकरण का भाव जाग्रत हो।

तुम ठीक कहते हो बेटा ! माँ ने स्वीकार कर लिया तब शास्त्रीजी ने खाना खाया और आवश्यक काम से बाहर निकले। जैसी कि आशंका थी वे पकड़ लिये गये। घर के लोगों ने सुना तो सबकी छाती स्वाभिमान से ऊँची उठ गई, घर में न तो कोई रोया और न किसी ने दिल छोटा किया। ललिता शास्त्री उनसे मिलने जेल गईं, उनसे शास्त्रीजी की बात भी नहीं हो पाई तो भी जो सुख, जो

सन्तोष और स्वाभिमान उन्होंने उस समय अनुभव किया वह शायद उन्होंने श्री शास्त्री जी के प्रधानमन्त्रित्व काल में भी न पाया होगा ।

शास्त्रीजी की सिद्धान्तनिष्ठा

जब स्वराज्य आन्दोलन का शंख बजा तो सामान्य ही नहीं विपन्न परिस्थितियों से जूझकर समृद्धि की ओर बढ़ रहे शास्त्रीजी ने भी अपनी जीवन दिशा बदली और महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आये । गाँधीजी शास्त्रीजी की सिद्धान्तनिष्ठा और आदर्शवादिता, लोकसेवा की भावना से बड़े प्रभावित हुए । एक दिन उन्होंने शास्त्रीजी को बुलाकर कहा-“देखो लालबाहादुर, तुममें लोकसेवा की उद्दाम भावना है । परन्तु इस मार्ग पर धन सम्पत्ति एक ऐसी बाधा है जिसकी चमक से चौंधियाकर आदमी लोकसेवा की बात भूल जाता है और उसे परिग्रह ही परिग्रह सुझता है । इसलिए लोकसेवकों को अपरिग्रह का व्रत लेना चाहिए ।”

शास्त्रीजी ने तत्काल यह प्रतिज्ञा की कि-“मैं गृह और सम्पत्ति अर्जित नहीं करूँगा तथा ईश्वर पर दृढ़ आस्था रखते हुए जीवन बीमा भी नहीं कराऊँगा ।”

प्रतिज्ञा लेकर तोड़ने वाले तो अनेकों हैं परन्तु शास्त्रीजी ने यह प्रतिज्ञा जीवन भर निबाही । यहाँ तक कि जब वे प्रधानमन्त्री बने तब भी उनके पास अपना कोई निजी मकान नहीं था ।

जीवन में कई अवसर आये जब परिग्रह उन्हें पथ-विचलित करने के लिए खड़ा हो गया । यद्यपि वे अवसर दूसरे लोगों द्वारा ही खड़े किये गये थे, परन्तु शास्त्रीजी बड़ी होशियारी से उन अवसरों के चंगुल में फँसने से बच निकलते । ऐसा ही एक अवसर सन् १९३६ ई० में आया । तब वे इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गये थे । इस बोर्ड के सदस्य होने के नाते वे इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के सदस्य भी बने । यह ट्रस्ट जमीनों के प्लॉट बनाता तथा उन्हें बेचा करता था । एक बार ट्रस्ट ने टैगोर टाउन मोहल्ले में निर्माण कार्य के लिए आधा-आधा एकड़ के प्लॉट बनाये और कम मूल्य पर बेचने का सिद्धान्त तय किया ।

शास्त्रीजी ने उस समय कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से बाहर थे । उनके एक मित्र ने इन प्लॉटों में से एक प्लॉट शास्त्रीजी के लिए तथा एक अपने लिए खरीदना चाहा, परन्तु बोर्ड के नियमों के अनुसार ट्रस्ट का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं कर सकता था । उक्त सदस्य ने कमिश्नर साहब से सम्पर्क साधकर शास्त्रीजी के लिए विशेष छूट माँग ली साथ ही उनके लिए भी छूट मिल गयी । उन्होंने एक-एक प्लॉट दोनों के लिए खरीद लिये ।

कुछ दिनों बाद शास्त्रीजी प्रवास से वापस लौटे । लौटते ही मित्र महोदय ने यह सम्वाद इस आशा के साथ

सुनाया कि शास्त्रीजी प्रसन्न होंगे । परन्तु शास्त्रीजी तो प्रसन्न होने के स्थान पर आहत हो उठे और बोले तुमने यह ठीक नहीं किया ।

शास्त्रीजी को इस प्रकार दुःखी होते देख कर उक्त सदस्य उन्हें शान्त कराने का प्रयत्न करने लगे और बताने लगे कि कमिश्नर साहब से इजाजत मिल जाने के बाद प्लॉट खरीदने में कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु शास्त्रीजी को यह कब सहन होने वाला था-आपत्ति हो या न हो । परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए । नियमों और सिद्धान्तों को तोड़ना सर्वथा अनुचित है और इसका प्रायश्चित्त यही है कि तुम मेरे प्लॉट सहित अपना प्लॉट भी ट्रस्ट को वापस कर दो ।

इन्होंने प्लॉट वापस करार ही चैन लिया । उन्हीं दिनों ट्रस्ट की मीटिंग हुई । ट्रस्टियों को दोनों प्लॉट वापस होने की बात ज्ञात थी । इसे सहायनीय आदर्शवादिता की संज्ञा देकर सभी ट्रस्टियों ने शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की । शास्त्रीजी ने बात को मजाक में टालते हुए कहा-“भाई आप प्लॉट वापस करने में कौन-सा आदर्शवाद मानते हैं । मैंने तो बापू को जो वचन दिया था उसे ही पूरा किया है और ट्रस्टी की हैसियत से ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को खरीदना भी कौन-सा अच्छा काम है ।”

शास्त्रीजी की दूरदर्शिता

सन् १९४९ । उन दिनों लालबाहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री थे, एक दिन लोक निर्माण विभाग के कुछ कर्मचारी उनके निवास स्थान पर कूलर लगाने आये । बच्चों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब की बार गर्मियाँ अच्छी तरह गुजर जायेंगी ।

जब शाम को शास्त्री जी घर आये तो उन्हें पता चला कि कूलर लगाया जा रहा है उन्होंने तुरन्त विभागीय कर्मचारियों को टेलीफोन पर मना कर दिया । पत्नी ने कहा-“जो सुविधा बिना माँगे मिल रही है उसके लिए मना करने की क्या आवश्यकता है ?”

यह आवश्यक नहीं कि मैं मन्त्री पद पर सदा रहूँगा, फिर इससे आदत बिगड़ जायेगी । कल लड़कियों की शादी करनी है मान लो विवाहोपरान्त इस तरह की सुविधाएँ न मिलीं तो उन्हें कष्ट ही होगा । जाने किस स्थिति में उन्हें रहना पड़े । शास्त्री जी ने कहा ।

शास्त्रीजी ने उस समय कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से बाहर थे । उनके एक मित्र ने इन प्लॉटों में से एक प्लॉट शास्त्रीजी के लिए तथा एक अपने लिए खरीदना चाहा, परन्तु बोर्ड के नियमों के अनुसार ट्रस्ट का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं कर सकता था । उक्त सदस्य ने कमिश्नर साहब से सम्पर्क साधकर शास्त्रीजी के लिए विशेष छूट माँग ली साथ ही उनके लिए भी छूट मिल गयी । उन्होंने एक-एक प्लॉट दोनों के लिए खरीद लिये ।

कुछ दिनों बाद शास्त्रीजी प्रवास से वापस लौटे । लौटते ही मित्र महोदय ने यह सम्वाद इस आशा के साथ

सुनाया कि शास्त्रीजी प्रसन्न होंगे। परन्तु शास्त्रीजी तो प्रसन्न होने के स्थान पर आहत हो उठे और बोले तुमने यह ठीक नहीं किया।

शास्त्रीजी को इस प्रकार दुःखी होते देखकर उक्त सदस्य उन्हें शान्त कराने का प्रयत्न करने लगे और बताने लगे कि कमिश्नर साहब से इजाजत मिल जाने के बाद प्लाट खरीदने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु शास्त्रीजी को यह कब सहन होने वाला था—“आपत्ति हो या न हो। परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। नियमों और सिद्धान्तों को तोड़ना सर्वथा अनुचित है और इसका प्रायश्चित्त यही है कि तुम मेरे प्लाट सहित अपना प्लाट भी ट्रस्ट को वापस कर दो।”

इन्होंने प्लाट वापस कराकर ही चैन लिया। उन्हीं दिनों ट्रस्ट की मीटिंग हुई। ट्रस्टियों को दोनों प्लाट वापस होने की बात ज्ञात थी। इसे सराहनीय आदर्शवादिता की संज्ञा देकर सभी ट्रस्टियों ने शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। शास्त्रीजी ने बात को मजाक में टालते हुए कहा—“भाई आप प्लाट वापस करने में कौन-सा आदर्शवाद मानते हैं। मैंने तो बापू को जो वचन दिया था उसे ही पूरा किया है और ट्रस्टी की हैसियत से ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को खरीदना भी कौन-सा अच्छा काम है।”

शास्त्रीजी की दूरदर्शिता

सन् १९४९। उन दिनों लालबाहदुर शास्त्री उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री थे, एक दिन लोकनिर्माण विभाग के कुछ कर्मचारी उनके निवास स्थान पर कूलर लगाने आये। बच्चों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब की बार गर्मियाँ अच्छी तरह गुजर जायेंगी।

जब शाम को शास्त्रीजी घर आये तो उन्हें पता चला कि कूलर लगाया जा रहा है उन्होंने तुरन्त विभागीय कर्मचारियों को टेलीफोन पर मना कर दिया। पत्नी ने कहा—“जो सुविधा बिना मँगि मिल रही है उसके लिए मना करने की क्या आवश्यकता है?”

‘यह आवश्यक नहीं कि मैं मन्त्री पद पर सदा रहूँगा, फिर इससे आदत बिगड़ जायेगी। कल लड़कियों की शादी करनी है मान लो विवाहोपरान्त इस तरह की सुविधाएँ न मिलीं तो उन्हें कष्ट ही होगा। जाने किस स्थिति में उन्हें रहना पड़े। शास्त्रीजी ने कहा।

जो हो वही दिखलायें—

प्रधानमन्त्री श्री लालबाहदुर शास्त्रीजी की पत्नी श्रीमती शास्त्री ने अपने जीवन के रोचक प्रसंग सुनाते हुये बताया—

जब मैं पहली बार अपने पति के साथ रूस यात्रा के लिए तैयार हुई तो मुझे बड़ा डर लग रहा था। मैं सोच रही थी कि मैं सीधी-साधी भारतीय गृहणी हूँ। राजनीति का मुझे ज्ञान नहीं, विदेशी तौर-तरीकों का पता नहीं। कहीं मुझसे कोई ऐसे प्रश्न न किए जायें जिनका उत्तर मैं

ठीक से न दे पाऊँ और तब मेरे पति अथवा देश का गौरव कुछ घटे अथवा उनकी हँसी हो।

किन्तु फिर मैंने यह निश्चय करके अपना डर दूर कर लिया कि मैं एक महान देश के प्रधानमन्त्री की पत्नी के रूप में अपने को पोज ही नहीं करूँगी। मैं तो सबके सामने अपने को एक साधारण भारतीय गृहणी के रूप में रखूँगी।

मैंने वहाँ जाकर अपने को एक गृहणी के रूप में ही पेश किया। वहाँ के अच्छे लोगों ने मुझसे घर-गृहस्थी के विषय में ही बातचीत की। जिसका उत्तर देकर मैंने सबको सन्तुष्ट कर दिया। इस प्रकार मैंने एक बहुमूल्य अनुभव यह पाया कि मनुष्य वास्तव में जो कुछ है यदि उसी रूप में दूसरों के सामने अपने को पेश करे तो उसे कोई असुविधा नहीं होती और उसकी सच्ची सरलता उपहास का विषय न बनकर स्नेह एवं श्रद्धा का विषय बनती है।

सादगी की मिसाल-शास्त्रीजी

लालबाहदुर शास्त्री के मन्त्रीत्व काल में देशी-विदेशी अतिथियों का ताँता लगा ही रहता था। कितने ही व्यक्ति राजनीतिक परामर्श हेतु आते। तो कोई अपनी कठिनाइयों के हल हेतु उपस्थित होते। सर्दी के दिन थे। लोकनिर्माण विभाग के कर्मचारियों ने शास्त्री जी के कमरे में एक कीमती कालीन लाकर बिछा दिया।

शास्त्रीजी ने यह कालीन देखा तो विरोध करते हुए कहा—“जिस वस्तु के बिना कार्य चल सकता है उसे खरीदने की क्या आवश्यकता?” उस कालीन को अपने कमरे से निकलवा दिया।

शास्त्रीजी का जीवन बड़ा सादगीपूर्ण था। धन संचय करना तो उन्होंने कभी सीखा ही न था। अपने वेतन का बहुत बड़ा भाग अभावग्रस्त लोगों में सहायता हेतु वितरित कर देते थे। यही कारण है कि वर्षों तक मन्त्री पद पर रहने तथा १८ माह प्रधानमन्त्री जैसे उच्च पद पर रहते हुए भी निजी निवास की कोई व्यवस्था न कर सके। शास्त्रीजी की इससे बड़ी महानता और क्या हो सकती है।

मितव्ययी शास्त्रीजी

राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए प्रधानमन्त्री श्री लालबाहदुर शास्त्री को लन्दन जाना था। उनके पास कोट दो ही थे। उनमें से एक में काफी बड़ा छेद हो गया था।

शास्त्रीजी के निजी सचिव श्री वेंकटरमण ने नया कोट सिला लेने का आग्रह किया पर शास्त्रीजी ने इन्कार कर दिया। फिर भी वेंकटरमण खरीद लाये और दर्जी को बुलवा लिया जब कोट का नाप लिया जाने लगा तो शास्त्रीजी हँसकर बोले—“इस समय तो इसी पुराने कोट को पलटवा लो। नहीं ठीक जमा तो दूसरा सिलवा लूँगा।” जब कोट दर्जी के यहाँ से आया तो कोट की

मरम्मत का पता तक नहीं चला । तब शास्त्रीजी ने कहा-“जब कोट की मरम्मत का पता हमें नहीं चल पा रहा है, तो सम्मेलन में भाग लेने वाले क्या पहचानेंगे ?”

और वे उसी कोट को पहनकर राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में भाग लेने के लिये गये । ऐसी थी शास्त्रीजी की सादगी ।

समय के पाबन्द

समय के पाबन्द और घड़ी की सुई के साथ चलने वाले स्वर्गीय लालबहादुर तब रेलमन्त्री थे । वे सरदार नगर में हो रहे एक सम्मेलन में जा रहे थे । मार्ग में एक गाँव पड़ता था । उस गाँव से जब वे गुजर रहे थे तो कुछ ग्रामीणों ने उनकी कार रोक ली ।

पूछा गया कि “क्या बात है ।” तो ग्रामीणों ने कहा “एक गरीब किसान की औरत की प्रसूति का समय निकट है । कोई वाहन मिल नहीं रहा है और उसे पास के शहर भिजवाना है यदि आप इस गाड़ी में उसे ले जाने दें तो अच्छा है ।”

“नहीं यह गाड़ी एक सरकारी काम से सरदार नगर जा रही है-शास्त्रीजी के ही किसी सहायत्री ने तत्काल उत्तर दिया” तो ग्रामीणों ने अनुयय करते हुए कहा “जी उसे भी सरदार नगर ही ले जाना है ।”

बात को अनसुनी करते हुए सहायत्री अधिकारियों ने गाड़ी चलाने को कहा लेकिन शास्त्रीजी तुरन्त ही गाड़ी से नीचे उतर पड़े और बोले-ले आओ उस बहिन को अपनी गाड़ी से मैं उसे समीपस्थ शहर पहुँचा दूँगा ।

इस पर उनके साथी ने कहा श्रीमान देर होती जा रही है और आप अभी यहीं खड़े हैं वे लोग घण्टे भर से पहले नहीं आयेंगे ।

न आने दो । पर सम्मेलन से ज्यादा महत्वपूर्ण है वह बहिन । हम एक जनसेवक कहलाते हुए भी ऐसे नाजुक मौकों पर मुकर जायें तो इससे बड़ी आत्म प्रवर्चना और क्या होगी-शास्त्रीजी ने कहा और उस स्त्री को सरदारपुर पहुँचाकर ही माने ।

सहनशीलता की परीक्षा ही सही

शास्त्री जी के ताशकन्द जाने और वहाँ से फिर जीवित न लौटने के कुछ दिन पहले की बात है । शास्त्री जी भोजन करने बैठे । उनका मनपसन्द भोजन बना था-खिचड़ी और आलू का भर्ता । पर स्वाद कहाँ से आये नमक ही जो नहीं था उनमें ।

शास्त्रीजी बड़े प्रेम से उस अस्वाद भोजन को खाते रहे । चेहरे पर कोई अप्रिय रेखा तक नहीं उभरी । जब ललिता जी ने भोजन करते समय खिचड़ी और भर्ता चखा तो उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । उन्होंने शास्त्रीजी से अपनी भूली की क्षमा माँगी तो वे हँसते हुए बोले-“भूल में ही सही हमारी सहनशीलता की परीक्षा तो हो गयी ।”

मैं नींव का पत्थर बनना चाहता हूँ

श्री लालबहादुर शास्त्री से एक बार उनके मित्र ने पूछा-“आप हमेशा प्रशंसा से दूर रहा करते हैं, स्वागत-सत्कार के कार्यक्रमों की टाला करते हैं । आखिर क्यों ?”

शास्त्रीजी ने हँसकर बोले-“भाई, इसका कारण यह है कि एक बार लाजपतराय जी ने मुझसे कहा था-लालबहादुर, ताजमहल बनाने में दो प्रकार के पत्थरों का उपयोग हुआ है । एक तो बहुमूल्य संगमरमर, जिसका उपयोग गुम्बज के लिए और यत्र-तत्र किया गया है । दूसरा एक साधारण पत्थर जिसका ताजमहल की नींव में उपयोग किया गया है और जिसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता । हमें जीवन में इस दूसरे प्रकार के पत्थर का ही अनुकरण करना चाहिए । अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा और आदर-सत्कार से हमेशा दूर रहना चाहिए । बस ! उनकी यह सीख मेरे मन में पैठ गयी है और मैं उस नींव के पत्थर का ही अपने जीवन में अनुकरण करता रहता हूँ ।”

व्यवहार कुशलता

लालबहादुर शास्त्री जब केन्द्रीय मन्त्री थे तब उनकी कोठी ऐसी थी जिसके दो दरवाजे थे एक जनपथ रोड की ओर था दूसरा अकबर रोड की ओर ।

एक दिन सिर पर लकड़ी का बोझ रखे कुछ मजदूर स्त्रियाँ इधर आयीं और चक्कर से बचने के लिये शास्त्रीजी के बँगले से घुस पड़ीं ।

उन्हें देखा तो चौकीदार बिगड़ खड़ा हुआ । वह उन्हें वापस लौटाने लगा तो शास्त्रीजी आ गये । स्थिति समझते देर न लगी । चौकीदार को शान्त करते हुए उन्होंने कहा-“देखो इनके सिर पर कितना बोझ है यदि इन्हें यहाँ से निकल जाने में थोड़ी राहत होती है तो तुम इन्हें क्यों रोकते हो ?”

भारतीय जीवन दर्शन के साधक-

डॉ० सम्पूर्णानन्द

डॉ० सम्पूर्णानन्द उन दिनों मुख्यमंत्री थे । एक दिन प्रान्तीय विधान सभा के विधायक तथा एक उपमंत्री उनके पास पहुँचे और अपने क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे । डॉ० साहब ने दोनों की बातें विस्तारपूर्वक सुनीं और जान लिया कि ये लोग जो कुछ कह रहे हैं वह संकुचित स्वार्थ की भावना के प्रेरित होकर ही कह रहे हैं । उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया और आगन्तुक राजनेताओं को उससे अवगत करा दिया । परन्तु विधायक और मंत्री महोदय को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ उन्होंने अपनी बात को फिर से दोहराया ।

डॉ० साहब हाँ-हूँ करते रहे । इतने पर भी वे लोग उनका इशारा नहीं समझे तो पास में पड़ी हुई पुस्तक

उठाकर पढ़ने लगे। पास में ही बैठे एक सज्जन ने उन दोनों व्यक्तियों को समझाया कि डॉ० साहब ने अपना निर्णय दे दिया है। फिर भी वे अपनी बात करते रहे। डॉ० साहब ने खीजते हुए कहा-आप बार-बार कह रहे हैं परन्तु मैं इससे अपनी राय में परिवर्तन थोड़े ही कर लूँगा।"

क्षेत्रीय और संकीर्ण हितों को पूरा करवाने के लिए डॉ० साहब के सम्बन्धों का उपयोग करने वालों से उन्हें जितनी चिढ़ होती थी उतनी शायद ही अन्य प्रकार के व्यक्तियों से होती होगी। डॉ० साहब ऐसी ही चारित्रिक विशेषताओं के स्वामी थे। राजनीति, साहित्य और धर्मदर्शन के क्षेत्र में अपनी योग्यता, निष्ठा और श्रम के बल पर उन्होंने आश्चर्यजनक प्रगति की, उन्हें समाज ने पर्याप्त सम्मान और प्रतिष्ठा भी प्रदान की परन्तु इन सब उपलब्धियों के बीच भी वे जल में कमल के समान निर्लिप्त ही रहे। उन्होंने अपने पद और सम्मान का उपयोग कभी भी व्यक्तिगत सुखों के लिए नहीं किया।

किसी भी प्रतिष्ठित पद पर पहुँचने के बाद सामान्य व्यक्ति प्रायः अपने सुख-साधनों की अभिवृद्धि में ही लग जाते हैं परन्तु डॉ० साहब इस आदत से सर्वथा परे थे। उन्होंने कभी कुछ नहीं लिया और न ही सम्पत्ति संचय की ओर ध्यान दिया। मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र देने के समय उनके पास अपना निजी मकान तक नहीं था। इतने अलिप्त और अपरिग्रही महामानव बिरले ही मिलते हैं।

डॉक्टर साहब का जन्म काशी के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। उनका परिवार अच्छी स्थिति में था इसलिए उनकी शिक्षा के प्रति आरम्भ से ही ध्यान दिया गया और उससे भी अधिक ध्यान दिया गया उनके चरित्र निर्माण की ओर। मानवीय सद्गुणों के धारण और अभिवर्द्धन के प्रति उन्हें आरम्भ से ही प्रेरित किया जाता रहा है। इसी कारण उन्होंने सैद्धान्तिक धरातल पर अपने व्यक्तित्व का इस प्रकार गठन किया कि लोगों ने उन्हें कर्मयोग संयासी कहकर पुकारना शुरू कर दिया। वास्तव में वे इस सम्बोधन के सर्वथा योग्य थे भी।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल० टी० की परीक्षायें उत्तीर्ण की।

उच्च प्रतिष्ठित घराने से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें अच्छी संस्थाओं में सेवा का निमन्त्रण मिला। परन्तु उन्होंने शिक्षा जगत को ही अपना कर्मक्षेत्र चुना। महाराजा महेन्द्र प्रताप द्वारा संस्थापित प्रेम महाविद्यालय में वे शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए और अध्यापक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया।

अध्यापन कार्य का चयन करते समय उनकी यही धारणा थी कि वे ऐसी नयी पीढ़ी का निर्माण करने के लिए प्रयत्न करें जो विशुद्ध रूप से भारतीय हो। उस समय देश गुलाम था, यहाँ के युवक भी दासता और पाश्चात्य

सभ्यता से प्रभावित होकर भारतीय परम्परा और संस्कृति को भूलते जा रहे थे। ऐसे समय संस्कृति पर छाये संकट के बादलों को दूर करने के लिए उनका भाव प्रेरित निश्चय, संकल्प उनके भारतीय संस्कृति के अनन्य अनुराग का परिचायक ही है। भारतीय जीवन के प्रति अटूट विश्वास ही उनके जीवन का प्रधान बिन्दु है। शिक्षा के माध्यम से ही नहीं साहित्य के माध्यम से भी उन्होंने भारतीय संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा का कार्य किया।

अपनी आस्था को व्यक्त करते हुए डॉ० साहब ने एक स्थान पर लिखा है-"सभ्यता और संस्कृति का उदय सबसे पहले आर्यों में ही हुआ और प्राचीनकाल में तपस्वियों, ऋषियों और मुनियों ने ही सर्वप्रथम मानव जाति को आत्मज्ञान का मार्ग दिखाया।"

अध्यापन का व्यवसाय चुनकर के युवा पीढ़ी में भारतीय परम्पराओं और मान्यताओं के प्रति निष्ठा पैदा करना चाहते थे। बाद में भी उनके जीवन की समस्त गतिविधियाँ इसी बिन्दु के इर्द-गिर्द घूमती रहीं और वे उदार मानवीय सभ्यता का प्रचार करते रहे।

प्रेम महाविद्यालय के बाद उन्होंने १९१५ से १९१८ तक इन्दौर के राजकुमार कॉलेज में तथा उसके बाद इंदौर कॉलेज, बीकानेर में अध्यापन किया। बाद में वे स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े और कई बार जेल यात्राएँ भी कीं। जेलों में ही उनका साहित्यकार जागा और उन्होंने कलम उठाई। इसके पूर्व वे कवितायें भी लिखा करते थे परन्तु साहित्य में उन्होंने पूर्णतया प्रवेश तो राजनीतिक जीवन आरम्भ करने के बाद ही किया। अध्ययनशील स्वभाव ने उन्हें विशेष साहित्यिक प्रतिभा प्रदान की और इस प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में किया। 'दर्शन और जीवन' चिद्विलास, आर्यों का आदि देश, गणेश, हिन्दू विवाह में कन्यादान-आदि कई ग्रन्थ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की अनुपम कृतियाँ हैं।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उन्होंने बड़ी सफलतायें प्राप्त कीं। लम्बे समय तक वे 'आज' दैनिक और 'जागरण' तथा 'मर्यादा' मासिक के सम्पादक रहे। ज्यों-ज्यों उनकी प्रतिभा विकसित होती गयी त्यों-त्यों वे एक एकाकी बनते चले गये। आरम्भ में उनकी पत्नी स्वर्गवासी हुई बाद में उनकी एक पुत्री तथा पुत्र भी चल बसे। परन्तु डॉक्टर साहब ने इन आधिदैविक विपत्तियों को धैर्यपूर्वक सहन किया। यह मानकर कि परमात्मा इन्हें भी किसी न किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए भेज रहा है और वे इस विश्वास के बल पर निश्चल बने रहे। सच है ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास व्यक्ति को कठिनाइयों तथा विपत्तियों की घड़ियों में भी वह धैर्य प्रदान करता है, जिसके बल पर वह प्रतिकूल परिस्थितियों को भी आसानी से सह लेता है।

अपने व्यक्तित्व की इसी विशेषता के बल पर उन्होंने भारतीय संस्कृति के महासागर में से मणिमुक्ता चुन-चुन कर निकाले। कोई भी लक्ष्य निर्धारित करने वाले मनुष्य को अनिवार्य रूप से परिश्रमशील तथा सादगी पसन्द होना

पड़ता है चूँकि डा० साहब के सामने भी एक लक्ष्य था भारत का सांस्कृतिक पुनरुत्थान इसलिए उन्होंने भी इन शर्तों को निष्ठा और उत्साहपूर्वक पूरा किया। वे प्रातः चार बजे उठ जाया करते और रात्रि के बारह बजे तक व्यस्त रहते। समय की पाबन्दी और अशिक्षित व्यस्तता उनकी दिनचर्या की अपरिहार्य विशेषतायें रही हैं।

दूसरी अनिवार्य शर्त के अनुरूप उन्होंने सादगी का भी वरण किया। समय पर जो मिल गया खा लिया और साधारण से साधारण कपड़ा भी पहन लिया। यद्यपि उन्हें किन्हीं भी वस्तुओं का अभाव नहीं था फिर भी उन्होंने सादा और सरल जीवन जिया क्योंकि बाहरी रखरखाव, फैशन, शृंगार में ही समय व्यतीत कर देने वाला व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल कहाँ हो पाते हैं।

राजनीति में भी उन्होंने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवेश किया और प्रशासन के कई महत्वपूर्ण पदों पर रहते हुए देश की सेवा की। सन् १९३८ में वे उत्तरप्रदेश मंत्रिमंडल के शिक्षामंत्री बने। बाद में स्वतन्त्र भारत की उत्तर प्रदेश सरकार के मुख्यमंत्री भी रहे। इन उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर रहते हुए भी अपने दल के ही लोगों से भारतीय संस्कृति को आघात पहुँचाने वाली नीतियों से कभी समझौता नहीं किया। पिछले दिनों हिन्दी के प्रश्न पर उनके मतभेद ने ही उन्हें सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति बना दिया था।

भारतीय संस्कृति के अनन्य पोषक होते हुए भी उन्होंने उन परम्पराओं का कभी समर्थन नहीं किया जिन्होंने देश और समाज को अपार हानि पहुँचाई थी तथा जिनका आधार केवल अन्धविश्वास मात्र था। ब्राह्मण और जातिवाद के खिलाफ उन्होंने कलम उठाई और जो तर्कपूर्ण विचार दिये उससे ब्राह्मण समाज में खलबली पैदा हो गयी। ब्राह्मणत्व का आधार जन्म और वंश नहीं कर्म और स्वभाव मानते हुए उन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' पुस्तक में लिखा-जन्म अयोग्य ब्राह्मण ही शुद्ध ब्राह्मणत्व के आह्वान को गलत ढंग से आत्मनिन्दा समझने की मूर्खता करता है। यह कट्टरपन्थी ब्राह्मणों का ही प्रसाद था कि तुलसी को काशी के बाहर रहना पड़ा। दयानन्द को दम्भी पण्डितों और कठमुल्लाओं की यह नगरी छोड़नी पड़ी।'' इस कथन की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई परन्तु उन्होंने बड़ी निडरता के साथ अपना मत प्रतिपादित किया। उनकी दृष्टि में संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में स्वार्थी तथा संकुचित मनोवृत्ति के लोगों द्वारा हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न हुई इन प्रवृत्तियों को दूर करना आवश्यक हो गया था।

अन्धविश्वास के विरोध और स्वस्थ परम्पराओं का समर्थन उन्होंने अपनी स्वयं की विवेक बुद्धि के आधार पर ही किया। यही कारण है कि उन्हें राजनायक, साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता और शिक्षा शास्त्री की अपेक्षा एक दार्शनिक के आधार पर अधिक प्रतिष्ठा मिली

है। तार्किकता की प्रधानता उनके दर्शन को सर्वथा एक नया रंग दे गयी है। उन्होंने संसार की विभिन्न विचार-धाराओं का अध्ययन किया और न्याय तथा व्यवस्था की स्थापना के लिए समाजवाद को सर्वाधिक समर्थ पाया। परन्तु समाजवाद की आत्मा में भी उन्होंने भारतीय अध्यात्म के दर्शन हुए और उसकी उद्भवस्थली भारतभूमि ही दिखाई दी। समाजवाद की जो व्याख्या उन्होंने की है वह कोई विदेशी आयातित सिद्धान्त नहीं वरन् विशुद्ध भारतीय चिंतनधारा है। इसी कारण एक बार महात्मा गाँधी ने स्वयं उनसे कहा था "ऐसा लगता है कि समाजवादी होते हुए भी तुम वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते हो।"

डॉक्टर साहब ने स्वीकार करते हुए भारतीय समाजवाद को ही यहाँ की भूमि और समाज के अनुकूल बताया था।

उनके जीवन की और भी सबसे बड़ी विशेषता है स्वानुभूतियों पर विश्वास। भारतीय संस्कृति के प्रति उन्होंने केवल विश्वास ही नहीं किया वरन् उनकी सत्यता को परखा भी सही। योग और तन्त्र जैसी साधना पद्धतियों में वे बहुत गहराई तक उतरे और उसके बाद प्राप्त निष्कर्षों को उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखा। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार करते हुए लिखा है-"मैंने योग और ज्ञान पर स्वानुभूति के प्रकाश में ही लिखा है इसलिए वह सब मेरे दृढ़ विश्वास की अभिव्यंजना ही है।" उनके परिवार में कई योगी महात्मा आया करते थे, वे स्वयं भी अनेकों बार संत पुरुषों के पास गये और इस विषय में उनका परामर्श प्राप्त किया।

भारतीय जीवन के समग्र साधक होने के नाते ही वे स्वतन्त्रता-सैनिक, मुख्यमंत्री, राज्यपाल, अध्यापक, वेदशास्त्र, मर्मज्ञ, योगाभ्यासी, समाज-सुधारक, साहित्यकार, हिन्दी के प्रबल प्रचारक आदि अनेक रूपों में सामने आये। उनका जीवन बौद्धिक अनुशासन के अगणित संघर्षों की कहानी है। जिस बात को अच्छा और वरणीय समझ लिया उसे अंत तक पूरी करने का प्रयत्न उन्होंने आजीवन किया। हिन्दी का प्रश्न हो या समाजवाद का, विश्वास और अंधविश्वास, परम्परायें और अन्ध-परम्परायें सभी के निर्धारण में उन्होंने विवेक और नीर-क्षीर विषयक बुद्धि के बल पर अनुशासित और नियमबद्ध ढंग से अपना पक्ष सामने रखा तथा लाख विरोध सहने के बावजूद भी औचित्य के समर्थन से मुँह नहीं मोड़ा।

समाज के हर क्षेत्र में सक्रिय होने के बावजूद भी वे आत्म-प्रशंसा से कोसों दूर रहे। अपने आरम्भिक कर्म-क्षेत्र के प्रति उनकी अनुरक्ति किंचित भी कम नहीं हुई। काशी विद्यापीठ से उनका शुरू से ही सम्बन्ध रहा। यह सम्बन्ध उनके शिक्षा प्रेम का ही प्रमाण है। सरस्वती के इस वरद पुत्र का देहान्त ९ जनवरी, १९६९ को हुआ।

कर्मयोग के उपदेष्टा-

लोकमान्य तिलक

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत वर्ष में प्लेग की संक्रामक वृद्धि का प्रकोप बड़ी तीव्रता से दिखाई दिया था। यह बीमारी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को इस प्रकार उड़कर लगती थी कि बड़े-बड़े साहसी इसके नाम से काँपते थे। कलकत्ता जैसा सबसे बड़ा नगर इसके आतंक से कुछ समय के लिए उजाड़ हो गया था और उसकी रक्षा के लिए सेना की सहायता लेनी पड़ी थी। इसी व्याधि का आक्रमण जब पूना शहर पर हुआ तो वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। इसकी व्यवस्था के लिए जो गोरे अफसर और सिपाही वहाँ नियुक्त किये गये थे उनका व्यवहार जनता के साथ कठोर और अपमान-पूर्ण था, जिससे प्लेग के साथ वे सरकारी कर्मचारी जनता को और भी बड़ी बीमारी की तरह जान पड़ने लगे। यह असन्तोष का भाव इतना अधिक फैल गया कि दो युवकों ने 'रैण्ड' नामक अँग्रेज अफसर को पिस्तौल से मार दिया।

इस घटना से अँग्रेज अधिकारी क्रुद्ध हो उठे और चारों ओर दमन की धूम मचा दी। जिससे जनता घबरा उठी। सरकार की इस नीति का विरोध किया तिलक ने साथ ही दमन करने वाले अधिकारियों को दोषी ठहराया। उस पर सरकार ने तिलक को मानहानि का दोषी बतलाकर गिरफ्तार कर लिया और मनचाही कार्यवाही करके १८ महीनों की कड़ी कैद की सजा सुना दी। जेल में उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें दी गयीं, उनसे सब प्रकार का कार्य कराया गया और खाने को खराब भोजन दिया गया। जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर हुआ परिणामतः वे बीमार हो गये। यह समाचार जब प्रकाशित हुआ तो भारत ही नहीं इंग्लैण्ड में भी उसका विरोध किया गया और मैक्समूलर, सर विलियम हंटर, विलियम केन, दादा भाई नौरोजी जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इंग्लैण्ड की सरकार से कहा कि तिलक के समान विद्वान व्यक्ति के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाना कलंक की बात होगी। इन सब प्रभावशाली सज्जनों के प्रयास से अन्त में तिलक को एक वर्ष बाद छोड़ दिया गया।

श्री बालगंगाधर तिलक (सन् १८५६-१९२०) ने प्रारम्भ से ही जनता की सेवा का व्रत ले रखा था। सन् १८७९ में बी० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षा पास कर लेने पर घर वाले तथा इष्ट मित्र यह आशा सँजोए बैठे थे कि वे अब वकालत में खूब पैसा कमाएँगे और वंश के गौरव तथा वैभव की वृद्धि करेंगे। किन्तु तिलक कुछ और ही करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सेवायें एक शिक्षा संस्थान के निर्माण के लिए अर्पित कर दीं। इसके परिणामस्वरूप सन् १८८० में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' और

उसके चार-पाँच वर्ष बाद 'फर्ग्युसन कॉलेज' की स्थापना की गई। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महाराष्ट्र में जो उल्लेखनीय जन-जाग्रति और सामाजिक उत्थान की योजनाएँ हुईं उनका श्रेय मुख्यतः इन दो शिक्षा संस्थाओं से पढ़कर निकलने वाले विद्यार्थियों को ही है।

लोकमान्य तिलक ने जन-जाग्रति का कार्यक्रम पूरा करने के उद्देश्य से महाराष्ट्र में दो राष्ट्रीय त्यौहारों का प्रचलन किया। इनमें से एक था 'गणपति उत्सव' और दूसरा था 'शिवाजी जयन्ती' गणपति की मान्यता महाराष्ट्र में प्राचीनकाल से है और उस त्यौहार को पुराने ढंग से बराबर मनाया जाता था। तिलक जी ने बंगाल की दुर्गापूजा की तरह उसे एक सप्ताह तक पूजने और साथ में तरह-तरह के राष्ट्रीय तथा सामाजिक महत्व के कार्यक्रम सम्मिलित कर उसे लोकशिक्षण का माध्यम बना दिया। शिवाजी महाराज का उदाहरण तो राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनुपम है ही। उन्होंने विदेशियों के आक्रमण से स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा के लिए ही आजन्म कार्य किया। इन उत्सवों के कारण दो-तीन वर्षों में ही ऐसी जन-जाग्रति हुई कि सरकार उससे डरने लग गई और उसने ऐसी चाल चली कि पूना और बम्बई में भयंकर हिन्दू मुस्लिम दंगे प्रारम्भ हो गए। सरकार ने इसका दोषारोपण 'शिवाजी जयन्ती' पर किया कि उसी के कारण मुसलमान रुष्ट हो गए और हिन्दुओं से लड़ बैठे। पर तिलक जी उनकी इस प्रकार की चाल से विचलित नहीं हुए। बल्कि निर्भीक होकर उन्होंने अपने पत्र 'केसरी' साप्ताहिक में लिखा-

मैं समझता हूँ कि इन झगड़ों का कारण सरकार ही है। उसकी पक्षपातपूर्ण नीति के कारण दंगों की शुरुआत होती है। देश में इस समय हिन्दू-मुस्लिम द्वेष के बीज बोये जा रहे हैं। लार्ड डफरिन की भेद नीति ही इन दंगों का मूल है।"

वे राष्ट्रीयता का महत्व समझते थे और ऐसी सामयिक घटनाओं तथा दस-बीस व्यक्तियों के मारे जाने से घबरा कर पीछे कदम रखने वालों में से नहीं थे। यद्यपि बम्बई में मुस्लिम-गुण्डों द्वारा हिन्दुओं की अधिक हानि हुई थी तो भी तिलक जी ने अपने अनुयायियों को ऐसी बातों से आतंकित न होने का उपदेश दिया, उन्हें ढाँढ़स बैधाया-"यदि मुसलमान पशुता एवं अमानुषिक कृत्यों पर तुल गये हैं तो तुम्हें भी तत्काल रक्तपात और अनुचित उपायों का आलम्बन नहीं करना चाहिए। संगठन में शक्ति निहित होती है। संगठन द्वारा अपने को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयास करो। जब तुम शक्तिशाली हो जाओगे तो दंगे होंगे ही नहीं।"

लोकमान्य तिलक का यह कथन समय आने पर सत्य सिद्ध हुआ। सरकार की भेदनीति ने जब मुस्लिम लोगों को महत्व देकर हिन्दू-मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया तो सन् १९२० के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे भयंकर रूप से भड़क उठे थे। उनमें प्रारम्भ में तो हिन्दुओं को हानि उठानी पड़ी, पर एक दो

बार में जब वे ऐसी घटनाओं के लिए संगठित होकर गुण्डों का मुकाबला करने लगे तो उपद्रवियों का उत्साह टूट गया और फिर दंगे स्वयमेव ही कम होते चले गये ।

इस प्रकार सरकार से तिलक जी का संघर्ष बढ़ता ही गया । वे सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रगति के लिए जनता को तरह-तरह से प्रेरणा देते थे और विदेशी सरकार को इसमें अपनी जड़ कटती जान पड़ती थी । इसलिए सन् १९०७-०८ में तिलक जी ने कांग्रेस को सरकार के मुकाबले में क्रान्तिकारी कार्यक्रम अपनाने की प्रेरणा दी तो सरकार बौखला गई और उसने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर छह वर्ष के देश निकाले का दण्ड दे दिया । उसका स्पष्ट आशय यही था कि जब तक वे भारतीय जनता के निकट रहेंगे तब तक उनका व्यक्तित्व सर्वसाधारण को प्रभावित करता ही रहेगा । इसलिए उनको बर्मा की माँडले जेल में रखा गया, जहाँ न कोई उनकी भाषा समझने वाला था और न उनसे किसी प्रकार परिचित । सरकार के उद्देश्य को समझकर लोकमान्य ने भी अपना ध्यान सब तरफ से हटाकर 'गीता' का अध्ययन आरम्भ कर दिया और छ वर्ष में उसका एक प्रेरणाप्रद भाष्य तैयार किया और जिससे भारतीय जनता स्वयं ही कर्तव्य पालन की प्रेरणा प्राप्त करती रह सकती थी ।

'श्री भागवद्गीता' सत् सिद्धान्तों की कैसी अपूर्व खान है, इसको विद्वान लोग भली प्रकार जानते हैं । कहने को तो वह सात सौ श्लोकों की एक छोटी-सी धार्मिक पुस्तक है, जिसका लाखों व्यक्ति हर रोज पाठ भी कर लेते हैं पर उनमें मानव कर्तव्यों का इस खूबी से निरूपण किया गया है कि प्रत्येक देश, काल, परिस्थिति में लोगों का सही मार्ग दर्शन कर सकती है । यही कारण था कि सन् १९०५ से आरम्भ होने वाले स्वाधीनता आन्दोलन में भी विद्वानों ने उसका सहारा लिया और अरविन्द, तिलक, गाँधी, विनोबा आदि जैसे महान विचारकों ने उसके सिद्धान्तों की समयानुकूल व्याख्या करके भारतीय जनता को अपने न्यायपूर्ण अधिकारों के संघर्ष में निर्भय बना दिया । लोकमान्य का गीता रहस्य उनके जेल से छुटकारे के बाद जब प्रकाशित हुआ तो उसका प्रचार आँधी तूफान की तरह बढ़ा और आज कई वर्ष हो जाने पर भी उसके महत्व में कमी नहीं हुई है ।

लोकमान्य तिलक यद्यपि कट्टर धार्मिक हिन्दू थे और राजनीति की तरह धर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहते थे, पर वे हानिकारक रूढ़ियों के समर्थक न थे । लोकमान्य के जीवन में धार्मिकता, सामाजिकता और राजनीति का इस प्रकार समन्वय हुआ था कि वर्तमान युग में वह भारतीय जनता के लिए सबसे बड़ा आदर्श थे ।

महान उद्देश्य के लिए पत्नियाँ भी आत्मोत्सर्ग करें

"मैं आ गया हूँ ।"

"आप आ गये"—बिस्तर पर रुग्णावस्था में पड़ी सत्यभामा ने आँखों को खोलने का असफल प्रयास करते हुए कहा ।

हाँ सत्यभामा! तुमसे मिलने के लिए सरकार ने मुझे बिना शर्त रिहा कर दिया । आँख खोलकर जरा इधर तो देखो—सत्यभामा के प्रति पति ने कहा ।

"ठीक ही हुआ कि आप आ गये । मन में आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी । भगवान बहुत दयालु हैं उसने मेरी पुकार सुन ली ।"

"अच्छा ! सत्यभामा तुमने मुझे पहचान लिया है ।"

"हाँ पहचानूँगी क्यों नहीं"—अचेतावस्था में भी अपने पति की आवाज को पहचान लेने की स्वीकारोक्ति में कहा—"मैंने आपकी आवाज पहचान ली है । मेरे माथे पर आपने यह जो अपना हाथ रखा है वह भी पहचाना, सब कुछ पहचाना है । कितने कमजोर हो गये आप । यात्रा के कारण आपके पाँव थक गये होंगे, उन्हें मेरी ओर इधर कर दीजिए ताकि मैं आपकी चरण सेवा कर सकूँ ।"

"नहीं सत्यभामा नहीं" सत्यभामा के पति ने कहा—"इसकी कोई जरूरत नहीं । मैं बिल्कुल ठीक हूँ अब तुम भी जल्दी ठीक हो जाओ ।"

"क्यों नहीं अब आप आ गये हैं तो मैं अवश्य ठीक हो जाऊँगी" सत्यभामा ने कहा और अपने पुत्रियों को पुकारने लगी ।

"क्यों क्या चाहिए तुम्हें ? मुझे बताओ ।"

"मुझे क्या चाहिए । मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए । आपको छोड़कर और क्या चाहूँगी । आपको हम सबसे अधिक आजादी प्रिय है यह और अधिक सुखद स्थिति चाहिए ।"

यह सब बातें सत्यभामा बाई स्वप्न में कर रही थी । रुग्ण शैया पर पड़ी हुई अपनी अन्तिम घड़ियों में देश निर्वासित पति लोकमान्य तिलक को अपने सन्निकट देखकर ।

सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक को छहवर्ष के लिये देश निर्वासन की सजा दी गयी थी । उन दिनों उनकी धर्मपत्नी मधुमेह की बीमारी से चिन्ताजनक स्थिति में थी दूसरी ओर लोकमान्य माण्डले की जेल में देश निर्वासन की भयानक सजा काट रहे थे । यह उनकी तीसरी जेल यात्रा थी । पत्नी अस्वस्थ-दाम्पत्य जीवन में दोनों की अगाध निष्ठा और प्रगाढ़ प्रेम फिर भी प्रेम अपने लक्ष्य पूर्ति के कार्य में बाधक नहीं बनता ।

४.६६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

पुरुष का मनोबल ऊँचा उठा रहे इसका अधिकांश श्रेय पत्नियों को ही दिया जाना चाहिए और वस्तुतः वे अपने आत्मिक एवं उत्कृष्ट प्रेम के माध्यम से अपने पति में प्रेरणा, उत्साह और साहस भरती रहती हैं। दाम्पत्य की सार्थकता यही है।

तिलक ने स्वातन्त्र्य समर में जो अपराजय साहस और दृढ़ता बनाये रखी उसकी प्रेरणा उनकी धर्मपत्नी सत्यभामा से ही मिली। जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी तिलक से सदैव यही कहा कि-आप लोकमान्य हैं। जनता आपको अपना नेता मानती है इसलिए आपकी अणुमात्र निर्बलता भी सर्वसाधारण पर पहाड़ बनकर गिरेगी जिससे राष्ट्र का आत्मसम्मान कुचल जायगा।

तिलक की गिरफ्तारी से देश का वातावरण बहुत प्रक्षुब्ध हो उठा था। यह अपने ढंग का एक ऐसा राजनीतिक अभियोग था जिसमें पहली बार किसी जनप्रिय, देशभक्त और सामान्य नेता को गिरफ्तार किया गया हो। जब उनको देश निर्वासन की सजा सुनायी गयी तो उनके अनुयायियों तथा मित्रों के साथ ही उनकी पत्नी सत्यभामा बाई को भी बड़ा दुःख हुआ। परन्तु सत्यभामा ने जो उद्गार व्यक्त किये वे इस बात का द्योतक हैं कि अपने पति के लक्ष्य के प्रति ईमानदारी से वे कितनी संतुष्ट थीं। उन्होंने कहा-“जुरी के निर्णय से क्या होता है। ईश्वर की सत्ता न्यायालय से भी ऊँची शक्ति है। उसकी इच्छा है कि जिस लक्ष्य के लिए वे प्रयत्नशील हैं। उनकी पूर्ति में उनकी स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा उनका कष्ट सहना ज्यादा सहायक है।”

श्रीमती सत्यभामा ५१ वर्ष जीवित रहीं और तिलक की जीवनसंगिनी के रूप में ४१ वर्ष तक उनका साथ रहा। जिसमें तिलक अधिकांशतः स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान बाहर जेल में रहे। प्रत्यक्षतः दम्पति साथ भले ही न रहे हो परन्तु जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तिलक आतुर थे उनकी पत्नी भी प्राणपण से उनकी साथी-सहयोगी बनी रही।

सत्यभामा का विवाह दस वर्ष की अल्पायु में ही सोलह वर्षीय बाल गंगाधर के साथ हो गया। तत्कालीन दहेज प्रथा के अनुसार तिलक से जब पूछा गया कि-दहेज में तुम्हें क्या चाहिए?।

तिलक ने तब रुपये और वस्त्राभूषणों के स्थान पर पढ़ने योग्य पुस्तकें माँगीं। अबोध बालिका के मन पर इसका परोक्ष प्रभाव पड़ा और वे सोचती रहीं कि पति के रूप में उन्हें एक देव पुरुष मिला है। आगे चलकर उनके जीवन में इसी घटना का परिणाम परिलक्षित होता है। वे जब सत्रह अठारह वर्ष की रही होंगी। तभी तिलक ने बी० ए० पास करने के बाद एल-एल० बी० की परीक्षा पास कर ली थी। इस सफलता पर उनके चाचा प्रसन्न ही

नहीं हुए अपने भतीजे के भावी सुखमय पारिवारिक जीवन के बारे में भी बहुत कुछ सोचने लगे।

वे सोचते अब मेरा भतीजा बाल गंगाधर वकील या उच्च अधिकारी बनकर पर्याप्त धन और मान अर्जित करेगा। परन्तु तिलक तो बहुत पहले ही अपना जीवन राष्ट्रीय आन्दोलन को समर्पित करने का संकल्प ले चुके थे। इस संकल्प के अनुरूप तिलक के साथ-साथ सत्यभामा ने भी अपने व्यक्तित्व को ढाल लिया था। उसी समय की एक घटना है। जिस दिन बाल गंगाधर की एल-एल० बी० परीक्षा का परिणाम घोषित हुआ उनके चाचा का आनन्द बहुगुणित विस्तार पा उठा। उन्होंने अपने भतीजे की पत्नी को एक कीमती साड़ी खरीद कर दी। सत्यभामा ने कहा ‘इतनी कीमती साड़ी पहनना इस दरिद्र देश की स्त्री को, कम से कम मुझे तो शोभा नहीं देता।’ इस पर तिलक के चाचा और बधाई देने के लिए आई महिलाओं ने कहा-अब तो तुम्हारे पति बहुत बड़े वकील होंगे। सरकार में उनकी बड़ी इज्जत होगी तब फिर उनके साथ-साथ तुम भी सम्मान प्राप्त करोगी। उसी सम्मान के लिये यह साड़ी लायी गयी है।

तिलक भी वहीं उपस्थित थे। तत्काल उन्होंने दो टुक जबाव दिया-“सरकारी नौकर बनकर गुलामों और ‘जी हुजूरों’ की संख्या बढ़ाने के लिये मैंने ऊँची शिक्षा नहीं ली है। बल्कि मैं अपनी शिक्षा द्वारा देशवासियों में स्वातन्त्र्य भावना और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर स्वराज्य शाही के लिए उन्हें प्रेरित करूँगा। इस निश्चय की पूर्ति के लिए समाज को शिक्षित करना पड़ेगा और इसी कारण मैंने शिक्षक बनने का फैसला किया है। ऐसी स्थिति में धन, मान तथा सम्मान की अभिलाषा करना व्यर्थ है। सत्यभामा को अभी से ही ऐसी कीमती साड़ी पहनने का मोह टालना मेरे विचार से उचित ही है।”

लोकमान्य तिलक ने जैसा कहा वैसा ही किया और वे अत्यल्प वेतन पर घिपलूणकर द्वारा संस्थापित ‘न्यू इंगलिश स्कूल’ में शिक्षक बन गए। १८८१ में साझेदारी से ‘केसरी’ का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया। आगे चलकर इस पत्र की सभी जिम्मेदारियाँ उन्होंने अपने ऊपर ले लीं। केसरी के सम्पादन और प्रकाशन के साथ-साथ उनका सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन व्यापक होता गया और ज्यों-ज्यों वे अपने इस अभियान में अधिक जुटते गये त्यों-त्यों पारिवारिक जीवन से दूर हटते गये। ऐसी स्थिति में सत्यभामा बाई ने खीझने और ऊब उठने की अपेक्षा बड़े धैर्य का परिचय दिया। उन्होंने अपना कर्तव्य समझकर उसे बड़ी दक्षता के साथ पूरा किया। वस्तुतः जनजागरण के लिए काम करने में निरन्तर लगे रहने का अवसर देने का अधिकांश श्रेय सत्यभामा बाई को ही है, घर की जिम्मेदारी से मुक्त

रहकर राष्ट्रकार्य करने की सुविधा श्रीमती सत्यभामा निरन्तर देती रहीं ।

महान उद्देश्यों के प्रति संकल्पनिष्ठ और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील महामानवों का दाम्पत्य भी महान और विलक्षण होता है तथा उनकी पत्नियाँ परोक्ष में रहते हुए भी महान होती हैं ।

गौरी व्रत

एक बार किसी ने लोकमान्य तिलक से पूछा-“भारत में स्त्रियाँ अच्छा वर पाने के लिए गौरी व्रत करती हैं, लेकिन पुरुषों के लिए ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं है ?” उत्तर मिला-“भारत की स्त्रियाँ सभी अच्छी हैं-कठिनाई केवल अच्छे पुरुष ढूँढ़ने की है । इसीलिए स्त्रियों को गौरी व्रत की सहायता लेनी पड़ती है । उपवास आदि विश्व भर में भारत की स्त्रियाँ ही सबसे ज्यादा करती हैं ।

दृढ़ निश्चयी बालक

अध्यापक ने देखा कक्ष गन्दा पड़ा था । छात्रों ने कुछ चीजें खाकर छिलके वहीं फेंक दिये थे । उन्होंने सबको अपनी-अपनी सीटों की सफाई करने को कहा । सब लड़कों ने सफाई की पर एक लड़का यों ही बैठा रहा । अध्यापक ने उसे डाँटा-“तुम सफाई क्यों नहीं करते ।”

“जब मैंने सीट गन्दी की ही नहीं तो साफ क्यों करूँ ।” छात्र ने निर्भीकता से उत्तर दिया । अध्यापक ने उसे दोबारा कहा, सफाई करने के लिये । किन्तु वह अपनी बात पर अटल रहा । बात आगे बढ़ी । पिता से शिकायत की गयी । अन्त में अध्यापक को पता चला कि यह छात्र अन्य छात्रों से भिन्न है । गलत काम और जोर-जबरदस्ती उसके साथ नहीं चल सकती । यह छात्र थे लोकमान्य तिलक ।

दूसरों को अधिक अपनों को कम

“बेटा ले ये दो टुकड़े मिठाई के हैं । इनमें से यह बड़ा टुकड़ा तू स्वयं खा लेना और छोटा टुकड़ा अपने साथी को दे देना ।” “अच्छा माँ” और वह बालक दोनों टुकड़े लेकर बाहर आ गया अपने साथी के पास । साथी को मिठाई का बड़ा टुकड़ा देकर छोटा स्वयं खाने लगा । माँ यह सब जंगले में से देख रही थी, उसने आवाज देकर बालक को बुलाया । “क्यों रे ! मैंने तुझसे बड़ा टुकड़ा खुद खाने और छोटा उस बच्चे को देने के लिए कहा था, किन्तु तूने छोटा स्वयं खाकर बड़ा उसे क्यों दिया ?” वह बालक सहज बोली में बोला माताजी ! दूसरों को अधिक देने और अपने लिए कम से कम लेने में मुझे अधिक आनन्द आता है ।” यह बालक था-बाल गंगाधर तिलक । माताजी गम्भीर हो गई । वह

बहुत देर विचार करती रहीं बालक की इन उदार भावनाओं के सम्बन्ध में ।

परिणाम से बेखबर

लोकमान्य तिलक को छह वर्ष के कारावास की सजा देने के लिए ले जाया जा रहा था । दूसरी श्रेणी में एक वर्ष पर तिलक और उनके सामने साथ वाले दोनों सैनिक अधिकारी बैठे थे ।

रात के नौ बजे । तिलक का सोने का समय हो गया । पगड़ी, अँगरखा और दुपट्टा उतार करके सोने की तैयारी करने लगे । पाँच मिनट में ही उन्हें गहरी नींद आ गयी ।

सुबह पाँच बजे वे सोकर उठे । उतनी गहरी नींद लेते देखकर अधिकारियों को आश्चर्य हुआ । पूछा-“आप जानते हैं कि आपको कहाँ ले जाया जा रहा है और वहाँ क्या सजा दी जायगी । फिर भी इतनी निश्चिततापूर्वक कैसे सो सके ।”

तिलक ने कहा-“यह जानने की मुझे क्या आवश्यकता है । परिणाम को जानकर ही मैं इस क्षेत्र में आया हूँ । चिन्ता होती तो इस क्षेत्र में प्रविष्ट ही क्यों होता ?”

सबसे बढ़कर पूजा

लोकमान्य तिलक काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिये लखनऊ आये । लखनऊ काँग्रेस में कार्यक्रम अत्यन्त व्यस्त था, क्योंकि इसके दौरान विभिन्न दलों और गुटों में एकता स्थापित करने के लिये बातचीत हुई थी । अधिवेशन में एक दिन लोकमान्य बहुत तड़के से व्यस्त रहे और दोपहर तक एक क्षण के लिये भी अवकाश न पा सके । बड़ी कठिनाई से उन्हें भोजन के लिए उठाया जा सका । भोजन के समय परोसने वाले स्वयंसेवक ने कहा-“महाराज ! आज तो आपको बिना पूजा किये ही भोजन करना पड़ा ।” लोकमान्य गम्भीर हो गये । बोले-“अभी तक जो हम कर रहे थे, क्या वह पूजा नहीं थी ? क्या घन्टी-शंख बजाना और चन्दन घिसना ही पूजा है ? समाज-सेवा से बढ़कर और कौन-सी पूजा हो सकती है ?”

कर्तव्य-निष्ठा

पूना में उन दिनों भयंकर प्लेग फैला था । लोकमान्य तिलक का बड़ा पुत्र प्लेग से पीड़ित हो गया । पुत्र की दशा चिन्ताजनक होने के बावजूद तिलक ‘केसरी’ के अंक का अधूरा काम पूरा करने के लिए कार्यालय जाने को तैयार हो गये । किसी ने उन्हें टोका, “लड़का मौत से जूझ रहा है, अगर आज बाप कार्यालय न जाये तो क्या काम न चलेगा ?”

गम्भीर एवं संयत स्वर में तिलक ने उत्तर दिया, “सारा महाराष्ट्र ‘केसरी’ की प्रतीक्षा में बैठा है, तब न जाकर भला कैसे काम चलेगा ?”

रिश्वत देने की अपेक्षा जातिच्युत होना भला

लोकमान्य तिलक विदेश जाना चाहते थे। उन दिनों समुद्र-यात्रा का पण्डिताऊ निषेध था। जो जाता जातिच्युत कर दिया जाता। बचाव का एक ही रास्ता था—काशी के पंडितों द्वारा किसी कारण दी गई छूट व्यवस्था।

तिलक ने अच्छा समझा कि जातिच्युत के झंझट में पड़ने की अपेक्षा पंडितों से व्यवस्था लिखवा ली जाये। वे इसके लिए काशी गये भी।

वहाँ उनसे इसके लिए पाँच हजार माँगे गये। तिलक यह कहते हुए लौट आये—“रिश्वत देने की अपेक्षा तो जातिच्युत होना भला”

वे बिना व्यवस्था के ही विदेश चले गये।

बाद की चिन्ता

लोकमान्य तिलक अपने भविष्य के विषय में कभी विचार नहीं करते थे। उन्होंने अपनी भरी जवानी में पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल नामक एक विद्यालय की स्थापना की थी। उसमें कार्य करते हुए वे वेतन के रूप में अपने निर्वाह के लिये केवल तीस रुपये लेते थे। एक दिन उनके एक मित्र ने कहा—“इतनी छोटी-सी राशि में से तो आप अपने देहावसान के बाद शरीर के दाह संस्कार के लिये भी कुछ नहीं बचा सकेंगे।” तिलक जी ने धीरे-गम्भीर स्वर में कहा—“इसकी चिन्ता समाज को होनी चाहिए। यदि लोगों को ठीक प्रतीत होगा तो वे देह की अग्नि संस्कार कर देंगे।”

निडरता की मूर्ति

सन् १९१६ की २३ जुलाई को लोकमान्य तिलक की ६० वीं वर्षगाँठ थी। पूना में हीरक जयन्ती मनाने की तैयारियाँ धूमधाम से की गईं। लोग अपने प्रिय नेता का जन्म दिन मनाने के लिये हजारों की संख्या में एकत्र हुये।

बड़े ही मधुर वातावरण में गीत, वाद्य, भाषण आदि चल रहे थे तभी स्टेज पर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट दिखाई दिये। ब्रिटिश हुकूमत में एक पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आज के एक आई० जी० से बढ़कर ताकत रखता था। उसे रंगमंच पर चढ़ते देखकर लोगों के होश गुम हो गये।

किन्तु तिलक निश्चल, शान्त और प्रसन्न मुद्रा में ही बैठे रहे। पुलिस कप्तान ने उनके हाथ में एक कागज दिया जिसमें सरकार के खिलाफ भाषण देने पर उनसे चालीस

हजार के जमानत व मुचलके माँगे गये थे। न देने पर जेल भेजने की धमकी भी थी। कोई और होता तो घबड़ा जाता पर कर्मयोगी तिलक ने कागज हाथ में लिया और जेब के हवाले कर दिया। थोड़ी ही देर में कार्यक्रम फिर यथावत् चलने लगा। ऐसा लगा मानो उनके साथ कोई घटना ही न घटी हो।

देश को महाशक्ति बनाने वाले—

माओ-त्से-तुंग

अब से पचास-साठ वर्ष पूर्व विश्व के नक्शे पर चीन का नाम जरा भी नहीं था। कहीं कभी चर्चा भी चलती इस देश की तो लोग यह कहकर तुरन्त चर्चा रोक देते कि वह तो अफीमचियों और आलसियों का देश है। एक बार चीन में एक भयंकर अकाल पड़ा। लोग भूख के मारे मरने लगे। विश्व के उदार और धनी देशों ने चीनी जनता को भूख की मौत से बचाने के लिए अनाज से भरा हुआ एक जहाज भेजने का निश्चय किया।

जहाज जब रवाना हुआ और इसकी खबर चीनी जनता को मिली तो यहाँ के लोगों ने निश्चय किया कि हम मर जायेंगे, पर विदेशी सहायता स्वीकार नहीं करेंगे। सहायता भेजने वाले राष्ट्रों के नेताओं ने चीनी जनता की यह स्वाभिमान भरी घोषणा सुनी तो हतप्रभ रह गये। एक समय के अफीमची, नशेबाज, काहिल और सुस्त कही जाने वाली जनता में ऐसा मनोबल कहाँ से जाग्रत हो गया ? इसका श्रेय दिया जाता है आधुनिक चीन के निर्माता माओ-त्से-तुंग को। माओ-त्से-तुंग अपने जीवन काल में विश्व के सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति रहे। जितना यह सही है उतना ही यह सही है कि उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व की सर्वाधिक आबादी वाले देश चीन का नवीन कायाकल्प करने में लगा दिया और एक बड़ी सीमा तक वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल भी हुए।

चीनी जनता द्वारा चलाये गये मुक्ति संघर्ष के दौरान माओ को लगातार बीहड़, भयानक और विशाल जंगलों में रहना पड़ा, खाइयों, खन्दकों तथा ऊँचे पर्वतों और गुफाओं में अपने परिवार को बसाना पड़ा। कड़-कड़ाती ठण्ड और झुलसा देने वाली गर्मी तथा घनघोर बारिश में तूफानी थपेड़ों को सहते हुए उन्होंने अपने नेतृत्व को सार्थक किया और मुक्ति सेना को आगे बढ़ाया। सामने नदियाँ बहती थीं, वन और पर्वत थे तथा पीछे रहती थीं बुर्जुआवादी, शासनतंत्र की सफेद सेना। इस अभियान के दौरान वर्ष भर में माओ को बारह प्रदेशों की पैदल यात्रा करनी पड़ी। लगभग सात हजार मील जमीन उन्होंने नापी और चौबीस

नदियों को पार किया। यही नहीं इस अभियान में उन्होंने अपने दो प्राणप्रिय बच्चों का मोह भी छोड़ा और यूनान पहाड़ी के छोटे से गाँव में एक अपरिचित महिला के पास अपने बच्चों को छोड़ा। यूनान गाँव की उस स्त्री से माओ तथा उनकी पत्नी का इतना ही परिचय था कि वह उनके बीमार बच्चों के हाल पूछने आयी थी और सारी स्थिति से अवगत होकर बच्चों को अपने पास छोड़ जाने का प्रस्ताव कर बैठी थी।

संसार में सबसे ज्यादा आबादी वाले देश में क्रान्ति का इतना सफल संचालक और फिर देश का नया निर्माण करने वाले माओ-त्से-तुंग का जन्म १९ नवम्बर सन् १८९३ को हुआ था। उनके पिता मध्यवर्गीय किसान थे पर और अन्य लोगों से उनकी माली हालत अच्छी थी। पर परिवार पर कर्ज काफी चढ़ा हुआ था। उस कर्ज को चुकाने के लिए माओ के पिता शून-शेन को काफी समय तक सिपाही की नौकरी करनी पड़ी थी। सिपाही की नौकरी करते हुए जो वेतन मिलता उसी वेतन में से गुजारा करना पड़ता उसी में से कर्ज की किस्तें भी चुकाना पड़तीं। फलस्वरूप परिवार को काफी समय तक आर्थिक तंगियों का सामना करना पड़ा। शून-सेन ने जहाँ तक सम्भव था माओ को पढ़ाया और फिर परिवार की निर्वाह व्यवस्था जुटाने के लिए माओ को खेतों में काम करने पर लगा दिया। माओ का पढ़ने-लिखने में खूब मन लगता था इसलिए स्वेच्छा से उन्होंने तब भी पढ़ना जारी रखा। लेकिन गाँव में छोटी कक्षाओं तक ही पढ़ने की व्यवस्था थी इसलिए १३ वर्ष की आयु में ही माओ की स्कूली शिक्षा समाप्त हो गयी। माओ फिर भी अब्राहिम लिंकन की तरह अपने पड़ोसियों और पढ़े-लिखे लोगों के पास से माँग-माँग कर किताबें पढ़ते रहे।

स्कूल छोड़ने के साल भर बाद ही शून-शेन ने माओ का विवाह कर दिया। माओ की पत्नी उनसे आयु में छह वर्ष बड़ी थी और माओ ने जीवन भर कभी उसे देखा तक नहीं। शादी के बाद खेत में काम करते हुए भी माओ ने अपना अध्ययन जारी रखा। उन्हें कहानियाँ खूब अच्छी लगतीं। खासकर ऐसी कहानियाँ जिनमें किसानों पर बड़े जुल्म ढाये जाते और किसान उनका प्रतिकार करते थे। उनके स्वाध्याय से ही माओ के मन में यह विचार उठा कि बाहर की दुनिया भी देखनी चाहिए और वे खेती की तरफ से ध्यान हटाकर अक्सर आस-पास के गाँवों में तथा शहरों में निकल जाते और वहाँ के जीवन का निकट से अध्ययन करते। शून-शेन ने जब देखा कि माओ का मन खेती में कम लगता है और वह शहरी जीवन की ओर आकृष्ट हो रहा है, उन्होंने अपने लड़के को चावल के एक व्यापारी के यहाँ काम पर रख दिया।

माओ ने समझा कि इस प्रकार उन्हें जीवन के नये अनुभव प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधा रहेगी पर

चावल के उस व्यापारी के यहाँ उन्हें अपनी उम्मीद पूरी होती न दिखाई दी। अतः उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़ दी। और छुटपुट मजदूरी करते हुए एक अच्छे स्कूल में भर्ती होने की बात सोचने लगे। उन्हीं दिनों माओ के मामा अपनी बहन से मिलने के लिए आये हुए थे। वे स्वयं एक स्कूल चलाते थे। जहाँ अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध था। माओ ने अपनी माँ के द्वारा मामा से यह बात कहा मामा अपने स्कूल में रखने के लिए राजी हो गये और माओ अपने मामा के गाँव तुंगे तैशान जो वहाँ से कुल सोलह मील दूर था, चले गये। तुंगे तैशान आकर माओ ने नये सिरे से अपनी पढ़ाई आरम्भ की। उन्होंने विश्व के महान नेताओं की जीवितियों का अध्ययन किया तथा स्कूली किताबों के अलावा दूसरे विषयों की पुस्तकें भी खोजकर पढ़ डालीं।

स्कूल में उनके अधिकांश सहपाठी जमींदारों के लड़के थे। माओ अपना रहन-सहन अपनी आमदनी के अनुसार ही रखते थे। उनकी सादगी जमींदार पुत्रों की निगाह में फटेहाल थी और जमींदार पुत्र इस फटेहाली का बड़ा मजाक उड़ाते थे। माओ को इस बात से बुरा तो लगता था। पर वे यह जानकर सन्तोष कर लेते थे कि उनके कई साथी तथा पास-पड़ोस के लड़के तो इससे भी गरीब-गुजरा जीवन बिताते हैं। एक ओर वे देखते थे कि गरीबों के लड़के न बढ़िया वस्त्र पहन पाते थे और न ठीक ढंग का खाना ही खा पाते थे वहीं जमींदार के पुत्र बड़े ऐश आराम और ठाठ-बाट से रहते थे। उन्होंने यह भी देखा कि मजदूर किसान बड़ी मेहनत से खेती करते और जमींदारों के आदमी निर्दयतापूर्वक उनकी खून पसीने से प्राप्त धन को लूट लेते थे। वे अपने मालिकों के लिए मौज-मजे के साधन जुटाते थे। माओ के विचार से यह व्यवस्था अन्याय और अत्याचारपूर्ण थी। उन्होंने निश्चय किया कि जीवन में आगे चलकर वे इस व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन के लिए प्रयास करेंगे।

सन् १९११ में माओ-त्से-तुंग जूनियर कॉलेज में भर्ती हुए। उसी वर्ष सनयात सेन ने चीन में गणराज्य की स्थापना की थी। माओ उन दिनों सनायात सेन से बड़े प्रभावित थे। माओ ही क्या देश की समूची गरीब जनता ने सनयात सेन को अपनी आकांक्षाओं का प्रतीक बनाया था। माओ उस वर्ष कुमिंगतांग सेना में भर्ती हो गये। यद्यपि उन्होंने सैनिक जीवन आरम्भ करते हुए कोई लड़ाई नहीं लड़ी पर इसके बाद का समय उनके लिए काफी महत्वपूर्ण रहा, यों कहें कि माओ के अगले जीवन की आधारशिला रखने वाले साबित हुए। उन दिनों वे रात दिन पढ़ने-लिखने में गुजारते थे। यहाँ तक कि खाना खाते समय भी उनके हाथ में किताब छूटती नहीं थी। इन्हीं दिनों वे नीतिशास्त्र के प्रोफेसर सर चंग-ची के सम्पर्क में

आये । माओ पर उनके सम्पर्क का अच्छा प्रभाव पड़ा और इसका लाभ भी उन्होंने उठाया ।

शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उनके सामने यह प्रश्न था कि कौन-सा क्षेत्र अपनायें ? उन्होंने बिना आगा-पीछा सोचे पीकिंग की दिशा पकड़ी और पीकिंग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में एक साधारण-सी नौकरी कर ली । यदि वे चाहते तो दूसरी नौकरी भी कर सकते थे । पर उन्होंने यही नौकरी इसलिए पसन्द कि यहाँ रहकर वे अपनी ज्ञान क्षुधा को और अच्छे रूप में पूरी कर सकते थे । उस समय पेकिंग विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष थे लि-ता-चू जिन्होंने चीनी साम्यवादी दल की स्थापना की थी । लि-ता-चू के सम्पर्क में आकर ही माओ ने साम्यवादी विचारधारा की दीक्षा प्राप्त की थी । इन्हीं दिनों उनकी मान्यताओं में मैजाव और दृष्टिकोण में विस्तार आया तथा नेतृत्व की क्षमता आयी ।

रूस में जब अक्टूबर-क्रान्ति हुई तो उसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा । चीन भी इससे अछूता नहीं रहा । उन्हीं दिनों चीन में पहली बार छात्र आन्दोलन हुआ । प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद चीन के निरन्तर अपमान और उसके प्रदेशों की छीना झपटी से चीनी जनता में क्षोभ की लहर व्याप गयी । ४ मई १९१९ को चीन में बड़े उग्र प्रदर्शन हुए । जुलाई १९२१ में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की पहली गुप्त काँग्रेस शंघाई में हुयी जिसमें माओ सहित १२ अन्य प्रतिनिधियों ने भाग लिया । चीनी साम्यवादी आन्दोलन की नींव यहीं पर रखी गयी ।

एक वर्ष में माओ की पार्टी में कुल ४०० सदस्य बन सके । जनवरी १९२४ में उन्होंने सनयात सेन की पार्टी कुमितांग की पहली काँग्रेस में भाग लिया तथा पार्टी की केन्द्रीय, कार्यसमिति के सदस्य बन गये । कार्यसमिति के सदस्य बनते ही माओ ने चीन के शत्रुतत्वों, कुटिल इरादे से काम कर रही विदेशी शक्तियों तथा जमींदारों के विरुद्ध जोर-शोर से संगठनात्मक मोर्चाबंदी आरम्भ कर दी । लेकिन कुछ ही दिनों बाद परिस्थितिबश माओ ने पेकिंग छोड़ दी और अपने प्रदेश चले गये । उन्होंने गाँवों में जा कर किसानों को संगठित करने का अभियान चलाया । इस दौरान माओ पाँच वर्ष तक शहरी जीवन से लगभग कटे हुये रहे । पाँच वर्ष के भीतर उन्होंने किसानों और क्रान्तिकारियों को भली-भाँति संगठित कर लिया ।

चीन में क्रान्तिकारियों का संगठन कर लेने के बाद माओ ने १९३५ में लांग-मार्च का आह्वान किया । जिसका उद्देश्य चीन में मजदूरों और किसानों का शासन स्थापित करना तथा जमींदारों और सामन्तों का उन्मूलन करना था । इस लांग-मार्च में लगभग एक लाख व्यक्ति सम्मिलित हुए थे । लेकिन लांग-मार्च के कार्यकर्त्ताओं और योद्धाओं को अपने आन्दोलन और क्रान्तिकारी प्रयासों में इतनी

कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा कि अन्त तक केवल ७०० व्यक्ति ही रह गये थे । १९४५ तक माओ को दोहरे मोर्चे पर लड़ना पड़ा । एक तो देश में ही विद्यमान प्रतिक्रियावादियों से तथा बाहर जापानी साम्राज्यवादियों से । द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद माओ को अपना स्वप्न साकार करने में सफलता मिली जब जून १९४९ में माओ के नेतृत्व में चीनी सर्वहारा ने सत्ता ग्रहण की ।

लेकिन यह तो मंजिल का पड़ाव भर था । अभी राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य बाकी पड़ा था । उन्होंने देश की युवा शक्ति का आह्वान किया । तथा राष्ट्रीय-पुनर्निर्माण का एक कार्यक्रम बनाया जिसके मुख्य आधार इस प्रकार हैं-विदेशी सहायता को कम कर राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा, सहज तकनीकी ज्ञान का विकास और गरीब को समान वितरण द्वारा खुशहाली के लक्ष्य की ओर बढ़ाना-विदेशी सहायता के आश्रित न रहना भर ही नहीं उसे नकार भी देना सुदृढ़ राष्ट्रनीति का परिचायक है । सहज टेक्नोलॉजी के विकास का अर्थ यह है कि एकदम सभी को विशेषज्ञ बनाना इतना अनिवार्य न समझा जाय कि प्रत्येक विशेषज्ञ के लिए ढेरों रुपया और समय खराब करना पड़े । इस प्रणाली की मिसाल यह है कि चीन में डॉक्टर बनने के लिए छह मास की ट्रेनिंग ही दी जाती है । सामान्यतः मामूली से रोग हैं जिनके कारण लोग बीमार पड़ते हैं और सामान्य रोग से गृहस्थ व्यक्तियों का इलाज करने के लिए जटिल शिक्षा की क्या आवश्यकता है । खास रोगों के इलाज में वहाँ कुछ व्यक्तियों को ट्रेण्ड किया जाता है । बाकी को सामान्य उपचार का प्रशिक्षण ही दिया जाता है ।

इस प्रकार माओ जब तक जीवित रहे चीन को विकसित और शक्तिशाली देशों की पंक्ति में खड़ा करने के लिए प्रयत्न करते रहे । उनके मार्गदर्शन और चीनी जनता की कर्मठता का ही यह सत्परिणाम है कि चीन आज दुनिया की छठवीं महाशक्ति बना हुआ है सन् १९७६ में माओ का देहान्त हो गया पर वहाँ की जनता ने अपने प्रिय राष्ट्रनेता के मार्गदर्शन में चलते रहने का ही निश्चय किया ।

आत्मबल सम्पन्न पुरुषार्थियों के प्रेरणाप्रद प्रसंग

ब्रिटिश सेनापति नेल्सन अपनी सेना के साथ नील नदी के इस पार खड़ा रणनीति का निर्धारण कर रहा था । ब्रिटिश जंगी बेड़े के अनेकों सैन्याधिकारियों की आँखों में आशंका व निराशा छाई थी, लेकिन नेल्सन की आँखें अद्भुत आत्मविश्वास और साहस से चमक रही थीं । कप्तान ने सहसा मौन भंग किया व बोल उठा-“अगर हमारी जीत हो गयी तो दुनिया दंग रह जायेगी ।”

नेल्सन ने तीखी नजर से कप्तान को देखा और कहा-
“अगर से तुम्हारा क्या तात्पर्य है,” सकपकाये अधिकारी
ने जवाब दिया-“मेरा मतलब है कि दुश्मन हमसे कहीं
ज्यादा ताकतवर है। उसके पास अधिक सेना है। हथियार
भी आधुनिकतम हैं। ऐसे में हमारी जीत भाग्य पर निर्भर
है।” नेल्सन ने गम्भीर और दृढ़ स्वर में कहा-कप्तान !
हमारी जीत का भाग्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम जीतेंगे
और अवश्य जीतेंगे। हम भाग्य के सहारे नहीं बल्कि
अपनी बहादुरी, साहस व निष्ठा के बल पर जीतेंगे।

सेनापति के इन आत्मविश्वास भरे शब्दों ने प्रत्येक
सैनिक के अन्दर प्राण भर दिया। एक नवीन स्फूर्ति लेकर
वे आगे बढ़े, विश्वास और साहस के साथ लड़े और
अल्पबल वाले पराक्रमियों की उस विजय को देखकर
सारा संसार चकित रह गया।

आत्मविश्वास वह अमोघ अस्त्र है जो मनुष्य से
असम्भव काम करा लेता है। यदि शरीरबल है, साधन है
एवं सहयोग भी है, परन्तु आत्मविश्वास नहीं तो ऐसे प्रयास
अंधे-लैंगड़े, काने, कुबड़े ही होते हैं-ऐसे व्यक्तियों को
कभी सफलता नहीं मिलती। अपनी सत्ता पर-अपनी
क्षमता पर विश्वास रखने वाला बाहरी सहायता की कभी
अपेक्षा नहीं करता और न ही दुर्भाग्य का रोना रोता है।

कोलम्बस नई दुनिया का पता लगाकर अमेरिका से
स्पेन वापस पहुँचा। स्पेन के राजा ने उसकी इस
असाधारण सफलता पर उसके सम्मान में एक भोज का
आयोजन किया। जिसमें सभी प्रमुख सभासद-सामन्त
आदि आमंत्रित थे। दूसरी ओर उपस्थित समुदाय में
सामंतों के एक बहुसंख्य गुट को कोलम्बस से ईर्ष्या भी थी,
इसी कारण वे बीच-बीच में व्यंग्य बाण भी छोड़ रहे थे।
कोलम्बस से जब उसकी सफलता का कारण पूछा गया
एवं उद्बोधन हेतु आमंत्रित किया गया, तब उसने एक
कौतुक से अपने भाषण को आरम्भ किया। उसने
कहा-“भाइयो ! आपके कौतुहलों का समाधान देने से
पूर्व मैं आपके समक्ष एक तमाशा दिखाता हूँ। मेरे हाथ में
यह अण्डा है। आप में से जो भी इसे मेज पर सीधा खड़ा
कर देगा, वह सबसे अधिक बुद्धिमान माना जायेगा।”

एक-एक करके सबने प्रयास किया, पर अण्डा खड़ा
ही न हुआ। सबकी खूब हँसी हुई। अन्त में एक सामन्त
ने कहा-“तो फिर आप ही इसे खड़ा करके दिखा
दीजिए।” कोलम्बस ने अण्डे का एक सिरा झटके से
तोड़ा व अण्डा सीधा खड़ा हो गया। सभी सामन्त विल्ला
उठे इसमें कौन-सी बड़ी बात है। यह तो हम भी कर
सकते थे। कोलम्बस ने कहा कर सकते थे तो किया क्यों
नहीं ? जो लोग कहा करते हैं वे किया नहीं करते एवं जो
करते हैं वे गाल न बजाकर कर ही दिखाते हैं।

सामन्तों ने शर्मिन्दा हो कोलम्बस के वर्चस्व एवं पुरुषार्थ
को माना तथा उसकी अमेरिका की खोज की प्रशंसा की।

आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रसुत शक्तियों को
पहचानते, जगाते हैं व आगे बढ़ते चले जाते हैं। शेष
बहिर्मुखी मात्र तमाशा देखते रहते हैं।

नेपोलियन एक ऐसा ही आत्मविश्वास मनोबल का
धनी युवक था, जिसने पाँच वर्ष की आयु में माता से शत्रु
के आतंक व अपने राज्य कार्सिका की गुलामी की कहानी
सुनकर संकल्प किया था कि मैं अपनी मातृभूमि को
स्वतन्त्र कराके रहूँगा। किशोरवस्था से ही उसने अपने
संकल्प को साकर रूप देना आरम्भ किया, लगन तथा
परिश्रम पर केवल वह सेना की टुकड़ी का नायक और
फिर फ्रांस का सर्वेसर्वा और अन्त में विश्व विजेता बन
गया। आल्पस की गगनचुम्बी बर्फ ढकी चोटियों की
तलहटी में खड़े सैनिकों के समक्ष उसने ही आत्मविश्वास
से भरे शब्दों में कहा था-“रौंद दो इन बर्फीली चोटियों
को। ये कभी भी पुरुषार्थियों के मार्ग में बाधक नहीं बन
सकतीं।” उसके इन शब्दों ने सैनिकों पर जादू कर दिया
व वे असम्भव को भी सम्भव बनाकर आल्पस पर्वत को
चुनौती देते रास्ता बनाते निकल गये।

चोर डाकू तक जब बुरे कामों के लिये स्वयं को जान
की बाजी पर लगाकर जूझ जाते हैं तो असमंजस यह होता
है कि सच्चाई के लिए संघर्ष करने वालों का सत्साहस
क्यों चुप बैठा रह जाता है।

एक बार राजा फ्रेडरिक द्वितीय अपने महल में रात्रि
के अन्तिम प्रहर में शयन कक्ष में लेटे थे तो सहसा उनकी
दृष्टि खिड़की से बाहर गयी। उन्होंने देखा-एक व्यक्ति
सीढ़ी खड़ा करने का प्रयास कर रहा है पर घण्टाघर पर
लगी घड़ी तक पहुँच नहीं पाता व सीढ़ी फिसलने लगती
है। थोड़ी देर तक वे उसके प्रयासों को देखते रहे। फिर
बाहर आकर पूछा-“तुम कौन हो-इस समय क्या कर रहे
हो।” चोर ने जो राजा के महल की घड़ी चुराने आया
था, बिना घबराये आत्मविश्वास भरे शब्दों में कहा-मैं
शाही घड़ीसाज हूँ। घड़ी की मरम्मत व सफाई के लिये
निकालना है। रात्रि को तो निकालना आसान है। दिन में
यहाँ आवागमन अधिक रहता है। इसलिए आया था-पर
सहायक साथ नहीं ला पाया। राजा ने कहा मैं सीढ़ी
पकड़ता हूँ, तुम चढ़ो व घड़ी उतारो। कुछ ही मिनटों
में वह घड़ी उतारकर राजा को धन्यवाद देते प्रणाम करते
हुए विदा हो गया।

अगले दिन पता चला राजा के महल से घड़ी चोरी
चली गयी। राजा को रात की सारी बात याद हो आयी।
उसने सुरक्षा दल द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट पर लिखा-
“चोर अपने आत्मविश्वास, साहस, प्रत्युत्पन्नमति व राजा
की सहायता के कारण इस कार्य में सफल हुआ।”

अपने आप पर विश्वास कर आशा का संचार व
विश्वास खोकर निराश हो जाना उसी प्रकार है जैसे

दीपक को जलाना एवं फूँक मारकर बुझा देना । महाभारत युद्ध में कर्ण की पराजय मात्र इसी कारण हुई कि उसके आत्मविश्वास को गिराने वाला उसका सारथी शल्य अर्जुन से हुए युद्ध में उसके साथ था । वह पाण्डवों से वचनबद्ध होने के नाते मात्र यही कहता रहा कि “कर्ण ! तुम अर्जुन से नहीं जीत सकते । उसके गाण्डीव के समक्ष तुम्हारी धनुर्विद्या का कौशल व्यर्थ है । बराबर कहे गये इन वचनों ने कर्ण का मनोबल इस प्रकार गिराया कि वह अपने कौशल का उपयोग करने के पूर्व ही मारा गया ।”

दूसरी ओर आशा का संचार व प्रोत्साहन किस प्रकार विजय में सहायक होता है उसका प्रमाण इस घटना से मिलता है । एक सेनापति ने अपने सैनिकों को निराश स्थिति में देखते ही सोचा कि इनमें मनोबल का संचार न किया तो संख्या में अधिक होने पर भी हार का मुँह देखना पड़ेगा । उसने सेना को रास्ते में एक मन्दिर के सामने रोका व कहा—“आओ । इस देवता का आशीर्वाद लेते हैं व सिक्का फेंककर देखते हैं कि हम हारेंगे या जीतेंगे । यदि चित होगा तो हमारी जीत सुनिश्चित है पट होगा तो हार ।” सबने मूर्ति को प्रणाम किया । सेनापति ने सिक्का फेंका । सबने उत्सुकता से देखा—चित था । चारों ओर हर्ष ध्वनि होने लगी —“अब देवता का आशीर्वाद मिल गया है, हम जीतेंगे—जल्द जीतेंगे ।” सेना युद्धस्थल पर पहुँची व शत्रुओं को परास्त कर लौटी । लौटते में मन्दिर फिर पड़ा । सेनानायकों ने कहा—देवता को फिर प्रणाम करलें—इन्हीं के आशीष से हम जीते हैं । सेनापति ने हँसते हुए कहा— हम आत्म देवता के आशीर्वाद से विजयी हुए हैं, इतना कहकर उसने सिक्का उन्हें दिखाया जो दोनों ओर से एक समान था ।

वस्तुतः जीवन में सफलता-असफलता का रहस्य यही है । मनोबल, आत्मविश्वास मनुष्य से असम्भव पुरुषार्थ करा लेता है । जबकि सब कुछ होते हुए भी इस क्षमता के न जाग-पाने से जीवन संग्राम में पराजय का मुँह देखना पड़ता है । इसीलिए कहा गया है—“मन के हारे हार है मन के जीते जीत ।”

महान योद्धा—नेल्सन

२९ दिसम्बर १७५८ । इंग्लैण्ड के नारकोफ जिले में बनहैम थार्प ग्राम के रेक्टर एडमंड नेल्सन के घर आठवाँ बालक जन्मा तो उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई वरन् दुःख हुआ कि वह थोड़ी-सी आय में इतने बालकों का गुजर बसर कैसे करेगा ?

बालक इतना दुबला था कि हाथ में लेते हुए भी डर लगता था । उसके सिर में दर्द और शरीर में रोग बना ही रहता था । ऐसे में बचपन में ही माँ चल बसी । पिता पर

आठ बच्चों का भार पड़ा तो वह खिन्न रहने लगा । उसका जीवन एक बेगार हो गया । वह तो भला हो उसके मामा का कि उसने इस बालक के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया जिससे पिता का भार कुछ हल्का हो गया । मामा को भी इस क्षीण शरीर, रोगी बालक से कुछ विशेष आशा न थी ।

बालक दुबला-पतला होने के कारण सबकी उपेक्षा का पात्र बनता जा रहा था । उसे अपनी यह उपेक्षा अच्छी न लगी । उसने प्रारम्भिक शिक्षा के साथ-साथ अपने मानवीय गुणों का विकास करना आरम्भ कर दिया । उसके साहसपूर्ण कार्यों से परिवार में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी । जोखिम के काम में वह आगा-पीछा नहीं करता था । एक बार यह घूमता-घूमता प्रकृति की गोद में दूर निकल गया । नानी देर होती देख इसे ढूँढ़ने आई तो देखा कि एक नदी के पास अकेला बैठा है । उसने पूछा—“तुम्हें यहाँ डर नहीं लगता।” बालक बोला—“मैंने डर को कभी नहीं देखा वह कैसा होता है ?” अपने इसी गुण के कारण यह बालक होरेरियो नेल्सन आगे जाकर एक महान योद्धा तथा अपने देश के गौरव को अक्षुण्ण रखने वाला सेनानी बना ।

मामा की आर्थिक स्थिति भी कुछ विशेष अच्छी नहीं थी । बारह वर्ष की आयु में ही नेल्सन को जहाज पर नौकरी करनी पड़ी । इसे अपने जहाज पर पहुँचने के लिये बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । बारह वर्ष के बालक की वहाँ कौन सुनता ? उन दिनों जहाज की नौकरी में न तो अधिक अर्थ लाभ ही होता था न मान-सम्मान ही मिलता था । नेल्सन को जहाज के कप्तान ने यही राय दी कि वह काम छोड़ दे किन्तु उसे अपने आप पर विश्वास था । वह एक ही जगह रहना उचित समझता था भटकना नहीं चाहता था ।

नेल्सन ने अपने प्रारम्भिक काल से ही समुद्री यात्राओं के दौरान तट तथा गहराई का सूक्ष्म अध्ययन किया जो आगे जाकर उसके लिए बड़ा सहायक हुआ । उसका आशावादी दृष्टिकोण ही उसकी प्रगति में सहायक बना ।

सन् १७७३ में एक दल उत्तरी ध्रुव की खोज में जाने वाला था । उसके लिये जहाज की आवश्यकता थी तथा कुशल मल्लाह भी चाहिए थे । नेल्सन को समुद्र व स्थल की जानकारी करने व जोखिम के काम करने में बड़ी दिलचस्पी थी । उसने उस जहाज पर नियुक्त होने के लिये निवेदन किया जो स्वीकार हो गया । इस यात्रा में नेल्सन का साहस सबके लिये वरदान सिद्ध हुआ ।

नेल्सन के अपने गुणों के कारण इंग्लैण्ड के नौ सैनिक अधिकारी इससे बहुत प्रभावित थे । २१ वर्ष की आयु में ही वह उच्च नौसैनिक अफसर के पद पर पहुँच गया था । उसे सेंटजुआन किले पर आक्रमण करने के लिये भेजा गया । यह किला बड़ी अस्वास्थ्यकर स्थिति में था ।

इसने विजय तो प्राप्त करली पर वहाँ की सड़ती लाशें व अस्वास्थ्यकर जलवायु से इसके बहुत से सैनिक मर गये । नेल्सन ने इसे अपने जीवन का पाठ मानकर उससे शिक्षा ली ।

जिस बालक से उसके परिवार वालों को कोई आशा नहीं थी वही बालक जब युवा हुआ तो अपने साहस, लगन व आत्मविश्वास के बल पर वह सारे इंग्लैण्ड का विश्वासपात्र बना । जहाँ भी कार्य में असफलता की आशंका होती वहाँ नेल्सन को भेजा जाता और वह सफल होकर ही लौटता । वह एक दिन साधारण नाविक के रूप में ब्रिटिश नौसेना में प्रविष्ट हुआ था और एक दिन इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े का कप्तान नियुक्त किया गया ।

नेल्सन की इस द्रुत प्रगति का कारण उसके मानवीय गुणों के विकास का प्रयास था । साहस तो उसमें कूट-कूट कर भरा था । वह जो काम करता था कितनी दृढ़ निष्ठा से करता था वह उसके इस पत्र से स्पष्ट हो जाता है जो उसने अपने कमांडर-इन-चीफ को लिखा था-“हम सेंटकूज पर अधिकार क्यों न कर सकें । इसकी बात मैं न चलाऊँगा । जो कुछ सम्भव था मैंने किया पर फल कुछ न हुआ । आज मैं सारी सेना का नायक हूँ । कल मेरे गले में जयमाला होगी अथवा मैं संसार में न हूँगा ।” यह पत्र लिखकर उसने अपने पुत्र तथा पत्नी को भी सन्देश भेज दिये कि वह विजयश्री वरण न कर सकें, मृत्यु ही उसे वरले, तो वे क्या करें ? ऐसी दृढ़-निष्ठा ही सफलता दिलाती है ।

फ्रांसीसी जहाजी बेड़े पर आक्रमण करने सम्बन्धी मन्त्रणा हो रही थी । कप्तान बेरी ने नेल्सन से पूछा-“यदि हम जीत गये तो संसार क्या कहेगा ? नेल्सन ने इसके उत्तर में कहा-“इस विषय में ‘यदि’ है ही नहीं । हम जीतेंगे यह निश्चित है, कहानी सुनाने को कौन जीवित रहेगा यह दूसरा प्रश्न है ।” कर्म के प्रति यह निष्ठा ही नेल्सन की विजय का कारण थी । नेल्सन की मान्यता थी कि जो व्यक्ति सफलता का दृढ़ निश्चय कर लेता है और पूरे मनोयोग से उसमें जुट जाता है तो असफल हो ही नहीं सकता ।

फ्रांसीसी जहाज ‘ओरियंट’ में आग लग गई । मस्तूल उड़ गया । सैनिक समुद्र में कूद पड़े । शत्रु के सैनिक होते हुये भी उन ७० सैनिकों को नेल्सन ने बचाया । नेल्सन में शत्रु सैनिकों के जीवन के प्रति भी ममत्व था । बन्दी सैनिकों के प्रति भी उसका व्यवहार मानवीय ही रहा ।

अपने अधीन काम करने वाले सैनिकों तथा अफसरों के साथ उसका व्यवहार परिवार जैसा था । उनकी कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान रहता था । उनकी प्रगति के लिये वह कमांडर-इन-चीफ को लिखा करता था । अपने उच्च अधिकारियों का वह सम्मान किया करता था ।

इस व्यवहार के कारण वह सबका ‘अपना आदमी’ हो गया था । उसको कई बार बचाने के लिये उसके सैनिकों ने अपनी मृत्यु को स्वीकार किया था । यथायोग्य व्यवहार का यह गुण उसे एक महान योद्धा तथा सफल सेनानायक बनाने में सहायक हुआ था । उसके उच्चाधिकारी उससे प्रसन्न रहे तथा उसके सैनिक उसके लिये प्राणोत्सर्ग तक करने को तत्पर रहे । सैनिक जीवन की रुखाई को नेल्सन के स्वभाव ने मिटा दिया था ।

‘ओरियंट’ के मस्तूल के लट्टों से कप्तान हैलोबेल ने शवपेटी बनाकर नेल्सन को भेंट की तथा आग्रह किया कि नेल्सन के लिये इसे प्रयुक्त किया जाय । नेल्सन ने अपने परिवार के मना करने पर भी स्वीकार किया व बहुत प्रसन्न हुआ । परिवार के लोग इस अशुभ वस्तु को नहीं रखना चाहते थे पर नेल्सन अपने सहयोगी की भेंट का सम्मान करता था । युद्ध-कर्म में जीवन व्यतीत करते हुए भी हृदय पक्ष को इतना सजीव रखने के गुण के कारण ही नेल्सन अपने सैनिकों का ‘अपना’ बन सका था ।

सेंटकूज के युद्ध में उसका दाहिना हाथ कट चुका था, अंग-भंग हो जाना एक सेनानायक के लिये बहुत बड़ा दुर्भाग्य था । यह उसी का साहस था कि इस अंग-भंग को सहज रूप में स्वीकार कर ले तथा यह कहे “अभी तो मेरा बाँया हाथ व टाँगें शेष हैं ।” राजा को भी उसने लिख दिया कि उसके स्थान पर किसी अन्य समर्थ व्यक्ति को नियुक्त करें ताकि राष्ट्र की सेवा ठीक प्रकार से हो सके ।

नेल्सन की योग्यता देखते हुए उसे उसी पद पर रखा गया तथा एक हाथ से नेल्सन ने नेपोलियन जैसे विश्व प्रसिद्ध योद्धा से टक्कर ली तथा वीरता के क्षेत्र में एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि मनुष्य के एक अंग कट जाने पर या अपंग होने पर भी यदि वह अपने आप पर विश्वास रखे तो अपने ध्येय में सफल हो सकता है ।

नेल्सन का सारा जीवन सागर की लहरों पर ही व्यतीत हुआ । जहाज पर रहने वालों का स्वास्थ्य क्षीण होता जाता है यह नेल्सन के साथ भी हुआ । वह कुछ समय के लिये स्वास्थ्य सुधार के लिये अपने देश लौटता पर कुछ ही महीनों के बाद फिर उसके लिये कहीं न कहीं युद्ध छिड़ ही जाता और उसे फिर अपने देश व जाति के गौरव की रक्षार्थ अपने स्वास्थ्य सुधार को बीच में ही रोक लेना पड़ता था ।

हाथ और आँख देकर भी हिम्मत न हारने वाला नेल्सन

नेल्सन ने अपनी सेवा और शौर्य के कारण छोटी अवस्था में उच्च अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया और एक साधारण सैनिक से महत्वपूर्ण आफीसर बना दिया गया ।

अभी उसकी आयु कुल २० वर्ष की ही थी एक सैनिक कमाण्डर ने आकर उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा-नेल्सन ! तुम्हारे शौर्य और कठिनाइयों में भी दृढ़ रहने की भावना से प्रभावित होकर सरकार ने तुम्हारी योग्यता का ध्यान किये बिना ही महत्वपूर्ण कार्य दिया है । तुम्हारे गुण ही सर्वोच्च योग्यता हैं हमारा विश्वास है तुम यह कार्य कुशलतापूर्वक पूरा कर सकोगे ।

इसके बाद उसे समुद्री-डाकुओं से ब्रिटिश सम्पत्ति की रक्षा करने भेजा गया । वह जहाज का सेनापति बनकर गया और सफलता पाकर लौटा । अभी वह लौट भी न पाया था कि उसे फ्रांसीसी द्वीप कोर्सिका पर आक्रमण करने की आज्ञा दी गई । एक दिन भी विश्राम किये बिना वह युद्ध के लिए तैयार हो गया । अन्य पदाधिकारियों ने कहा-“तुम्हें विश्राम भी नहीं दिया गया और फिर युद्ध की आज्ञा दे दी गई क्या तुम इसका विरोध नहीं करोगे ?” तो नेल्सन ने हँसकर कहा-मेरे लिये काम ही विश्राम है जिस दिन मेरे शरीर का रक्त ठण्डा पड़ जायेगा उस दिन मैं मृत्यु पसन्द करूँगा पर मक्खी मारना कदापि स्वीकार न करूँगा ।

नेल्सन ने कोर्सिका पर चढ़ाई कर दी और विजयी बनकर लौटा, सचमुच जिनके शरीरों की चमक नष्ट नहीं होती जीवन में वही नेल्सन की तरह सफलता पाते हैं ।

इस युद्ध में विजय तो मिली पर नेल्सन की दाहिनी आँख लेकर । इसी समय शान्ताकूज पर स्पेन ने आक्रमण कर दिया उससे निबटने के लिये ब्रिटिश सैन्याधिकारियों से पूछा गया-कौन है जो इस युद्ध में स्वेच्छा से जाना चाहता है । जब सब सैनिक विचार-मंथन में ग्रस्त थे तब नेल्सन आगे बढ़कर आया और उसने फिर युद्ध किया इस बार उसका दाहिना हाथ बेकार हो गया पर विजय-श्री उसके गले यह कहकर लगी-“सैनिक जब तक तुम्हारा मनोबल स्थिर है तब तक मैं तुम्हारा ही वरण करूँगी-भले ही तुम्हारा धड़ भी शरीर से अलग हो जाये ?”

इसके बाद हुआ विश्वविख्यात ट्रेफलगर का युद्ध । इस युद्ध में नेल्सन को जहाज के एक पुल पर सबसे खतरनाक स्थान पर तैनात किया गया । फ्रांस और स्पेन दोनों ने मिलकर चढ़ाई कर दी और ब्रिटिश बेड़े के पैर उखाड़ दिये । ट्रेफलगर में घमासान युद्ध हुआ ।

युद्ध चल रहा था तब उसे आज्ञा दी गई कि उस स्थान पर दुश्मन का आक्रमण होने वाला है, वह स्थान छोड़कर पीछे हट जाओ । लेकिन नेल्सन ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया ।

नेल्सन ड्यूटी पर खड़ा था तभी एक गोली उसको लगी । सिपाही उसे उठाकर पीछे ले जाना चाहते थे पर उसने सोचा यदि अन्य सिपाहियों को मेरे मर जाने की

सूचना मिली तो उनका उत्साह ठण्डा पड़ जायेगा और हार हो जायेगी । उसने कड़ककर कहा जब तक विजय की सूचना नहीं मिलती मैं मुर्दा हो जाऊँ तो भी मुझे ऐसे ही खड़ा रहने दिया जाय ।

और सचमुच एक बार फिर विजय आई और जब उसकी सूचना उसे मिल गई तभी उसका प्राणान्त हुआ ।

जिन्होंने निःशस्त्र उपनिवेशवाद से संघर्ष किया-

डॉ० जगन

दक्षिण अमेरीका स्थित एकमात्र ब्रिटिश उपनिवेश ब्रिटिश गायना । अंग्रेज सरकार किसी न किसी तरह वहाँ बने रहने के लिए तरह-तरह के नाटक रचती रहती थी । इन्हीं नाटक स्त्रों की शृंखला में सन् १९५३ में आम चुनाव सम्पन्न कराये गये । शायद वे लोग इस भुलावे में थे कि ब्रिटिश गायना की जनता उन्हें अब भी चाहती होगी इसलिए वे अपनी विजय के प्रति बड़े आशान्वित थे । परन्तु गायना द्वीप के लोगों में पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी दिनों-दिन लोकप्रिय होती जा रही थी । शक्ति भर काम करने के बाद जिन्हें पेट भर भोजन नहीं मिलता हो उनके लिए न्याय का आश्वासन भी प्रारम्भ हो तो पर्याप्त रहता है ।

सन् १९५३ के अप्रैल मास में उपनिवेश गायना की २४ सीटों पर चुनाव लड़ा गया । इस चुनाव में जनमत ने पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी का साथ दिया । इस दल को २४ में से १८ सीटें मिलीं । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए तो एकदम यह अप्रत्याशित था इसलिए उसने जनमत को अपने खिलाफ जाने से रोकने के लिए ओछे हथकण्डे अपना आरम्भ कर दिया । इस दल के ही ३३ वर्षीय डॉ० छेदी जगन ब्रिटिश गायना के महामंत्री चुने गये । वे इस पद का उत्तरदायित्व सम्हालें इसके पूर्व ही संविधान, संसद और चुनाव सब निरस्त कर दिये गये ।

प्रोग्रेसिव पार्टी ने जनभावनाओं को दमन करने के विरोध में आन्दोलन छेड़ा । आरम्भ में तो उसे दबाने के लिए प्रयास किये गये । पुलिस और वहीं की सेवा की मदद से दमन जारी रहा । परन्तु सरकार इस प्रकार अपने प्रयासों में सफल न हो सकी । ब्रिटिश गायना में चल रही राजनीतिक गतिविधियों के समाचार इंग्लैण्ड पहुँचे तो वहाँ से सहायता के लिए १६०० सैनिक और चार जंगी जहाज भेजे गये । दुनिया भर के स्वतन्त्रता प्रेमी देशों ने इस कृत्य की निन्दा की परन्तु उपनिवेश सचिव भी आलिबर लिटलटन ने घोषणा की कि-हम राष्ट्रमण्डल में एक और जनवादी राज्य की स्थापना नहीं होने देंगे ।

पीपुल्स पार्टी की महामन्त्राणी डॉ० जेनेट जगन ने आह्वान किया कि-“हमारे देश पर विदेशियों ने आक्रमण किया । जनता मुकाबले के लिए तैयार हो इसके पूर्व ही

तो स्थिति बदल चुकी थी ।" ब्रिटिश गायना की विचारधारा और शासननीति से ब्रिटिश शासकों को उतना खतरा नहीं था जितना कि डॉ० छेदी जगन से । उस समय वे अपनी पत्नी सहित गायना के नागरिकों को उनका न्यायिक अधिकार दिलवाने का प्रयत्न कर रहे थे ।

डॉ० जगन अमेरिका में शिक्षा प्राप्त कर गायना में प्रैक्टिस करने वाले दौंतों के एक डॉक्टर थे । जब से उन्होंने इस ब्रिटिश उपनिवेश को अपना कार्य क्षेत्र चुना तभी से यहाँ के जन-जीवन और श्रमजीवी वर्ग को बड़ी बुरी तरह लुटते देखा । उस समय गायना के औद्योगिक क्षेत्र में तीन बड़ी कम्पनियों का एकाधिकार था । जो निरापद अपना शोषण चक्र चला रही थीं । उन दिनों एक घटना ऐसी घटी जिसने डॉ० जगन को एकदम परिवर्तित कर दिया । एक बार शाम के समय वे अपनी दुकान बन्द कर घर जा रहे थे । इसी वक्त श्रमिकों की भी छुट्टी हुई । रास्ते चलते कई मजदूर मिल मालिकों को गालियाँ देते जा रहे थे । डॉ० जगन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु एक मजदूर जिसका भूख के कारण बड़ा बुरा हाल था, बेहोश होकर गिर पड़ा । अन्य श्रमिक भी उनके आस-पास आकर खड़े हो गये । बेचारे वे भी क्या कर सकते थे । सारी स्थिति जान कर डॉ० जगन ने आवश्यक मदद की ।

इस घटना ने उनके मन में धन लोलुप पूँजीपतियों के प्रति घृणा का भाव भर दिया । ब्रिटिश गायना का प्रमुख उद्योग चीनी और चावल की खेती है और कृषि पर मुख्यतः चन्द पूँजीपतियों का नियंत्रण है । पूँजीपतियों ने देश की सारी अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था पर अपना नियंत्रण कर रखा है । ये लोग अपने ही लाभ और स्वार्थ की बात सोचते हैं । इस कारण देश में घोर निर्धनता है । कारखानों के मजदूर कम्पनियों के मालिकों की दया पर निर्भर हैं । किसानों के पास तो अपनी निज की जमीन भी नहीं है । वे केंचुली मारकर बैठे धन्ना सेठों के दास हैं । देश में अधिकांशतया बेकारी और गरीबी है । डॉ० जगन ने अपने देश के जन-जीवन की इस दशा का निकट से अध्ययन किया और पाया कि श्रमिक यदि अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने के लिये तैयार हो जायें तो इन सब दुःस्थितियों का निवारण हो सकता है ।

उस समय गायना का शिक्षा तंत्र पादरियों के हाथ में था । सरकार से उन्हें वित्तीय सहायता मिलती थी और चर्च स्कूल चलते थे ऐसी स्थिति में जबकि शासन को पूँजीपतियों और जनता का शोषण करने वालों से लाभ मिलता है तो वह क्यों उनके खिलाफ कोई भी खतरे की सम्भावना पैदा करेगी । निसन्देह धर्म का भी वहाँ वही स्वरूप समझाया गया जो दानदाताओं के हित में रहा हो ।

डॉ० जगन ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में इन सब अव्यवस्थाओं को दूर करने का वचन दिया था और जब

जनता ने उनका साथ दिया तो उन बातों को क्रियान्वित करने के लिए कदम भी उठाये । परन्तु वे कुछ कर सके इसके पूर्व ही उन्हें अपदस्थ कर दिया ।

परन्तु इससे गायना भर के प्रजावादी लोग, पीपुल्स वर्कर्स तथा जगन दम्पति किंचित भी निराश नहीं हुए । लगता था इस स्थिति के लिए वे पहले से ही तैयार थे । सच भी है संसार में कोई सुधार निर्विरोध सम्पन्न नहीं होते । डॉ० जगन ने अपने प्रयासों द्वारा अनुयायियों से अहिंसात्मक विरोध करने के लिए कहा । यद्यपि कई युवक और उत्साही कार्यकर्ता उग्र विरोध के लिए भी तैयार हो रहे थे परन्तु डॉ० जगन ने उन्हें शान्त रहने के लिए समझाया और कहा कि इससे तो अपने ही देश का जन-धन नष्ट होगा ।

शान्ति और अहिंसा के इस उपासक की तस्वीर दुनिया के सामने खतरनाक और खूनी कम्युनिस्ट के रूप में रखी गयी । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने यह प्रचार किया कि डॉ० जगन अपनी पत्नी के बहकावे में आकर कम्युनिस्ट सत्ता की स्थापना का स्वप्न देख रहे हैं । उनके पूर्व जीवन के सम्बन्ध में मनगढ़न्त बातों का प्रचार किया गया ।

पति-पत्नी डॉ० छेदी जगन तथा श्रीमती जेनेट जगन पर आरोप लगाया गया कि १९४७ में उन्होंने विधान मण्डल का सदस्य बनने पर चीनी की मिलों में हड़ताल करवाई और इसके परिणामस्वरूप जो उपद्रव मचा उसमें ५ श्रमिक मारे गये । यही नहीं वे १९५१ में रूसी साम्यवादियों से मिलने भी गये । ये सब बातें उन्हें कम्युनिस्ट सिद्ध करने के लिये कही गयी थीं ।

इतना सब होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार क्यों नहीं किया इस बात से संसार के कई देशों के राजनीतिज्ञों ने इस प्रचार पर विश्वास नहीं किया । उनके देश में तो उपनिवेशवादी सरकार के दमन चक्र ने वहाँ की जनता में सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता बना दिया । वहाँ की जनता ने उनसे अगाध प्रेम और अटूट विश्वास किया । गाँधीजी के बाद अपने देश में इतना सघन लोक विश्वास प्राप्त करने वाले नेता डॉ० छेदी जगन ही कहे जा सकते हैं । अँग्रेज सरकार ने लोकमानस में बनी हुई उनकी तस्वीर को तोड़ने का कितनी ही बार प्रयत्न किया किन्तु सफलता कभी न मिली क्योंकि वह उनकी स्वयं उपार्जित लोकराशि रही है ।

दमन और शक्ति के बल पर कुछ समय के लिए सरकार राष्ट्र की आवाज को दबाये रखने में भले ही सफल हो गयी हो परन्तु अधिक समय तक यह स्थिति बनी न रह सकी । ब्रिटिश सरकार ने एक बार फिर चुनाव कराये । इस बार पीपुल्स पार्टी का विघटन हो गया था । इसी कारण सरकार को यह विश्वास हुआ था कि डॉ० जगन अबकी बार तो पराजित हो ही जायेंगे । सरकार से उनके एक पुराने साथी लिडन फोरेनेस बर्नहम पार्टी से अलग हो गये थे ।

पिछले चुनावों को भी चार वर्ष हो गये थे परन्तु पार्टी विघटन का डॉ० जगन पर कोई असर नहीं हुआ और अन्ततः जनता ने उन्हें ही अपना एकमात्र विश्वासपात्र नेता चुना ।

किसान पुत्र से राष्ट्रपति पद तक— च्यांग-काई-शेक

अर्धरात्रि का समय था । बाहर घटाटोप अँधेरा और अन्दर दीपक का टिमटिमाता प्रकाश । सारी दुनिया निद्रा देवी की गोद में विश्राम कर रही थी और जापान के एक छोटे से कस्बे में दो चीनी युवक क्रान्ति की योजना बना रहे थे । उस समय प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था । इन दो युवकों में से एक तो था सैनिक जो जापान के लिए लड़ रहा था और दूसरा था क्रान्तिकारी जो चीन में गणतन्त्रात्मक राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना का स्वप्न सँजोये उत्साही देशभक्त युवकों को टटोलता फिर रहा था । सैनिक उक्त क्रान्तिकारी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने देश की जनता को लोकतन्त्र और राष्ट्रीय शासन देने के लिए युद्ध के मोर्चे पर से बीच में ही लौट आया था । उस समय पलायन करने वाले सैनिकों की खैर नहीं थी । फिर भी अपने प्रेरणा स्रोत और मार्गदर्शक के निर्देश अनुसार युवक ने यह खतरे से भरा कदम उठाया था । इन दोनों युवकों में सैनिक थे—च्यांग-काई-शेक और उनके प्रेरणा स्रोत थे डॉ० सनयात सेन । जिन्होंने सर्वप्रथम चीनी-क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की और जीते जी उसे सफल बनाया । अपने जीवन काल में ही क्रान्ति का सफल आयोजन कराने वाले च्यांग-काई-शेक कई संघर्षों का सामना कर निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़े थे ।

मध्य चीन के चीक्यांग नामक स्थान पर बसने वाले एक निर्धन किसान परिवार में सन् १८८७ में च्यांग-काई-शेक का जन्म हुआ । उनके पिता के पास बहुत थोड़ी जमीन थी । जिससे गुजारा मुश्किल से ही चलता था । आर्थिक अभाव और पारिवारिक कठिनाइयों ने भी च्यांग-काई-शेक के विकास में कोई बाधा नहीं डाली और वे स्वाभाविक रूप से पलने-बढ़ने लगे । गरीबी के कारण च्यांग-काई-शेक की शिक्षा-दीक्षा भी कोई खास नहीं हुई । उन्हें किशोरावस्था में ही रोजगार की तलाश के लिए भटकना पड़ा । चीन में उस समय बेकारी और गरीबी का राज्य था । चारों ओर जवान युवक, वृद्ध, पुरुष अपनी दीन दुर्दशा लेकर फालतू घूमते रहते । काम की तलाश में बच्चों को भी भागना पड़ता । च्यांग को भी अपने अन्य समस्तरीय परिवारों के सदस्यों की तरह रोजगार की तलाश में भाग-दौड़ करनी पड़ी ।

तभी प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ और वे जापानी सेना में भर्ती हो गये । स्वदेश छोड़ना पड़ा किन्तु आर्थिक

चिन्तायें इतनी नहीं रहीं । सैनिक प्रशिक्षण के दौरान उन्होंने कई अस्त्र-शस्त्रों का संचालन तथा युद्ध विद्या के पैतरे सीख लिए । घर पर माता-पिता खेती-बारी सम्हालते थे और युद्ध पर मोर्चा च्यांग । सेना में भर्ती होने का एक मात्र कारण आर्थिक परेशानियाँ ही थीं फिर भी सैनिक जीवन का अभ्यास उनके भविष्य में बड़ा काम आया । दृढ़ निश्चय, अनुशासन और संगठन शक्ति का उदय तथा विकास उनके सैन्य जीवन की ही देन है ।

चार साढ़े चार वर्ष तक सेना में रहे होंगे कि उन्हें पता चला चीन का एक युवक सनयात-सेन वहाँ की दुःस्थिति सुधारने और उसके लिए पूर्णरूप से जिम्मेदार विदेशी शासक को बदलने के लिए प्रयत्न कर रहे थे । चूँकि उनका स्वयं का जीवन भी चीन की व्यवस्था के कटु-अनुभवों का भुक्त भोगी था । इस व्यवस्था के प्रति उनमें तीव्र आक्रोश भी था इसलिए डॉ० सनयात सेन के समाचार और प्रयासों के सम्बन्ध में सुनकर च्यांग ने एक नयी प्रेरणा प्राप्त की ।

अपने लिए तो सभी जीते हैं । स्वयं की परिस्थितियों, अभावों और कष्ट-कठिनाइयों को दूर करने के लिए हर कोई प्रयास करता है । मैं भी इसी प्रकार की अन्धी दौड़ में भाग लूँ तो क्या खास बात हुई । च्यांग के अन्तःकरण में मानवीय विद्यमान भावनाओं ने बल पकड़ा और वे सोचने लगे—सेना में भर्ती होकर तो मैंने अपने ही परिवार की कठिनाइयों को दूर किया है । पारिवारिक अभावों को दूर कर देना ही पर्याप्त नहीं है वरन् विदेशी शासन के शोषण चक्र को बन्दकर सर्वसाधारण को जीवनयापन की सुविधायें तथा स्वातन्त्र्य सुख की परिस्थितियाँ लाना आवश्यक है । च्यांग स्वयं को इस विचार के क्रियान्वित करने हेतु तैयार करने में लग गये ।

तभी डॉ० सनयात सेन का आगमन जापान में हुआ और च्यांग ने उनसे सम्पर्क साधा । डॉ० सनयात सेन उत्साही और देशभक्त युवक के विचारों, भावनाओं तथा निष्ठा से बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने च्यांग को अपना सहयोगी बना लिया और चीन में क्रान्ति द्वारा स्वाधीनता लाने के प्रयासों में जुट गये । डॉ० सनयात तो विदेशों में घूम-घूमकर क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे । च्यांग को वहीं रहकर जन-जागरण का कार्य सौंपा । फलस्वरूप उनकी प्रतिष्ठा ख्याति बढ़ने लगी । स्वाधीनतापरक कार्यक्रमों के सूत्रधार होने के कारण वे सरकार की दृष्टि में भी आये और पुलिस तथा विदेशी शासन के पिटतू उनके पीछे पड़ गये । च्यांग इधर-उधर छुपते फिरते और स्वयं को पकड़ से बचाये रहे । कई अवसरों पर जब वे बुरी तरह फँस गये थे कहीं से बचने का कोई रास्ता नहीं था । ऐसे समय पर उन्होंने धैर्य और सूझबूझ से काम लिया तथा बड़ी कुशलतापूर्वक आततायी तन्त्र से

अपने को बचा ले गये । स्वयं को सरकार की पकड़ में आने से बचाने के साथ-साथ वे अपना काम भी बढ़ी तत्परता से पूरा कर रहे थे ।

निष्ठा और साहस के धनी च्यांग पर डॉ० सनयात सेन का विश्वास बढ़ता ही गया । उनकी गणना क्रान्तिकारियों तथा सनयात सेन के प्रमुख सहयोगियों में होने लगी थी । चीन की पीपुल्स पार्टी में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था । सनयात सेन के जीवन काल में ही वे पीपुल्स पार्टी के केन्द्रीय कार्यसमिति के सदस्य भी चुने जा चुके थे । एक के बाद एक बड़े महत्व के उत्तरदायित्व उन्हें सौंपे गये और उन सभी को सफलतापूर्वक निभाया ।

ज्यों-ज्यों उनकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि फैलती रही त्यों-त्यों विदेशी शासन भी उनसे भय खाने लगा । प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाने से लेकर उन्हें गिरफ्तार करने और मरवा देने तक अनेकों प्रयास किये गये । प्रलोभनों को ठुकराकर और षड़यन्त्रों से बचकर च्यांग ने अपने लक्ष्य और कार्य के प्रति अटूट निष्ठा का परिचय दिया । च्यांग की इसी निष्ठा और लगन ने उन्हें डॉ० सनयात सेन का उत्तराधिकारी बनाया । अक्टूबर, १९११ में च्यांग की क्रान्ति के सफल हो जाने पर वे चीन की जनता के सामने खुलकर आये और स्वाधीनता का शंख फूँकने लगे ।

च्यांग की क्रान्ति से विदेशी शासकों का मनोबल बुरी तरह टूट चुका था । च्यांग तथा सनयात सेन का स्वतन्त्रता अभियान इस कारण और भी सफलतापूर्वक चलने लगा परन्तु सरकार ने अपनी दमन नीति को रंजमात्र भी ढीला नहीं किया । इसके बावजूद भी च्यांग तथा उनके सहयोगी निर्भयतापूर्वक कार्य में लगे रहे । च्यांग की क्रान्ति सफलता ने उनका मनोबल और आत्मविश्वास साधारण रूप से ऊँचा उठा दिया था । निष्ठा और धैर्य के साथ परिस्थितियों और प्रतिकूलताओं के प्रति निर्भयता भी जन्म ले लेती है तो व्यक्ति हो या समाज द्रुतगति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने लगता है । ऐसी स्थिति में वह प्राप्त परिस्थितियों से बिना घबराये और हार माने डटकर मुकाबला करता है, उन पर विजय प्राप्त करता है ।

च्यांग की क्रान्ति से विदेशी शासकों का मनोबल तो टूटा ही था वे बीखला भी गये । परिणामस्वरूप अन्धाधुन्ध कार्यवाहियाँ चलने लगीं । पकड़-धकड़ और सख्ती पहले से कहीं ज्यादा और कस दी गयी थी परन्तु दमन कभी भी जनता की आकांक्षाओं को कुचल नहीं सकता है । कुछ काल के लिए जन आक्रोश ठण्डा भले ही पड़ जाय पर अन्दर ही अन्दर सुलगता रहता है और अवसर पाकर भड़क उठता है ।

एक दूसरी स्थिति भी होती है । जिसमें दमन का परिणाम प्रतिक्रिया उठने ही वेग से उड़ती है । यह स्थिति जागरूक और उत्साही जन समाज में ही उत्पन्न होती है ।

चीन का तत्कालीन समाज भी च्यांग-काई-शेक, डा० सनयात सेन और उनके क्रान्तिकारी संगठन के प्रयासों से पूरी तरह जाग उठा था । विश्व में होने वाली घटनाओं ने उनमें साहस और आत्मविश्वास भी पैदा कर दिया था फलस्वरूप स्वाधीनता आन्दोलन अपनी धुरी पर और गतिमान हुआ । क्रान्ति का पहिया तेजी से घूमने लगा ।

तभी चीनी स्वाधीनता संग्राम को एक अपूरणीय क्षति हुई । सन् १९२५ में डा० सनयात सेन का देहान्त हो गया । पार्टी ने अपना नेता तथा क्रान्तिकारियों ने अपना अगुआ खो दिया । कुछ समय तक पार्टी के कार्यकर्ता इसी उधेड़बुन में रहे कि नेतृत्व के अभाव में किस प्रकार आन्दोलन आगे बढ़ाया जाये । नेता की तलाश में सभी की आँखें च्यांग-काई-शेक पर जा टिकीं और च्यांग सनयात सेन के योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए । उन्होंने स्वतः स्वयं अपना नेता मानने और हर क्षेत्र में आगे बढ़ने, विदेशी दासता को परास्त करने का आह्वान किया । च्यांग अपने गुणों और कार्यों के कारण युवकों के प्रिय पात्र तो थे ही । लोगों ने उनके आह्वान को सुना और च्यांग के व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित होकर आगे भी आये । किसी भी क्रान्तिकारी या जनसेवा के विचार मात्र ही आदर्श नहीं बनते । कार्यक्रम, योजनाएँ और सुझाव देने वाले तो सैकड़ों नहीं हजारों हैं परन्तु उनकी प्रेरणाएँ उनके स्वयं की जीवन में दिखाई न देने से बलहीन ही रही हैं । च्यांग ने आरम्भ से ही देश और समाज के लिए व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हितों का बलिदान किया था । परिणामस्वरूप उनकी पुकार में भी वह शक्ति पैदा हुई जिसने लाखों-करोड़ों निष्प्राण शरीरों को झिझोड़ कर खड़ा कर दिया ।

अन्ततः स्वाधीनता संग्राम सफल हुआ और १९२८ में चीन आजाद हो गया । च्यांग-काई-शेक चीन की राष्ट्रवादी सरकार के राष्ट्रपति बने । अब उनके सामने एक और बड़ा काम था वह था विभाजित चीन के एकीकरण का । बिखरी हुई चीनी जनशक्ति आपस की ही बातों में उलझकर नष्ट हो जाती थी फलस्वरूप उसे हर कोई दबा देता और शासक बन बैठता था । इतिहास के इस महत्वपूर्ण सूत्र को पकड़ कर उन्होंने चीन के एकीकरण की योजना बनायी और उसे भी उत्साह तथा साहसपूर्वक क्रियान्वित किया ।

सन् १९३८ तक च्यांग ने चीन के एकीकरण का जबरदस्त काम किया । इसके लिए उन्हें दुनिया की कई शक्तियों से मतभेद तथा शत्रुता मोल लेनी पड़ी । तभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण वे चारों ओर निराशा से घिर गये । जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी निराश न होने वाले च्यांग अपने कुछ साथियों से मतभेद हो जाने के कारण राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र देकर टोकियो-जापान चले गये । अभी उनके सामने

काफी काम पड़ा था जिसे पूरा करने के लिए चीन की जनता, उसके प्रतिनिधियों और विरोधियों तक का सहयोग वांछनीय था। कुछ लोगों द्वारा उन्हें बिल्कुल भी सहा नहीं गया परिणामस्वरूप विरोधियों को सन्तुष्ट करने के लिए वे अज्ञातवास में चले गये। टोकियो जाने की किसी को खबर ही नहीं हुई।

१९३१ से ३९ के दौरान जापानी सेनाओं ने चीन पर कई बार आक्रमण किया। प्रारम्भ में ही जब उन्होंने जापानी हमलों के समाचार सुने तो वे चुप ही नहीं बैठ सके और दुनिया के सामने खुलकर आ गये। इस संकट काल से निबटने के लिए विरोधियों ने भी मतभेद भुलाकर च्यांग को राष्ट्रीय नेता के रूप में स्वीकार कर लिया। वे चीनी सेनाओं के जनरल बने और इस बहादुरी तथा वीरता से जापानी हमलों का मुकाबला किया कि प्रतिपक्षी शत्रु को हारकर चुप बैठ जाना पड़ा। इस विजय ने उन्हें चीनी जनता का सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता बना दिया। सन् १९४३ में उन्हें चीन का राष्ट्रपति चुना गया।

इससे पूर्व वे कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में इस उत्तरदायित्व को सम्हाल रहे थे। च्यांग-काई-शेक को अपने देश की जनता से असीम प्यार रहा है। उसके सुख के लिए उन्होंने बिना थके, विश्राम किये बारह-तेरह घण्टे तक परिश्रम किया। उनके राष्ट्रपतित्व काल में ही देश में कम्युनिस्टों का दबाव बढ़ता गया। माओ-त्से-तुंग आदि के नेतृत्व में एक जबरदस्त आँधी आयी और चीन की राष्ट्रवादी सरकार का पतन हो गया।

च्यांग-काई-शेक २१ जनवरी, १९४९ को अपनी मातृभूमि छोड़कर फारमोसा चले गये। यह चीन का ही एक भाग है जहाँ आज भी उनके नेतृत्व में संस्थापित लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था चल रही है। वे विश्वयुद्ध के समय से ही महानता को प्राप्त करने वाले चार व्यक्तियों में से एक माने जाते हैं।

च्यांग-काई-शेक ने अपने जीवन के माध्यम से विश्व के उन व्यक्तियों के सामने एक अनुकरणीय आदर्श रखा जो स्वयं अपनी तथा अपने परिवार की चिन्ताओं में ही व्यस्त रहते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए ही मरते-खपते रहते हैं।

पुरुषार्थी गारफील्ड

डाँट सुनकर वह सहम गया। फटी-फटी आँखों से कुछ देर उसकी ओर देखता रहा, जिसकी अँगुलियों में थमी कलम उसका भाग्य लिख रही थी। तो क्या इन्सान का भाग्य किसी की मुट्ठी में कैद रहता है? पर वह तो दिन भर हड्डी तोड़ परिश्रम करता है, तब कहीं एक दो

नहीं पूरे तीस दिन के बाद उसे मजदूरी मिलती है। तब उसके भाग्य की सृजेता उसकी मजबूत बाँहें हैं, उसकी श्रम शक्ति है अथवा कोई और? जबाब विचारों के जाल में उलझ कर रह गया। हाथ में आया बरखास्तागी का हुक्मनामा, जिसे लेकर वह चल पड़ा जिन्दगी की अनजानी राहों की ओर।

रह-रह कर उसके मन में सवाल उभरता “भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ?” कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने ही अन्दर से सवाल फूटते हैं फिर अपने ही मन के अनेकों कोनों से जबाब झाँकने लगते हैं, निकलते हैं, एक दूसरे पर झपटते हैं। बड़ी गहमा-गहमी के बाद किसी को जीत मिलती है। उसकी भी हालत कुछ ऐसी ही थी। उधेड़-बुन में पड़ा वह सोच रहा था क्या किया जाय? कहाँ जाना चाहिए।

खैर जैसे-तैसे एक नाटक कम्पनी में काम करने लगा वह। दो-तीन ड्रामों में सफल भी हुआ। कम्पनी के डाइरेक्टर ने उसे प्रमुख एक्टर की भूमिका सौंपी। उस दिन काफी खुश हुआ सोचा चलो इस बार पुरुषार्थ जीता। किन्तु कुछ ही दिनों बाद किसी बात पर नाटक कम्पनी वाले ने भी निकाल दिया। यह घटना उसे अन्दर तक हिला गई। सोचने पर विवश हुआ अरे नहीं भाग्य ही सब कुछ है पुरुषार्थ की कहाँ चल पाती है? पर वह जो पुरुषार्थ का पुजारी रहा है अपने इष्ट की पूजा करना छोड़ दे।

‘नहीं’ इस दृढ़ निश्चय के साथ वह फिर चल पड़ा। इस बार उसने मल्लाह का काम हाथ में सँभाला। नया-नया था, नाव चलाना भली प्रकार कैसे जानता? कई बार डूबते-डूबते बचा। कहीं साथियों को ही ले डूबता तो अदालत और जेल की हवा खानी पड़ती, इसलिए पहले ही समझदारी का काम किया। नाव छूट गई। नाव बेचकर चौकीदारी कर ली। मित्र मिलते और उपहास करते हुए इस चौकीदार से हँसकर पूछते-कहो भाई यह चौकीदारी कितने दिन चलेगी। युवक उनसे कहता जब तक कोई पदोन्नति न हो। इस बेचारे की पदोन्नति तो तब से होती जब कोई करता और हाँ! एक दिन जाँच करने वाले सिपाही ने उसे अयोग्य ठहराकर चौकीदारी से भी निकाल दिया। अभाव उसकी सम्पत्ति थी, विपत्ति उसकी सहचरी। इस सबके बाद पुरुषार्थ के प्रति उसकी निष्ठा बरकरार थी। मित्र-परिचितों के ताने-उलाहने के साथ यह और मजबूत हो जाती। निरन्तर की असफलताओं के बाद उसने एक ही ध्येय बनाया था पुरुषार्थ जीवन के सौभाग्य की सृष्टि करता है इसे स्वयं जीवनव्यापी प्रयोग से सिद्ध करना है।

इस बार काफी भटकना पड़ा। आखिर में एक छोटे स्कूल में सामान्य शिक्षक की जगह मिल गई। पढ़ाता भी था

पढ़ता भी था। अपने समय के प्रत्येक अंश को सदुपयोग करने की अनुठी कला भी सीखता। अपने मित्रों में बैठकर पुरुषार्थ से सौभाग्यों की सृष्टि वाली बात कहता तो सभी हँस पड़ते। हरेक कहता यहाँ से निकाले न जाओ यही बहुत।

इस बार वह निकाला नहीं गया स्वयं निकला, सेना में नौकरी करने के लिए विद्यालय से जाँच रिपोर्ट माँगी गई तो वहाँ के हैडमास्टर ने लिख भेजा नेक, परिश्रमशील परिस्थितियों से न घबराने वाला युवक। सेना में कसान बना। वहाँ से उसने अपने मित्र को पत्र लिखा “पुरुषार्थ तो बरगद का बीज है। दिखने में छोटा लगता है तनिक गहरे पड़ता है और देर से अंकुरित होता है। मेरे पुरुषार्थ ने अंकुर देने आरम्भ कर दिये हैं, विकसित होने पर तो पूरे अमेरिका को छाया देगा।”

सचमुच यह पुरुषार्थ का अंकुरण था। सेना से वह लोकसेवा के क्षेत्र में उतरा। राजनीतिक अभिरुचियों, जन सम्पर्क, व्यवहार कौशल सभी ने एकमत होकर उसे अमेरिका का प्रेसीडेंट बनाया। मजदूर से राष्ट्राध्यक्ष तक की यात्रा करने वाला यह व्यक्ति था गारफील्ड। यदि पुरुषार्थ का बीज जन-जन के जीवन में अंकुरित हो सके तो सब न केवल सौभाग्यों की सृष्टि कर सकेंगे, बल्कि अनेकों को छाया देकर कृतार्थ भी।

जिन्हें देशभक्ति के पुरस्कार में मृत्युदण्ड मिला—

कैप्टन तनामा

टोकियो स्थित रूसी दूतावास में वहाँ के एक रूसी सैनिक सलाहकार ने सेण्ट पिट्सबर्ग एक लिफाफा भेजा। घटना २०वीं शताब्दी के आरम्भिक दशक की है। पैकेट में जो कागज रखे हुए थे वे बड़े सामरिक महत्त्व के थे। उसमें जापानियों द्वारा की गयी सुरक्षात्मक तैयारियों का पूरा तरीका तथा ब्यौरा था और उस समय रूस जापान पर अपना प्रभुत्व जमाने की योजना और व्यवस्था बना रहा था। सैनिक सलाहकार ने उस पैकेट के साथ जो पत्र भेजा था उसमें लिखा गया था कि ये सारे विवरण कैप्टन तनामा से प्राप्त हुए हैं। वही तनामा जिसने बदनामी के भय से रूस छोड़ दिया था तथा यही नहीं रूस के लिए जापान में जासूसी करने का वचन दिया था। यद्यपि तनामा जापान की ओर से रूस में नियुक्त राजदूत के सैनिक सलाहकार थे। परन्तु परिस्थितियों तथा घटनाओं ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि उन्हें रूस छोड़ने तथा अपने देश की ही गुप्त तैयारियों का विवरण रूस भेजने का कार्य करना पड़ा।

कैप्टन तनामा एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनका कद सामान्य जापानियों की तरह ठिगना नहीं

वरन् छह फुट ऊँचा था। उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार और वार्तालाप किसी सभ्रान्त कुल का सदस्य होने की घोषणा करते थे और सचमुच थे भी वे सभ्रान्त पिता की संतान। उनके पिता जापान के तत्कालीन सम्राट मिकाडो के निजी सचिव थे। एक राजपरिवार से सम्बन्धित होने के कारण तनामा के व्यक्तित्व से मोहक शालीनता और चुम्बकीय आकर्षण टपक पड़ता था।

अपनी निर्धारित फौजी वेशभूषा पहनने के बाद तो उनके व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादक क्षमता और भी कई गुना बढ़ जाती थी। रूस के अधिकारीगण जब उनके सम्पर्क में आये तो उन्हें सन्देह होने लगा कि हो न हो तनामा कोई जापानी गुप्तचर है। उनकी बातचीत जितनी सौम्य और शालीन होती थी उतनी ही नपी-तुली और सतर्क सावधान भी हुआ करती। फिर भी उनके व्यक्तित्व में तो ऐसा आकर्षण था जिससे साधारण कर्मचारी से लेकर उच्च अधिकारी और राज्य परिवार के सदस्यों तक ने उनसे मैत्री सम्पर्क बनाये। अच्छे-अच्छे अधिकारियों में उनका उठना बैठना देखकर तो रूसी अधिकारियों का माथा और भी उनका। क्योंकि इससे कभी भी कोई भी गुप्त कार्यों और योजनाओं की सूचना तनामा के माध्यम से जापान पहुँचने की सम्भावना रहती थी। इसीलिए रूस के शासन तन्त्र को तनामा के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश कर दिया।

इस उद्देश्य से प्रयास किये गये। परन्तु उनमें सफलता मिलना तो दूर उल्टा सिरदर्द पैदा होने लगता। तनामा को भगाने के उद्देश्य से भेजा गया व्यक्ति उल्टा उनका प्रशंसक बनकर लौटता था और इस तथ्य को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता एवं स्वीकार करने का आग्रह भी करता कि तनामा जैसे व्यक्ति को रूस में स्थायी रूप से रहने का प्रबन्ध करना चाहिए। किसी भी देश में किसी भी व्यक्ति ने इतना व्यापक और इतना सघन आच्छादन नहीं किया अपने व्यक्तित्व का जितना कि तनामा ने।

उन दिनों रूसी सेना के गुप्तचर विभाग में प्रमुख पद पर थे जनरल यब्लोन्स्को। जापान से युद्ध की सम्भावनायें दिनोंदिन नजदीक आती जा रही थीं। सभी अधिकारियों तथा सेनाध्यक्षों के लिए यह बड़ी चिन्ता की बात थी और ये सभी लोग विश्वास करते थे कि यब्लोन्स्को जो अपने फन के उस्ताद हैं, साम-दाम, दण्ड, भेद कोई भी तरीका आजमाकर वे अपना मन्तव्य पूरा कराने में सक्षम हैं। इसलिए सुनियोजित ढंग से तनामा को रूस के बाहर करने का कार्यभार उन्हें ही सौंपा गया। यब्लोन्स्को ने सभी साधारण उपाय आजमा लेने के बाद कूटनीतिक कौशल का सहारा लिया। राजनीति में सुरा और सुंदरी का प्रयोग सदा से होता रहा है। अन्य साधारण उपायों की अपेक्षा ये दोनों उपाय अधिक कारगर हैं। यब्लोन्स्को ने एक सुन्दर

अभिनेत्री इल्लिन्सकाया को अपना मन्तव्य पूरा करने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस अभिनेत्री को भारी पारिश्रमिक देकर इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह उनके संकेत पर काम करेगी।

इल्लिन्सकाया ने बड़े सहज ढंग से तनामा से परिचय किया और उन पर अपने रूप का जादू चला दिया। तनामा इस अद्वितीय सुन्दरी के रूपजाल में फँस गये। परिचय सम्पर्क में बदला और सम्पर्क के बाद मुलाकातों का नित्य क्रम चला। रूसी अधिकारी जब इसके लिए पूर्णतया आरवस्त हो गये कि तनामा इल्लिन्सकाया की मुट्ठी में आ गये हैं तो उन्होंने पैतरे बदले।

एक शाम मास्को के एक समृद्ध होटल में तनामा अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा में बैठे थे। इसी होटल में प्रायः वे प्रतिदिन मिला करते थे और प्रायः थोड़ी बहुत आगे-पीछे दोनों आ जाते थे। साथ बैठ कर खाते, साथ बैठकर मनोरंजन करते और चर्चायें चलती रहतीं। इस दिन जब तनामा की प्रेयसी निर्धारित स्थान पर आकर बैठी तो उसका चेहरा धिंतित-सा था। लगता था कोई गम्भीर समस्या आ खड़ी हुई है जिससे इल्लिन्सकाया का चेहरा पीला पड़ गया है। तनामा ने धिंता का कारण पूछते हुए कहा-क्या बात है। आज तुम कुछ परेशान-सी दीख रही हो।

“नहीं तो कोई बात नहीं है,” बात को टलते हुए से इल्लिन्सकाया बोली।

तनामा ने जोर दिया तो उसने कहा-“और कोई कारण नहीं है। मेरा सिर्फ इतना कहना है कि जितना शीघ्र हो सके हम लोगों को विवाह कर लेना चाहिए।”

“परन्तु मैंने तो कभी यहाँ तक सोचा नहीं है। मैं तुम्हें एक मित्र की भाँति ही मानता रहा हूँ। आज एकाएक तुम यह प्रस्ताव क्यों रख रही हो।”

“तुम्हें मेरे प्रस्ताव को मान ही लेना चाहिए क्योंकि मैं अब माँ बनने वाली हूँ”— इल्लिन्सकाया ने रहस्योद्घाटन किया।

“लेकिन मैं तो कभी उस स्तर तक नहीं गिरा। बच्चा मेरा कैसे हो सकता है—” तनामा इस रहस्योद्घाटन से विस्मित हुए। स्पष्ट था कि जिसे वे अपनी प्रेयसी समझ कर पवित्र हृदय से प्रेम करते रहे वह इतनी पतिता निकली।

भले ही तुम्हारी बात सच हो। परन्तु मैं जो कह रही हूँ वह भी सच है और उससे बड़ा सच है क्योंकि लोग इसका पिता तुम्हें ही ठहरावेंगे। सब जानते हैं कि हम और तुम एक साथ बैठा करते हैं, मनोरंजन किया करते हैं, साथ-साथ खाते पीते हैं।

“मैं विवाह नहीं कर सकूँगा इल्लिन्सकाया”—“तो मैं तुम्हें बदनाम कर दूँगी”—इल्लिन्सकाया ने धमकी दी और यह धमकी काम कर गयी। तनामा विवाह के लिए तो

तैयार नहीं हुए परन्तु उनके चेहरे पर चिंता और परेशानी के भाव झलकने लगे थे और वह अभिनेत्री जो अभी तक प्रेम का नाटक कर रही थी वहाँ से उठकर चली गयी।

तनामा एक छलावे में आ गये थे। उस समय जनरल यब्लोन्सको भी जो उनमें घनिष्ठ मित्र बन चुके थे और बेचारे तनामा उन्हें अपना शुभचिंतक मित्र समझ बैठे थे जबकि यब्लोन्सको के ही बुने जाल में वो फँस चुके थे। उस समय होटल से निकलकर उन्होंने अपने इसी मित्र को फोन किया और यथाशीघ्र मिलना चाहा। तनामा का फोन सुनते ही यब्लोन्सको सब कुछ समझ चुके थे। जैसी कि उन्होंने आशा की थी सब कुछ उसी प्रकार घटित हुआ था और तनामा इस सम्बन्ध में उनकी अविलम्ब सहायता चाहते थे।

जैसा चाहा तो वैसा ही रास्ता मिल गया हो तो फिर देरी किस बात की? यब्लोन्सको ने तनामा को उसी स्थिति में आने के लिए कह दिया और उनके आने का इंतजार करने लगे। तनामा से पूरी घटना सुनने के बाद उन्होंने पूछा—अब तुम क्या सोचते हो। क्या किया जाना चाहिए?

जनरल मैं डरपोक नहीं। मैं कलंक से भी नहीं घबरता। लेकिन परिवार की प्रतिष्ठा का मुझे ध्यान आता है तो उसके लिए मैं बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को भी तैयार हूँ। यदि मैं आत्महत्या भी करना चाहूँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के कर सकता हूँ परन्तु इसके समाचार यदि जापान तक पहुँचे और मेरे माता-पिता को पता चला तो वे इस धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। जनरल मैं आपसे उपयुक्त सलाह और मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए आया हूँ।”

“ठीक है एक रास्ता तुम्हारे लिए पहले से ही तैयार है चाहो तो उस पर चलकर तुम अपनी समस्या का समाधान कर सकते हो। परन्तु उसके लिए कुछ कुर्बानी करनी पड़ेगी।”

“कुर्बानी, मैं सब कुछ कुर्बान कर सकता हूँ”—तनामा ने समझा कि समस्या के समाधान हेतु कुछ रुपये की आवश्यकता होगी शायद इसलिए उन्होंने पूछा—“कितने रूबल चाहिए?”

रूबल नहीं—यब्लोन्सको ने कहा—कुछ शर्तें हैं जिनको तुम्हें पूरा करना पड़ेगा।

शर्तें—तनामा को थोड़ा अप्रत्याशित सा लगा फिर भी उन्होंने पूछा—“क्या शर्तें?”

‘तुम पहले तो रूस छोड़ दो। बदनामी से बचने के लिए यह तो तुम भी जरूरी महसूस करते ही होगे।’

“हाँ हाँ! क्यों नहीं? यह तो बहुत जरूरी है और, दूसरे यह कि तुम्हें जापान में रहकर वहाँ के सैनिक रहस्यों का पता लगाना होगा। टोकियो में रहकर तुम्हें रूस के लिए गुप्तचरी का काम करना पड़ेगा।”

अंतिम बात ने तनामा की आँखें खोल दी थीं। उन्होंने जान लिया कि जो कुछ भी हुआ है वह सब एक सुनियोजित षड्यन्त्र के अनुसार हुआ है। उन्हें इस स्थिति की कल्पना भी नहीं थी और इस समय जब दो में से एक का चुनाव करना था-बदनामी से भय मुक्ति या देश की सुरक्षा तो पलड़ा देश का ही भारी लग रहा था। काफी सोच विचार करने के बाद उन्होंने जनरल की शर्तें मंजूर कर लीं। उन्होंने कहा-“जनरल मुझे ये शर्तें मंजूर हैं।”

बस तो फिर अपने आपको बदनामी के भय से भी मुक्त समझो। अगले दिन ही तनामा ने सेंट पीटर्सबर्ग छोड़ दिया। रूस के अधिकारी अब जापान विजय को निरापद समझकर तैयारियाँ करने लगे। उन्हें तनामा से भी कुछ महत्त्वपूर्ण सुराग हाथ लगने की आशा थी और वे प्रतीक्षा करते रहे थे लम्बे दिनों तक कि अब तनामा का भेजा हुआ कोई सूत्र उन तक पहुँचे।

बहुत दिनों तक इंतजार करने के बाद भी जब कोई सूचना या सन्देश नहीं मिला तो उन्होंने आशा ही छोड़ दी। सोचने लगे कि हो सकता है टोकियो पहुँचकर तनामा ने जासूसी करना पसंद न किया हो। लेकिन तभी वह पैकेट मिला जिसकी आरम्भ में चर्चा की जा चुकी है। उस पैकेट में सामरिक महत्त्व के कागज थे और इसके साथ ही यह सूचना भी कि ये कागजात तनामा द्वारा प्राप्त हुए हैं। यह और भी लाभ की प्रामाणिक बात थी। क्योंकि तनामा की जापान के राजपरिवार में गहरी पहुँच थी और किसी भी रहस्य सूत्र से वे अनभिज्ञ नहीं थे।

आरम्भ में तो रूसी अधिकारियों को कई कारणों से यकीन नहीं आया कि तनामा ने सही जानकारी भेजी है लेकिन बाद में समाचार आया था के कैप्टेन तनामा को जापानी सरकार के युद्ध कार्यालय से युद्ध सम्बन्धी कागज चुराते समय पकड़ लिया है और उस पर यह अभियोग लगाया गया कि वह दुश्मन के लिए जासूसी कर रहा है तथा इस अपराध के दण्डस्वरूप उसे तुरन्त ही मार डाला गया। बाद में तनामा के पिता ने भी आत्महत्या कर ली।

इस समाचार ने रूसी अधिकारियों को पूरी तरह आश्चर्य कर दिया उन सूचनाओं के प्रति जो तनामा द्वारा भेजी गयी थीं। सन् १९०४ में यलू नदी के तट पर जापानी और रूसी सेनाओं में भयानक युद्ध छिड़ा। रूसियों को पूरी आशा थी विजय उनकी ही होगी। लेकिन इस आशा से विपरीत रूसियों का पीछे हटना पड़ा। रूस बड़ी बुरी तरह हारा। तो क्या तनामा ने गलत सूचनाएँ दी थीं-परन्तु उसे तो मृत्युदण्ड दिया गया था।

जनरल येल्सोन्सको के सामने बड़ी अजीब गुत्थियाँ और वे सब सुलझायाँ एक युद्ध बंदी सैनिक अधिकारी ने। उसने बताया कि-जनरल तनामा को सम्राट ने विशेष रूप से सम्मानित किया है। देश की प्रतिष्ठा बचाने के लिए, मरणोपरांत-मृत्युदण्ड देने के बाद और मृत्यु दण्ड इसलिए दिया गया था ताकि रूसियों को इस बात का विश्वास हो

जाये कि जो सूचनाएँ भेजी गयी हैं वे यद्यपि गलत और भटकाने वाली थीं परन्तु वे सही हैं।

येल्सोन्सको को लगा कि तनामा आखिर उसे अँधेरे में रखने में सफल हो गये हैं। उन्होंने अपनी देशभक्ति के पुरस्कार में स्वेच्छा से मृत्युदण्ड का वरण कर लिया और उन्हीं के कारण जापान की विजय हुई। जबकि जापान के पास रूसियों की अपेक्षा अधिक शक्ति और सामर्थ्य नहीं थी फिर भी स्वदेश प्रेम की अशेष-भावना-जिसके आगे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ घुटने टेक देती हैं-जापानियों के पास थी और उसी कारण पास उनकी ओर ही उलटा।

वस्तुतः दो राष्ट्रों के युद्ध में सैन्यशक्ति, उनकी संहार क्षमता नहीं जीतती वरन् जीतती है उस राष्ट्र के नागरिकों की देशभक्ति, स्वातन्त्र्य प्रेम और मातृभूमि पर बलिदान होने की साहसिकता। इसी प्रकार कोई देश इसलिए ऊँचा नहीं उठता कि उसके पास कल-कारखानों का अम्बार और प्राकृतिक साधनों का भण्डार है वरन् इसलिए उन्नत होता है कि उसके नागरिकों में राष्ट्र देवता के प्रति अगाध निष्ठा है, अटूट प्रेम है और अक्षय कर्म-शक्ति। निष्ठावान नागरिक ही किसी राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। कैप्टेन तनामा ने अपने राष्ट्रीयहित के लिए स्वयं के प्राणों की बाजी लगा देने का साहस किया और उसने अपने देश का मस्तक गर्वोन्नत किया। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि तनामा को घाटे में रहना पड़ा हो, उसे मृत्यु के बदले मिला अमर जीवन और देशवासियों की श्रद्धा-पूजा। बाद में जब कुर्बानी का यह प्रकरण सामने आया तो देशवासियों के हृदय तनामा के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा भाव से भर गये।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री-

एडवर्ड हीथ

ब्रिटेन में १८ जून को चुनाव परिणाम की घोषणा हुई। ५४ वर्ष पूर्व समुद्र तटवर्तीय कट में जन्मे एडवर्ड रिचर्ड जार्ज हीथ को प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिल गया। ८१ वर्षीय वृद्ध पिता को अपने पुत्र के प्रधानमंत्री बनने का जैसे ही समाचार मिला वैसे ही प्रसन्नता के साथ उन्होंने आसपास खड़े लोगों से कहा ‘सचमुच आज मेरा स्वप्न पूरा हो गया। जब हीथ १६ वर्ष का था तब किसी ने कहा था कि वह एक न एक दिन प्रधानमंत्री अवश्य बनेगा।’

ब्रिटिश समाज में जहाँ वर्ग-भेद की भावनाएँ अपनी पराकाष्ठा पर हों वहाँ बड़ई के लड़के को अपनी प्रगति के लिए कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। हीथ किशोरावस्था से ही सस्ती लोकप्रियता से दूर रहने लगे थे। इन्हें अपने साथियों और परिचितों से जो सम्मान मिला वह इसलिए नहीं कि यह सम्पन्न परिवार में जन्मे थे वरन् इसलिए कि उनमें विचारों की दृढ़ता तथा परिश्रमशीलता जैसे अद्भुत गुण थे।

पब्लिक स्कूलों में पढ़ने का अवसर इन्हें कहाँ मिला था ? घर में इतना पैसा कहाँ से आया ? अतः ऑक्सफोर्ड के बैलियोल कॉलेज में छात्रवृत्ति के बल पर प्रवेश मिला । नाम था छात्रवृत्ति का, पर इसका रूप मजदूरी जैसा था । हीथ प्रार्थना के समय गिरिजाधरों में बाजा बजाता और उसके पारिश्रमिक रूप से प्राप्त धनराशि से पढ़ाई-लिखाई तथा खाने-पीने का खर्च चलाता था ।

संगीत की उन स्वर लहरियों के बीच भविष्य की अनेक योजनाएँ बनती बिगड़ती थीं । अनेक महत्वाकांक्षाएँ उठतीं और फिर विलीन हो जातीं । हीथ अवसर का उपयोग करना अच्छी तरह जानते थे । नाजीवाद और फासीवाद की चुनौतियों के कारण महायुद्ध की विकराल लपटें दूर देशों तक को प्रभावित कर रही थीं । इस युद्ध से ब्रिटेन को भी खतरा था । आखिर मातृभूमि पर आये संकट को हीथ चुपचाप बैठकर कैसे देख सकते थे ? उन्होंने देश सेवा हेतु सैन्य विभाग को अपनी सेवाएँ समर्पित कर दीं । सैन्य संघर्ष में उन्होंने विषम से विषम परिस्थितियों का प्रसन्नता तथा उल्लासपूर्वक सामना करना सीखा । आने वाली किसी भी कठिनाई से वह विचलित नहीं हुए और एक दिन स्थल सेना के लेफ्टिनेण्ट कर्नल पद पर पहुँच गये ।

युद्ध समाप्त हो गया, हीथ का सैनिक जीवन भी उसके साथ समाप्त हुआ पर उससे प्राप्त अनुभव उन्हें राजनीतिक जीवन में आज भी काम दे रहे हैं । वह जानते हैं कि शक्तियों को केन्द्रित करके बड़े से बड़े कार्यों में किस प्रकार सफलता प्राप्त की जा सकती है । महायुद्ध समाप्त हो जाने के पाँच वर्ष बाद हीथ का राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ । इस बीच वे पत्रकार तथा बैंक कर्मचारी भी रहे । आने वाली कठिनाई का दृढ़ता से सामना करना उनके जीवन का प्रमुख अंग बन चुका था अतः अनेक व्यवसायों का अनुभव इन पाँच वर्षों में उन्हें प्राप्त हो गया

सन् १९५० । ब्रिटेन में आम चुनाव की जोरदार तैयारियाँ । स्थान-स्थान पर राजनीतिक चर्चाएँ । हीथ ने सोचा कि आक्सफोर्ड में जो धुँधली और अस्पष्ट योजनाएँ बनाई थीं उन पर गहरा रंग भरने का समय अब आया है । यदि आज थोड़ी असावधानी की गई तो वर्षों के बाद आया हुआ अवसर हाथ से निकल जायेगा और एक बार गया अवसर फिर जल्दी कहाँ लौटता है । वह दक्षिण लंदन चुनाव-क्षेत्र से अनुदार दल के प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़े और सफल हुये ।

हीथ जिस रूप में भी सामने आये, ऐसे कार्य करके दिखाये कि लोग उनकी प्रतिभा से प्रभावित हुये बिना न रह सके । उन्होंने अपने दल के बड़े से बड़े नेता का विश्वास प्राप्त कर लिया था इसीलिए वे एक के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण पदों पर बढ़ते चले गये । उन्हें श्रममंत्री बनाया गया और बाद में व्यापार मंत्रालय का अध्यक्ष । व्यापार मंत्री बनने पर उन्होंने यूरोप की साझामंडी में ब्रिटेन की

सदस्यता के प्रश्न को उठाया । इस प्रश्न को उठाने वाले हीथ ही प्रथम व्यापार-मंत्री थे । फ्रांस के राष्ट्रपति ने यद्यपि पूरी शक्ति के साथ इस प्रश्न का विरोध किया पर उन्हें यह कहना पड़ा 'आज नहीं तो फिर, हीथ के नेतृत्व में ब्रिटेन साझामंडी में आकर रहेगा ।'

हीथ संसद में अपने विरोधियों के प्रश्नों का उत्तर भी बड़ी विद्वता तथा कुशलता के साथ देते थे । सन् १९६४ के आम चुनाव के बाद जबकि श्रमिक दल की विजय हो चुकी थी अनुदार दल के सम्मुख नेतृत्व के लिए दो व्यक्ति थे । एक रेजिनाल्ड माडलिंग और दूसरे एडवर्ड हीथ । राजनीतिज्ञों की धारणानुसार माडलिंग के नेतृत्व से दल को अधिक लाभ था । क्योंकि यह अनुभवी और लोकप्रिय व्यक्ति थे । पावेल के अश्वेत विरोधी अभियान के कारण अनुदार दल विघटित होता जा रहा था । हीथ के विरोध में पावेल की शक्ति बढ़ती जा रही थी । इसके साथ ही विल्सन का व्यक्तित्व हीथ के लिए चुनौती था । इन विषम परिस्थितियों में अनुदार दल का नेतृत्व करने का अवसर हीथ को मिला, पर उन्होंने अपनी सूझबूझ, परिश्रमशीलता, दृढ़ता और धैर्य से काम लेकर लोगों पर अपने व्यक्तित्व की छाप डाली ।

हीथ जब विल्सन को अपदस्थ करने की तैयारियाँ कर रहे थे उस समय अनेक टोरियों का ही यह विश्वास था कि अपने नेता की अपेक्षा विल्सन अच्छे प्रधानमंत्री हैं । विल्सन के व्यक्तित्व में ऐसा जादू है कि वे जन सम्पर्क के द्वारा मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना बना लेते हैं । इसके विपरीत हीथ मिलने-जुलने में कतराते हैं । हीथ को ललित कलाओं से प्रेम है । धर्म में आस्था है । उन्होंने कुछ महीनों के प्रयत्न के बाद ही यह दिखा दिया कि व्यक्ति भले ही किसी जाति में जन्म ले, साधन-सुविधाओं की भले ही कमी हो पर अपनी परिश्रमशीलता, ईमानदारी, सूझबूझ और अवसर का सदुपयोग, ऐसे मानवीय गुण हैं, जिनको विकसित करके एक बड़ई का साधनहीन पुत्र ब्रिटेन जैसे देश का प्रधानमंत्री बन सकता है ।

गिनी बिसाऊ का स्वातंत्र्य सृष्टा-

एमिलकार कब्राल

पुर्तगाल के भूतपूर्व सालाजार के रिश्तेदार जनरल एंटोनियो स्पिनोला-गिनी बिसाऊ राज्य के अन्तिम उपनिवेशवादी प्रशासक ने गिनी बिसाऊ के राष्ट्रवादियों का दमन करने के लिये दोहरी चाल चली । एक ओर तो उसने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सरगर्मियों तेज की दूसरी ओर सुधारों का ढकोसला रचा । किन्तु उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली । तब उसने दूसरी ही चाल चली गिनीबिसाऊ के स्वतंत्रता सेनानी, सिद्धान्तशास्त्री व मार्गदर्शक एमिलकार कब्राल की हत्या कराने की । वह

समझता था कि कबाल की हत्या के बाद स्वतन्त्रता पाने के लिये गठित की गयी सेना, जो अब पुर्तगाली साम्राज्यवादियों के लिये सिरदर्द बन चुकी थी, की गतिविधियाँ कमजोर पड़ जाएँगी और पुर्तगाली शासन सुदृढ़ हो जाएगा। अधिक न सही तो कम से कम दस बीस वर्ष तक तो वे गिनी बिसाऊ में बने रह सकेंगे।

जनरल स्पिनोला एमिलकार कबाल की हत्या करने में तो सफल हो गया पर जिस प्रयोजन से उसने कबाल की हत्या करवायी थी वह पूरा न हो सका। क्रान्ति के सेना नायक के मरने से क्रान्ति रुकी नहीं। २० जनवरी, १९७३ को कबाल की हत्या हुई और उसके ठीक आठ महीने बाद ही राष्ट्रवादियों ने गिनी बिसाऊ से पुर्तगालियों को भगा दिया। सितम्बर, १९७३ के अन्तिम सप्ताह में पाँच सौ वर्ष पुराने पुर्तगाली उपनिवेश की समाप्ति हुई और एक स्वतंत्र राष्ट्र का उदय हुआ। कबाल का स्वप्न साकार होकर रहा।

देश की इस आजादी के इक्कीस वर्ष पूर्व एमिलकार कबाल लिस्बन विश्वविद्यालय से कृषिशास्त्र का स्नातक बनकर स्वदेश लौटा था तब वह राष्ट्रवादी आन्दोलन का सेनानी नहीं वरन् उपनिवेशी शासन का एक साधारण कर्मचारी था। उसे कार्य सौंपा गया था जनगणना करने का।

मध्यम वर्ग के एक अफ्रीकी परिवार में जन्मे एमिलकार कबाल को छात्रवृत्ति के सहारे पुर्तगाल जाकर लिस्बन विश्वविद्यालय में पढ़ने का अवसर मिला था। एक सामान्य मध्यवर्त्ति परिवार के युवक को योरोपीय विश्वविद्यालय की डिग्री और तत्पश्चात् अच्छी सरकारी नौकरी के बाद और क्या चाहिए था। यह स्थिति किसी सामान्य युवक के लिये संतोषजनक सिद्ध हो सकती थी। पर कबाल कुछ दूसरे ही ढंग से सोचने वाला युवक था। उसे अपनी ही सुख-सुविधाओं और उन्नति की कामना नहीं थी। वह इतना स्वार्थी और संकीर्ण भला कैसे बन सकता था।

जनगणना का कार्य करते हुए उसे अपने देशवासियों की दयनीय दशा देखने को मिली तो फिर उसके लिये सरकारी नौकरी करते रहना सम्भव न हो सका। उसने अपने बारे में लिखा है—“अब मैंने अपनी आँखों से जनता का शोषण देखा। मैंने देखा कि मेरे देश के ग्रामवासियों को विवाह-मृत्यु आदि पर ही नहीं पारम्परिक उत्सवों पर भी सरकार को कर देना पड़ता है, लेकिन देश के प्रशासन, राजनीति और अर्थव्यवस्था में उनके लिये छोटा से छोटा स्थान भी नहीं है।”

अपने देशवासियों की इस दशा पर उसे बड़ा दुःख हुआ। चौदह हजार वर्ग मील क्षेत्रफल वाले गिनी बिसाऊ में न तो कोई रेलमार्ग था और न ही कोई बड़ा कल-कारखाना केवल राजधानी बिसाऊ में एक कारखाना था जिसमें केवल ३०० श्रमिक काम करते थे। मूँगफली और उसके तेल के निर्यात व्यापार पर ४,०००

पुर्तगाली अधिकार किये हुए थे। ये मुट्ठी भर पुर्तगाली गोरे सात लाख अफ्रीकियों का शोषण कर रहे थे। इन लोगों के लिये खेती और मजदूरी के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था।

सर्वत्र निरक्षरता का साम्राज्य छाया हुआ था। ९० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। पूरे राज्य में केवल एक हाईस्कूल तथा चार-पाँच प्राइमरी स्कूल थे। पुर्तगाली सरकार नाममात्र को सुधार और कल्याण का ढकोसला रच दिया करती थी बाकी तो उनका जो शोषण क्रम चलता था वह चल ही रहा था।

कबाल ने सोचा उसकी पढ़ाई, उसकी जवानी और उसका यह जीवन यदि अपने देश के लिये नहीं लग सका तो उसकी सार्थकता क्या होगी? लाखों लोग पुर्तगाली शोषण में चक्की पीसते रहें और वह भी उन्हीं शोषकों की गुलामी करके कुत्ते की तरह उनके सामने दुम हिलाता रहे यह तो पशु से भी बदतर जीवन होगा। नहीं वह अपने देशवासी भाइयों में जागरण का शंख फूँकेगा। चाहे उसे सारा जीवन ही क्यों न बलिदान करना पड़े वह अपने देश की स्वतंत्रता के लिये काम करेगा।

१९५६ में कबाल ने थोड़े से उत्साही नवयुवकों का एक राष्ट्रवादी दल गठित किया। उसका नाम रखा गया गिनी और केपवर्ड की स्वाधीनता के लिये अफ्रीकी दल जिसका संक्षिप्त नाम है पी० ए० आई० जी० सी०। आरम्भ में इसका कार्य छुटपुट श्रमिक आन्दोलनों व हड़तालों के माध्यम से जन-जागरण करना था। आगे चलकर यही दल गिनी बिसाऊ का समर्थ राष्ट्रवादी दल बना और उसने पुर्तगालियों को गिनी बिसाऊ से बाहर खदेड़ने में सफलता पायी।

दल के गठित हुए कुछ ही वर्ष हुए थे कि गोदी कर्मचारियों की हड़ताल के सिलसिले में गोरी सरकार ने ५० अफ्रीकियों को गोलियों से भूनकर रख दिया। इस घटना से कबाल ने शिक्षा ली। नगरों से नहीं गाँवों से, जहाँ पुर्तगाली सरकार की पहुँच कम है। निर्जन जंगलों में जहाँ आत्मरक्षा सम्भव है अपनी क्रान्ति के गढ़ बनाए जायें।

यह काम कोई हँसी खेल नहीं था। किसानों को क्रान्ति में साझीदार बनाना सहज कार्य नहीं था और फिर ऐसी स्थिति में तो यह और भी कठिन था जब पुर्तगाली दमन चक्र तेजी से चल रहा हो। कबाल और उसके साथियों को बड़े दुःख सहने पड़े। कई वर्षों तक वह पड़ोसी देश गिनी की राजधानी कोनाक्री में राजनैतिक कार्यकर्ताओं के लिये स्कूल चलाता रहा। स्कूल क्या था नगर के बाहर दो कमरों की एक छोटी-सी कुटिया जहाँ बैठकर कबाल ने गिनी बिसाऊ को स्वतन्त्र कराने की सारी योजना गठी, कार्यकर्ता तैयार किये थे। ये कार्यकर्ता गिनी बिसाऊ के ग्रामीण अंचलों में जाकर स्वतन्त्रता की ज्योति जलाया करते थे।

उसकी युद्ध पद्धति छापामार पद्धति थी। शटे शादयम समाचरेत् की-रीति-नीति अपनाने वाले कबाल ने

पुर्तगालियों की राज्य लिप्सा को पूरी तरह समझा था। वे खुले आन्दोलनों और असहयोग आन्दोलन की भाषा नहीं समझते थे। उन्हें तो शस्त्रों की भाषा में ही समझाना पड़ता था। इसलिए कब्राल ने विदेशी सरकारों से शस्त्रास्त्रों की सहायता भी ली। साम्यवादियों से भी उसे हथियार मिले थे। इसी कारण पुर्तगाली उसे साम्यवादियों का दलाल भी कहा करते पर वह था वस्तुतः राष्ट्रवादी-विशुद्ध राष्ट्रवादी।

पुर्तगालियों के विरुद्ध लड़ते हुए भी उसे पुर्तगालियों से कोई घृणा नहीं थी। छापामार संगठन का सेनानी होते हुए भी वह लुकाछिपी के इस खेल को सामयिक आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देता था। उसने अपने दल को निर्देश दे रखे थे-अपने देश की जनता से कुछ भी मत छिपाओ, उससे झूठ मत बोलो, अपनी असफलताओं पर पर्दा मत डालो और यह दावा भी मत करो कि चुटकी बजाते ही विजयी हो जाओगे।

एक वीर राष्ट्रवादी में जो गुण और जो सूझ-बूझ होनी चाहिए, कब्राल उसका धनी था। पुर्तगाली शासन ने जनता में वह माददा तो उत्पन्न कर ही रखा था कि कोई सेनानी आगे आये तो वे उसके पीछे चलकर स्वतंत्र हो जायें। फिर भी एक सशक्त उपनिवेशवादी सरकार से टक्कर लेना कोई हँसी-खेल नहीं था। सत्ता अपने आप में एक सामर्थ्य होती है और फिर गिनी बिसाऊ वासी अशिक्षा और गरीबी से घिरे हुए जो थे।

गिनी की राजधानी के बाहर कुटिया बनाकर चार वर्ष तक राष्ट्र देवता की साधना करते हुए तपस्वी कब्राल ने पुर्तगाली सरकार के विरुद्ध संशस्त्र क्रान्ति करने की शक्ति संगठन कर ली। १९६२ में यह दल छापामार युद्ध के लिये तैयार हो गया। १९६७-६८ में इस संगठन ने गिनी बिसाऊ और केपवर्ड द्वीप समूह के आधे से भी अधिक भाग पर कब्जा कर लिया। पुर्तगाली सरकार को इसकी आशंका ही नहीं थी। वे तो अप्रतीक्षितों को निरे मिट्टी के माधो समझते थे। अब उसे पता चला कि कब्राल ने उनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है।

पी० ए० आई० जी० सी० के पास अब सात सौ से भी अधिक राष्ट्रभक्त नवयुवक सैनिक तैयार हो गये थे। कब्राल के नेतृत्व में इस संगठन ने सरकार के समानान्तर शिक्षा प्रसार का कार्य अपने हाथ में लिया। गाँव-गाँव में स्कूल खोले गये जहाँ अक्षर ज्ञान के साथ गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। छापामार सेना की वृद्धि में ये स्कूल बड़े उपयोगी सिद्ध हुए।

स्कूलों के साथ ही नयी न्याय व्यवस्था भी लागू की गयी ताकि क्रान्ति के पश्चात् अराजकता न उत्पन्न हो जाय। एमिलकार कब्राल गिनी बिसाऊ के इस स्वतंत्रता आंदोलन का सेनानी ही नहीं सिद्धान्तशास्त्री व मार्गदर्शक भी था। यह उसके त्याग-बलिदान से परिपूर्ण जीवन और कुशल नेतृत्व का ही सुपरिणाम था कि उसकी हत्या के बाद भी दल में कोई फूट न पड़ी, न कार्य में किसी प्रकार शिथिलता आने पायी और वह अपने उद्देश्य में सफल हो गया।

उपनिवेशवादी पुर्तगाली सरकार कब्राल के संगठन की बढ़ती हुई छापामार गतिविधियों को चुपचाप देखती नहीं रही। उसने भी कम जोर नहीं लगाया। सात हजार छापामारों को कुचलने के लिये उसने तीस हजार सैनिक गिनी बिसाऊ भेजे। धूल, जल और वायु सेना तीनों का उपयोग किया गया। अमेरिका से मिले एफ-८४ और बी-२६ बमवर्षकों से नापाम बम गिराकर पुर्तगाली वायुसेना ने गाँव के गाँव भूतकर रख दिये। कब्राल और उसके सहयोगी इस भयंकर गोलाबारी के बीच विमान भेदी तोपों साधे ईट का जबाब पत्थर से देते रहे।

जो भूभाग छापामार राष्ट्रवादियों के हाथ आ गया था वहाँ प्रशासन और नागरिक व्यवस्था जमाने की ओर भी कब्राल ने पूरा ध्यान दिया। गिनी बिसाऊ के निवासियों के लिये यह सुख सूर्य के उदय जैसा सुहाना अनुभव था। अब तक वे पुर्तगाली व्यापारियों द्वारा लूटे जाते रहे थे। अब उन्हें अपने खेतों में उपजायी फसल का पूरा मूल्य मिलने लगा था।

ग्रामीण क्षेत्रों को छापामार राष्ट्रवादियों के कब्जे से मुक्त कराने के लिये नये प्रशासक जनरल स्पिनोला की नियुक्ति हुई। उसने ही कब्राल की हत्या करवायी। कब्राल की हत्या के लिये कुछ भाड़े के टट्टू स्वातंत्र्य सेना में भर्ती कराए गये। उन्होंने मौका देखकर २० जनवरी, १९७३ को उसकी हत्या कर दी। हत्यारे पी० ए० आई० जी० सी० द्वारा पकड़ लिये गये उन्हें बाद में मृत्युदण्ड दिया गया।

कब्राल देश हित में बलिदान हो गया पर उसका अपना स्वप्न भी साकार होकर रहा। देश की स्वाधीनता के लिये समर्पित यह जीवन विश्व इतिहास की एक अमूल्य निधि है। उनका जीवन हर देश में हर नवयुवक के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

एडमण्ड जी० रास का अनूठा साहस

राजनीति के क्षेत्र में "काजल की कोठरी में कैसे हूँ सयानो जाय" की कहावत चरितार्थ होते हुए यत्र-तत्र देखी जा रही है। कुर्सी और पद पाने के लिये नैतिक सिद्धान्तों को बला ए ताक रखकर अन्तःकरण की सद्प्रेरणाओं की अवहेलना करने की अनेकानेक कहानियों के निपट मरुस्थलों के बीच कुछ ऐसे भी मरुद्धान से प्रसंग सुखद आश्चर्य बनकर सामने आते हैं, तब अपने अन्तःकरण की प्रेरणाओं, नीति व न्याय की रक्षा के लिये कोई साहस का धनी अपना वर्चस्व दाँव पर लगाकर यह सिद्ध कर जाता है कि यह 'काजल की कोठरी' हर किसी को कलंकित नहीं कर सकती। मानवीय उच्चादर्शों व न्याय पक्ष की रक्षा करते हुए पद और राजनीतिक जीवन को क्षुद्र तिनके की तरह छोड़ सकता है।

अमेरिका के इतिहास में एक ऐसी ही घटना हो चुकी है। इसके नायक थे, एडमण्ड जी० रास, कन्सास के सिनेटर। कंसास के सिनेटर जिम लेन के आत्महत्या कर लेने पर उसके रिक्त हुए स्थान पर रास को चुना गया था। वह जिमलेन की उस लिंकन समर्थक नीति के पक्के विरोधी थे जिसके अनुसार दक्षिणी स्टेट्स के गृहयुद्ध में पराजित हो जाने पर उनके साथ उदारता बरतना आवश्यक था। सिनेटर रास आरम्भ से ही डेमोक्रेटिक दल के विरोधी थे। वह कंसास की 'स्वतन्त्र राज्य सेना' में भी रह चुके थे जो दास प्रथा के समर्थकों से लड़ने के लिये गठित की गयी थी।

रास का जिमलेन के स्थान पर चुना जाना तत्कालीन राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन के विरोधी सिनेटरों, जिनका कि उस समय सीनेट में बहुमत था और वे अपने इस बहुमत के बल पर लिंकन की मानवीय सद्भावनाओं से युक्त नीतियों पर चलने वाले तत्कालीन राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की तैयारियाँ कर रहे थे, के लिये प्रसन्नता का विषय था। अब सीनेट में जानसन के एक समर्थक के स्थान पर विरोधी आ रहा था।

उन दिनों राष्ट्रपति और रिपब्लिकनों के बीच बड़ी ही खींचतान चल रही थी। इस खींचतान का आरम्भ गृहयुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद ही हो गया था। गृहयुद्ध की इस आपसी कड़वाहट को मिटाने के लिये राष्ट्रपति लिंकन ने गृहयुद्ध में परास्त दक्षिणी स्टेट्स के साथ उदार-नीति बरतने का निर्णय लिया था। उनके समय में ही उनकी इस नीति का विरोध रिपब्लिकन उग्रवादी कर चुके थे। वे चाहते थे कि दक्षिणी राज्यों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जो एक जीता हुआ देश हारे हुए देश के साथ करता है। किन्तु मानवतावादी लिंकन ने गृहयुद्ध को भी दास प्रथा जैसे अहम् मानवीय प्रश्न को लेकर दृढ़ता से स्वीकार किया था। अब वे उसी दृढ़ता से दक्षिणी स्टेट्स के साथ भी सद्भावनापूर्ण व्यवहार करते हुए उन्हें संघ में वही समान स्थान दिलाने को तैयार थे।

दुर्भाग्य से उनकी हत्या हो गई और उनका स्वप्न पूरा नहीं हो सका। उसके पश्चात् राष्ट्रपति बने एन्ड्रु जानसन जो लिंकन की उदारनीतियों के पक्के समर्थक थे। उन्होंने स्वयं दक्षिणी स्टेट टेनेसी के सिनेटर होते हुए, दक्षिणी नीति का विरोध करते हुए संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने पर भी संघ में ही रहकर अपनी निष्ठा का परिचय दिया था। किन्तु उग्रवादी सिनेटरों ने उनकी यह निष्ठा वाली साहसिकता भुलाकर उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया। लिंकन की प्रसिद्धि व दबंगपन से जो विरोध दबा हुआ था वे उनके समय में विकट होकर उभर आया। उन्होंने अपने हठ पर अड़कर अमेरिकी राज्य प्रणाली में भी राष्ट्रपति की महत्ता को कम किया जाना अभीष्ट था।

उन लोगों ने एक-एक करके ऐसे विधेयक पारित किये जो संविधान विरोधी थे। दक्षिणी राज्यों के साथ

कठोरता का व्यवहार करने व वहाँ पर सैनिक शासन जैसी स्थिति बनाये रखने के उद्देश्य से पारित किये गये इन विधेयकों को राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन ने कार्यपालिका के काम में बेमतलब का दखल देने वाला बताकर उन्हें वापस कर दिया, अनुमोदन नहीं किया। इस पर उन सिनेटरों ने बहुमत के बल पर उन्हें बिना राष्ट्रपति के अनुमोदन के ही कानून बना देना चाहा। किन्तु नियमानुसार वे बिना राष्ट्रपति के अनुमोदन किये उन्हें कानून नहीं बना सकते थे। राष्ट्रपति के निषेध को उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता था। अतः उग्र रिपब्लिकन सदस्य राष्ट्रपति पर इतने कुपित हुए कि विवेक व नीति का साथ छोड़ वे उन पर महाभियोग चलाने की तैयारी करने लगे। किन्तु उनके साथ एक बहुत बड़ी समस्या यह थी कि सदन में उनका दो तिहाई बहुमत नहीं था, जिसके बल पर वे महाभियोग चलाकर राष्ट्रपति को अपदस्थ कर अपने क्रोध को दिखा सकते।

अब सीनेट में पक्का दो तिहाई बहुमत पाने के लिये राजनीतिक छल-छद्मों का वही दौर चला जो आमतौर पर आज सभी जगह देखने को मिलता है और जिसने उसे 'काजल की कोठरी' बना दिया है। यहाँ देश की प्रगति, समृद्धि या देशवासियों की हित की बात तो कुछ थी नहीं मात्र अपने वे-सिर पैर के मत को दक्षिणी स्टेट्स पर थोपने व अपनी बात मनवाकर रहने का मूढ़ हठ मात्र था। उसके लिये रिपब्लिकन दल ने सब तरफ के जोड़-तोड़ बिठाये। राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन के समर्थक एक सेनेटर को अत्यन्त सन्देहास्पद उपायों द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। फिर राष्ट्रपति के निषेध की परवाह न करते हुए नेब्रास्का को अमरीकी संघ में सम्मिलित करके दो विरोधी सदस्य बढ़ा लिये। कोलेरेड को भी इसी प्रकार सदस्य बनाने का प्रयास किया किन्तु वहाँ की जनता का समर्थन नहीं मिलने से वहाँ पर उन्हें असफलता ही हाथ लगी।

इसी समय एक दैवी सहायता की तरह कन्सास के रिपब्लिकन किन्तु एन्ड्रु जानसन समर्थक सिनेटर जिमलेन के आत्महत्या कर लेने और उसके स्थान पर रास के चुने जाने की घटना घटी। उन्होंने समझा कि अब हम महाभियोग चलाने की स्थिति में आ गये हैं। अतः १८६७ के आरम्भ में ही उन्होंने राष्ट्रपति को मुठभेड़ के लिये ललकारना आरम्भ कर दिया। उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदन न करने की परवाह नहीं करते हुए ऐसा कानून बना दिया जिसके अनुसार प्रत्येक नये कर्मचारी की नियुक्ति सीनेट की पुष्टि के बिना नहीं हो सकती थी और किसी पुराने कर्मचारी को हटाने के लिये राष्ट्रपति को सीनेट की स्वीकृति लेना आवश्यक था।

५ अगस्त, १८६७ को मुठभेड़ का अवसर भी आ गया। राष्ट्रपति ने अपने युद्ध मन्त्री एडविन एम० स्टेटन से त्यागपत्र की माँग की तो उसने अकड़कर सीनेट के पूर्व त्यागपत्र न देने की बात कही। इस पर राष्ट्रपति ने उसे

निलम्बित करके उसके स्थान पर जनरल ग्रांट की नियुक्ति कर दी। इस नियुक्ति का सीनेट ने १३ जनवरी, १८६८ की बैठक में विरोध किया। उसे संविधान के अनुसार निरर्थक मान राष्ट्रपति ने स्टेटन को पदच्युत कर दिया।

इसी घटना को आधार बनाकर २४ फरवरी, १९६८ को प्रतिनिधि सभा में राष्ट्रपति पर महाभियोग का प्रस्ताव रखा जो भारी बहुमत से पारित हुआ। उस दिन सदन का वातावरण बड़ा ही अशोभनीय था। रिपब्लिकन राष्ट्रपति के लिये अपशब्दों तक का प्रयोग कर रहे थे। बाद में ५ मार्च के दिन संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास में पहली बार राष्ट्रपति पर चलाये गये महाभियोग की सुनवाई सीनेट में आरम्भ हुई। अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश उसके अध्यक्ष थे। राष्ट्रपति एक भी दिन उपस्थित नहीं रहे। १६ मई तक यह महाभियोग चलता रहा।

ज्यों-ज्यों महाभियोग की सुनवाई का कार्य चला त्यों-त्यों रिपब्लिकन सिनेटरों की कलई खुलती गयी। उनकी दिलचस्पी निष्पक्ष न्याय में नहीं वरन् राष्ट्रपति को नीचा दिखाना भर था। कई सिनेटरों ने तो अपनी इस दो टूक बात को खुल्लम-खुल्ला कह भी दिया। रिपब्लिकनों को पूरा विश्वास था कि ५४ सदस्यों की उस समय की सीनेट के ४२ रिपब्लिकन सदस्यों में से ३६ तो राष्ट्रपति के विरुद्ध निर्णय दे ही देंगे। उनका महाभियोग सफल हो जायगा।

रिपब्लिकनों का यह विश्वास सही भी उतर जाता यदि कन्सास के सिनेटर एडमण्ड जी० रास दलगत दुराग्रह के आधार पर निर्णय देने की अपेक्षा न्याय और अपने अन्तःकरण से प्रेरित होकर निर्णय नहीं देते तो। आरम्भ में वह उग्र रिपब्लिकनों के समर्थक थे। किन्तु ज्यों-ज्यों महाभियोग की सुनवाई होती गयी और उन लोगों का दुराग्रह स्पष्ट होता गया उन्होंने अपना निर्णय बदल दिया। एन्ड्रु जानसन से उनका कोई सैद्धान्तिक मतभेद तो था नहीं आरम्भ में यह लिंकन की दासत्व विरोधी नीति का समर्थक भी रहा था, साथ ही उनकी अमेरिका की संवैधानिक शासन प्रणाली में अत्यधिक आस्था भी, जब कि उग्र रिपब्लिकन तो उसकी ही धजियाँ उड़ाने पर तुले हुए हैं। अतः उन्होंने राष्ट्रपति एन्ड्रु जानसन का पक्ष लेने का निश्चय कर लिया।

वह जानते थे कि उनके इस प्रकार अपनी पार्टी के विरोध में निर्णय देने का उनके राजनीतिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। उन्हें तो अपने क्षेत्र के लोगों द्वारा अपमानित होने व परेशान किये जाने की भी पूरी आशंका थी। किन्तु इन सब हानियों की अपेक्षा न्याय और विवेक के विपरीत निर्णय देने पर राष्ट्र की जो हानि होगी वह उससे कई गुना होगी। इस प्रकार के हठधर्मियों का साथ देने का अर्थ तो सिद्धान्तों व लोकतन्त्र की हत्या ही होगी।

उग्र रिपब्लिकन तक यह खबर उड़ती-उड़ती पहुँच ही गयी कि रास भी अपने अन्तःकरण के अनुसार ही निर्णय देगा तो उन्हें हर तरह से दबाया गया। उन्हें राजनीतिक जीवन समाप्त हो जाने का भय दिखाया गया,

धन का लोभ दिया गया, क्षेत्र के लोगों की इच्छा को आदर करने की दुहाई दी गयी। किन्तु रास अपने निश्चय पर अटल रहे। उन्होंने उन सबका एक ही उत्तर दिया—“मैंने शपथ ली है कि संविधान और कानून के अनुसार निष्पक्ष न्याय करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपने विवेक के अनुसार तथा देशहित की दृष्टि से वोट देने का साहस मुझ में रहेगा।”

महाभियोग की सुनवाई होने के पहले संविधान और कानून की रक्षा करने की शपथ तो सब सदस्यों ने ली थी। किन्तु रास ने उसे पूरी करने में जिस साहस का परिचय दिया वह अनूठा था। उन्होंने लाख दबाव पड़ने पर भी अपने निर्णय को बदला नहीं। यहाँ तक कि उस पर रिश्तत खाकर निर्णय बदल देने का आरोप भी लगाया गया। उसके लिये प्रतिनिधि सदन के सम्मुख पेशेवर गवाह कहा गया जिसने जोश में उसके रिश्तत खाने की बात कही। किन्तु रास अविचलित रहे और उन्होंने राष्ट्रपति को निर्दोष घोषित किया। रास के इस साहस ने महाभियोग को असफल कर दिया। राष्ट्रपति भी बच गये और अमरीकी संवैधानिक शासन भी।

इस महाभियोग की विफलता पर उग्र रिपब्लिकनों का सारा क्रोध रास पर उतरा। १८७१ में जब वे कन्सास लौटे तो उनका राजनीतिक जीवन ही समाप्त नहीं हुआ वरन् उनकी धन-सम्पदा भी लोगों ने छीन ली, परिवार को मारपीट कर समाज से बहिष्कृत कर दिया। उनका शेष जीवन घोर गरीबी में गुजरा फिर भी उन्हें इसका कोई दुःख नहीं हुआ। न्याय और संविधान की रक्षा करते हुए रास स्वेच्छा से बुलाये गये कष्टों को सहते हुए उनके चेहरे पर आत्मसन्तोष की मुस्कान खिलती रही। ८० वर्ष बाद उनके इस न्याय व साहस का मूल्य आँकते हुए जान एफ० केनेडी ने उन्हें 'भावी सन्तति के लिए अमेरिका के संवैधानिक शासन को बचाने वाले' साहसी अमृत पुत्र कहा।

एडमण्ड जी० रास का यह अनूठा साहस राजनीतिज्ञों की निष्ठा की सच्ची कसौटी कहा जा सकता है। यह कसौटी आज के राजनीतिज्ञों के लिये आत्म निरीक्षण और जनता के लिये उनके पात्रत्व को आँकने की दृष्टि से अतीव उपयोगी है।

महान जन-नेता—

अलबर्ट लुथिली

दक्षिण अफ्रीका का शार्पवील स्थान। सन् १५५२। एक विशाल जनसमुदाय पर सरकार ने कुत्तों को छोड़ा। कुत्तों ने स्त्री, पुरुषों तथा बालकों को चीर डाला। पर वे विचलित न हुए। इस पर निहत्थी भीड़ पर पुलिस से गोलियों की वर्षा कराई गई। कितने ही व्यक्ति मर गए कितने ही घायल हो गए पर भागे नहीं। वे चट्टान की तरह अड़े रहे।

इन निरपराध सत्याग्रहियों का एक ही दोष था कि वे काले थे। इस काले रंग के कारण वे हर दृष्टि से हीन माने जाते थे। उन्हें पशुओं की तरह खरीदा बेचा जाता था। उन्हें पशुओं जैसा जीवन जीना पड़ता था। उनको मनुष्य नहीं 'दास' कहा जाता था। उन्हें गोरे शासकों के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का अधिकार न था।

इस सत्याग्रह का एक ही उद्देश्य था कि उनके नेता अलबर्ट लुथिली को छोड़ दिया जाय। अलबर्ट लुथिली को इन दिनों राजद्रोह का अपराधी घोषित कर गोरी सरकार उन पर मनमाने अत्याचार कर रही थी।

लुथिली का जन्म रोडेशिया में सन् १८९८ में हुआ था। इनके पिता ईसाई मिशनरी के थे तथा चाचा जुलू जाति के सरदार थे। इन्होंने जुलू साहित्य तथा इतिहास का अध्ययन किया। तदनन्तर १५ वर्ष तक जुलू साहित्य तथा इतिहास के अध्यापक के रूप में कार्य करते रहे।

जब से इन्होंने अपना होश सम्हाला, अफ्रीकावासी काले लोगों की दुर्दशा से ये पीड़ित रहने लगे। गोरे शासकों द्वारा रंग-भेद के कारण इन पर जो अत्याचार हो रहे थे उनका ये व्यापक प्रतिरोध करना चाहते थे। पढ़ते, पढ़ाते समय भी वे निरन्तर इसी चिन्तन में लगे रहते थे कि इस स्थिति से किस प्रकार मुक्ति पाई जाय। इसके लिये उन्हें कोई कारगर माध्यम नहीं मिल पाया था।

इसी समय जुलू जाति के सरदार का पद रिक्त हो गया। अलबर्ट लुथिली को जुलू सरदार बनाया गया। अब तो यह समस्या उनके सामने और भी भयंकर हो उठी। इनकी जाति के लोगों को इस समय दक्षिणी अफ्रीका की सरकार वहाँ के काले मूल निवासियों का दमन करने का साधन बना रही थी। आदर्श और स्वार्थ का, मन और अन्तरात्मा का भयानक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। यदि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार का समर्थन करते हैं तो मान, सम्मान, सुख, सुविधा मिलती है पर आत्मा का हनन होता है और समर्थन नहीं करते तो दुःख, कष्ट तथा यातना मिलती है। इन्होंने दुःख-कष्टों का जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया।

इसी वर्ष सन् १९३८ में वे अन्तर्राष्ट्रीय ईसाई परिषद में भाग लेने भारत आये। यहाँ वे गाँधी जी से भी मिले। रंग-भेद के सम्बन्ध में उनसे वार्ता की। अब उन्हें इस अनाचार का व्यापक प्रतिरोध करने का साधन मिल गया। वह था अहिंसात्मक आन्दोलन।

स्वदेश लौटकर वे इसे कार्यरूप में परिणित करने लगे। वे अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हो गए। उन्होंने जुलू जाति के सरदार बनते समय सरकार के प्रति वफादार रहने की शपथ लेते हुए भी अमानवीय व्यवहारों के प्रति संघर्ष करते रहने की घोषणा की थी।

जनजागरण का जो कार्य इन्होंने अपने हाथ में लिया वह बड़ा कठिन कार्य था। एक तो समर्थ गोरी सरकार

जिसका समर्थन एक तिहाई विश्व करता है। उनसे अधिकारों की माँग वह भी अहिंसात्मक आन्दोलन से स्वीकार कराना तो बड़ा ही कठिन लगता था। उन्हें अपने आप पर विश्वास था और वे आत्मा की शक्ति पर विश्वास करते थे। सोच-विचार में पड़े रहना छोड़कर उन्होंने कर्म पथ अपनाया।

काले लोगों में सदियों से चली आई हीन भावना को मिटाकर उन पुरानी जड़ताओं को दूर करने का भागीरथ प्रयास उन्होंने आरम्भ किया। उनके साथियों की संख्या बढ़ने लगी। लोगों का अहिंसा के प्रति विश्वास बढ़ने लगा। जो गई-गुजरी स्थिति को स्वीकार बैठे थे उन्होंने इस गुलामी के जुये को उतार फेंकने की कसम खाई। देखते ही देखते एक सेना खड़ी हो गई।

१९४६ में वे सुलुकर मैदान में आए, एक विशाल आन्दोलन का सूत्रपात किया। कांग्रेस के नेता अहिंसात्मक आन्दोलन करने के लिये तैयार हो गये। उसी का परिणाम था कि दासत्व जिन की रंग-रंग में रक्त के साथ घुल गया था उस नशे से यह वर्ग मुक्ति पा गया, संघबद्ध रूप से अपने अधिकारों की माँग करने लगा।

लुथिली को बन्दी बना लिया गया। क्रूर यातनाएँ दी गईं, बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गए पर ये अपने निश्चय से डिगे नहीं। इन्होंने कहा कि अहिंसात्मक आन्दोलन केवल राजनैतिक शस्त्र नहीं बल्कि आत्मिक पवित्रता तथा आत्म-बल पाने का साधन है। आत्मबल को किसी बल से नहीं जीता जा सकता।

इस प्रकार का ज्ञान पाकर वहाँ की जनता अपने इस जननेता को छुड़ाने के लिये व्यापक सत्याग्रह करने लगी।

शासन को अहिंसा के इस आन्दोलन के आगे झुकना पड़ा। उन्हें छोड़ दिया गया पर नेटाल में उनके खेत में नजरबन्द करके रखा गया। वे इस हत्याकांड से दुःखी तो हुए पर अहिंसा पर उनकी आस्था और दृढ़ हो गई। उन्होंने घोषणा की "मैं फिर दोहराता हूँ कि राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति अहिंसा की नीति है और हम भरसक चेष्टा करेंगे कि दक्षिण अफ्रीका की काली और गोरी नस्लों के लोग इस नीति का अनुसरण करें।"

इस आन्दोलन के जन्म देने के कारण सन् १९५२ में उन्हें नोबल-शान्ति पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गई। यह असत्य की सत्य पर विजय का बहुत बड़ा प्रतीक था। दक्षिण अफ्रीका की सरकार यह सहन न कर सकी इस पर उसने उनके साथियों पर घोर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। उन्हें पुरस्कार लेने के लिये ओस्लो जाने की अनुमति तो दे दी पर वापस आने पर उन पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाने लगा।

अन्याय का प्रतिकार करना हर मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। लुथिली का सारा जीवन इसी प्रतिकार में

लगा। नोबल पुरस्कार लेते समय भी उनके मन में यही व्यथा थी। अफ्रीका में हो रहे इस अत्याचार के कारण वहाँ भी वे व्यथित थे।

अफ्रीका के लोग इनमें गाँधीजी की तरह श्रद्धा रखते हैं। यह स्वाभाविक ही है। जिस व्यक्ति ने अपने आपको तिल-तिल करके एक उद्देश्य को पाने के लिये जलाया उसके प्रतिदान में यह फिर भी बहुत कम है।

इस जननेता ने गोरी सरकार के जो अत्याचार सहे और रात-दिन अपने भाइयों को जगाने के लिये, उन्हें एक संगठन की माला में पिरोने के लिए अधिक परिश्रम करते रहे। जीवन का एक-एक क्षण इसी में नियोजित करते रहे। इस प्रयास में उनका शरीर इतना जर्जर हो गया था कि वे लम्बे समय तक अस्वस्थ रहे। उनकी आँखें जाती रहीं। वे कानों से बहरे हो गए।

सन् १९६७ में वे डरबन के निकट रेल की पटरी पार करते हुए सामने से आती हुई मालगाड़ी से टकराकर गम्भीर रूप से घायल हो गए। इनको बचाया नहीं जा सका, काफी चिकित्सा के बाद वे सदा के लिए मानवता का दर्द हृदय में छिपाए चले गए।

साधनों की परवाह न करते हुए सच्चाई के लिए तिल-तिल कर जलने वाले दीपक की तरह इनका जीवन हमें प्रकाश व प्रेरणा देता रहेगा।

**जो विश्व शान्ति के लिये जिये,
विश्व शान्ति के लिये मरे—**

डाग हेमर शोल्ड

१७ सितम्बर, १९६१ को अफ्रीका के लियोशोल्ड हवाई अड्डे से दोपहर बाद एक विमान नडोला के लिये रवाना हुआ। इस विमान में अठारह व्यक्ति सवार थे। उड़ान का रास्ता और समय सब बिल्कुल अज्ञात रखे गये थे। क्योंकि उसके मार गिराये जाने की पूरी आशंका थी अतः इस ओर पूरी सावधानी बरती गयी थी फिर भी यह विमान अपने गन्तव्य से साढ़े नौ मील पहले ही रात्रि के प्रथम पहर के अंधकार में ऊँची-ऊँची लपटों के साथ ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया। विमान में सवार सत्रह यात्री दूसरे दिन सबैरे सहಾಯता पहुँचने तक दम तोड़ चुके थे। एक यात्री जो गम्भीर रूप से घायल था वह भी कुछ दिन अस्पताल की शरण रहा पर उसे बचाया नहीं जा सका।

दो-दो जाँच आयोग बिठाये गये पर दुर्घटना के कारणों का पता नहीं चल सका। यह दुर्घटना वस्तुतः विश्व के महान शान्तिवादी व्यक्ति का विश्वशान्ति के लिये दिया गया अमर बलिदान था। काँगो के शीत युद्ध

को समाप्त करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डाग हेमर शोल्ड अफ्रीका आये थे। इसी विमान से वे कटांगा के नवोदित तानाशाह शोम्बे से वार्तालाप करने के लिये जा रहे थे। उनकी विमान दुर्घटना के बारे में कई अटकलें लगायी जाती हैं। उस समय काँगो की स्थिति बड़ी विषम हो चली थी। ब्रिटेन और फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश काँगो में संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा शान्ति स्थापना के लिये भेजी गयी सेनाओं का विरोध कर रहे थे। संयुक्त राष्ट्रों की सेनाओं के पास हवाई आक्रमण से बचने के कोई साधन नहीं थे। जबकि फ्रांस के जेट विमान इस क्षेत्र पर बमबारी करने की स्थिति में थे। इस स्थिति में क्या हो सकता है इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। डाग हेमर शोल्ड ने विश्व शान्ति के प्रयासों में निरत रहकर बहुत बड़े खतरे को मोल लिया और अन्त में स्वयं भी बलिदान हो गये। बड़े-बड़े राष्ट्र जो कि मुँह से तो विश्व शान्ति का राग अलापते रहते हैं और भीतर ही भीतर शीत युद्ध भड़काते रहते हैं। डाग हेमर शोल्ड ने उन्हीं द्वारा उगले विष को पीने के लिये नीलकण्ठ की भूमिका निभायी थी।

हेमर शोल्ड १९५३ से संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद पर कार्य कर रहे थे। उनका समय विश्व की राजनीति की दृष्टि से बड़ा ही विषम समय था। ऐसे समय में उनका पाँच वर्ष बाद दोबारा महासचिव चुना जाना उनकी शान्ति निष्ठा, योग्यता, कर्मठता व व्यवहार कुशलता का परिचायक है।

साढ़े आठ वर्ष के अपने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कार्यकाल में उन्होंने उसके उद्देश्यों को पूरा करने के लिये जो प्रयास किया संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व रखता है। इस काल में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ को वास्तव में शक्तिशाली और समर्थ संघ बनाने का भरसक प्रयास किया था।

२९ जुलाई, १९०५ में स्वीडन के एक विशिष्ट घराने में उनका जन्म हुआ। उनके पिता प्रथम विश्वयुद्ध के समय स्वीडन के प्रधानमंत्री रहे, उनकी माता ईश्वर भक्त और दयालु महिला थीं। मनुष्य और उसकी मानवता के प्रति उनके मन में बड़ी निष्ठा थी। वे केवल जीओ और जीने दो के सिद्धान्त में विश्वास ही नहीं रखती थीं स्वयं जीओ उससे पूर्व दूसरे के जीवन की चिन्ता करो इस सिद्धान्त को मानती थीं।

हेमर शोल्ड पर उनकी माता का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था। उनके विचारों और मार्गदर्शन ने हेमर शोल्ड को महान मानवतावादी राजनीतिज्ञ बना दिया। उनके पिता पर देश व समाज के इतने उत्तरदायित्व थे कि वे परिवार के लिये बहुत कम समय दे पाते थे। परिवार का सारा दायित्व उनकी माता पर ही था। अपनी माता से उन्होंने बहुत कुछ सीखा।

एक उच्च घराने में जन्मे व्यक्ति के पढ़ने-लिखने के लिये जो साधन-सुविधाएँ मिल सकती थीं। वे उन्हें भी उपलब्ध हुईं ऐसे घराने के बच्चे प्रायः उच्छ्वल हो जाया करते हैं क्योंकि उन्हें मनमानी सुख-सुविधाएँ अनायास ही मिल जाती हैं। किन्तु हेमर शोल्ट के साथ ऐसा नहीं हुआ। उनके माता-पिता का उदाहरण उनके सामने था। उनके पिता प्रधानमंत्री इसलिये बनाये गये थे कि वे इसके योग्य थे और प्रधानमंत्री बनने के कारण उन्हें सामान्य व्यक्ति से कई अधिक जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ती थीं। उन्हें यश, मान या अतिरिक्त सुविधाएँ इसी दायित्व निर्वाह के लिये मिली थीं। मौज करने के लिये नहीं। समझा, साथ ही अपने कर्तव्य को महसूस भी किया देश, समाज व विश्व के प्रति।

जब वे उपशाला विश्वविद्यालय में पढ़ते थे तो उन्होंने अपने शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास के अपने प्रारम्भिक दायित्व को पूरी तरह निभाया। वे पढ़ाई में तो तेज थे ही साथ ही जिमनेशियम, पर्वतारोहण व स्कीइंग में भी वे अपने साथियों से सदा आगे रहते थे। जनसम्पर्क के स्वैच्छिक कार्यों में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी। वे अपने आस-पास के लोगों में सहज ही घुल-मिल जाते थे। इसके साथ ही अपने देशवासियों के मिलनसार स्वभाव का उनके मानस में भी प्रतिरोपण हुआ।

पच्चीस वर्ष की आयु में उनका परिवार राजधानी स्टॉकहोम चला गया। वे वहीं शासकीय सेवा में नियुक्त हो गये। यहाँ के कुछ जाने-माने अर्थशास्त्री १९३० की मंदी के सम्बन्ध में अध्ययन कर रहे थे। डाग हेमर शोल्ट भी उनके दल के सदस्य थे। आगे चलकर उन्होंने अपने देश में बेरोजगारी मिटाने के कार्य में अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएँ दीं। आज स्वीडन ही एक ऐसा देश है जहाँ बेकारी पूरी तरह समाप्त हो चुकी है। बेकारी की इस समाप्ति में उनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था।

व्यक्ति आयु से नहीं अपने ज्ञान और कर्मनिष्ठा से बड़ा होता है। डाग हेमर शोल्ट ने इस तथ्य को अपने जीवन में सत्य कर दिखाया था। तीस वर्ष की आयु में ही वे स्वीडन के समाज कल्याण मंत्री अर्नेस्ट विंगफोर्स के सहायक नियुक्त हुए। उन्होंने स्वीडन को आदर्श लोक कल्याणकारी राज्य बनाने की नीति निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अर्नेस्ट विंगफोर्स ने उनके विषय में कहा है-“उनकी प्रखर योग्यता, न्याय सामर्थ्य और चिन्ताजनक स्थिति में भी कोई न कोई राह खोज लेने की क्षमता ही वे आर्हताएँ थीं जो उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद तक ले गयीं और वे उस पद को साढ़े आठ वर्षों तक सफलतापूर्वक निभाते रह सके।”

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुई। इसके पूर्व भी लीग ऑफ नेशन्स नामक एक राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी पर वह अधिक समय तक चल नहीं

सका था। लीग ऑफ नेशन्स प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बना था और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद। दोनों के जन्म के कारण विश्वयुद्ध ही है। विश्व को भावी महायुद्धों से बचाना और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये विश्व के कई राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की।

जहाँ तक उद्देश्यों का प्रश्न है, यह संघ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है पर इसकी अपनी कोई प्रथम शक्ति व सत्ता न होने के कारण कुछ बड़े-बड़े राष्ट्र इसकी आड़ में अपना हित साधन करते रहे। डाग हेमर शोल्ट जब इसके महासचिव बने तो उन्होंने इसे मात्र लोकदिखाऊ संगठन न रखकर इसके उद्देश्यों को पूरा करने की ओर पूरा ध्यान दिया। वे इसे मात्र प्रस्ताव और बहस तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। यदि यह राष्ट्र संघ यहीं तक सीमित रहे तो फिर उसका लाभ ही क्या? यह सोचकर उन्होंने बड़े देशों की नाराजगी से भय न खाते हुए अपने कर्तव्य को निभाया।

जब अप्रैल, १९५३ में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव का पद भार टिगेव ली से सम्हाला तो उन्हें यह सीधा-सादा, शांत और एकांतप्रिय-सा लगने वाला अड़तालीस वर्षीय स्वीडनवासी इस राजनीतिक दावपेचों और रूसी अमेरिकी गुटों की खींचतान से भरे संयुक्त राष्ट्र संघ को सम्हालने में सर्वथा अनुपयुक्त लगा था, किन्तु थोड़े दिनों में उनकी यह शंका निराधार रही। डाग हेमरशोल्ट ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय के ३५०० कर्मचारियों को किसी भी राष्ट्र के प्रभाव से मुक्त रखने की घोषणा कर दी। संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्य विभाग या एफ० बी० आई० के किसी भी एजेंट को उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के आवाते में आने की इजाजत नहीं दी। उनकी यह दृढ़ता अमेरिका व रूस को बड़ी नागवार गुजरी पर वे नहीं चाहते थे कि संयुक्त राष्ट्र संघ किन्हीं बड़े देशों के सहारे चले या उनके दबाव को सहने को विवश हो। रूस व अमेरिका को उनसे सहमत होना पड़ा।

उनके व्यक्तित्व व व्यवहार कौशल का प्रमाण १९५४ में देखने को मिला जब संयुक्त राष्ट्र में कोरिया के युद्ध में जनवादी चीन द्वारा बंदी बनाए गये एयरमैनों को मुक्त करने का प्रस्ताव पारित कर लिया गया। समस्या यह थी कि जनवादी चीन तो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य ही नहीं था। उसे इसके लिये सहमत कैसे किया जा सकता था। संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनाये जाने के कारण वह पहले ही खीझा हुआ बैठा था। इस कठिन काम को पूरा करने के लिये डाग हेमर शोल्ट ने स्वयं चीन जाकर वहाँ के नेताओं से बातचीत करने का निश्चय किया। परिस्थितियाँ विपरीत थीं। पिछले कुछ महीनों पूर्व ही जनवादी चीन ने चांग-काई शेक के राष्ट्रवादी चीन के दो द्वीपों पर बमबारी की थी।

यह डाग हेमर शोल्ट का ही नीति कौशल था कि वे चीन से आमंत्रण पाकर पेकिंग गये। चीन के विदेश मंत्री चाउ-एन-लाई से वार्तालाप हुआ। चीन ने इसे अपना निजी मामला बताते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की माँग को ठुकरा दिया पर वह डाग हेमर शोल्ट के आग्रह को ठुकरा न सका। उनकी खातिर छह महीने बाद चीन ने उन सब बन्दी एयरमैनों को छोड़ दिया जो कोरिया के युद्ध में पकड़े गये थे। यह हेमर शोल्ट के व्यक्तित्व की विजय थी।

राष्ट्रीय पुनरुत्थान व विश्व-शान्ति के कामों में उनकी इतनी दिलचस्पी थी कि वे अपने पूरे समय का नियोजन इसी में करना चाहते थे। अतः वे आजीवन अविवाहित ही रहे। १९५६ में इजरायल के प्रधानमंत्री बेन गुरीन ने उनसे एक अनौपचारिक वार्तालाप के दौरान पूछ लिया था-“आप विवाह क्यों नहीं कर लेते?” तो डाग हेमर-शोल्ट ने यह उत्तर दिया था-मुझे अभी बहुत से दायित्व ढोने हैं विश्व-शान्ति व जन-कल्याण के। मैं अपना प्रथम परिवार बनाकर क्या करूँ मुझे तो यह सारा संसार ही अपना परिवार लगता है” ऐसी दृष्टि बिरले ही पाते हैं।

पहले ही बताया जा चुका है कि उनके कार्यकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने सबसे अधिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। १९५६ में मिस्र के सर्वेसर्वा कर्नल नासिर ने

स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। इसके साथ ही अरब इजरायल युद्ध भी भयंकर हो उठा। फ्रांस और इंग्लैण्ड की सेनाओं ने पोर्ट ऑफ सईद पर आक्रमण कर दिया था। इस विनाश को रोकने और मामले को शान्ति-पूर्वक निपटाने का बहुत कुछ श्रेय हेमर शोल्ट को है। उनके लिये अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइजन हावर ने लिखा है-“उनकी शारीरिक कार्यशीलता अनुठी थी।”

एक रात के बाद दूसरी रात यों करके कई रातें सिर्फ दो-दो घण्टे नींद लेकर पूरी कर लिया करते थे और रात-दिन काम किया करते थे। १९५६ में ही हंगरी में हुए विद्रोह को सोवियत संघ ने बड़ी निर्दयतापूर्वक दबाया उस प्रश्न को लेकर भी हेमर शोल्ट को बहुत व्यस्त रहना पड़ा था। अन्य देशों के नैतिक दबावों के आगे रूस को लज्जित होना पड़ा था।

डाग हेमर शोल्ट ने संयुक्त राष्ट्र संघ को महज बड़े राष्ट्रों के हितों की रक्षा का कागजी घोड़ा बनने न देकर उसे उद्देश्य युक्त संस्था का सही स्वरूप प्रदान करने के लिये बड़ा संघर्ष किया। उन्हीं के कार्यकाल में पूँजीवादी और साम्यवादी गुट के बीच अवरोध तटस्थ शक्ति के रूप में अफ्रीकी एशियाई देशों का एक संगठन खड़ा हुआ था। उन्होंने अफ्रीका के छोटे-छोटे राष्ट्रों को भी संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनाने में बड़ी सहायता की।



विश्व प्रसिद्ध असफल जन नायकों के जीवन प्रसंग

‘हीरो ऑफ दि सोवियत यूनियन’—

मार्शल जुकोब

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की करारी हार के बाद यह लगने लगा था कि वह हमेशा-हमेशा युद्ध लड़ने का दुस्साहस नहीं करेगा। सभी राष्ट्र जिन्होंने जर्मनी और उसके समर्थक एक्सिस पॉवर कहलाने वाले देशों से लोहा लिया था यह मानने लगे थे कि हमने जर्मनी को करारी शिकस्त दी है और वह अब युद्ध की सामर्थ्य खो बैठा है। अब मानवता का यह तकाजा था कि सर्वनाशी दावानल में जल चुके जर्मनी को पुनः विकास पथ पर अग्रसर करने में सहयोग दें। युद्ध के लिए वहाँ की जनता तो दोषी नहीं थी और इसी आधार पर उसे दीर्घकाल तक क्यों विभिन्न समस्याओं और कष्ट-कठिनाइयों से जूझने के लिए छोड़ दिया जाय।

हिटलर भी कुछ ऐसा ही प्रचार कर रहा था कि वह अब एक शांतिवादी राष्ट्र के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रहना चाहता है और इस बहाने उसके शत्रु रहे मित्र-राष्ट्र अब उसके भी मित्र बन चुके थे। इस मैत्री को निभाने में सर्वाधिक तत्परता दिखाई रूस ने। इन दोनों देशों में अनाक्रमण सन्धि हुई और यह भी निश्चित हुआ कि वे अब एक दूसरे के विकास में सम्मानपूर्ण योगदान देंगे। रूस ने इसीलिए जर्मनी की भारी सहायता की थी, पर राजनीति तो ऐसा खेल है, जिसमें कहना मुश्किल होता है कि सामने वाले के मन में क्या है? और वह भी हिटलर जैसे तानाशाह के लिए जो सारे विश्व पर अपने साम्राज्य का स्वप्न देख रहा था और उसी के ताने-बाने बुन रहा था। इधर तो हिटलर अपने नये मित्रों से जर्मनी के कार्याकल्प में काफी योगदान ले रहा था और उधर अन्दर ही अन्दर प्रथम महायुद्ध में अधूरे रह गये सपनों को पूरा करने की तैयारी कर रहा था। इतनी होशियारी के साथ कि किसी को खबर भी नहीं लग पायी।

अप्रैल, १९४१ में सहायता के नाम पर रूस के प्रधान-मंत्री स्टालिन ने अपने देश से जर्मनी को २ लाख ८ हजार टन अनाज, ९० हजार टन तेल, चार हजार टन रबर और लगभग साढ़े आठ हजार टन अन्य धातुयें दिलवायी थीं। यदि इस बात का जरा भी सन्देह होता कि हिटलर पुनः युद्ध छेड़ेगा तो इस सहायता की क्या सम्भावना थी। लेकिन एक साधारण-सी घटना से हिटलर को लड़ाई लड़ने का बहाना मिल गया और युद्ध छिड़ा। सभी देश तो इस युद्ध की

कल्पना भी नहीं किये हुए थे अतः अचानक सामना कैसे होता? इसके लिए कोई तैयारी भी तो नहीं थी। अप्रैल में स्टालिन ने जर्मनी को विभिन्न सहायतायें दी थीं और इसके लगभग दो महीने बाद जर्मनी ने रूस में तीन ओर से घुसना आरम्भ कर दिया। २२ जून, १९४१ को पता चला कि जर्मनी सेनायें रूस में घुस आयी हैं।

यह घटना सर्वथा अप्रत्याशित थी। रूस के सभी नेता हड़बड़ा गये जिसमें स्टालिन की दशा तो सबसे ज्यादा ही बुरी थी। हालांकि इसी माह स्टालिन को कुछ दिन पहले यह सूचना दी गयी थी कि जर्मनी आक्रमण करने वाला है तो स्टालिन ने सूचना देने वाले का खूब मजाक बनाया और उसे झिड़का भी सही था। वस्तुतः यह आक्रमण इतना अप्रत्याशित था कि रूस और जर्मनी के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की उस समय जो स्थिति थी और स्टालिन की जगह पर कोई और नेता भी रहा होता तो वह भी यही कहता। लेकिन २२ जून को जब सचमुच हिटलर की सेनायें रूस की सीमा में तीन ओर से घुसने लगीं तो स्टालिन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उस समय स्टालिन की मनोदशा का वर्णन करते हुए रूस के भू० पू० प्रधानमंत्री खुरचोव ने कहा है—“स्टालिन ने कहा कि लेनिन ने जो कुछ निर्माण किया है वह सब हम खो ही चुके समझो” उसी दिन से स्टालिन ने सब कामों से हाथ खींच लिया और काफी समय तो उसने सेना को कोई मार्गदर्शन ही नहीं दिया। पोलिट ब्यूरो ने उसे धैर्य बँधाया तब कहीं जाकर स्टालिन पुनः कार्यशील हुए।

स्थिति थी भी इसी प्रकार की। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति इस प्रकार विश्वासघात का उदाहरण विश्व के इतिहास में शायद ही कहीं देखने को मिले पर रूस की सेनायें तत्काल कुछ न कर सकीं। तीन महीने के भीतर मार्ग के सभी मोर्चे खटखटाती हुई जर्मन सेनायें लेनिनग्राड तक पहुँच गयीं और उसके चारों ओर घेराबंदी करने लगीं। आस-पास के सभी सैनिक अड़्डे ध्वस्त होने लगे। रसद सहित जीवनोपयोगी अन्य वस्तुओं की सप्लाई भी कट गयी। आधुनिक शस्त्रबलों से लैस और पहले से ही तैयार प्रशिक्षित जर्मनी सेनाओं का मुकाबला करने की सामर्थ्य रूसी सेना में नहीं थी। रसद की सप्लाई बन्द हो जाने से लेनिनग्राड निवासियों को अनाज उपलब्ध नहीं हो पा रहा था। रूस की राजधानी मास्को तक जाने वाले मार्ग पर भी नाकेबन्दी कर दी गयी थी। कहने का अर्थ यह है कि हर ओर से यही भय लग रहा था कि लेनिनग्राड का पतन सन्निकट ही है, अभी हुआ।

ऐसी विषम परिस्थितियों में शत्रु से लोहा लेने के लिए सेना की कमान मार्शल जुकोब को सौंपी गयी। कुछ लोगों ने यह मत व्यक्त किया कि थुलथुले शरीर का यह आत्म विज्ञापक मार्शल, हिटलर की सेनाओं से क्या मुकाबला करेगा? अधिकांश नागरिक यह सोचने लगे कि चार दिन में यदि रूस हारता तो अब दो ही दिन में हार जायगा पर यह आदेश सुप्रीम-कमाण्ड की ओर से आया था, जिन्हें जुकोब की रणनीतिज्ञता, वीरता, पराक्रम, शौर्य और साहस का भलीभाँति पता था और उस समय कमाण्ड की दृष्टि में केवल जुकोब से ही आशा की जा सकती थी कि वे रूस को हिटलर के शिकंजे में फँसने से बचा लेंगे और सचमुच उन्होंने इस आशा को पूरा कर दिखाया।

जुकोब के द्वारा रूसी सेना की कमान सम्हालने से पूर्व लेनिनग्राड की सुरक्षा का भार मार्शल बोरोशिलोव पर था। पर अपनी अनुभवहीनता, रणनीति में अकुशल दूरदर्शिता के कारण वे जर्मनी सेनाओं को आगे बढ़ने से रोक नहीं पा रहे थे। दुश्मन उसी गति से आगे बढ़ा आ रहा था, यहाँ तक कि मास्को और लेनिनग्राड को जोड़ने वाली एकमात्र सड़क भी काट देने के प्रयत्न किये जाने लगे थे। बोरोशिलोव को सफल न होते देख सुप्रीम-कमाण्ड ने युद्ध के बहुत पुराने अनुभवी नायक जुकोब को बोरोशिलोव के स्थान पर नियुक्त किया और उन्हें रूस को इस विकट परिस्थिति से उबारने का दायित्व सौंपा।

जुकोब जार के समय से ही सेना में काम कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी वीरता और बहादुरी के बल पर साधारण सैनिक से उच्च अधिकारी बनने में सफलता प्राप्त की। रूस में जब साम्यवादी क्रान्ति हुई और जार का तख्ता उलटा तो भी जुकोब अपनी सेवायें रूस को देते रहे। साम्यवादी-क्रान्ति के सफल होने पर कई बार राजभक्त अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया पर जुकोब इसलिए बच गये कि वे व्यक्तिपूजक नहीं राष्ट्रपूजक थे। उनकी निष्ठायें किसी व्यक्ति के लिए नहीं समग्र राष्ट्र की एकता, अखण्डता और सुरक्षा के लिए थीं। साम्यवादियों ने जब ऐसे व्यक्तियों को मौत के घाट उतारना आरम्भ किया तो जुकोब जैसे देशभक्त और राष्ट्रपूजक शूरवीर की हत्या कर एक भारी क्षति उठाना स्वीकार नहीं किया। फिर भी सन्देह तो था ही और आया स्टालिन का जमाना जिसने जरा भी सन्देह होने पर व्यक्ति को परलोक की राह दिखाने में क्षण भर भी विलम्ब नहीं किया। लेकिन स्टालिन के कान में कभी ऐसी भनक नहीं पड़ी कि जुकोब किसी भी प्रकार पुरानी व्यवस्था के प्रति सहानुभूति रखते हैं या उस समय भी जार के प्रति चापलूसी भरी निष्ठायें रखते थे।

अपने काम से काम और कर्तव्य से मतलब रखने वाले जुकोब के लिए दूसरे किसी भी बखेड़े में पड़ने का समय ही नहीं मिलता था। जो भी काम या अभियान उन्हें सौंपा जाता उसे पूरा करने के लिए वे सम्पूर्ण तत्परता से काम में जुट पड़ते थे। कर्तव्यपालन में दृढ़तापूर्वक डटे रहना उनके फौलादी संकल्प और प्रत्युत्पन्नमति अद्भुत

निश्चयों के कारण ही सफल होता रहा। जिस प्रकार वे कर्तव्य पालन कर अपना सारा ध्यान केन्द्रित रखते थे उसी तरह यह भी चाहते थे कि मेरे सहयोगी और अधीनस्थ व्यक्ति भी कर्तव्य-निष्ठा पर अविचल दृढ़ रहें। बोरोशिलोव के हाथ से कमान लेते ही उन्होंने सुप्रीम-कमाण्ड को तुरन्त सूचित किया कि मैं आज ही से अधिक अच्छी कारगर कार्यवाही शुरू कर रहा हूँ।

उधर जर्मनी विमान रूस की सुरक्षात्मक कार्यवाहियों को असफल बनाने के लिए रूसी टैंकों पर दनादन बमवारी कर रहे थे और दनादन उन्हें नष्ट किये जा रहे थे। जुकोब ने कर्नल बीचेव्स्की को इन्जीनियर कोर का अध्यक्ष बनाया और उनसे नकली टैंक तैयार करने के लिए कहा। इससे पूर्व उन्होंने देखा था दो नकली टैंक रूस के युद्ध मैदान में तैनात थे। ये टैंक सामरिक दृष्टि से तो आक्रामक नहीं होते थे पर दुश्मन को छकाने में इनका अच्छा उपयोग हो सकता था। कर्नल ने दो टोलियाँ इसलिए बनाकर छोड़ी थीं कि जर्मन बमवार धोखा खा जाय और अपने बम उन पर नष्ट कर डाले। जुकोब ने इन टैंकों की संख्या सौ कर देने का आदेश दिया। इस सख्ती के साथ कि आदेश का पालन एक रात में ही हो जाना चाहिए।

कर्नल को जब यह आदेश दिया गया तो वे बड़ी दुविधा में पड़ गये। उन्होंने अपनी दुविधा व्यक्त करते हुए कहा-‘सर! एक ही रात में तो यह व्यवस्था कर पाना मुश्किल है।’

‘कुछ नहीं’-मार्शल ने एक भी न सुनते हुए कहा-चाहे जो हो यह व्यवस्था आज रात में ही हो जानी चाहिए और यदि तुमने जरा भी लापरवाही की तो कल तुम्हारा कोर्टमार्शल किया जायगा।

कोर्टमार्शल यानि कि बिना सफाई का मौका दिये मृत्युदण्ड की सम्भावना।

बीचेव्स्की ने अपने मातहत अधिकारियों तक कोर्ट -मार्शल की सम्भावना बताते हुए रात भर में ही नकली टैंकों की व्यवस्था करने का आदेश दिया। सारा काम रातोंरात किया गया और दूसरे दिन सौ ही टैंक बाहर यहाँ वहाँ खड़े कर दिये गये। इसने जर्मनी बमवारों को खूब छकाया।

जुकोब को जिन्दगी भर लड़ाई के अनुभव थे। उन्होंने एक सुदृढ़ रक्षा-पंक्ति तैयार की और साम्यवादी पार्टी के सदस्यों को भी हथियार देकर मोर्चे पर तैनात कर दिया। शहर में जितनी भी सेना थी उसे लड़ने के लिए बाहर भेज दिया और लेनिनग्राड के लाखों नागरिकों को काम में जुटाकर थोड़े ही समय में पिल बॉक्सों की एक मजबूत दीवार खड़ी कर दी। जर्मन सेनायें उस समय लेनिनग्राड से ढाई मील दूर थीं। इन सब तैयारियों के बाद मार्शल ने प्रत्याक्रमण शुरू किये। रूसी सेनायें इतने प्रचण्ड वेग से शत्रु सेनाओं पर आक्रमण करतीं कि उन्हें पीछे हटना ही पड़ता। जुकोब की सख्त आज्ञा थी-‘‘हमला करो, दुश्मन को पीछे हटाओ और इतना नहीं हो सके तो मर मिटो पर पीछे लौटकर अपना कृष्ण मुख वापस मत दिखाओ।’’

इस वेगपूर्ण अभियान में उन्होंने कुछ ऐसे सैनिक अधिकारियों की भी छुट्टी कर दी जो सामरिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण कार्य कर दिखाने में अक्षम थे और उनके स्थान पर नये खून को मौका दिया जिसमें कुछ करने का उबाल भी था और था शत्रु को लोहे के चने चबाने का साहस। जर्मन सेनायें फानलीब के निर्देशन में आक्रमण कर रही थीं पर उसे बार-बार प्रत्याक्रमण की तीखी मार सहकर पीछे हटना पड़ता और जितनी वह आगे बढ़ती उतनी ही वापस लौट कर पीछे आ जाती। उधर हिटलर ने पैतरा बदला और लेनिनग्राड से हटकर मास्को पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया। फानलीब ने वहाँ से कुमक हटाकर मास्को की ओर बढ़ा दी।

मार्शल जुकोब भी कहाँ पीछा छोड़ने वाले थे वे मास्को भी पहुँचे। इस समय सर्दियाँ आ गयी थीं और लादोगा झील का पानी जम गया, जो रूसी सेनाओं के पक्ष में सहायक सिद्ध हुआ। मास्को स्तालिनग्राड और अन्य मोर्चों से रूसी सेनाओं ने मार्शल जुकोब के नेतृत्व में शत्रु सेनाओं को खदेड़ दिया और जर्मनी-सेनायें जो रूस की जमीन पर छा रही थीं १९४४ में पूरी तरह पीछे हट गयीं। यही नहीं मार्शल ने पोलैण्ड को भी जर्मनी से मुक्त करा लिया। जिस पर जर्मनों ने सबसे पहला कब्जा किया। इस विजय का आधार एक ही सूत्र था और वह यह कि-अभियान में तनिक भी शिथिलता उसकी सफलता के आसारों को कम कर देती है।

इस विजयश्री के कारण रूस सरकार ने उन्हें 'हीरो ऑफ दि सोवियत यूनियन' के सर्वोच्च पदक से तीन बार सम्मानित किया। उन्हें मित्र राष्ट्रों ने भी कई उपाधियों से सम्मानित किया। १८ जून, १९७४ को उनका देहान्त हो गया।

जनता के स्वामी, जापान के उन्नायक—

मुत्सु हीटो

जिन दिनों भारत में राजतंत्र-देशी रियासतें थीं तब वहाँ के राजघरानों में बालकों को शिक्षा देने के लिए बड़ी विचित्र-विचित्र बातें सुनने में आती हैं। कहा जाता है कि राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए जो अध्यापक नियुक्त किये जाते थे वे गुरु कम चाकर ही ज्यादा होते थे। राजकुमारों का जब मन होता तब पढ़ते और जब मन चाहता कि खेला जाय या मनोविनोद किया जाय तब अध्यापकों को उन्हें छुट्टी देनी पड़ती। यहाँ तक कि कोई पाठ याद नहीं होता या राजकुमार ठीक से पढ़ नहीं पाते तो दण्ड देने के लिए दूसरों के लड़के रखे जाते। गलती करते राजकुमार और पिटाई होती उन नौकरों के लड़कों की। राजकुमार साहब को दया आ जाती तो ठीक अन्यथा वे तालियाँ पीट-पीट कर हँसते-कूदते।

भारतीय रियासतों में ही नहीं उन अन्य देशों में भी जहाँ राजतंत्र शासन प्रणाली प्रचलित थी प्रायः राजकुमारों को

शिक्षा देने का यही ढंग था। शिक्षा क्या इसे शिक्षण का नाटक ही कहना चाहिए और अन्य देशों की तरह जापान में भी यही पद्धति थी। वहाँ भी राजकुमारों को इसी ढंग से शिक्षा दी जाती थी। संयोग से, सौभाग्य से कोई राजकुमार बौद्धिक विकास कर गया तो ठीक अन्यथा राजपरिवार के षड्यन्त्र और दौंव भरे वातावरण में वह भी कुछ कुटिल चालें सीख-सिखाकर बुद्धिमत्ता की दृष्टि से कोरा ही रह जाता। राजकुमारों की इस शिक्षण-प्रणाली की त्रुटि पर गौर किया जापान के एक सौ बीसवें सम्राट ने, जिन्हें पदेन टेनो कहा जाता था। टेनो औसा हीटो ने अनुभव किया कि इस प्रकार राजकुमार शिक्षित होने की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टि से कोरे के कोरे ही रह जाते हैं और ऐसे कूपमण्डूक युवराज जिन्हें आगे चलकर सम्राट बनना है जनता के हितों का ध्यान रखने की अपेक्षा अपने कर्मचारियों और अधिकारियों की कठपुतली ही रह जाते हैं।

अतः औसा हीटो ने अपने पुत्र युवराज मुत्सु हीटो को आम बालकों की तरह शिक्षा दिलवाने का निश्चय किया। उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाने लगी जिससे वे आम राजकुमारों की तरह नरम गद्दों और स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों के दास बनने के स्थान पर कष्ट-सहिष्णु और अनुशासन परायण बनें। उनके साथ शिक्षकों को वही व्यवहार करने के लिए कहा गया जो वे आम छात्रों से करते थे। जब उनसे गलतियाँ होतीं तो उन्हें भी सामान्य विद्यार्थियों की तरह दण्डित किया जाता और इसका परिणाम यह हुआ कि उनका विकास कर्तव्यनिष्ठ, अनुशासित, संयमी और कष्ट-सहिष्णु परिश्रमी व्यक्तित्व के रूप में होने लगा। उन्होंने घुड़सवारी से लेकर जापानी व्यायाम जूजुत्सु तथा अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में भी दक्षता प्राप्त की। साथ ही बौद्धिक विकास भी इतनी तीव्रता के साथ हुआ कि वे बचपन से ही कवितायें करने लगे।

इन अर्जित योग्यताओं के बल पर ही मुत्सु हीटो ने जापान को एक शक्तिशाली, सम्पन्न और समृद्ध राष्ट्र के रूप में विकसित किया तथा जापानियों के संस्कारों में कुछ ऐसी विशेषतायें डालीं जिनसे कि दो-दो बार विश्वयुद्ध में तबाह होकर अपना सब कुछ स्वाहा होने के बाद भी जापान ने इस तेजी के साथ प्रगति की कि आज उसकी गणना संसार के सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्रों में की जाती है और लगभग सभी देशों के वासी जापानी नागरिकों को राष्ट्रभक्ति का आदर्श समझते हैं।

मुत्सु हीटो का जन्म जापान के अति प्राचीन राजवंश में १८५२ ई० में हुआ था। इस राजवंश की स्थापना दिम्पू टेनो ने सन् १६६७ ई० में की थी अतः इस दृष्टि से जापान का यह राजवंश विश्व के बहुत पुराने राजवंशों में से समझा जाता है। वहाँ के राजाओं को टेनो अथवा टेनेशी कहा जाता था, उनके सम्मान हेतु मिकाडो शब्द भी लगाया जाता, जिस प्रकार कि हमारे देश में श्रीमन् ! और इसी राज्यवंश के १२९वें उत्तराधिकारी मुत्सु हीटो के शासनकाल में जापान संसार के उन्नत देशों की श्रेणी में आ गया।

बौद्धिक विकास और राजनीति कला सिखाने के साथ मुत्सु को शारीरिक दृष्टि से भी बलशाली बनाया गया। उन्होंने पूरे मन से स्वयं को इस दिशा में उन्मुख, प्रवृत्त व तन्मय रखा। प्रायः देखा जाता है कि सम्पन्न घरानों के लड़के इधर-उधर रंगारंग और मौजमजों में ही अपना समय बर्बाद करते हैं। यही स्थिति राजघरानों के लिए भी है लेकिन मुत्सु ने समय के सदुपयोग की कला सीखी और उनका अधिकतम उपयोग अपनी योग्यताओं को अर्जित करने में किया।

१८६७ में जब उनके पिता का देहान्त हुआ तो मुत्सु हीटो जापान के सम्राट बने। उन दिनों जापान की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। सम्राट की शासन तंत्र में न तो कोई विशिष्ट भूमिका होती थी और न ही प्रजा से कोई सम्बन्ध। उन्हें देवता और भगवान के रूप में समझा जाता था, अतः जनता को किन्हीं विशेष अवसरों पर ही उनके दर्शन सुलभ हो सकते थे अन्यथा नहीं। राज-काज यों तो सम्राट के नाम से ही चलता था पर उसकी व्यवस्था, नीति निर्धारण एक विशेष वर्ग करता था। यह वर्ग कुछ उच्च अधिकारियों का था जिन्हें शोगन कहा जाता था।

शोगन लोगों से मनमाना व्यवहार करते, मनमानी नीतियाँ और कानून बनाते तथा उन्हें तोड़ दिया करते। लोगों को उनके व्यवहार से जो परेशानी होती उसकी हवा भी राजा को नहीं लग पाती। परम्परागत रूप से युवराज मुत्सु जब मिकाडो के पद पर आसीन हुए तो उन्हें यह मर्यादा बड़ी खली कि जनता से उनका कोई सम्पर्क ही नहीं रहे। उन्होंने इस नियम को तोड़ने का फैसला किया, जिससे स्वाभाविक ही शोगन चिन्तित हुए-क्योंकि इससे एक तो उनकी मनमानी नहीं चलती और दूसरे इनकी पिछली करतूतों के पर्दाफाश होने का भी भय लगने लगा। अतः उन्होंने मुत्सु को परम्परा और सम्राट पद की मर्यादा का हवाला देकर मना किया। लेकिन मुत्सु ने एक न सुनी। इस पर शोगन विरोध करने लगे और विद्रोह पर उतर आये, तो मुत्सु ने शोगन का पद ही समाप्त कर दिया और शासन व्यवस्था को अपने हाथ में सम्हाला। शोगनों ने कुछ उत्पात मचाये पर जनता उनसे पहले ही चिढ़ी थी अतः उनकी एक न चल सकी और जनता ने भी उनका साथ नहीं दिया। इस प्रकार शोगन का पद समाप्त हो गया और शासन तंत्र को बदनाम करने वाले उच्छृंखल स्वार्थी वर्ग का पदोच्छेद भी।

जनता से सीधे सम्बन्ध और शासन तंत्र पर प्रत्यक्ष नियंत्रण से मुत्सु ने कई ऐसी बातें जानीं जो शोगनों द्वारा उत्पन्न की गयी थीं और उनसे जन-धन के साथ-साथ राष्ट्रीय हितों को भी क्षति पहुँचती थी। उन दिनों कुछ विदेशी व्यापारी जापान में व्यापार करना चाहते थे, बार-बार उनकी ओर से निवेदन भी आता रहा था पर शोगनों की स्वेच्छाचारिता के कारण विदेशी व्यापारियों को निराश ही रह जाना पड़ता था।

मुत्सु हीटो ने सर्वप्रथम विदेशी व्यापार प्रतिनिधियों तथा राजदूतों से भेंट की और उनसे जापान में व्यापार

सम्बन्धों की शर्तें तय कीं। जापानियों में से कुछ सम्राट के इस निर्णय से नाराज हो उठे। कई गुण्डे तत्त्वों ने तो बाजार में निकलने वाले विदेशियों पर हमले भी किये तथा उन्हें क्षति भी पहुँचाई। मुत्सु हीटो ने ऐसे तत्त्वों का कड़ाई से दमन किया और दोषी-तत्त्वों को दण्डित करने के साथ विदेशी व्यापारियों की क्षतिपूर्ति भी की। इस प्रकार जापान ने विदेशों से सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध कायम करने का पहला कदम उठाया। अधिकांश जापानी नागरिक सम्राट के इसलिए भी भक्त बन गये थे कि सम्राट अब उनके निकट आ गये थे।

मुत्सु हीटो का समूचा ध्यान अपने राष्ट्र की जनता के उत्थान पर केन्द्रित था। अतः उन्होंने देश के गणमान्य और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाकर एक सभा का संगठन किया, जिसका उद्देश्य था लोक-कल्याण के कार्यक्रम बनाना और उनके क्रियान्वयन की व्यवस्था करना। इस प्रतिनिधि सभा के अधिकांश सदस्य जमींदार थे और विश्व के इतिहास में पहली बार जमींदारों ने जन-हित के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना का परिचय दिया और जमींदारी प्रथा को ही समाप्त कर डाला। सब जमींदारों ने मिलकर अपने अधिकारों के समर्पण की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा- "हम और हमारे पूर्वजों ने चिरकाल तक जमींदारी की आमदनी से सुख भोगे हैं परन्तु देश और जाति की उन्नति के लिए हमारी जाति संसार की उन्नत जातियों में गिनी जाने लगे, इस उद्देश्य से इस जमींदारी से जिस पर आज तक हमें स्याह और सफेद करने का अधिकार था, जिनकी आमदनी से हम मौज-मजे लूटते थे और जिसके निवासियों को हम गुलामी की रस्सियों से बाँधे हुए थे अब अपने सब सत्त्वों का त्याग करते हैं। वह सब राष्ट्र के चरणों में समर्पित है, उसे राष्ट्रहित में जिस प्रकार भी प्रयोग किया जा सके करें।"

कहना नहीं होगा कि इस आत्मोत्सर्ग से एक ओर जहाँ सम्राट की शक्ति बढ़ी वहीं जमींदारों के अधीन उनकी भूमि पर काम करने वाले गरीब मजदूरों भी लाभ हुआ और सबसे बड़ी बात तो यह हुई है कि सम्राट को विश्वासपात्र सहयोगी मिले। अब जापान में एक नये परिवर्तन के युग का सूत्रपात हुआ। जापानी नियमों का पुनः निर्माण किया गया और अमानुषी अत्याचारपूर्ण दण्डों को सर्वथा बन्द कर दिया गया। राजधानी को क्वेटों से बदलकर इडो ले जाया गया जो आज भी टोकियो के नाम से जापान की राजधानी बनी हुई है। युवकों के लिए अब तक किसी प्रकार की उन्नतशैली शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी, उनके लिए समुचित शिक्षण व्यवस्था की गयी और विशेषज्ञों द्वारा इस प्रकार का पाठ्यक्रम तैयार किया गया, जिससे जापानी युवक विद्यासम्पन्न होने के साथ स्वावलम्बी भी बन सकें। राज-काज को चलाने के लिए कैलेण्डर का प्रयोग किया जाने लगा। प्रतिभाशाली युवकों को राजकीय खर्च पर अमेरिका और इंग्लैण्ड शिक्षा प्राप्त करने भेजा गया। सम्पन्न व्यक्ति और समृद्ध व्यापारी भी

पीछे न रहे-लोककल्याण के इतने सारे कार्य होते देख उन्होंने भी अपना योगदान देना आरम्भ किया और १८७२ में यातायात के लिए पहली रेलगाड़ी चली ।

सुधारों की यह प्रक्रिया लगभग दस वर्षों तक चली । सैन्यशक्ति की दृष्टि से भी जापान में मुत्सु हीटो के नेतृत्व में काफी प्रगति की । उनके शासन काल में स्थल सेना और नौ सेना का अच्छा विकास हुआ । सन् १८७० में पहली पार्लियामेंट गठित हुई ताकि शासन व्यवस्था को जनता अपना काम समझे और अपने दायित्व को भली प्रकार निबाह सके । इस प्रकार जापान का एकदम नया कायाकल्प हो गया और वहाँ बहुत कुछ बदल गया ।

परन्तु ये परिवर्तन न तो अनायास ही हुए और न ही निर्विघ्न । जिस समय ये सुधार कार्यक्रम चले उस समय निश्चित ही कुछ स्वार्थी लोगों के स्वार्थ पर आघात हुआ और इससे वे व्यग्र भी हो उठे । अतः स्थान-स्थान पर विप्लव होने लगे और खतरा उत्पन्न हुआ कि तीन शताब्दियों से चले आ रहे राजवंश की कहीं नींव ही न उखड़ जाय । इधर यह आंतरिक कलह उधर फरमोसा द्वीप के आस-पास जलदस्यु भी जापानी पोतों को लूटने लगे । नौ सेना को उधर लगाना पड़ा तथा गृहयुद्ध की स्थिति से निबटने के लिए स्वयं मुत्सु हीटो ने कमर कस ली । देशभक्त और विश्वासपात्र सैनिकों तथा सेनाधिकारियों को लेकर उन्होंने विप्लव को दबाने का अभियान छेड़ा । इस अभियान में वे स्वयं भी शस्त्र ग्रहण कर बलवाइयों का दमन करने निकल पड़े, इससे सैनिकों के हौसले बढ़े और सफलतापूर्वक विप्लवकारी अवांछनीय तत्त्वों पर काबू पा लिया गया ।

शासन व्यवस्था में सुधार तथा जन-कल्याण की अन्य कई नई परम्परायें विनिर्मित कर उन्होंने अपने देश को प्रगति के पथ पर खड़ा कर दिया-यही नहीं उसमें गति भी लाये । कई स्वतंत्र और उन्नत राष्ट्रों ने जापान से सम्मानपूर्ण समानतासूचक सन्धियाँ कीं पर मुत्सु हीटो को परीक्षा के दौर से और गुजरना पड़ा । १८७४ में चीन ने और १९०४ में रूस ने जापान पर आक्रमण किया । जिसका सामना उन्होंने तथा उनके देशवासियों ने जी जान से किया । अन्ततः विजयश्री ने उन्हीं का वरण किया ।

२९ जुलाई, १९१२ को जापान के उन्नायक इस महान सम्राट का देहान्त हो गया । जिस समय वे मृत्युशय्या पर अन्तिम साँसें ले रहे थे-राजभवन के चतुर्दिक हजारों नागरिक ईश्वर से अपने बदले में अपने सम्राट का जीवन माँग रहे थे । राजसिंहासन पर ही नहीं लोगों के हृदय पर भी आसीन होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा ? सेवा और कठोर कर्तव्य-निष्ठा के बल पर सर्वसाधारण में अपनी इतनी प्रतिष्ठा बढ़ा लेना पूजनीय मूर्ति बना लेना ही वह कारण है कि जापानवासी चिरकाल तक मुत्सु हीटो को नहीं भूल सकेंगे ।

राष्ट्र धर्म का प्रचारक-

मेजिनी

धर्म के अनेक स्वरूप होते हैं । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सत्य, न्याय, दया, परोपकार, पवित्रता आदि धर्म के अमिट सिद्धान्त हैं और इनका व्यक्तिगत रूप से पालन किये बिना कोई व्यक्ति धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता । पर इनके सिवाय और भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो सामुदायिक दृष्टि से मनुष्य का कर्तव्य मानी जाती हैं और उनसे विमुख रहने पर मनुष्य अपने कर्तव्य से पतित माना जाता है । देश-भक्ति भी एक ऐसा ही पवित्र कर्तव्य है । जिस देश में मनुष्य ने जन्म लिया है और जिसके अन्न-जल से उसकी देह पुष्ट हुई है उसकी रक्षा और भलाई का ध्यान रखना भी मनुष्य के बहुत बड़े धर्मों में से एक है । विशेषतया जब किसी शत्रु का आक्रमण हो, या किसी लालची विदेशी शक्ति ने अपने देश पर अधिकार कर लिया हो, तो वहाँ के प्रत्येक निवासी का यह धर्म हो जाता है कि वह मातृभूमि को अत्याचारियों के पंजे से छुड़ाने का प्रयत्न करे । यदि वह अपने निर्दोष देशभाइयों पर अत्याचार होते देखता रहता है और केवल एकान्त में बैठकर पूजापाठ करके ही अपने धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति समझ लेता है तो वह वास्तव में भ्रम में है ।

इटली का जोसेफ मेजिनी ऐसे ही 'धर्म' का दृढ़ अनुयायी था । उसके समय में आस्ट्रिया और फ्रांस ने इटली के विभिन्न भागों पर अधिकार कर रखा था । आस्ट्रिया वाले वहाँ के निवासियों के साथ दासों का-सा व्यवहार करते थे । उन्होंने अनेक विषयों में उनकी स्वाधीनता अपहरण कर रखी थी और जो कोई उनके विरुद्ध जरा भी जबान खोलता था या उनके आदेशों की अवहेलना करता था, उसी को जेलखाने में डाल दिया जाता था या फाँसी पर चढ़ा दिया जाता था । ऐसे समय में कुछ बड़ा होते ही मेजिनी इस अन्याय का अनुभव करने लगा और १६-१७ वर्ष की आयु में ही उसने देशसेवकों की विपत्ति की बातें सुनकर शोकसूचक काला वस्त्र धारण करने का निश्चय लिया और आजन्म इस प्रतिज्ञा का पालन करता रहा । बीस-बाईस वर्ष की आयु होते-होते वह 'कारबोनेरी' नाम की राज विद्रोही गुप्त संस्था का सदस्य बन गया और २५ वर्ष की आयु में सरकार ने उसे गिरफ्तार करके काल कोठरी में डाल दिया ।

जब मेजिनी ने देखा कि इटली में रहकर विदेशी शासन के विरुद्ध एक शब्द भी उच्चारण करना कठिन है तो वह फ्रांस चला गया और फिर इसका समस्त जीवन इधर-उधर घूमकर भिन्न-भिन्न देशों में गुप्त या प्रकट रूप से रहते ही व्यतीत हुआ ।

देश को पराधीनता के अभिशाप से मुक्त करने के लिये मेजिनी ने 'युवा इटली' नाम की संस्था की स्थापना की । उसने अपने संगठन को केवल एक राजनैतिक दल का रूप

न देकर 'राष्ट्रीय धर्म' का रूप दिया, जिसका उद्देश्य बतलाते हुये उसने लिखा कि "प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को ईश्वर ने एक महान उद्देश्य सौंपा है। ईश्वरीय प्रेरणा से हम उसका अनुसरण करना अपना कर्तव्य समझते हैं और ईश्वरीय प्रेरणा से ही उन उद्देश्यों की पूर्ति करके हम उन्नति का मार्ग ग्रहण करते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने, सत्य और न्याय में विश्वास रखने और त्याग की भावना पर चलने से हम विजय प्राप्त कर सकते हैं।"

पुराने आन्दोलनों की असफलता पर विचार करके मेजिनी ने 'युवा इटली' के उद्देश्यों में एक बात यह भी रखी कि ऊँचे आदर्शों और कर्तव्य का प्रभाव तो शिक्षित और मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों पर ही पड़ सकता है। परन्तु देश के अशिक्षित और साधारण श्रेणी के व्यक्तियों की समझ में ये बातें नहीं आ सकतीं, इसलिये हमको अपने कार्यक्रम में लोगों के स्थूल लाभ तथा सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने की बात भी शामिल करनी चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि जब तक साधारण जनता में जाग्रति न हो जाय और वह स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग न लेने लगे तब तक सफलता की आशा न करनी चाहिए। इसलिये हमको अपने प्रचार में विशेष ध्यान गरीबों, दुःखियों और समाज के पैरों तले रँदि जाने वाले लोगों की तरफ देना चाहिए और उनको क्रांति में सहायक बनाना चाहिए। हम जिस प्रजातंत्र शासन का स्वप्न देख रहे हैं, उसमें सब व्यक्ति समान भाव से एक दूसरे के हित का ध्यान रखकर ही व्यवहार करेंगे और दूसरों के कल्याण के लिये अपने सुख और विलास को त्याग करने की भावना रखेंगे। ऐसा होने से ही जर्जर शरीर वाले, फटे-पुराने चिथड़े पहने, आधे नंगे और आधा पेट भोजन करने वाले हतभाग्य लोग सुखी हो सकते हैं और समाज के सब अंगों के सुखी होने पर ही सम्पूर्ण मानव-समाज यथार्थ सुख-भोग सकता है।

'युवा इटली' की गुप्त संस्था का काम किस प्रकार चलाया जाता था, इसका वर्णन करते हुये एक क्रांतिकारी ने लिखा है कि हम लोगों के पास न तो कोई दफ्तर था और न कोई सहायक। सारे दिन और रात को भी बड़ी देर तक हम लोग काम में जुटे रहते थे। हम ही लेख और पत्र लिखते रहते, यात्रियों से पूछकर इटली के समाचार संग्रह करते, मल्लाहों को अपने दल में भरती करते ताकि उनके द्वारा गुप्त साहित्य को इटली में भेजा जा सके, कागज मोड़ते, लिफाफा चिपकाते। एक व्यक्ति छपने के लिये टाइप कम्पोज करता तो दूसरा छपने वाले मजमून को शुद्ध करता था। हम में से ही कोई व्यक्ति कुली का काम करता ताकि मजदूरी का खर्च बचे। हम सब एक समान भाई की तरह रहते। हम सबका एक विचार, एक आशा, एक आदर्श था जिस पर हम दृढ़ रहते थे। हम लोग वास्तव में बड़ी दरिद्र हालत में थे, किन्तु सब कोई निश्चिन्त, हँसमुख बने रहते थे क्योंकि अपने कार्य

की श्रेष्ठता और भविष्य की सफलता में हमको पूरा विश्वास था।"

मेजिनी के आन्दोलन से उत्साहित होकर इटली के पीडमाण्ट राज्य की सेना के कुछ अधिकारियों ने विद्रोह करने का निश्चय किया। विचार यह था कि विद्रोही जनता और सेना मिलकर अकस्मात लम्बार्डी प्रान्त पर हमला करके उसे आस्ट्रिया के पंजे से मुक्त कर लें। इस षड्यन्त्र का एक खास नेता जैको पो रुफिनी था जो मेजिनी का सबसे घनिष्ठ और अन्तरंग मित्र था। पर इस षड्यन्त्र का भंडाफोड़ समय से पहले ही हो गया। कितने ही पौजी अफसर मारे गये और रुफिनी कैद कर लिया गया। उसके सामने दो बातें रखी गई कि या तो वह इस षड्यन्त्र में भाग लेने वालों के नाम बतला दे, अन्यथा उसको बड़े कष्ट के साथ मारा जायगा। रुफिनी को सन्देह हुआ कि कहीं कठों को सहन न कर सकने के कारण किसी का नाम उसके मुँह से न निकल जाय। इसलिये किसी उपाय से उसने जेलखाने में ही आत्महत्या कर ली। मेजिनी को इस घटना का अत्यधिक शोक हुआ और वह आजीवन अपने इस मित्र को स्मरण करता रहा।

अपने निर्वासन का बहुत-सा समय मेजिनी को इंग्लैण्ड में बिताना पड़ा और गरीबी के कारण ऐसे-ऐसे कष्ट सहन करने पड़े जिन पर सहज में विश्वास भी नहीं होता, इसकी माता इसके खर्च को बराबर कुछ रुपया भेजती रहती थी, जिसमें इसका निर्वाह साधारणतः हो सकता था। पर उस रुपये को भी यह अपने ही काम में नहीं लाता था, वरन् अन्य साथियों का निर्वाह भी उसी से होता था। इससे उसकी आर्थिक दशा गिरते-गिरते इतनी खराब हो गई कि उसे अपने मित्रों और सम्बन्धियों से भेंट स्वरूप मिली हुई चीजें गिरवी रखनी पड़ीं। एक दिन ऐसा आ गया कि उसे अपना पुराना जूता और कोट भी गिरवी रखना पड़ा। इसके बाद जब कोई भी चीज शेष न रही तो उसे उन समितियों से कर्ज लेना पड़ा जो चालीस-पचास रु० सैकड़ा सूद लेती हैं और मनुष्य का खून तक चूस लेती हैं। सूद न मिलने पर बदन का कपड़ा उतरवा लेती हैं और एक चिथड़ा तक नहीं छोड़तीं। इन समितियों का दफ्तर अक्सर शराबखानों में होता है और शराब के चंगुल में फँसे हुये लोग ही इनसे प्रायः कर्ज लेते हैं। मेजिनी जैसे प्रसिद्ध विद्वान और राजनैतिक नेता को घोर दरिद्रता के कारण बहुत समय तक इन समितियों के जाल में फँसा रहना पड़ा और शराबियों की पंक्ति में खड़े होकर अपनी जरूरतें पूरी करनी पड़ीं। इन विपत्तियों का जिक्र करते हुये मेजिनी ने लिखा है—

"मैं नहीं चाहता कि इन विपत्तियों का वर्णन करूँ, परन्तु उनका उल्लेख इसलिये करता हूँ कि यदि भविष्य में कोई भाई इन विपत्तियों में मेरी ही तरह फँस जाय तो इस लेख से उसे सांत्वना मिले। मेरा चित्त तो यह चाहता है कि मैं योरोप की माताओं से विनम्र निवेदन करूँ कि मेरी विपत्तियों को सम्मुख रखकर वे निश्चय कर लें कि

वर्तमान अवस्था में हमारे यहाँ कोई भी मनुष्य स्वयं अपना स्वामी नहीं है। कोई भी नहीं कह सकता कि उस पर अथवा उसके अत्यन्त निकट सम्बन्धी पर कल कैसी बीतेगी। ऐसी दशा में उचित यही है कि वे अपनी संतान को लाड़-प्यार में न पालें, उनको भोग विलास का अभ्यस्त न बनावें। उन्हें चाहिए कि वे आरम्भ से ही उन्हें कठिनाइयों का अभ्यस्त बनावें जिससे उन्हें भविष्य में कष्ट पड़ने पर असह्य न हो।"

इस प्रकार मेजिनी आजीवन देशभक्ति के धर्म का प्रचार करता रहा और उसके उपदेशों से इटली ही नहीं समस्त पराधीन देशों के जन-सेवकों को बड़ी प्रेरणा मिली।

कनाडा का जनक—

मेकडोनाल्ड

कनाडा आज विश्व के शक्तिशाली व सम्पन्न राष्ट्रों में गिना जाता है। आकार की वृद्धि से भी वह अन्य देशों की तुलना में बड़ा है। इस समृद्ध और विशाल राष्ट्र को अस्तित्व में लाने के लिये एक व्यक्ति ने कितनी कठिनाइयों का सामना किया, किस प्रकार उसने आपस में झगड़ने वाले छोटे-छोटे राष्ट्रों को अपनी राजनैतिक प्रतिभा व बुद्धि बल के सहारे संगठित किया, इस संगठन के लिये उसे कितनी भयंकर जोखिम उठानी पड़ी, यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है। इस कहानी का नायक है जॉन अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड, जिसे कनाडा का जनक भी कहा जा सकता है।

मेकडोनाल्ड का कनाडा के इतिहास में वही स्थान है जो सं. रा. अमेरिका के इतिहास में अब्राहम लिंकन का था। अब्राहम लिंकन ने दास प्रथा के उन्मूलन को लेकर जिस प्रकार गृह युद्ध की भयंकर जोखिम उठायी थी उसी प्रकार अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड ने ब्रिटिश कोलम्बिया को कनाडा में मिलाने के लिये कनाडियन पैसिफिक रेलवे लाइन निर्माण की जोखिम उठायी थी।

इतना बड़ा काम करने वाले मेकडोनाल्ड की योग्यताओं की ओर दृष्टिपात करें तो वह हमें सामान्य-सा आदमी ही लगता है, फिर वह कैसे यह कार्य कर सका? इस प्रश्न का उत्तर उसके धैर्य व साहस रूपी सद्गुण ही दे सकते हैं। अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड का जन्म इंग्लैण्ड के ग्लासगो नगर में एक सामान्य परिवार में सन् १८१५ में हुआ था। जब वह पाँच वर्ष का था तब उसके माता-पिता रोजगार के लिये कनाडा आ गये। वह केवल पाँच वर्ष तक ही नियमित रूप से स्कूल में पढ़ने जा सका था। उसके बाद पारिवारिक परिस्थितियों ने उसे कुछ न कुछ काम-धन्धा करने को विवश किया, परिणामस्वरूप पढ़ाई छोड़नी पड़ी। यही पाँच वर्ष तक ही स्कूल में पढ़ने जा सकने वाला मेकडोनाल्ड तैंतीस वर्ष की आयु में कनाडा

की विधानसभा का सदस्य नियुक्त हुआ, अनुदार दल की ओर से।

नियमित पढ़ाई नहीं कर सकना उसके व्यक्तित्व के निर्माण में विशेष बाधक नहीं बना। पढ़ने की उसकी बड़ी इच्छा थी पर उसके लिये वह स्कूल जा सके ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं। किन्तु 'जहाँ चाह वहाँ राह' के प्राकृतिक नियम में विश्वास रखने वाला मेकडोनाल्ड निराश नहीं हुआ। उसने दुनिया में इधर-उधर बिखरे ज्ञान को यत्नपूर्वक समेटकर अपने मस्तिष्क में सँजोना आरम्भ कर दिया। स्वाध्याय के द्वारा अपना बौद्धिक विकास करना उसने अपनी नित्य की दिनचर्या में सम्मिलित कर लिया।

मेकडोनाल्ड का यह श्रम व सूझ-बूझ काम आयी। उसे एक वकील ने अपना क्लर्क बना लिया। कुछ वर्षों तक उक्त वकील के ऑफिस में काम करके अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसने स्वतंत्र रूप से वकालत करना आरम्भ कर दिया। उन दिनों वकालत करने के लिये आजकल की तरह एल० एल० बी० नहीं करना पड़ता था। सनद पाने के लिये एक सामान्य-सी परीक्षा दे देना ही पर्याप्त होता था।

वकील बन जाने के बाद भी उसकी महत्वाकांक्षाएँ समाप्त नहीं हुई थीं। वह राजनैतिक नेता बनकर कनाडा को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करना चाहता था। विश्व राजनीतिक घटनाक्रम का गहराई से अध्ययन करने वाला मेकडोनाल्ड यह आवश्यक समझता था कि कनाडा भी सं० रा० अमेरिका की तरह संगठित हो जाय। इसके लिये अनुभव और योग्यता की आवश्यकता थी, जिसे उसने तत्सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर व अपने निकट सम्पर्क में आने वाले वकील बन्धुओं से प्राप्त किया।

साहसी तो वह पहले दर्जे का था ही। जिस वर्ष वह विधान सभा के लिये चुनाव लड़ा था उसी वर्ष उसने एक ऐसा मुकदमा लड़ा था जिससे महारानी विक्टोरिया नाराज हो सकती थी और उनकी नाराजगी किसी भी कनाडा वासी के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती थी, क्योंकि कनाडा उन दिनों एक ब्रिटिश उपनिवेश था। उसने सेंट लॉरेन्स पार करके कनाडा में आ बसे कुछ अमरीकियों के पक्ष में मुकदमा लड़ा था। उसके इस साहस ने मतदाताओं का हृदय जीत लिया और वह विधान सभा का सदस्य बन गया।

कनाडा उन दिनों एक छोटा-सा ब्रिटिश उपनिवेश भर था, जिसमें थोड़े से कीचड़ सने-कस्बे और आधे-साफ हुए खेतों के अतिरिक्त जंगल ही जंगल था। यह सेंट लॉरेन्स के आस-पास ही फैले हुए थे। बस वही छोटा-सा भू-भाग कनाडा कहलाता था। बड़ी मुश्किल से १८४१ में वर्तमान ओण्टेरियो और क्वीबेक प्रदेशों को संगठित करके कनाडा को थोड़ा बड़ा आकार दिया जा सका। इस एकीकरण में नये-नये पार्श्व मेकडोनाल्ड का बड़ा सहयोग रहा।

इन तीन प्रदेशों के संयुक्त कनाडा के अतिरिक्त अन्ध महासागर से लगे हुए नोवा स्कॉटिया, न्यू ब्रुसविक, प्रिंस एडवर्ड, आइलैण्ड और न्यू फाउन्डलैण्ड आदि ऐसे राज्य थे जो आपस में झगड़ा करते थे और कनाडा उनके लिये एक वीरान विदेशी राज्य जैसा था। इसके बीच इन प्रदेशों के रहने वालों की ब्रिटिश प्रोटेस्टेण्ट व फ्रेंच कैथोलिक सम्प्रदायवादी आस्थाएँ भी दीवारों का काम कर रही थीं। ऐसी विषम स्थिति में कनाडा के एकीकरण का स्वप्न मेकडोनाल्ड जैसा दुस्साहसी व्यक्ति ही देख सकता था।

कनाडा को एकीकृत करके एक बड़ा राष्ट्र बनाने का मेकडोनाल्ड का सपना चंद वर्षों में पूरा नहीं हो गया। इसकी प्रगति कछुए की चाल से हुई। अत्यधिक मंदगति में बीच में उसे राजनीतिक क्षेत्र में असफलतायें भी मिलीं। पर वह इससे निराश होने वाला नहीं था। उसके प्रयास चलते ही रहे। कनाडा में ही अभी एकता नहीं थी। फ्रेंच कैथोलिक और ब्रिटिश प्रोटेस्टेण्ट आपस में खींचतान किया करते थे। मेकडोनाल्ड की पहली सफलता यह थी कि वह इनका एक संयुक्त संगठन बनाने में सफल हुआ।

कनाडा का एकीकरण उसे एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का उसका यह सपना उसकी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं थी वरन् वह इसके पीछे सम्पूर्ण कनाडावासियों का हित देखता था, क्योंकि बिना छोटे-छोटे राज्यों के एक हुए इस प्रदेश का कुछ भी भविष्य नहीं था। किन्तु उसकी इस दूरदर्शिता को उसके देश के राजनीतिज्ञ भी समझ नहीं पा रहे थे। उसकी अपनी 'लिबरल कंजरवेटिव पार्टी' भी दो प्रकार के मतवादियों का गठबंधन थी, जो मात्र राष्ट्र में अपना प्रभुत्व रखना चाहती थी।

अपने विचारों से पार्टी के सदस्यों व देशवासियों को सहमत कराने के उसके प्रयास चलते ही रहे। उनका प्रभाव मंदगति से ही होता रहा। १८५७ में वह अपने उपनिवेश का प्रधानमंत्री बना। उसका विचार भी तब तक लोगों के दिमाग में पहुँच चुका था। प्रधानमंत्री बनने पर वह अपनी बात और अच्छे ढंग से समझा सका था।

इन्हीं दिनों अमेरिका में गृहयुद्ध की आग भड़क उठी थी। इंग्लैण्ड ने दक्षिणी राज्यों का समर्थन किया था। कनाडा ब्रिटिश उपनिवेश होने के नाते उत्तरी राज्यों के कोप का शिकार हो सकता था। इस आशंका ने उसके इस विचार की पुष्टि की। उसके विरोधी भी उससे सहमत हुए। जार्ज ब्राउन नामक उसका घोर विरोधी राजनैतिक नेता भी उसके साथ मिलकर काम करने के लिये तैयार हो गया।

यहाँ मेकडोनाल्ड ने बड़ी तेजी से काम किया। यह अवसर था जब कनाडा के एकीकरण के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बन रही थीं। इनसे लाभ उठाने में वह चूका नहीं। तभी उसे ब्रिटिश गर्वनर जनरल का आदेश मिला संविधान सभा भंग करने के सम्बन्ध में। साहस और धैर्य के धनी मेकडोनाल्ड ने उक्त आदेश को अपनी अलमारी

की दराज में डाल दिया और वह तुरन्त जार्ज ब्राउन के पास पहुँचा। एक घण्टे की बातचीत के बाद उन्होंने अपनी संयुक्त सरकार बनाकर ब्रिटिश उपनिवेशों को एकीकृत करके वृहद कनाडा राज्य की स्थापना करने के लिए जोरदार प्रयत्न करने का निश्चय कर लिया।

इन दोनों ने मिलकर ब्रिटिश उपनिवेशों के एकीकरण के लिए प्रयास करने आरम्भ कर दिये। महीनों के भाषणों, राजनीतिक समझौतों और प्रचार के बाद १८६४ में यह निश्चित हुआ कि सब उपनिवेश मिल जायें। इसी उद्देश्य से क्विबेक में प्रतिनिधि बुलाये गये संविधान की रचना करने के लिये। लम्बे प्रयास और राजनीतिक गठजोड़ के बाद एक बड़ा देश-कनाडा कागजों पर अस्तित्व में आया।

इसके लिए जान अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड को क्या-क्या नहीं करना पड़ा। वह दिन को संविधान सभा के सामने आयी भिन्न-भिन्न गुत्थियों को सुलझाने के लिए सिर खपाता। रात्रि में उसे दूसरे उपनिवेशों से आये हुए प्रतिनिधियों के मनोरंजन और संतुष्टि के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने पड़े। किन्तु यह सब उसने अपने लिए नहीं सभी उपनिवेशों के हित के लिए किया था। अपने इस आचरण द्वारा मेकडोनाल्ड ने यह आदर्श प्रस्तुत किया है कि राजनीतिक दावपेंच भी किसी सदुद्देश्य के लिए काम में लाये जाने चाहिए, न कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ साधना के लिए।

जब सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधि नये विशाल राष्ट्र कनाडा की नयी राजधानी ओटावा में एकत्रित हुए और जब मेकडोनाल्ड भाषण देने खड़ा हुआ तो वह कतई राजनीतिज्ञ नहीं लग रहा था। उसका झुर्रियों भरा लम्बोतर चेहरा और ढीली-ढीली वेशभूषा उसके व्यक्तित्व को कोई आकर्षण प्रदान नहीं कर रही थी। किन्तु जब उसने भाषण देना शुरू किया तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो सुनते ही रह गये।

१ जुलाई, १८६७ को ओटावा में नये संघ राज्य कनाडा की स्थापना हुई। इस दिन सारे देश में उत्सव मनाये गये। अभी तक इसमें चार राज्य आन्टेरियो, क्विबेक, नोवा स्कोटिया और न्यू ब्रुसविक ही सम्मिलित हुए थे। मेकडोनाल्ड इस देश का प्रधानमंत्री बना।

अभी ब्रिटिश कोलम्बिया नामक समृद्ध उपनिवेश को इसमें और मिलना बाकी था। इसके लिए जान अलेक्जेंडर मेकडोनाल्ड ने अटलांटिक से प्रशान्त महासागर तक रेलवे लाइन बनाने की शर्त पर समझौता किया जो बहुत भारी पड़ता था। चालीस लाख से भी कम जनसंख्या वाला कनाडा सेंट लारेन्स से प्रशान्त महासागर तक रेलवे लाइन बना सकता था? मार्ग में बड़ी-बड़ी झीलें, दलदल और रॉकी पर्वत जैसी बाधाएँ खड़ी थीं, पर मेकडोनाल्ड अपने स्वप्न को सत्य करके रहा। इसके लिए उसे अपना प्रधानमंत्री पद भी दाँव पर लगाना पड़ा। किन्तु कनाडियन पैसिफिक रेलवे निर्मित हुई। यों कहना चाहिए कि मेकडोनाल्ड ने अपना बलिदान दे दिया इसके लिए। इस रेलवे लाइन के निर्माण को लेकर उसे जितनी

दिक्कतें व विरोध सहने पड़े, जितना अधिक काम करना पड़ा उसे उसकी दुर्बल काया सह नहीं सकी। १८८५ में इस रेलवे लाइन के बन जाने के कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई।

कनाडा का निर्माता अपने उस स्वप्न को साकार कर गया जो नितान्त असम्भव लगता था। मेकडोनाल्ड के जीवन की यह कहानी मानवीय कर्तृत्व की अनूठी मिसाल है।

निष्काम कर्मयोगी—

यिरास

३९ वर्षीय अलबर्टो यिरास ने सन् १९४५ में लिबरल पार्टी के उम्मीदवार की हैसियत से कोलम्बिया के राष्ट्रपति पद के लिये चुनाव लड़ा और सफल हुए। दुर्योग से एक वर्ष बाद ही उनका दल विघटित हो गया और उन्हें राष्ट्रपति पद से स्तीफा देना पड़ा। वे इतने लोकप्रिय थे कि उनके दल के ही नहीं अन्य दलों के सदस्यों ने भी उन्हें राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ रहने की बात कही तथा चुनाव नहीं कराके राष्ट्रपति शासन लागू कर देने की राय दी। यिरास नैतिकता रहित राजनीति को परले सिरे धोखाधड़ी मानते थे। वे अपने आदर्शों और उद्देश्यों के प्रति पूर्ण ईमानदार थे। अतः उनके मन में पद का तनिक भी मोह नहीं व्यापा और राजनीतिज्ञों की इस सम्मति का उत्तर उन्होंने 'ना' में ही दिया। उन्होंने 'सेमना' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। ऐसे निस्पृह राजनेताओं की आज विश्व में बड़ी कमी है। किन्तु सच पूछा जाय तो राजनेता की कसौटी भी यही है। ऐसे ही निस्पृह राजनीतिज्ञ देश का भी भला कर सकते हैं और स्वयं भी यशस्वी बन सकते हैं।

उनके एक मित्र ने उनसे इस पद त्याग का कारण पूछा तो उन्होंने कहा था—“मैं चाहता तो राजनीतिज्ञ जोड़-तोड़ करके राष्ट्रपति पद पर बना रह सकता था। किन्तु किसी व्यक्ति के जीवन में पद का जितना महत्त्व नहीं होता उससे लाख गुना महत्त्व होता है उसके सिद्धान्तों का। जिस मनुष्य के जीवन में कोई उच्च सिद्धान्त नहीं उसे मनुष्य कहना मानवता का अपमान करना है और मैं राष्ट्रपति पद से सच्चे मानव का पद ऊँचा मानता हूँ।” आज जब हरेक व्यक्ति के मुँह से सुना और समाज में देखा जाता है कि नैतिक मानदण्ड ही बदलते जा रहे हैं। व्यक्ति जमाने को दोष देता हुआ व्यावहारिकता के नाम पर सिद्धान्तों का हनन करने में कोई संकोच नहीं करता, अलबर्टो यिरास जैसे उदाहरण सोयी मानवता को जगाने के लिए उत्प्रेरक का काम करते हैं।

कोलम्बिया के एक अति निर्धन परिवार में जन्मे और गरीबी के समस्त अनुभवों को सिद्ध करने और अपनी राह स्वयं बनाते हुए राष्ट्रपति पद तक पहुँचने और फिर उसे

तिनके की तरह त्याग देने वाले यिरास के जीवन में ऐसे कितने ही प्रेरक आदर्श भरे पड़े हैं जो कितने ही व्यक्तियों को आदर्शयुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देने को अपर्याप्त नहीं हैं।

वे सात वर्ष तक 'अमेरिकन ऑरगनाइजेशन ऑफ स्टेट्स' के निर्देशक रहे। इस काल में उन्हें प्रतिवर्ष ९३,००० रुपये के कर मुक्त वेतन के अतिरिक्त निःशुल्क निवास, कार, कार चालक व भृत्यादि की सुविधाएँ प्राप्त थीं। किन्तु इस पद को भी उन्होंने अपने देश के एडेन्स विश्वविद्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष बनकर जाने के लिए इसलिये त्याग दिया कि वे अपने देश में स्थापित हो चली तानाशाही को उखाड़ने का जोखिमपूर्ण कार्य हाथ में लेना चाहते थे। जिस व्यक्ति ने गरीबी को निकट से देखा हो, भोगा हो वही स्वेच्छा से उसे पुनः वरण करे ऐसे उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं। देश के, देशवासियों के हित के लिए इतने सुख-सुविधापूर्ण पद को त्यागने वाले यिरास का जीवन इस बात का साक्षी है कि आनन्द आराम भोगने में ही नहीं मिलता कठिनतम कर्तव्य निभाने के लिये महानतम त्याग करने में भी मिलता है और पूर्वापेक्षा सहस्रावधि अधिक मिलता है।

यिरास उन व्यक्तियों में से हैं जिनके लिये अँग्रेजी भाषा का 'सेल्फमेड' विशेषण प्रयुक्त होता है। अपने बचपन की कष्टपूर्ण कहानी को वे भूलें नहीं हैं और कई लोगों की तरह भूल जाना चाहते भी नहीं हैं, क्योंकि भूल जाने पर पथ विचलित हो जाने का भय रहता है। बचपन घोर निर्धनता में व्यतीत हुआ। दस वर्ष के थे और पिता साथ छोड़ गये। माँ ने दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। रिचार्ड के सैनिक विद्यालय में अठारह वर्ष की आयु तक किसी तरह उनकी पढ़ाई चली। उसके बाद बोगोटा में एक समाचार पत्र के कार्यालय में अल्प वेतन पर नौकरी करते हुए वे सम्वाददाता बने।

मनुष्य की जिज्ञासा, श्रम, लगन और संकल्प वे साथी-सहयोगी हैं जो उसे निरन्तर आगे बढ़ाते ही रहते हैं। इस बात को उन्होंने अल्पवय में ही जान लिया था। वे तो अपनी गरीबी और विपरीत परिस्थितियों को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इन साथी-सहयोगियों से शीघ्र ही परिचय करवा दिया नहीं तो किसी समृद्ध घर में उत्पन्न हुए होते तो शायद वे तो भीड़ में खो गये होते, उन्हें आज कोई जानता न होता। यिरास को लिखने-पढ़ने के लिए भले ही अधिक समय तक स्कूल का सहारा न मिला हो, कॉलेज की तो बात ही पृथक् है, पर विश्व में इस विशालतम विश्वविद्यालय में उन्होंने जो कुछ सीखा वह अनूठा है। ज्ञान किसी शिक्षण संस्थान की बपौती नहीं, जो यत्र-तत्र बिखरे ज्ञान को बटोरने की क्षमता उपजाता है वह बिना इन चहारदीवारियों में सत्र गुजारी किये ही बहुत कुछ पा लेता है। व्यवहार से, भाषणों से, पुस्तकों से, समाज से, पशु-पक्षियों से और अपनी अन्तःप्रेरणा से प्रांगण में बिखरे ज्ञान के एक-एक कण-कण को बटोरते हुए, उसे अपने

जीवन में उतारते हुए, व्यवहार में लाते हुए एक अनाथ बालक से कोलम्बिया के राष्ट्रपति पद तक पहुँचे थे, एक दम नहीं एक-एक सोपान चढ़ते गए।

अठारह वर्ष की आयु में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। अपनी लगन, सूझ-बूझ, परिश्रमशीलता और योग्यता के बल पर ही वे बोगोटा के प्रमुख पत्र 'टोइम्पो' के प्रधान सम्पादक बन गये। वे अपनी सरल और स्पष्ट टिप्पणियों और झुलझे हुए प्रौढ़ सम्पादकीय लेखों के माध्यम से जनता में बहुत लोकप्रिय हुए। उनके प्रशंसकों में कोलम्बिया के तत्कालीन राष्ट्रपति 'अलफांसो लोपेज' भी थे। उन्होंने यिरास को अपना भाषण लेखक बना लिया।

"मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है।" इस उक्ति को यिरास ने अपने जीवन में सार्थक किया है। छब्बीस वर्ष की आयु में चेम्बर ऑफ डिप्टीज के अध्यक्ष, सत्ताईस वर्ष की आयु में राज्य मंत्री, सैंतीस वर्ष की आयु में सं० रा० अमेरिका में लैटिन कोलम्बिया के राजदूत और उन्तालीस वर्ष की आयु में वहाँ के राष्ट्रपति बनकर दिखाने वाले यिरास से अच्छा उदाहरण और क्या होगा? इस सच्चाई को आधार देने के लिये और सबसे बड़ी बात तो यह कि मात्र योग्यता और निष्ठा के बल पर प्राप्त किया गया, छल-छन्दों व सिफारिशों की अनैतिक बैसाखियों के सहारे नहीं। उनकी ये उपलब्धियाँ जितनी आश्चर्यजनक हैं उतनी ही प्रेरक भी हैं।

राष्ट्रपति पद को अलबर्टो यिरास ने आदर्श के लिए त्याग दिया। उनके लिए पदों की कमी नहीं थी जिस व्यक्ति ने पात्रता अर्जित कर ली है पद तो उसे मिलते ही हैं। उन्हें भी संयुक्त राज्य अमेरिका के 'ऑरगनाइजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स' के निर्देशक का पद मिल गया। सात वर्ष तक इस पद का योग्यतापूर्वक निर्वाह करते हुए जब उन्होंने कोलम्बिया को राजनैतिक गृह युद्ध की विनाशकारी लपटों में घिरा देखा तो वे बोगोटा लौट आये। व्यक्ति समाज से कितना बँधा होता है इसका उदाहरण उनका यह आचरण था। उन्हें कौन-सी कमी थी जो इतने उच्च पद को त्यागते, पर वह देश प्रेम और मानवता की भावना ही थी जो उन्हें खींच लायी थी।

तत्कालीन राष्ट्रपति 'लाडरिनो गोमेज' अपने प्रतिपक्षी लिबरल सदस्यों से बहुत जलता था। उसकी इस जलन ने घृणित प्रतिहिंसा का रूप ले लिया था। परिणामस्वरूप राजनैतिक हत्याओं की एक लम्बी शृंखला उन दिनों चल पड़ी थी। अराजकता व कानून विरोधी हरकतों की बाढ-सी आ गयी थी। नृशंस हत्या, लूटपाट व महिलाओं की इज्जत से खेलना एक सामान्य बात हो गई थी। प्रतिवर्ष बीस लाख कोलम्बियावासी इस हिंसा की चपेट में आकर समाप्त हो रहे थे।

इन समाचारों ने उनके दिल को दहला दिया और वे 'ऑरगनाइजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स' के वाशिंगटन स्थिति कार्यालय को छोड़कर कोलम्बिया लौट आये। यह

बड़ा जोखिम भरा पग था। उनकी भी हत्या होने की पूरी-पूरी आशंका थी पर वे किसी भी मूल्य पर इस अराजकता को समाप्त करना चाहते थे। फिर वह मूल्य उनका जीवन ही क्यों न हो उन्हें चिन्ता नहीं थी। यह उनकी आत्मा की पुकार ही थी, जो यहाँ खींच लायी थी। वे वहाँ गये तो कोलम्बिया के मसीहा के रूप में पूजे भी गये।

कोलम्बिया आकर उन्होंने जनता में गृह-युद्ध से परित्राण पाने का साहस व शक्ति जगायी। तीन वर्षों में ही गोमेज का तख्ता उलट दिया गया और जनरल गस्ताव रोजस वहाँ का तानाशाह बन बैठा। यह तो उससे भी बुरा सिद्ध हुआ। उसने बयालीस प्रतिशत कृषकों को भूमि से बेदखल कर दिया। वे शहरों में रोजगार के लिए मारे-मारे फिरने लगे। विद्यार्थियों ने आन्दोलन किये तो उन्हें गोलियों से भून दिया। अलबर्टो यिरास जनता को पूरी तरह क्रान्ति के लिए तैयार कर रहे थे। छुटपुट आन्दोलन करके वे अपनी शक्ति को क्षीण नहीं करना चाहते थे।

१९५५ के ग्रीष्म काल में एक ऐसी बर्बरतापूर्ण घटना घटित हुई कि यिरास को क्रान्ति का शंखनाद करना ही पड़ा। वह रविवार कोलम्बिया के इतिहास में कलंक कालिमा बनकर रोजस की निर्दयता की गवाही देता रहेगा और इस अमर सत्य का उद्घाटन करता रहेगा कि पाप का घड़ा देर-सबेर फूटे बिना नहीं रहता। इस दिन तानाशाह रोजस की पुत्री नगर में सॉड-युद्ध देखने आयी थी। पिता द्वारा बेदखल किसानों ने पुत्री से अपने पिता को समझाने का निवेदन किया। सत्ता के गर्व से गर्वित उस तानाशाह की पुत्री ने कृषकों को दुत्कार दिया, इस पर किसी उग्र स्वभाव के व्यक्ति ने कोई ऐसी बात कह दी जो उसे अप्रिय लगी। उसने पिता से उनकी शिकायत की। फिर क्या था वह बिफर उठा। उसने भीड़ पर गोली वर्षा करने का क्रूर आदेश दे दिया। मौत खुलकर खेली। देखने वालों का कहना है कि उस दिन बोगोटा की सड़कों पर लाशों की इस प्रकार लड़ियाँ लग गयीं जैसे जलाऊ लकड़ी के ढेर लगते हैं।

इस भीषण हत्याकाण्ड के बाद यिरास चुप नहीं बैठ सके वे खुलकर सामने आये। उसी रात उन्होंने बोगोटा नगर में विशाल सार्वजनिक सभा करके उन्होंने रोजस की तीव्र भर्त्सना की। उसी दिन उन्होंने एडेन्स विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष पद से स्तीफा दे दिया और कर्मक्षेत्र में कूद पड़े।

क्रूर तानाशाह रोजस के पास सत्ता थी, सैन्य बल था इस कारण जनता खुलकर सामने आने से डरती थी। पर यिरास उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो मृत्यु के भय से अन्याय को सह लें। उनके पास नैतिकता और सत्य की शक्ति थी। उसी को लेकर वे तानाशाही आतंक को तोड़कर सामने आये। वे जब खुलकर सामने आये तो अनुदार दल के प्रसिद्ध नेता ग्विलेरोओ लिन वालन्सिया भी उनका साथ देने के लिये मैदान में आ कूदे। पुलिस द्वारा पकड़े जाने का भय, गुण्डों द्वारा हत्या करा दिये जाने की आशंका आदि के बीच निर्भय

होकर उन्होंने अत्याचारपूर्ण तानाशाही से कोलम्बिया को मुक्त कराने के लिए प्रबल जन आन्दोलन उठाया। तानाशाही सरकार के समानान्तर इन दोनों दलों ने संयुक्त सरकार व संयुक्त मन्त्रि-मण्डल का गठन किया।

जनता में आक्रोश व छटपटाहट तो पहले थी ही अब तक कोई नेता सामने न होने के कारण इसे प्रकट करने का कोई मार्ग नजर नहीं आ रहा था। अब उन्हें नेता मिल गया था। फिर ६ मई, १९५० का वह स्मरणीय दिन आया जब जनता ने एकमत होकर अपने नेता के आग्रह पर 'बोगोटा बंद' का आयोजन किया। इस दिन सारा नगर निद्रामग्न-सा हो गया। सभी घरों में बन्द हो गये। कोई मजदूर कारखाने में नहीं गया, किसी व्यापारी ने दुकान नहीं खोली, सड़क पर कोई आदमी चलता-फिरता नजर नहीं आया। न कोई बस न कोई वाहन चला। सर्वत्र मरघट की-सी नीरवता फैल गयी। क्रुद्ध रोजस ने हथियारों से लैस सैनिकों को विद्रोहियों को पकड़ने भेजा। नगर में गश्ती टैंक घूमने लगे। तीस हजार सैनिकों ने नगर में गश्त लगायीं पर सड़क पर उन्हें एक बच्चा तक नजर नहीं आया। जनता जाग चुकी थी अब तानाशाही कैसे टिकती। वह अपने सेनाध्यक्षों के हाथ में शासन सूत्र धमाकर भाग खड़ा हुआ। यिरास ने सैनिक शासन समाप्त करके चुनाव कराये। चुनाव होने तक अस्थायी सरकार बनी। वे स्वयं चुनाव में खड़े हुए और राष्ट्रपति बने। अपने राष्ट्रपति काल में उन्होंने देश की दशा सुधारने के लिए सराहनीय प्रयास किये।

मॉरीशस के मसीहा—

डॉ० शिवसागर रामगुलाम

मॉरीशस में जन्मे, भारतीय मूल के एक २४ वर्षीय महात्वाकांक्षी व्यक्ति ने इंग्लैण्ड में जब डॉक्टर की सम्मानित डिग्री हासिल की तो उसके मित्र ने बधाई देते हुए पूछ ही लिया—“अब क्या इरादे हैं श्रीमान् के।”

“इरादे क्या होंगे अपने देश लौटना है।”

“कैसी बातें करते हो मित्र। इंग्लैण्ड जैसे सम्पन्न समृद्ध और विकसित देश में रहकर जिन्दगी का सुख भोगने की अपेक्षा तुम उसी पिछड़े हुए द्वीप में लौट जाना चाहते हो। यहाँ तुम्हें अच्छा वेतन मिल सकता है, चाहो तो सभ्य, सुसंस्कृत जीवन संगिनी भी। तुम्हारे लिये प्रगति के द्वार भी खुले हैं। वहाँ तुम्हें कौन-सा सुख मिल जाएगा। बोलो ‘हाँ’ करते हो तो किसी अच्छे अस्पताल में चिकित्सा अधिकारी के पद पर लगवा दूँ।”

“नहीं मित्र! तुम्हारी इस सलाह और कृपा के लिए धन्यवाद। लेकिन एक व्यक्ति के लिए जो जीवन का सुख है वह सबके लिये सुख नहीं हो सकता, सुख तो व्यक्ति के दृष्टिकोण की उपज है। जिसे तुम सुख कहते हो वही मेरे लिये शुष्क हो सकता है और जिसे तुम पागलपन मानते

हो वही मेरे लिये विवेकशीलता की बात हो सकती है। सच पूछा जाय तो मैं इंग्लैण्ड में रहने के लिये नहीं आया। मैं तो वह योग्यता हासिल करने आया था जिससे अपनी मातृभूमि की कुछ सेवा कर सकूँ।”

इंग्लैण्ड का सुख, समृद्धि भर जीवन जिसे चौदह वर्ष तक वहाँ रहते-रहते भी अनुरक्त नहीं कर पाया था वह व्यक्ति थे डॉ० शिवसागर रामगुलाम। १८ सितम्बर, सन् १९०० के दिन पूर्वी मॉरीशस के एक छोटे से गाँव बैलरिव के साधारण श्रमिक परिवार में जन्मे श्री शिवसागर का डॉक्टर बनना उनके दृढ़ संकल्प, महत्वाकांक्षा, लगन और निष्ठा और श्रम सातत्य का ही परिणाम था। उनके पूर्वज बिहार के थे। १८३४ में वे कमाने के लिये मॉरीशस पहुँचे थे।

उनके गाँव में कोई पाठशाला नहीं थी अतः वे रोज कई मील पैदल चलकर दूसरे गाँव की पाठशाला में पढ़ने जाया करते थे। एक दिन उनके अध्यापक ने उनसे पूछा—“शिबू! तुम रोज इतने पैदल चलकर पढ़ने आते हो क्या तुम्हें इसमें कष्ट नहीं होता?” कष्ट क्यों होगा मैं पढ़ लिखकर गवर्नर बनना चाहता हूँ और कुछ बनने के लिये कष्ट तो सहना ही पड़ता है।” उनकी यह बात सुनकर उनके सहपाठी खिल-खिलाकर हँस पड़े, रहते हैं झोंपड़े में और ख्याब देखते हैं महलों के। अध्यापक बालक के इस उत्तर से बहुत प्रभावित हुए थे। वे गवर्नर तो नहीं पर उसी के समकक्ष प्रधानमंत्री अवश्य बन गये।

उनके परिवार की दशा देखते हुए तो उन पर उनके सहपाठियों का यह हँसना स्वाभाविक ही था। उन्हीं की बात नहीं वहाँ के अधिकांश भारतीयों की स्थिति सामान्य मजदूर से कुछ अच्छी नहीं थी। संख्या में अधिक होते हुए भी वे मुट्ठी भर फ्रेंच लोगों के गुलाम थे। शिक्षा और जागरूकता का सर्वथा अभाव ही था।

मॉरीशस से प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके वे १९२० में इंग्लैण्ड पहुँचे। घर की स्थिति तो ऐसी थी कि यहाँ भी उन्हें कमाते हुए ही पढ़ना पड़ता था। इंग्लैण्ड जाकर उच्च शिक्षा पाने की स्थिति उनकी कतई नहीं थी। किन्तु जिनके मन में लगन होती है उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं होता। इंग्लैण्ड जाने तक के किराये के पैसे जुटते ही वे चल पड़े। वहाँ वे बहुत कम खर्च में अपना गुजर चलाते। दैनिक व साप्ताहिक पत्रों में लेख लिखकर और छोटा-मोटा अंशकालिक काम करके वे अपनी पढ़ाई और निर्वाह के लिये खर्चा जुटाते।

अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा पर उन्होंने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके विद्वतापूर्ण लेखों ने उन्हें वहाँ के राजनेताओं और समाजसेवियों में पर्याप्त लोकप्रिय बना दिया था। चौदह वर्ष तक वे इंग्लैण्ड में रहे। वहाँ से डॉक्टरी की डिग्री हासिल करके वे स्वदेश लौटे।

वहाँ की चकाचौंध उनके मातृभूमि के प्रति प्रेम को किंचित मात्र भी धुँधला न सकी थी।

एक कृषक श्रमिक परिवार का व्यक्ति चौदह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद इंग्लैण्ड से डॉक्टर बनकर स्वदेश

५.१२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

लौट रहा है यह जानकर मॉरीशस के भारतीय प्रवासियों का मन प्रसन्नता से झूम उठा। उनका वहाँ भव्य स्वागत हुआ।

तत्कालीन मॉरीशसवासी भारतीयों में राजनैतिक चेतना का तो अभाव ही था किन्तु धर्म चेतना जी रही थी। मुट्ठी भर फ्रेंच लोग बहुसंख्यक भारतीयों की राजनैतिक अचेतनता का लाभ उठाकर ऐश्वर्य भरा जीवन बिता रहे थे जबकि अधिकांश भारतीय प्रवासी न ढंग का खाना जुटा पाते थे, न मकान, न कपड़े। बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करने का तो सवाल ही कहाँ पैदा होता था। खेतों में काम करते थे हिन्दुस्तानी मजदूर और उनका लाभ उठाते थे फ्रेंच मालिक। इस असमानता को मिटाने के लिये भारतवासियों में राजनैतिक चेतना जगाना अत्यावश्यक था। डॉक्टर साहब ने अपनी चिकित्सा सेवाएँ अपने बन्धुओं को समर्पित करने के साथ ही उनमें इस चेतना को जगाने का काम भी किया। धार्मिक संस्थाओं के नेताओं को उन्होंने इस दिशा में उनका सहयोग देने की बात कही। कुछ भारतीय धनपतियों से भी इस पुण्य कार्य में सहयोग देने की बात कही। शिक्षा प्रसार की सामाजिक स्तर पर व्यवस्था बनायी।

धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों तथा सभा-सम्मेलनों के अवसर पर वे वहाँ जाते और लोगों को बताते कि किस तरह बहुसंख्यक और मॉरीशस को समृद्ध बनाने वाले हम भारतवासी थोड़े से लोगों के अधिकार में रहकर त्रस्त और शोषित का-सा जीवनयापन कर रहे हैं। दिन-रात श्रम करके भी हम भूखे पेट और खाली हाथ हैं और जो काम नहीं करते वे ऐशो आराम का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सुख और समृद्धि हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है पर वह हमें प्राप्त नहीं। उसे पाने के लिये हमें संघर्ष करना पड़ेगा। संघर्ष करने के लिये हमें अपने अज्ञान को दूर करना होगा, उनकी इन बातों से लोग बहुत प्रभावित होते और उनके बताये अनुसार जागरूकता उत्पन्न करते।

सपनियर का उनका दवाखाना एक प्रकार का सार्वजनिक चिकित्सालय कहा जा सकता था। वे गरीबों की चिकित्सा की कोई फीस नहीं लेते थे। यदि उनके पास दवा के पैसे नहीं होते तो वे दवाई भी अपनी ओर से दे देते थे। चिकित्सा उनके लिये पैसा कमाने का साधन नहीं वरन् सेवा करने का साधन थी। आपकी इस उदार हृदयता और परोपकार ने उन्हें शीघ्र ही सारे मॉरीशस में लोकप्रिय बना दिया। तत्कालीन गवर्नर डी० बी० क्लीफोर्ड ने उन्हें वहाँ की धारा सभा का सदस्य मनोनीत किया।

इंग्लैण्ड से लौटने के बाद दूसरे ही वर्ष उन्होंने 'डेली एडवांस्' नामक दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन किया। यह फ्रेंच व अँग्रेजी दोनों भाषाओं में छपता था। उनके अपने पास तो पत्र प्रकाशन के लिये पर्याप्त धन नहीं था। परोपकार से अधिक कभी उन्होंने अर्थ संचय को महत्त्व

ही नहीं दिया था। पत्रों के लिये उनके सम्पन्न भारतवंशी मित्रों ने आर्थिक सहयोग दिया था। पत्र प्रकाशन के पीछे उनका उद्देश्य जनता में जाग्रति लाना ही था। उनकी लेखनी का चमत्कार इंग्लैण्डवासी पहले ही देख चुके थे। मॉरीशस में भी यही चमत्कार देखने को मिला, वे पत्र शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। आज वे वहाँ मुख्य पत्रों में गिने जाते हैं।

चिकित्सा, पत्रकारिता और राजनीति इन तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समान रूप से दखल रखने के उदाहरण कम ही मिलते हैं। यह उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की विशेषता है और इससे भी बड़ी विशेषता उन्हें निस्पृह रूप से चलाने में निहित है। इन तीनों साधनों को उन्होंने परमार्थ दृष्टि से ही प्रयोग में लिया।

१९३७ में उन्होंने श्री सुखदेव बालगोविन्द और श्री रामजी आदि मित्रों के सहयोग से श्रमिक संगठन बनाया। श्रमिक बड़ी भारी संख्या में इसके सदस्य बने। वस्तुतः यह उनके द्वारा चलाये गये मॉरीशस के स्वाधीनता संग्राम का प्रथम चरण था। उसी वर्ष अपनी उचित माँगों को मनवाने के लिये मजदूरों ने उनकी प्रेरणा से जबरदस्त संघर्ष किया। फ्रेंच मालिकों ने कारखाने बन्द कर दिये। पर संगठित जनशक्ति के आगे उन्हें झुकना पड़ा। भारतवंशी मॉरीशसवासियों की यह बहुत बड़ी विजय थी। जनशक्ति धनशक्ति को पछाड़ सकती है इस सच्चाई ने उन्हें बहुत बल दिया।

फ्रेंच उद्योगपतियों ने धन के बल पर ही मॉरीशस का औपनिवेशिक शासनतन्त्र अपने कब्जे में कर रखा था। १९४२ में डॉक्टर साहब ने उस काले कानून के विरोध में संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। जिसमें यह नियम था कि तीन हजार से अधिक की जायदाद का मालिक ही वोट देने का अधिकारी होता है। इससे अस्सी प्रतिशत गरीब जनता वोट देने के अधिकार से वंचित रह जाती थी। उनके इस संशोधन को स्वीकार कर लिया गया। अब हर शिक्षित व्यक्ति को मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया था।

इंग्लैण्ड से लौटने के पश्चात् उन्होंने अपने मित्रों, सहयोगियों और धार्मिक संस्थाओं जिनमें आर्यसमाज प्रमुख थी, के सहयोग से शिक्षा प्रसार का क्रम तेज करा दिया था। संशोधन विधेयक पारित हो जाने पर शिक्षित व्यक्तियों की मतदाता सूची बनी तो लोगों को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि सबसे अधिक संख्या भारतीय प्रवासियों की है।

१९४८ के चुनाव में दो एक स्थानों को छोड़कर शेष सभी सीटों से भारतीय मूल के प्रत्याशी ही चुने गये। डॉ० शिवसागर रामगुलाम त्रिओले क्षेत्र से चुने गये थे। चुनाव के पश्चात् उन्हें प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिला। अपने इस प्रधानमंत्री काल में उन्होंने मॉरीशस की जनता की बहुमुखी प्रगति के लिये क्रान्तिकारी कदम उठाये। श्रमिकों को उचित वेतन, पर्याप्त रोजगार देने की व्यवस्था की।

शिक्षा, चिकित्सा, न्याय आदि सुविधाएँ जनसाधारण के लिए सुलभ करने का भरपूर प्रयास किया। उसमें वे सफल भी हुए। उनके और उनके साथियों के प्रयासों से १२ मार्च, १९६८ में मॉरीशस साम्राज्यवादी क्रूर पंजों से मुक्त हो गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मॉरीशस ने जो द्रुत प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय डॉक्टर साहब को है।

धर्म उनका अपार निष्ठा है। बचपन से ही भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति वे एकान्तिक निष्ठा रखते थे जो कभी टूटी नहीं, उनका अपना अनुभव था कि भारतीय जनमानस किसी भी बात को धर्म के माध्यम से जितना शीघ्र स्वीकार कर लेता है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं। मॉरीशस को छोटा भारत भी कहा जाता है। उसका बहुत कुछ श्रेय उनके समर्पित व्यक्तित्व को है।

प्रधानमंत्री होते हुए भी वे स्वयं को एक सामान्य व्यक्ति ही मानते थे। प्रधान मन्त्रित्व उनके लिये जनसेवा का एक साधन भर था। जब उन्हें यह सूचना मिलती कि अमुक गरीब आदमी बीमार है तो वे अपना डॉक्टरा उपकरणों का बैग उठाकर स्वयं उसके घर पहुँच जाते और उसका निदान, उपचार करते। फलों से लदे वृक्ष की तरह सम्मान, यश और पद ने उन्होंने अपने अहम् की शाखाओं को झुकाये ही रखा।

विद्वानों का आतिथ्य करने की भारतीय परम्परा को वे किस तत्परता और उत्साह से निभाते यह तो उनको घर आतिथ्य ग्रहण करने वाले ही जान सकते हैं। कई भारतीय विद्वान, राजनेता और धर्म नेता उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके हैं।

अपनी प्रगति तो सभी करते हैं पर उसके साथ समाज की, अपने देशवासी भाइयों की प्रगति को जोड़ने और अपनी योग्यता, प्रतिभा का लाभ सभी को बाँटने वाला ही विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में 'सहज मानुष' कहलाता है। डॉ० शिवसागर रामगुलाम ऐसे ही सहज मानुष थे। यह स्थिति पाना हर व्यक्ति का कर्तव्य है इसे निभाये बिना मनुष्य जन्म को सार्थक नहीं कहा जा सकता है।

प्रजातन्त्र के त्राता—

सिसरो

ईसा के सौ वर्ष पूर्व रोमन प्रजातन्त्र के इतिहास का एक ऐसा पहलू भी है जो वस्तुस्थिति पर पड़ा हुआ पर्दा उठाता है और ऐसे तथ्य प्रस्तुत करता है जिनसे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पोषक तानाशाही और साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था तत्कालीन रोमन राष्ट्र की स्थिति के सामने फीकी पड़ जाय। वह है रोमन राष्ट्र के तत्कालीन साहित्यकार मार्कस तुलियस सिसरो का जीवन इतिहास।

यद्यपि रोम उस समय ज्ञान और शिक्षा का केन्द्र था। संसार के अधिकांश देशों द्वारा अपनायी गयी शासन

व्यवस्था-प्रजातन्त्र का उदय भी वहीं से हुआ बताते हैं। इसके पूर्व रोमन राष्ट्र अभिजात कुल के महत्वाकांक्षी लोगों की रंगस्थली बना हुआ था। इस अभिजाततन्त्र के कीचड़ में ही प्रजातन्त्र का कमल उगा और इसका अधिकांश श्रेय किसी एक व्यक्ति को दिया जाय तो उसके लिए सिसरो से अधिक योग्य व्यक्ति कोई नहीं मिलेगा।

सिसरो एक ऐसे व्यक्ति के रूप में सदैव स्मरण किये जायेंगे, जिन्होंने निःशस्त्र अभिजात तन्त्र का विरोध किया और उसके पराभव का कारण बना। उनका जन्म १०६ ई० पू० एक साधारण परिवार में हुआ। उस समय इटली की जमीन पर खून की नदियाँ बह रही थीं। स्पेन से ग्रीस, वीथीनिया और सीरिया तक युद्ध की आग प्रचण्डरूप से प्रज्वलित हो रही थी। लोगों का घर से बाहर निकलना मुश्किल था। लुकते-छुपते देशवासी बाजार से अपनी जरूरतों का सामान लाते। जिनके पास पैसा था वे तो किसी न किसी प्रकार अपनी व्यवस्था कर लेते। परन्तु रोज कुँआ खोदकर रोज पानी लाने वालों की क्या दशा हुई होगी यह सोचकर ही कलेजा काँप उठता है। ऐसे ही एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा सिसरो।

बचपन से ही उन्हें बड़ी दैन्य दुःस्थिति का सामना करना पड़ा। कोमल बालमन पर इस रक्तपात के जिम्मेदार अभिजात वर्ग की कुत्सित लीलाओं के कारण विद्रोही संस्कार जन्मे और ये संस्कार ही समय पाकर संकल्प में परिणत हुए। उस समय-जब अभिजात वर्ग विजय के मद में चूर हो रहा था, साधारण और मध्यवर्गीय लोग अपनी विवशताओं और मजबूरियों को निरुपाय सहन कर रहे थे। तब सिसरो अपने व्यक्तित्व निर्माण की साधना में जुटे हुए थे ताकि उस समाज और शासन व्यवस्था पर चोट की जा सके। तत्कालीन परिस्थितियों और व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश ने सिसरो को अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रूप से विकसित करने के लिए प्रेरित किया और वे सागर की राह एथेंस जा पहुँचे।

वहीं पर उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर दर्शन और राजनीति का उच्चतम अध्ययन किया। घर छोड़ देने के कारण कई नयी परेशानियाँ सामने आयीं परन्तु अपने साधारण और गरीब परिवार में अभावग्रस्त जीवन का अभ्यस्त होने के कारण सिसरो को अधिक चिन्तित नहीं होना पड़ा। वे अपने निर्वाह के लिए आवश्यकता भर उपार्जन इधर-उधर काम तलाश कर लेते थे। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद सिसरो ने एथेंस की अकादमी में दर्शन का वर्षों तक अध्ययन किया।

इस अध्ययन का प्रयोजन मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं था, बल्कि वे तो किसी न किसी प्रकार समाज में सुख-शान्ति पूर्ण व्यवस्था लाने के लिए कृत संकल्प थे। इसलिए आवश्यक था कि प्राप्त ज्ञान और विकसित प्रतिभा से अधिकाधिक लोगों को लाभान्वित होने का अवसर मिले। इस तथ्य को समझकर सिसरो ने विचार किया तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सशस्त्र-क्रान्ति की अपेक्षा जनक्रान्ति

का मार्ग अधिक सुगम और स्थायी परिणाम देने वाला होगा। इसके लिए आवश्यक है कि जनसाधारण में उपयुक्त चेतना भरी जाय। जनजागरण के लिए सिसरो ने वाग्मिता का अभ्यास आरम्भ किया। निरन्तर प्रयास और लगन निष्ठा ने उन्हें सफलता प्रदान की। उनकी वाक्शक्ति लोगों को चमत्कृत करने लगी।

सिसरो जानते थे कि उन्होंने सीधे ही जनजागरण के क्षेत्र में प्रयास किया तो सत्ताधिकारी उन्हें कुचलने के लिए हर सम्भव प्रयास करेंगे। शक्ति और स्थिति इस योग्य भी नहीं है कि उनका मुकाबला किया जा सके। उन्होंने बड़ी सोच-समझ से काम लिया और मार्ग ढूँढ़ निकाला। कुशल वाग्मिता उन्हें अभिजात वर्ग में निरन्तर लोकप्रिय बनाती आ रही थी। कईयों ने उनकी प्रतिभा का अपने लिए उपयोग करने की बात भी सोची। इसके लिए अनेकों अभिजात्य-कुल के व्यक्तियों ने उनकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया। सिसरो ने इसे दुर्लभ सौभाग्य माना क्योंकि इस प्रकार वे शासन तन्त्र में आसानी से प्रवेश कर सकते थे। अन्य माध्यमों से उन जैसे मध्यवर्गीय व्यक्ति का नाटकीय प्रजातन्त्र में भाग लेना असम्भव-सा ही था। सिसरो ने कुलीन और धनाढ्य लोगों की मैत्री को स्वीकार कर लिया।

धीरे-धीरे सम्पन्न मित्रों की संख्या बढ़ने लगी। वे सभी उनका उपयोग अपने शत्रुओं को नष्ट करने के लिए करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सिसरो को सिनेट सदस्य चुनवा दिया। यद्यपि उस समय भी सिनेटर के पद अभिजात्यों लिए ही सुरक्षित थे। इस प्रकार उनकी मन-वांछित आकांक्षा-सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने व लक्ष्य पूर्ति का द्वार खुल गया।

सिसरो ने अपनी व्यवहार कुशलता और प्रतिभा के बल पर अपना अच्छा स्थान बना लिया। व्यक्ति चाहे अकिंचन स्थिति में हो परन्तु उसके पास व्यवहार कुशलता और व्यावहारिक सूझ-बूझ के दो रत्न हों तो वह स्वयं को अच्छे पद और प्रतिष्ठा पर आसीन कर सकता है। सिसरो इन दो विशेषताओं के कारण अच्छे से अच्छे पदों पर नियुक्त किये गये। जिस-जिस पद पर भी वे रहे उस पर निर्धारित आयु की अल्पतम अवस्था में पहुँचे। अभिजात वर्ग के लोग तो किसी न किसी प्रकार उन्हें अपना समर्थक और प्रशंसक बनाने के चक्कर में थे। इधर सिसरो भी किसी प्रकार अपना स्थान बनाकर अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे।

ई० पू० ६३ में वह कौंसलर के रूप में चुने गये। तत्कालीन संसद का यह एक महत्वपूर्ण पद था इस पर रहते हुए उन्होंने जो व्याख्यान दिये, उनको संसार के सर्वोच्च साहित्य में स्थान मिला है। आज भी दुनिया के उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान तथा विद्यार्थी उन भाषणों के अंश रटते हैं और उद्धरित करते हैं। इन व्याख्यानों ने सिसरो के यश को रोम की सीमाओं के पार तक विस्तारित कर दिया। उन्होंने ये व्याख्यान एक महत्वाकांक्षी अनाचारी

अधिकारी कातिलाइन के विरोध में दिये थे। कातिलाइन किसी भी प्रकार प्रजातन्त्र का वर्तमान स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट कर खुद तानाशाह बन जाना चाहता था। सिसरो ने उसके षड्यन्त्रों और कुटिल नीतियों का पर्दाफाश कर दिया। परिणामस्वरूप लोगों ने उसका अस्तित्व ही मिटा दिया। कातिलाइन ने उन्हें कई प्रकार से धमकाया और दबाव भी डाला, प्रलोभन भी दिये परन्तु वे अपने माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले सत्य में किसी भी प्रकार का गतिरोध नहीं लाना चाहते थे।

उसी समय जूलियस सीजर पूर्व से विजयी होकर लौटा था। उसकी विजय ने काफी लोकप्रियता प्रदान की। इस लोकप्रियता का लाभ उठाकर वह रोमन साम्राज्य का निरंकुश सर्वेसर्वा बन जाना चाहता था। सिसरो ने सीजर के इरादों को भाँप लिया और रोमन राष्ट्र को सम्भावित खतरे से सावधान किया। सीजर के विरोध में कई भाषण दिये। फलस्वरूप उसे अपनी महत्वाकांक्षायें दबा देनी पड़ी।

अपना विरोध करते देखकर सीजर सिसरो का जानी दुश्मन बन गया। पहले तो उसने भी प्रलोभन दिखाकर अपनी ओर फुसलाने का प्रयत्न किया परन्तु प्रजातन्त्र के त्राता और रोमन राष्ट्र के उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित सिसरो अपने लोक की गरिमा को अच्छी प्रकार समझते थे और ऐसा कोई भी काम न करने के लिए कृतसंकल्प थे जिसके कारण उनके गौरव को आघात पहुँचे। किसी भी प्रकार बात न बनते देख सीजर ने उन्हें रास्ते से हटा देने की योजना बनायी। उसके एक मित्र और अधीनस्थ कर्मचारी मार्क अतोनी ने सिसरो की हत्या कर दी। वह जबान जो रोम को तीस वर्षों से सचेत करती आ रही थी अचानक बन्द हो गयी परन्तु मरी नहीं। बाद में जब इस षड्यन्त्र का भेद खुला तो सिसरो के समर्थकों ने जूलियस सीजर को रोमन सिनेट हॉल में ही मार डाला।

सहकारी समाज व्यवस्था के जनक—

रॉबर्ट आवेन

यूरोप की मध्ययुगीन आर्थिक क्रांति ने वहाँ की समाज व्यवस्था को बड़ा प्रभावित किया। मशीनीकरण और यांत्रिकीय संसाधनों से वहाँ के महत्वाकांक्षी और सम्पन्न लोग तुरन्त अमीर बनने की बात सोचने लगे। इसके लिए जो कुछ भी उचित-अनुचित दिखाई पड़ा उसे करने में कोई कोर कसर नहीं रखी। सम्पन्न लोगों की इस नयी नीति से कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा किये जिनके समाधान खोजना जरूरी हो गया। साम्यवाद, समाजवाद, समष्टिवाद और सर्वोदय जैसी विचारधारायें इन प्रश्नों के समाधानस्वरूप में ही जन्मीं। इन विचारधाराओं में एक तत्व सभी में समान रूप से पाया जाता है और वह है सहकारिता तथा सामंजस्य का

विचार । यह जानकर आश्चर्य होगा कि सहकारिता के विचार का जनक एक ऐसा व्यक्ति जो अपने समय का एक बड़ा धनाढ्य उद्योगपति और शासन सम्पन्न व्यक्ति रहा था उस व्यक्ति का नाम था रॉबर्ट आवेन ।

आवेन अपने समाज के विख्यात उद्योगपति होने के साथ-साथ नयी समाज व्यवस्था के स्वप्नदृष्टा, अर्थशास्त्री और विचारक भी थे । उनका जन्म १७७१ में हुआ । पिता देश के धनाढ्य व्यवसायी थे । पुत्र भी इसी व्यवसाय में लगा और २९ वर्ष की आयु में ही ब्रिटेन की न्यू लार्नार्क कॉटन मिल खरीद ली ।

इस कॉटन मिल के श्रमिकों की स्थिति बड़ी दयनीय थी । उन्हें बहुत कम वेतन पाकर गंदी बस्ती में अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करना पड़ता था । मजदूर निर्धनता, दुर्दशा, दरिद्रता के नागपाश में फँसे थे । जिन्हें देखकर रॉबर्ट आवेन का मानव हृदय रो उठा । उन्होंने मिल की प्रबन्ध व्यवस्था सम्हालते ही कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए । उचित पारिश्रमिक, चिकित्सा, निवास आदि के नियमों में सुधार करते हुए मजदूरों के बच्चों के लिए शिक्षा की भी व्यवस्था की । उनके इन निर्णयों से मिल के कई साझीदार विरोधी बन गये । आवेन के हाथ से सारे अधिकार छीनने के षड़यन्त्र भी रचे जाने लगे । परन्तु सूझबूझ और प्रगतिशील सहायकों के बल पर आवेन ने विरोधियों को उखाड़ फेंका । अपने अधिकार क्षेत्र में सुधार के बाद वे सामाजिक क्षेत्र में आये और देखा कि श्रम की दुरावस्था के लिए दो तत्व जिम्मेदार हैं । पहले तो वे विचारक जो श्रमिकों को पूँजी उत्पादन का एक जड़ साधन मात्र मानते थे । जबकि पूँजी स्वयं संचित श्रमिक के अतिरिक्त कुछ नहीं है । श्रम को उत्पादन के जड़ साधनों में से ही एक मानने वाले लोग श्रम का मूल्यांकन अन्य वस्तुओं की तरह माँग और पूर्ति के नियमानुसार करते थे, अर्थात् उपलब्ध मात्रा से श्रम की माँग कम है तो मूल्य घट जायेगा और अधिक है तो बढ़ जायेगा । इस सिद्धान्त में श्रम के मानवीय पक्ष की एकदम अवहेलना कर दी गयी ।

रॉबर्ट आवेन ने इस सिद्धान्त को अनुपयोगी और अनुचित ठहराया । शोषण का मूल कारण यही सिद्धान्त था इसलिए उन्होंने कहा कि उद्योग व्यवसाय का मूल उद्देश्य श्री समृद्धि है । जो मजदूरों का शोषण किये बिना भी प्राप्त की जा सकती है । उनके स्वयं के मिल में श्रमिकों की स्थिति सुधर जाने के बाद उत्पादन काफी बढ़ा था इसका कारण था कि सन्तुष्ट और सम्मानित स्थिति को प्राप्त कर लेने से मजदूरों का उत्साह स्वाभाविक ही बढ़ता है और वे दूने मनोयोग से काम करने लगते हैं । अपनी नीतियों का प्रायोगिक निष्कर्ष सामने रखकर उन्होंने उद्योगपतियों-श्रमिकों के प्रति न्यायपूर्ण रवैया अपनाने का आग्रह किया । परन्तु बात किसी को जैसी नहीं । आवेन ने अब दूसरा तरीका अपनाया । कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए उन्होंने

आन्दोलन छेड़ा जो कई दिनों तक चला । इस आन्दोलन में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और सन् १८१९ में एक फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ । जिसके अनुसार श्रमिकों की स्थिति में सुधार की व्यवस्था की गयी ।

उनके मत में मजदूरों की दुरावस्था के लिए जिम्मेदार दूसरा तत्व वह था जो यह मानता था कि दरिद्रता के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं । यदि वह कोशिश करता तो निश्चित ही अपने प्रयत्न, सूझबूझ और साहस के बल पर धनाढ्य बन सकता था । इस धारणा को बल देने वाला पहला वर्ग था 'धर्माचार्य' और पादरियों का । यह लोग अप्रयत्न रूप से शोषण और अनाचार को बढ़ावा देते थे । इसका कारण पूँजीपतियों से लाभान्वित होने का लोभ था । चर्च और पादरियों को काफी पैसा इस वर्ग से प्राप्त होता था और उन्हें बहाना भी अच्छा मिल गया था । धर्म और अध्यात्म का एक सामान्य सिद्धान्त है कर्मफल । इस सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्मपुरोहित यह प्रचार करते थे कि श्रमिक अपने पाप फल के कारण दीन-हीन हैं तथा पूँजीपतियों को उनके पुण्य फल से ईश्वर ने अन्य लोगों से लाभ उठाने का अधिकारी बनाया है । रॉबर्ट ने कर्मफल के सिद्धान्त की आड़ में चलाये जाने वाले शोषण के कुचक्र का कड़ा विरोध किया और धर्माचार्यों को सुझाया कि कोई भी धार्मिक मान्यता मानवता की उपेक्षा नहीं करती । लोग अपने कर्मों से गरीब बनते हैं यह ठीक है परन्तु कर्मफल के कारण दूसरों को उन्हें लूटने का क्या अधिकार ? परन्तु धर्माचार्यों ने उनका विरोध ही किया ।

आवेन भी धर्मचिन्तन को मानवीयता और विवेक से सम्बद्ध करने पर तुले हुए थे । इधर चर्च भी संगठित होकर उन्हें उखाड़ने पर तुले हुए थे । परन्तु इसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं हुआ । प्रबुद्ध और विचारशील लोगों ने उनकी बात को ध्यान से सुना और समर्थन किया । सामाजिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में उनकी मान्यता थी कि मजदूरों को काम प्राप्त करने का अधिकार है और वे पूँजीपतियों के समान ही उद्योग कारखानों के प्रबन्ध में भाग लेने के भी अधिकारी हैं । वे पूँजीपतियों को उस सीमा तक रखना चाहते थे जिससे आगे बढ़ने पर श्रमिक हितों को खतरा न हो । उनका मन्तव्य वर्ग संघर्ष और पूँजीपतियों को समाप्त करना नहीं था । वे समन्वयवादी थे । पूँजीवादी और साम्यवाद के प्रमुख तत्त्वों का समन्वय कर उन्होंने सहकारी समाजवाद को जन्म दिया । वे इस विचारधारा के पिता माने जाते हैं । उन्होंने स्पर्धा और दौड़ के स्थान पर सहकारिता और सामंजस्य की अर्थ प्रणाली का प्रतिपादन किया ।

उनका विश्वास था कि पूँजीपतियों के अन्तःकरण को जगाया जाये तो उनके मन में अधिक न्याय की भावना उत्पन्न हो सकती है और वे श्रमिकों को उद्योगों में बराबर का साझीदार बनाने के लिए तैयार हो जायेंगे । किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यता टूट गयी । पूँजीपतियों के हृदय

परिवर्तन की आशा टूट गयी। ब्रिटेन के कई उद्योगपतियों के सामने उन्होंने अपने विचार रखे। उन विचारों का समर्थन करना तो दूर रहा लोगों ने आवेन की भर्त्सना आरम्भ कर दी। उनकी आशा निराधार सिद्ध हुई। परन्तु फिर भी वे हताश नहीं हुए। किन्हीं भी परिस्थितियों में निराश नहीं होने वाले नर-केहरि तो विश्व और समाज के सामने अनुकरणीय आदर्श स्थापित कर जाते हैं। उसके प्रकाश में मानवता कई पीढ़ियों तक सुख-शान्ति के आलोकित पथ पर बढ़ती रहती है।

१८१७ में यूरोप के दौरे पर निकले। कई स्थानों पर उन्होंने अपना नया विचार रखना आरम्भ किया। आरम्भ में तो लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते परन्तु उनकी योजना के सम्बन्ध में अच्छी तरह समझते ही लोग तुरन्त उनकी ओर खिंचते चले जाते। १८२१ में उन्होंने एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें मूल्य के उस श्रम-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे मार्क्स ने भी अपनी विचारधारा का मुख्य आधार बनाया।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन का अधिकांश भाग श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दी जानी चाहिए। श्रमिकों की आर्थिक स्थिति अच्छी होगी तो वस्तुओं की खपत बढ़ेगी, इससे उत्पादन में आशातीत वृद्धि होगी। जिससे नये उद्योग खुलेंगे, रोजगार की सम्भावना बढ़ेगी और समाज के अधिकांश लोग सुखी और सम्पन्न होंगे। जब ज्यादा लोगों ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए अब ऐसे प्रयास चलाने का विचार किया जिसके अनुसार मजदूर स्वयं ही अपनी समस्याएँ सुलझा सकें और वे १८२४ में अमेरिका आ गये। वहाँ उन्होंने इंडियाना के न्यू हार्मनी गाँव में एक प्रयोग करना आरम्भ किया। सहकारी जीवन का एक ऐसा प्रयोग जिससे सारे संसार का मार्गदर्शन किया जा सके। न्यू हार्मनी के निवासियों को शीघ्र ही बहका दिया गया और रॉबर्ट आवेन अमेरिका छोड़कर ब्रिटेन आ गये। न्यू हार्मनी का प्रयोग अधूरा ही रह गया।

रॉबर्ट आवेन के विदेश प्रवास के समय ब्रिटेन के कई विचारकों ने उनके दर्शन का अध्ययन किया और उस आधार पर शोषण का विरोध किया। श्रमिकों ने ट्रेड यूनियन बनाये परन्तु सरकार ने इन संगठनों पर पाबन्दी लगा दी। मिल मालिकों ने यूनियन के सदस्य श्रमिकों को कारखानों से निकालने का सिलसिला शुरू किया। फलस्वरूप मजदूर आन्दोलन करने लगे और कारखानों में तालेबंदियाँ चलने लगीं। अब ट्रेड यूनियन आन्दोलन ने नया रूप ग्रहण किया।

आवेन के समर्थक विलियम टाम्सन ने श्रमिकों को सुझाया कि वे सहकारी समितियाँ बनाकर स्वतन्त्र उत्पादन करना आरम्भ कर दें। टाम्सन की मान्यता थी कि आवेन के प्रतिपादित सहकारिता सिद्धान्त पर अमल करने से एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जबकि समूची आर्थिक सत्ता पर पूँजीपतियों का एकाधिकार समाप्त हो जायगा। तभी रॉबर्ट

आवेन भी ब्रिटेन लौटे। श्रमिक संगठन उन्हें अपना नेता मार्गदर्शक चुनना चाहते थे उन्हें लगा कि अब स्थिति कुछ अनुकूल है और इसमें उनके स्वप्न साकार होने की सम्भावनाएँ अधिक प्रबल हैं। नये श्रम सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिये उन्होंने श्रमिक बैंक की स्थापना लन्दन में की। आगे चलकर जिसकी कई शाखाएँ खुलीं।

इधर सहकारी समितियों का व्यवसाय भी बढ़ने लगा। अनेक सहकारी स्टोर और उद्योग धंधे खुलने लगे, जहाँ श्रमिकों को उचित और सस्ते दामों पर चीजें मिलने लगीं। वे समितियाँ बड़ी जल्दी लोकप्रिय हुईं। सहकारिता के सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए अनेकों पत्रिकाएँ भी निकाली जाने लगीं।

तभी आवेन के मार्गदर्शन में सन् १८३४ में ग्राण्ड कन्सालिडेटेड यूनियन बनी जो श्रमिकों का एक मुख्य संगठन था। परन्तु आगे चलकर इसी संस्था के प्रमुख सहयोगियों की नीति से आवेन को बड़ी ठेस पहुँची। आवेन सहमति और समझौते के आधार पर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो पूर्णतः नैतिक हो और उसमें पूँजीपति तथा श्रमिक दोनों ही तत्व अपनी योग्यताओं का लाभ समाज को पहुँचा सकें। इसके विपरीत आवेन के कुछ सहयोगी श्रम संगठन की सामूहिक शक्ति का प्रयोग करके पूँजीपतियों को मिटाने के पक्ष में थे। आवेन ने इन विषम परिस्थितियों में भी अपने आदर्श को साकार करने का प्रयास जारी रखा। १८३९ में उन्होंने ब्रिटेन के हैम्पायर में हार्मनी हाल की स्थापना की। यह उनकी कल्पना के सहकारी ग्राम का प्रयोग था।

१८४६ में रोशडेल पायोनियर्स सोसायटी की स्थापना हुई। सहकारी आन्दोलन की विचारधारा का विकास इसी संस्थान से हुआ। इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद आवेन ने शोषण और अनाचार के विरुद्ध पूँजीवाद के विरुद्ध सामाजिक जीवन की महानता को स्वीकार किया इसी कारण उन्हें समाजवादी जीवन दर्शन का आदि पिता माना जाता है। वे राज्य और शक्ति बल के नहीं मनुष्य की स्वाभाविक सज्जनता के प्रति आस्थावान बने रहकर एक नैतिक क्रान्ति लाना चाहते थे। यदि उन्हें गाँधीवादी चिन्तन धारा का आदि स्रोत भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

सन् १८५७ में आवेन का देहान्त हो गया किन्तु आगे चलकर कई समानतावादी आन्दोलनों का पोषण संसार के कई देश सहकारिता का सिद्धान्त अपनाकर आज उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यद्यपि वे एक सम्पन्न उद्योगपति थे चाहते तो प्रचलित पद्धति को ही जारी रख कर अच्छा सुखी जीवन बिता सकते थे। परन्तु उनके हृदय की जाग्रत मानवता को यह सब स्वीकार नहीं हुआ और वे कठिन संघर्षों को झेलकर विश्व को एक ऐसा विकल्प दे गये जिसमें अधिकाधिक लोगों के हित की व्यवस्था थी।

हंसमुख रूजवेल्ट

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति श्री फ्रेंकलिन रूजवेल्ट किसी समय पक्षाघात रोग से पीड़ित थे। यदि भारत में कोई व्यक्ति पक्षाघात रोग से पीड़ित होता तो समझ लेता कि मृत्यु का पूर्वाभास आरम्भ हो गया है। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट दूसरे ही मसाले से बने हैं। उन्होंने खूब मन लगा कर व्यायाम किया और भोजन आदि के सम्बन्ध में सतर्कता से काम लिया। अब उनका स्वास्थ्य-पक्षाघात के दौरे के पहले से भी अच्छा है।

अब से बीस वर्ष पहिले की बात है। बालकों में पक्षाघात का रोग बुरी तरह फैल निकला। कहीं-कहीं उसने वयस्क स्त्री-पुरुषों पर भी हाथ साफ किया। इन्हीं में एक रूजवेल्ट थे। कई दिनों तक वह जीवन और मृत्यु के बीच में लटकते रहे। इसके बाद यकायक उन का रोग शान्त हुआ पर अब वह बिल्कुल ही दूसरे मनुष्य हो गये थे न हाथ हिला सकते थे न पैर। उनके मित्रों ने समझ लिया कि बस अब बाकी उम्र पहियादार कुर्सी पर काटेंगे।

यदि उनके मित्रों का ऐसा विचार था तो राष्ट्रपति रूजवेल्ट उनसे सहमत न थे। वह जार्जिया गये और वहाँ गर्म सोतो में स्नान किया। धीरे-धीरे उनके हाथ-पौंव खुलने लगे। उन्होंने हाथ-पौंव निकम्मे होने पर भी पानी में तैरने की एक ऐसी नई विधि निकाली जिसके द्वारा वह केवल छाती की सहायता से तैर सकते थे। अब बाहर निकलने पर वह अपनी सारी शारीरिक और मानसिक शक्ति अपने हाथों पर अधिकार रखने में लगा देते। धीरे-धीरे उनके पौंव हिलने लगे।

इस तरह स्वास्थ्य की कान्ति उन के शरीर से फूट पड़ती है। उनकी बाँहें किसी पहलवान की बाँह की भाँति स्वस्थ हैं। हाँ, उनकी टाँग अभी तक प्रायः निकम्मी है। काम करते समय यह अपनी टाँगों को लोहे के फीतों से जकड़े रहते हैं। उनमें कार्यकारिणी शक्ति की इतनी प्रचुरता है कि वह सुबह के चार बजे से रात के बारह बजे तक लगातार काम करते रहते हैं।

उनका कलेवा बड़ा सादा है। संतरे का रस और एक गिलास दूध। पर सप्ताह में वह चार बार रोटी और मक्खन भी खाते हैं। उनका दोपहर का भोजन उनकी काम करने की मेज पर ही लगा दिया जाता है। उन्हें इतनी फुरसत नहीं कि अपने परिवार के साथ भोजन कर सकें। पर जब वह परिवार के साथ भोजन करते हैं तो एक दो नहीं बीसों आदमी आमन्त्रित होते हैं। वे सब स्वादिष्ट पदार्थों पर हाथ साफ करते हैं। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट हलके भोजन से ही अपना सन्तोष कर लेते हैं। वह कभी कुछ और कभी कुछ उठाते जाते हैं और उस समय उपस्थिति डॉक्टरों को उनकी विवेचन बुद्धि की सराहना करनी पड़ती है।

पर यदि यह कहा जाय कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट के स्वास्थ्य में कायापलट व्यायाम या भोजन ने किया, तो भूल होगी उनके कायाकल्प का रहस्य है उनका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण। वह बड़े ही आशावादी हैं और हमेशा हँसते रहते हैं। उनकी मुस्कराहट अब इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि वह संसार भर में 'मुस्कराने वाले राष्ट्रपति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र के प्रधान शासन पद पर काम करते हुये भी उनका स्वास्थ्य बना हुआ है। यह पद इतना उत्तरदायित्व पूर्ण है कि हार्डिज और विलसन अपनी अवधि समाप्त होने के बाद अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। एक रूजवेल्ट हैं जिनके बारे में एक चिकित्सक ने कहा है कि वह छः वर्ष तक राष्ट्रपति के पद पर काम करने के बाद अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं।

दिन भर में कम-से-कम तीस बार भेंट मुलाकात करनी पड़ती है। इन सारे अवसरों पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट मुलाकातियों के साथ बात करते हैं और बीच-बीच में खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। वह किसी का उपहास करते हों, सो बात नहीं है। वास्तव में वह संसार को क्रीड़ा स्थल समझते हैं और उन्होंने निश्चय कर लिया है कि जहाँ तक उनसे सम्भव होगा, वह चिन्ता और उदासी को पास न फटकने देंगे। वैसे राज्य की चिन्ता ने उनके चेहरे पर झुर्रियाँ डाल दी हैं, पर उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वह चिन्ताओं से दिन-रात कभी न समाप्त होने वाला संघर्ष करते रहते हैं।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट संध्या के ६-३० बजे अपने लिये खासतौर से तैयार किये गये तालाब में जाते हैं। तालाब में कूदने से पहले एक सादा-सा बनियान पहन लेते हैं। इसके बाद खूब तैरते हैं। साथ ही उनकी धर्मपत्नी भी रहती हैं। इसके बाद यह निकल कर वाष्प स्नान करते हैं और फिर शरीर पर मालिश करवाते हैं। कभी-कभी वह केवल वाष्प स्नान और मालिश ही काफी समझते हैं।

जब उन्होंने पहली बार राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया था तो उनकी आयु ५१ वर्ष की थी। उनके चेहरे पर गम्भीरता की एक हलकी मुद्रा तथा प्रसन्नता सदैव उनके व्यक्तित्व की ऊँचाई का दिग्दर्शन कराती रहती थी। उनका निजी सचिव पत्र टाइप करने में कितनी भी सावधानी क्यों न बरते, राष्ट्रपति हस्ताक्षर करते समय कुछ संशोधन अवश्य कर देते या कुछ शब्द जोड़ देते थे। एक बार उसने एक पत्र दोबारा टाइप कर दिया और उसमें वह वाक्य भी बढ़ा दिया, जो राष्ट्रपति ने अपने हाथ से लिखा था।

हस्ताक्षर के लिए पत्र जब राष्ट्रपति के पास भेजा गया तो उन्होंने सचिव को बुलाकर समझाया। "मेरे मित्र मैं प्रत्येक पत्र में कुछ शब्द अपने हाथ से इसीलिए लिखा करता हूँ ताकि पत्र सौहार्दपूर्ण बन जाये।"

जो सच्चे अर्थों में राष्ट्रपति बने— रेस्ट्रेपो लिरास

लेटिन कोलम्बिया के इतिहास में केरलस लिरास रेस्ट्रेपो राष्ट्र उद्धारक की तरह अवतरित होने वाले लौह पुरुष हैं। १९०८ में विश्वविख्यात जीवशास्त्री केरलास लिरास के घर जन्मे अपने छह भाइयों में सबसे छोटे रेस्ट्रेपो उसकी दीवार फाँदकर अपने सब भाइयों से आगे निकल गये। १९६७ में वे लेटिन कोलम्बिया के राष्ट्रपति चुने गये।

जून, १९६७ के वे दिन बड़े ही विषम हो चले थे। एक दिन बोगोटा की नेशनल यूनिवर्सिटी के विद्रोही छात्रों ने छात्र-आन्दोलन के नाम पर समाज व नीति-विरोधी प्रवृत्ति अपना ली। उन्होंने कई बसों व कारों में आग लगा दी और कई पर पथराव किया। जिन वाहन चालकों ने उनकी अनुचित माँगों को पूरा न किया, उनसे अभद्र व्यवहार किया तथा बुरी तरह मारपीट की। इन वाहनों में दो बम वर्षक गाड़ियाँ भी थीं। उन पर जब पथराव किया गया तो उनसे भयंकर विस्फोट हुआ। इस विस्फोट को सुनकर यूनिवर्सिटी के अधिकांश छात्र घटनास्थल पर एकत्रित हो गये तथा लोगों को डराने-धमकाने लगे। वे कह रहे थे—“अब विद्यार्थी विद्रोह को कोई रोक नहीं सकता, यह सारे देश में फैलकर रहेगा।”

विद्यार्थियों की उन उच्छृंखल हरकतों का आधार लेटिन कोलम्बिया की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ थीं। इन परिस्थितियों से परित्राण पाने की जो राह इन विद्यार्थियों ने अपनायी थी, वह नितांत अनुचित थी।

रेस्ट्रेपो अभी नये-नये राष्ट्रपति निर्वाचित हुए ही थे। वे कोलम्बिया को इन परिस्थितियों से मुक्त करने के ताने-बाने बुन ही रहे थे कि यह नेशनल यूनिवर्सिटी काण्ड सामने आ उपस्थित हुआ। छात्रों की इस उच्छृंखलता की राष्ट्रव्यापी प्रतिक्रिया हुई। यह प्रवृत्ति विद्यार्थी वर्ग के लिये भी घातक थी।

श्री रेस्ट्रेपो ने एक सप्ताह तक तो छात्रों से शान्तिपूर्ण तरीके से बातचीत की ताकि वे उन्हें समस्याओं से निपटने दें। विद्रोह करके स्थिति को और जटिल न बनायें। किन्तु विद्यार्थियों ने उनके इस आग्रह पर ध्यान ही नहीं दिया। वे यह समझते थे कि विश्वविद्यालय कानून, पुलिस तथा राजनीतिक बन्दिशों से मुक्त थे। अतः उनका विद्रोह बढ़ता ही गया।

राष्ट्रपति रेस्ट्रेपो लिरास कोई कठोर कदम उठाना नहीं चाहते थे किन्तु विवशता थी। वे लेटिन कोलम्बिया की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को मिटाने के लिये कृत संकल्प थे। समय की नाजुक हालत को देखते हुए वे

विश्वविद्यालयों के अधिकारों का अतिक्रमण करने में हिचकिचाये भी नहीं।

उन्होंने आठवें दिन शिक्षामन्त्री तथा मुख्य सेनाध्यक्ष को बुलाकर यह आदेश दिया कि एक घण्टे के भीतर यूनिवर्सिटी केम्पस को पुलिस की शस्त्रवाही गाड़ियों तथा हल्के टैंकों से घेर लिया जाय। रेडियो, टेलीविजन तथा अन्य प्रचार साधनों के माध्यम से छात्रों तक यह सूचना पहुँचा दी जाय कि किसी भी प्रकार की कानून विरोधी हरकत करने पर किसी भी विद्यार्थी को बन्दी बनाया जा सकता है। यदि सामूहिक रूप से ऐसे कानून विरोध क्रिया-कलाप चलते रहे, तो सरकार को विवश होकर विश्वविद्यालय तथा छात्रावास जबरदस्ती खाली कराने पड़ेंगे।

अपने देशवासियों की समृद्धि और पुनरुत्थान के लिये श्री रेस्ट्रेपो ने यह बहुत बड़ी राजनीतिक जोखिम उठाना ही उचित समझा। एक नये-नये राजनीतिक के लिये यह बहुत साहस का काम था। इसकी प्रतिक्रिया उलटी भी हो सकती थी, उन्हें अपने राष्ट्रपति पद से हाथ भी धोना पड़ सकता था। किन्तु उनके लिये राष्ट्रपति पद एक साधन नहीं था। अतः वे हिचकिचाये नहीं।

बढ़ते घण को ठीक करने के लिये की गयी शल्य-चिकित्सा का परिणाम शुभ ही होता है। छात्रों के विद्रोह को रोकने के लिये राष्ट्रपति का यह कदम वैसा ही शुभ सिद्ध हुआ। एक महीने में ही छात्र-विद्रोह पूरी तरह शांत हो गया। उच्छृंखल छात्रों को सही रास्ते पर आना पड़ा। विद्रोह की रीढ़ टूट गयी और सभी कॉलेज नियमित रूप से चलने लगे।

रेस्ट्रेपो जानते थे कि इस प्रकार के उपद्रवों में थोड़े से उच्छृंखल छात्रों का हाथ होता है, वे अपनी दादागिरी के बल पर अन्य छात्रों को गुमराह करके अपने पीछे चलाने में सफल होते हैं। ऐसे उच्छृंखल छात्रों के काबू में आते ही सब कुछ सामान्य हो गया। रेस्ट्रेपो लिरास के इस कदम को तानाशाही नहीं कहा जा सकता, यह एक अप्रिय कर्तव्य था जो उन्हें निभाना पड़ा था।

वंश परम्परा से मिली अपनी मेधा को उन्होंने समुचित विकास दिया था। बोगोटा हाईस्कूल के मेधावी छात्र तथा बॉक्सिंग चैम्पियन के रूप में उभरते हुए, उन्होंने अपने सहपाठियों का नेतृत्व करना सीखा। नेशनल यूनिवर्सिटी में वे छात्र नेता के रूप में उभरकर सामने आये। अपने छात्र जीवन के अनुभवों के आधार पर उन्हें राष्ट्रपति के रूप में छात्र विद्रोह को शान्त करने में सफलता पायी थी। नेशनल यूनिवर्सिटी से ही उन्होंने एम० ए० तथा कानून की परीक्षाएँ अच्छे अंकों से उत्तीर्ण कीं और अपने चहेते क्षेत्र राजनीति में उतर आये।

राजनीति की धूप-छाँव ने इस नवोदित राजनीतिज्ञ की अगवानी की। १९५२ के हिंसक-विद्रोह के समय दंगाइयों की भीड़ ने उनके घर को उजाड़ दिया और उसमें आग लगा दी। उन्हें अपने परिवार सहित १९५४ में निर्वासन का

दण्ड भी सहना पड़ा। सामूहिक क्षमा मिलने पर ही वे अपने देश लौट सके थे।

अपने राजनीतिक जीवन के थोड़े ही समय में अपनी सूझबूझ, ज्ञान तथा देशवासियों के सच्चे समर्थन व प्यार के कारण वे कंजरवेटिव पार्टी के चोटी के नेता बन गये। उन्होंने कोलम्बिया के उत्साही तथा सुशिक्षित युवकों का एक संगठन बनाया जिसका उद्देश्य कोलम्बिया में प्रजातन्त्र की स्थापना व उसकी समृद्धि थी।

कई उतार-चढ़ाव देखने के बाद वे १९६७ में कोलम्बिया के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। इस पद के लिये उन्हें शिक्षित जनसमुदाय का समर्थन प्राप्त था। उन्हें आशा थी कि वे ही समस्याओं के अम्बार में दबे उनके देश का उद्धार कर सकते हैं।

रेस्ट्रेपो ने उनकी इस आशा को फलवती बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उनके नेतृत्व में कोलम्बिया ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। यह प्रगति उनकी राजनीतिक कुशलता, परिश्रमशीलता व लोकप्रियता के कारण सम्भव हुई।

दिन भर के चौबीस में से रेस्ट्रेपो बीस घण्टे अपने देश को समर्पित करते हैं। प्रातःकाल ५ बजे से शैया त्याग से लेकर अर्धरात्रि तक उनका व्यस्त कार्यक्रम चलता ही रहता है। पहले वे सिगरेट-पीते थे पर राष्ट्रपति बनने पर उन्होंने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया। मदिरापान तो वे कभी करते ही नहीं। पाश्चात्य देशों में इसे बुरा नहीं माना जाता वरन् इसे सामाजिक आचार व्यवहार का एक अनिवार्य अंग माना जाता है पर रेस्ट्रेपो के विवेक ने इस प्रचलित तथ्य को कभी स्वीकार नहीं किया। कोई आग्रह करता भी तो वे बड़ी चतुरता से टाल देते थे कहा करते मुझे कभी इस ओर सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती।

राष्ट्रपति पद पर आसीन होते ही उन्होंने राष्ट्रीय समस्याओं से जुझना आरम्भ कर दिया। वे नाम के राष्ट्रपति नहीं बने वरन् राष्ट्र के एक जिम्मेदार व्यक्तित्व की तरह उन्होंने अपना दायित्व निभाया।

कोलम्बिया में उन दिनों मुद्रास्फीत इतनी बढ़ गयी थी कि हर वस्तु के भाव आसमान छू रहे थे। देशवासियों को भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाने के मार्ग में यह सबसे बड़ी बाधा थी। देश पर काफी विदेशी ऋण चढ़ा हुआ था। लेटिन कोलम्बिया की अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार कॉफी का निर्यात था, जिसके दाम काफी घट चुके थे। जनसंख्या की वृद्धि भी साढ़े तीन प्रतिशत थी। यही नहीं अन्य कई आर्थिक समस्याएँ उन्हें चुनौती दे रही थीं।

इन समस्याओं से निपटना तथा देश की दशा सुधारना एक उजड़ते घर को आबाद करने जैसा कठिन काम था। इस कठिन कार्य को करके दिखाने के लिये ही रेस्ट्रेपो का जन्म हुआ था। इस ठिगने से व्यक्ति ने असम्भव को सम्भव बनाया। कोलम्बियावासी अपने इस जननेता को प्यार व श्रद्धा से 'कोलम्बिया का सबसे ठिगना आदमी' कहते हैं।

अपनी असाधारण शक्ति व कर्मठता के एक-एक क्षण का उपयोग उन्होंने राष्ट्र के हित में दिया। उनका मस्तिष्क देश-विदेश की जानकारीयों का एक जटिल कम्प्यूटर कहा जा सकता है। यह उनकी स्वाध्यायशीलता का ही परिणाम है। अपने ज्ञान व अनुभव पर आधारित जो भी बात वे अपने देशवासियों के सामने रखते, वह इतनी प्रभावपूर्ण तथा विश्वस्त होती कि हर कोई उसका पालन करने लगता। उनका आग्रह जनता के मन मस्तिष्क में जमकर बैठ जाता। जन-सहयोग और अपने नेतृत्व कौशल के बल पर उन्होंने कोलम्बिया की जनता के अनेकानेक प्रश्नों को सुलझाया है।

राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी रेस्ट्रेपो के निर्णय बड़े जोखिम भरे और चौंका देने वाले होते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने कोलम्बिया की मुद्रा 'पैसे' के अवमूल्यन का प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का उत्तर उन्होंने नकारात्मक दिया। इतने बड़े मुद्राकोष की प्रतिष्ठा को इस प्रकार नकारने का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हाथ धो बैठना था किन्तु कोलम्बिया के जनसामान्य के हित को ध्यान में रखते हुये यह जोखिम भी उठाया और उनका यह जोखिम उठाना हितकारी ही सिद्ध हुआ।

जनता पर लगने वाले नवीन टैक्सों का भार उन्होंने नहीं लादा वरन् पुराने टैक्सों में भी कमी कर दी। जीवनदायी वस्तुओं यथा भोजन, मकान आदि का मूल्य निर्धारित कर दिया और उसका कड़ाई से पालन किया गया।

अब तक लेटिन कोलम्बिया की जो अर्थ व्यवस्था काफी उत्पादन पर टिकी हुई थी। रेस्ट्रेपो लिरास ने उस पर भार कम करके सूती वस्त्र, रुई, लकड़ी, शक्कर आदि वस्तुओं का निर्यात आरम्भ कराया।

भूमि के प्रबन्ध विषयक सुधार करके रेस्ट्रेपो ने यह प्रयास किया कि राष्ट्र की भूमि का अधिकाधिक उपयोग सम्भव हो सके। भूमि व्यर्थ न पड़ी रहे। दस वर्ष से अधिक परती रहने पर भूमि के स्वामित्व की समाप्ति का नियम बनाकर तथा अतिरिक्त भूमि विक्रय करने के नियम बनाकर उन्होंने भूमि के असमान वितरण को मिटाने का प्रयास किया, जिससे स्थिति में सुधार हुआ।

दो करोड़ की जनसंख्या वाले कोलम्बिया में स्वास्थ्य शिक्षा तथा समाज कल्याण की सुविधाओं का प्रसार भी आवश्यक था। राष्ट्र स्तर पर इन्हें बढ़ाने का व्यापक प्रयास भी रेस्ट्रेपो ने अपने समय में आरम्भ किया।

उनके राष्ट्रपति बनने के पहले लिबरल तथा कंजरवेटिव पार्टियों में हिंसात्मक संघर्ष हुआ करते थे। १९४८ में हुए बोगटा संघर्ष में तो मृतकों की संख्या दो लाख तक पहुँच चुकी थी। इस संघर्ष को समाप्त करने तथा देश को स्वस्थ राजनैतिक संगठन देने का प्रयास भी उन्होंने किया।

दोनों दलों में सद्भाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अपने दल की ओर से पहल की। संविधान में कतिपय ऐसे

नियम बनाये जिससे दोनों दलों के मध्य स्वस्थ राजनैतिक स्पर्धा तो रहे पर वह हिंसा का सहारा न हो सके। उन्होंने अपनी उदार नीति के कारण दोनों दलों का विश्वास जीता तथा सामान्य बहुमत के आधार पर भी नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त किया।

समस्याएँ तो प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख आती ही रहती हैं। पर उनका सटीक समाधान खोजना तथा उसे हल करना प्रत्येक राजनीतिज्ञ के बलबूते का नहीं होता। कई तो अपने पद की चिन्ता में ही लगे रहते हैं। कई जोखिम उठा नहीं सकते। पद का मोह छोड़कर राष्ट्र की अहर्निश सेवा का व्रत निभाने और समस्याओं की जड़ तक पहुँचकर उन्हें ढंग से सुलझाने वाले गिने-चुने राजनेताओं में रेस्ट्रेपो लिरास की गणना की जाती है। ऐसे लोगों के लिये राजनीति व्यक्तिगत हित साधना या निजी महत्वाकांक्षा की पूर्ति का साधन नहीं बल्कि समाज व देश की सेवा का माध्यम होती है। ऐसे राजनेता जिस राष्ट्र को मिलते हैं वह राष्ट्र अपनी जटिल से जटिल समस्याएँ सुलझाता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकता है।

रेस्ट्रेपो लिरास को अपने देशवासियों पर विश्वास था कि ये देश के हित में जो कदम उठाएँगे, जनता उसका समर्थन करेगी। जनता को भी विश्वास था कि वे जो भी काम करेंगे, उनके हित में ही होगा। ये विश्वास के धागे यों ही टूट नहीं हुए हैं।

रेडियो पर या टेलीविजन पर या अपने भाषण आदि कार्यक्रमों के माध्यम से वे जनता के कानों तक प्रतिदिन पहुँचाते रहते थे उनकी बातों को सुनते-समझते। उन्होंने जनता व राष्ट्रपति के बीच की दूरी को पाटकर स्वयं को कोलम्बियावासी प्रत्येक परिवार का एक सदस्य-‘अपना ही आदमी’ बनाया, वे कहीं भी यात्रा करते हैं, किसी भी गाँव में जाते हैं तो उनके साथ कोई अंगरक्षक नहीं होता। वे कहा करते-“जनता के प्रतिनिधि को जनता के बीच पुलिस और अंगरक्षकों को साथ ले जाने की आवश्यकता ही क्या है?”

रेस्ट्रेपो लिरास के इस अकृत्रिम व्यवहार ने कोलम्बियावासियों के दिलों को जीता। प्रत्येक कोलम्बियावासी के हृदय में वे यह बात भर देना चाहते कि तुम तब तक उत्तम शासन नहीं पा सकते जब तक कि तुम उसके लिये प्रयास नहीं करते। जन-जन में वह चेतना जगाने का काम उन्होंने बखूबी किया। यही उनकी सफलता का रहस्य भी था।

उनका यह निर्भीक व्यवहार राजनेताओं के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है कि उन्हें जनता का विश्वास पाने के लिये किस निष्ठा से, किस ईमानदारी से काम करना चाहिए। देश-सेवा और स्वार्थ साधन दोनों एक साथ नहीं सध सकते। रेस्ट्रेपो जैसे ही राजनेताओं ने राजनीति को गरिमा प्रदान की है।

विगत वर्षों में लेटिन कोलम्बिया ने जो प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री रेस्ट्रेपो को है। उनका जीवन

इस तथ्य की साक्षी देता है कि राजनीति भी सेवा का बहुत बड़ा माध्यम सिद्ध हो सकती है यदि उसे उसी भावना के साथ स्वीकार किया जाय।

जिनकी साधना शहादत से सफल हुई-

डॉ० लिबिंग्स्टन

डॉ० लिबिंग्स्टन एक रात अपने तम्बू में सो रहे थे। दिन भर और रात देर तक परिश्रम करते रहने के कारण बिस्तर पर लेटते ही वे प्रगाढ़ निद्रा में पहुँचे गये। न कोई स्वप्न और न कोई कल्पना-गहरी नींद। अचानक एकदम वे चौंक कर बिस्तर से उठ बैठे। इस तरह एकदम नींद टूट जाने का कारण था एक चीख जो उन्होंने अभी-अभी सुनी थी। थोड़ी देर तक उन्होंने वस्तुस्थिति को समझने का प्रयास किया। दिन भर मरीजों की चीख-पुकार सुनते गुजरता है और एक से एक करुण चीत्कार उनके कानों में उतरती है। शायद उन्हीं चीखों में से किसी की स्मृति रह गयी होगी। यह सोचकर वे पुनः लेटने लगे।

तभी पुनः चीख सुनाई दी। इस बार उन्हें अपनी जाग्रत स्थिति पर पूरा विश्वास था। पहले तो समझा था कि किसी स्वप्न के कारण मेरी नींद टूट गयी होगी, परन्तु दुबारा पूर्ण जागती हुई स्थिति में जब पुनः चीख सुनाई दी तो उन्हें अपना विचार गलत लगने लगा। फिर उस चीख के बाद तो लगातार चीखें सुनाई देने लगीं। डॉक्टर अब स्पष्ट सुन रहे थे और समझ भी रहे थे कि ये किसी नारी कण्ठ की चीखें हैं। लगता था कोई असहाय दुस्थिति में फँसी हुई स्त्री अपनी आत्मरक्षा के लिए पुकार रही थी। ऐसी स्थिति में डॉक्टर को सोना तो दूर वहाँ रुकना भी मुश्किल था और वे उसी अवस्था में अपने मकान से बाहर आ गये।

घटना दक्षिण अफ्रीका के एक ऐसे स्थान की है जहाँ के निवासी आधुनिक सभ्यता से हजारों साल पिछड़े हुए थे। इन आदिवासियों को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए डॉ० लिबिंग्स्टन को कैथोलिक चर्च मिशन की ओर से ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा गया था। सेवा के मंत्र से वे इसी उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुए थे कि अधिक से अधिक लोगों को ईसा का अनुयायी बनाया जाये। अभी-अभी उन्होंने जो चीख सुनी थी यद्यपि उसका उनके कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं था, परन्तु उनके शरीर कलेवर में स्थिति मानवीय अंतःकरण से तो इसका गहरा सम्बन्ध था और उसी अंतःकरण की पुकार पर वे स्त्री को बचाने के लिए चल दिये। बाहर आकर उन्होंने उस दिशा में कदम बढ़ाये जिधर से कि वे चीखें आ रही थीं।

थोड़ी दूर चलने पर उन्होंने कुछ आदिवासी कबीले वालों को देखा जो एक पन्द्रह सोलह वर्ष की लड़की के आस-पास खड़े हुए थे और उसे एक वृद्ध सा व्यक्ति बड़ी बुरी तरह पीट रहा था। डॉक्टर के वहाँ पहुँचते ही कबीले वाले उनके सम्मान में झुक गये।

उन्होंने पूछा-क्या बात है ? क्यों इस तरह लड़की को पीट रहे हो ? "

कबीले वालों ने तो कोई जवाब नहीं दिया । डॉक्टर की आवाज सुनते ही लड़की उनके पाँवों से लिपटी और बोली-‘फादर मेरे कुनवे वालों ने मुझे गाँव के मुखिया के हाथों बेच दिया है । जबकि ये उम्र में मेरे पिता समान हैं । आप ही सोचिये डॉक्टर मैं ऐसे व्यक्ति की घरवाली कैसे बन सकती हूँ जिनकी अपनी जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है ।

‘अच्छा-अच्छा ठीक है तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें अपने पास बेटी बनाकर रखूँगा और किसी योग्य लड़के से तुम्हारी शादी करवा दूँगा’- डॉक्टर ने कहा और पाँवों में पड़ी हुई लड़की को बाँह पकड़ कर उठाया । वहाँ से पीठ करने के साथ ही उन्होंने उपस्थित कबीले वालों की ओर देखा । जो सिर अभी तक सम्मान से झुके हुए थे वे तन गये और आदिवासियों ने अपने शस्त्र सम्हाल लिए थे । उनकी आँखों से आग बरस रही थी और हाथ मुखिया के आदेश का इन्तजार कर रहे थे ।

डॉक्टर ने उन लोगों के इरादों को भाँपा और मुखिया से पूछा-“क्या बात है भाई आप लोग नाराज हैं क्या ? ” “होगे नहीं, इस लड़की के लिए नकद पाँच सौ सिक्के दिये हैं ”-मुखिया गुराया ।

‘तो ठीक है तुम पाँच सौ सिक्के मुझ से ले लेना ।’ डॉक्टर लिंबिगस्टन ने उसी रात मुखिया को पाँच सौ सिक्के दे दिये । लड़की उनके प्रति कृतज्ञता से भर उठी, और अपनी चिन्तायें समाप्त हुई जानकर चैन की नींद सोने लगी । परन्तु डॉक्टर की आँखों से नींद खो गयी । वे सारी रात सो न सके ।

इस घटना ने उनके जीवन में एक नया आयाम दिया । वे सोचने लगे-कितनी दुर्भाग्य की बात है कि यहाँ की नारी अपनी भाग्य का आप निर्णय भी नहीं कर सकती । समाज ने उसे यह अधिकार ही नहीं दिया । दे भी कैसे ? वह तो उसे सम्पत्ति के रूप में मानता है, जो बेची जा सके बदली जा सके ? और बेचारी अफ्रीकी नारी इतनी बेबस है कि वह उस समाज व्यवस्था के खिलाफ आवाज भी नहीं उठा सकती । अफ्रीका के नारी समाज की इस दुर्दशा पर उन्होंने जितना विचार किया उतनी ही करुणा उमड़ने लगी और वे एक निश्चय, एक संकल्प से बँध गये कि चाहे जो हो नारी समाज की इस भयानक दुर्दशा को बदल कर रहेंगे ।

बाद में डॉक्टर लिंबिगस्टन ने उस युवती का विवाह उसके प्रेमी मनपसंद युवक से करवाया । उक्त घटना ने उन्हें जिन दायित्वों का बोध कराया था-विवाह के बाद ही वह पूरा नहीं हो पाया वरन् यह तो उसकी शुरुआत थी । उस दिन से लिंबिगस्टन के लिए चिकित्सा-व्यवसाय और ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य गौण बन गया तथा समाज सुधारक और महिला उत्थान की साधना ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया ।

लिंबिगस्टन ने जब अपने निश्चय के सम्बन्ध में अपने साथियों को बताया तो साथियों ने इस मार्ग में आने वाली बाधाओं से अवगत कराया । यह परामर्श उन्हें मैत्री या स्नेह के कारण नहीं दिया गया था । इसका उद्देश्य तो था कि लिंबिगस्टन अपने इस मार्ग को छोड़ दे और अन्य साथियों की तरह आदिवासियों को ईसाई धर्म में ही दीक्षित करें । जब इस तरह के परामर्श आते रहे तो लिंबिगस्टन ने कहा-‘मैं सब जानता हूँ कि इस कार्य में कौन-कौन सी समस्याएँ बाधा बनकर खड़ी होंगी । उन सब से निपटने के लिए मैं तैयार हूँ और उनके सम्बन्ध में जानकर ही मैंने यह निश्चय किया है । अब इस मार्ग से हटने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

उनके एक साथी ने कहा-‘आपको याद है जब आप इंग्लैण्ड में भाषण देने के लिए खड़े हुए थे तो आप एक वाक्य से दूसरा वाक्य नहीं बोल पाये थे और वाक्य यह-“मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह भूल गया ।” इसके बाद आप अपने स्थान पर आ कर बैठ गये थे । सामाजिक स्थिति में कोई भी सुधार या परिवर्तन लाना बड़े दिल और बड़ी हिम्मत वालों का काम है । इसके लिये तो ऐसा साहस चाहिए जिसमें अपने प्राणों का भी मोह न रहे । आपके पास है ऐसी योग्यता ।’

‘मेरे प्यारे मित्र ! इस सुहृदय परामर्श के लिए धन्यवाद । मुझे यह तो पता नहीं है कि मुझमें क्या-क्या योग्यताएँ हैं । परन्तु मेरे हृदय में मनुष्यता के प्रति जो दर्द पैदा हुआ है उसके सहारे ही मैं यह काम शुरू कर रहा हूँ । सफल हो जाऊँ या न होऊँ इसकी मुझे चिन्ता नहीं है । मुझे तो केवल अपने कर्तव्य की पुकार सुनना है । समाज उठे या इससे भी बदतर स्थिति में जाय-लिंबिगस्टन ने बड़ी ही नम्रतापूर्वक कहा और उनके मित्र को निराश होकर लौट जाना पड़ा । वह समझ गया था कि संकल्प और साहस के धनी इस व्यक्ति को भी कर्तव्य के मार्ग से हटा पाना आसान नहीं है । एक-एक कर उनके सभी साथी चले गये ।

लिंबिगस्टन ने अपनी सेवा साधना की जो पद्धति चुनी उसकी बहुत गहराई से सम्बन्ध था अफ्रीका समाज को ऊँचा उठाने से । वे इस स्थिति का बाहरी उपचार कर के ही सन्तुष्ट हो जाने वाले नहीं थे वरन् उन्होंने समस्याओं का गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दुनिया में किसी भी जाति या समाज की जीवन धारा में आयी विकृतियों का एकमात्र कारण है-अज्ञान । उन्होंने इस जड़ पर प्रहार करने की योजना बनायी और सद्ज्ञान तथा शिक्षा प्रचार के माध्यम से जन जागरण का शंख फूँका । अफ्रीकन लोगों की आस्था और श्रद्धा के केन्द्र तो वे थे ही, बाद में भी बने रहे । लेकिन जब उन्होंने अफ्रीका समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों, कुरीतियों और रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया तो कुछ लोग जिनका कि इन परम्पराओं से स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध था, उनसे रुठ हुए । एक ओर तो लिंबिगस्टन इन सामाजिक कुरीतियों

से लड़ रहे थे दूसरी ओर उन्होंने दास प्रथा के लिए ब्रिटिश सरकार का भी विरोध करना आरम्भ किया। सरकार से इस घृणित प्रथा को बन्द करने के लिए उन्होंने कई बार शान्तिपूर्ण प्रयत्न किये परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। फलस्वरूप वे और भी खिन्न हुए साथ ही साथ सक्रिय भी।

इसका परिणाम यह हुआ कि दो ओर से उनके शत्रु तैयार होने लगे। एक तो अफ्रीकनों के स्वार्थी मुखिया और दूसरी ओर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट। एक बार तो उन्हें किसी कबीले के सामंतों ने बन्दी बना लिया और ऐसे स्थान पर ले गये जहाँ मनुष्य तो क्या किसी पशु की छाया भी नहीं दिखाई देती। वहाँ उन्हें बड़ी यातनायें दी गयीं। परन्तु लिंबिगस्टन जानते थे कि ये लोग बहकाये गये हैं। अशिक्षित, अल्पज्ञ और अज्ञानी लोगों को बहकाकर अपना उल्लू सीधा करने वाली ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने एक तीर से दो शिकार करने का इरादा किया। एक तो लिंबिगस्टन जो उस सरकार के प्रधान शक्तिशाली विरोधी बनते जा रहे थे, दूसरा करवट बदल रहा अफ्रीकी जन समाज, जो कभी भी उस व्यवस्था को तोड़ सकता था।

कबीले के मुखिया ने कहा—यदि तुमने एक सप्ताह में पानी नहीं बरसाया तो हम तुम्हें जिन्दा जला देंगे। अगुआ बनने के लिए सुलतानी (ईश्वरीय) ताकत भी चाहिए। तुम्हें कोई चमत्कार दिखाना पड़ेगा नहीं तो तुम बड़ी बुरी तरह जान से हाथ धो बैठोगे।

चमत्कार के प्रति आस्था मनुष्य का विश्वास अपने निज के पुरुषार्थ पर से उठा देती है। इसी से वंचित होकर लोग कष्ट और पीड़ाएँ भोगते हैं। लोग अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर सकें। इसका सबसे बढ़िया अवसर है यह। उन्होंने कुछ सोच-विचार कर कहा—अच्छा हम पानी बरसायेंगे। इतना पानी बरसायेंगे कि यहाँ के लोगों को साल भर तक पानी की कोई कमी न रहे, पर पहले मुझे पच्चीस मेहनती युवक चाहिए। सामन्त ने यह व्यवस्था कर दी और एक रात वे अपने निकट की उस पहाड़ी पर पहुँचे जहाँ पानी का एक चरमा था। इन युवकों की सहायता से उन्होंने एक नाला खुदवाया और चरमे का सम्बन्ध उस नाले से जोड़ दिया। अगली सुबह जब वहाँ के आदिवासियों ने यह सुखद आश्चर्य देखा तो हर्ष से फूल उठे। लिंबिगस्टन को फूल चढ़ाने लगे और लिंबिगस्टन ने उन लोगों से एक ही अनुरोध किया—पढ़ो। इस घटना ने कबीले वालों पर बड़ा प्रभाव डाला। फलतः शिक्षा प्रचार में उन लोगों से अच्छी मदद मिलने लगी।

सतत साधना, श्रम और पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने अपना मिशन पूरा करने के लिए बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं। यहाँ तक कि उन्हें शरीर का एक हिस्सा भी गँवाना पड़ा परन्तु संकल्प और श्रम में इससे कहीं भी कमी नहीं आयी। वयः पूरी होने पर जब उनका देहान्त हुआ तो आजीवन उनका विरोध करने वाले अँग्रेजों ने अन्त्येष्टि क्रिया के समय भी विरोध किया। लिंबिगस्टन की अन्तिम

आकांक्षा थी कि उनका शव अफ्रीकन लोग ही अपने रस्म के अनुसार समाप्त करें और अँग्रेज चाहते थे कि उनका शव हमें सौंपा जाय। इस प्रश्न पर दोनों वर्गों में तना-तनी हो गयी परन्तु विजय अफ्रीकन की हुई।

डॉ० लिंबिगस्टन ने एक साधारण-सी घटना से प्रभावित होकर जिस प्रकार अपने उद्देश्य का विस्तार किया वह हर किसी के लिए अनुकरणीय है। जीवन में छोटी-छोटी घटनाओं के सम्बन्ध में हम भी जागें तो समाज सेवा के कई पथ खुल सकते हैं।

बूट पॉलिश करने वाला बालक एक दिन उप राष्ट्रपति बना—

लिंडन बी० जानसन

यदि आप किसी नगर की मुख्य सड़क पर गुजर रहे हों तो आपको दोनों ओर कुछ बूट पॉलिश करने वाले लड़के दिखाई देंगे। यदि आप जूते पर पॉलिश न कराना चाहें तो शायद आपकी दृष्टि भी उस ओर न जावेगी और यदि पॉलिश कराई भी तो पैसे देकर आगे बढ़ जायेंगे। साधारणतः लोग इनके प्रति उदासीन रहते हैं। किसी स्टेशन या बस स्टैण्ड पर कोई किशोर जबरन पॉलिश करने की जिद करता है तो आपके मन में उसके प्रति थोड़ी देर के लिए सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है पर यह तो आपकी कल्पना में भी न आता होगा कि इन में से कोई बालक किसी दिन महान भी बन सकता है।

९ वर्ष की आयु खेलने और खाने की होती है। पर इस आयु में लिंडन जानसन अपने जन्म स्थान टैक्सस में जूतों पर पॉलिश कर धनोपार्जन किया करते थे। अमेरिका के प्रत्येक व्यक्ति को बचपन से ही सिखाया जाता है “किसी कार्य को छोटा और अपमानजनक मत समझो।”

जानसन के मन में तो स्वतन्त्रता की भावना समाई हुई थी फिर वह इस कार्य को छोटा कैसे समझ सकते थे। एक ओर पॉलिश का कार्य और दूसरी ओर पढ़ाई का कार्य निरन्तर चलता रहा। उसका परिणाम यह निकला कि १५ वर्ष की आयु में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। रोजगार के चक्कर में पड़कर उन्होंने अपना अध्ययन क्रम बन्द न किया और न लक्ष्य की पूर्ति मानकर पढ़ाई ही बन्द की। इसके बाद उन्होंने कार की धुलाई, एलिवेटर संचालन तथा सड़क निर्माण के कार्य अपने हाथों में लिये। जानसन प्रत्येक कार्य को ईश्वर का कार्य मानकर बड़ी तन्मयता से पूर्ण करते थे।

मनुष्य जीवन की प्रगति में उसकी आर्थिक दशा का भी पूरा-पूरा योगदान रहता है। आज कितने ही लड़के उच्च शिक्षा ग्रहण करने से इसलिये वंचित रह जाते हैं कि उनके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती। अब अगली शिक्षा के लिए वह सेण्ट मार्कोस नगर आ

गये। वहाँ साउथ वेस्ट स्टेट टीचर्स कॉलेज में प्रवेश ले लिया। खर्च की समस्या सामने आई तो वे विचलित न हुये, क्योंकि वह तो बचपन से ही स्वावलम्बन का पाठ क्रियात्मक रूप से पढ़ चुके थे। अतः उसी विद्यालय में द्वारपाल का कार्य करने लगे।

साढ़े तीन वर्ष बाद २२ वर्षीय जानसन ने बी० ए० सी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और एक हाईस्कूल में अध्यापक हो गये। उनकी ज्ञान पिपासा अभी शांत न हुई थी। अध्यापक का कार्य उन्हें एकांगी लगा अतः छोड़कर वाशिंगटन आ गये। यहाँ रिचेड ब्लेबर्ग के सचिव बन गये। दिन में सचिव का कार्य करते थे और रात्रि को जार्जटाउन विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा ग्रहण करते थे।

लिन्डन जानसन का सम्पूर्ण जीवन उन साधनहीन छात्रों के लिए प्रकाश स्तम्भ है जो गरीबी और अभावग्रस्तता का रोग रोकर पढ़ाई बन्द कर देते हैं और जीविका के लिए किसी मामूली से कार्य में लगकर जीवन की प्रगति पर विराम लगा देते हैं। जो व्यक्ति महत्वाकांक्षी होते हैं, उन्हें जीवन की अनेक कठोर सीढ़ियों से गुजरना होता है और जब अपने उद्देश्य की पूर्ति देख लेते हैं तभी संतोष का अनुभव करते हैं।

यहाँ सचिव बनने पर वह संतोष कर सकते थे और वकालत की परीक्षा पास कर किसी शहर में बैठकर वकालत करने लगते पर वह प्रगति की दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहते थे। उनका मन सचिव बनकर ही सन्तुष्ट न हुआ। १९२५ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा टेक्सास नेशनल यूथ एडमिनिस्ट्रेशन के निर्देशक पद पर नियुक्त हुये। यहाँ कार्य करते दो ही वर्ष हुये थे कि १९३७ में प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन होने लगा। महत्वाकांक्षी व्यक्ति अवसर का लाभ उठाना बखूबी जानते हैं क्योंकि अवसर एक ऐसा अजीब प्राणी है जिसके सिर पर सामने की ओर बाल तो होते हैं पर पीछे की ओर की खोपड़ी ख़ल्वाट ही होती है अतः जो सामने से उसे पकड़ लेते हैं अवसर उनके अधीन तो हो जाता है पर जो थोड़ी भी ढील-ढाल डाल देते हैं उन्हें वह पकड़ाई देने वाला नहीं है।

जानसन ने अपनी प्रतिभा के निखार के लिये निर्वाचन का समय उपयुक्त ही समझा। वह ९ प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर टेक्सास राज्य के प्रतिनिधि निर्वाचित हुये। जानसन ने राजनैतिक जीवन में पहला ही कदम रखा था जहाँ उन्हें सफलता प्राप्त हुई। वह अच्छी तरह जानते थे कि इस क्षेत्र में अधिक बुद्धिमत्ता और सूझबूझ की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान उनमें कम न था फिर भी अपने में गुणों की वृद्धि कर वह उत्कर्ष की ओर निरन्तर बढ़ते जा रहे थे।

सन् १९४८ और १९५४ में सीनेट के सदस्य निर्वाचित होकर जनता पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाली। वह निर्धनता की राह से गुजर कर आये थे अतः उनमें पीड़ित मानवता के प्रति दर्द था और उसे दूर करने के लिये सहानुभूति का मरहम भी।

सन् १९५३ में उनकी कार्य क्षमता और नेतृत्व शक्ति ने ही उन्हें सीनेट में अल्पसंख्यक दल का नेता बना दिया। उनकी आयु इस समय केवल ४४ वर्ष थी। अब तक जितने नेता चुने गये थे उनमें सबसे कम आयु के जानसन ही थे। आयु बढ़ने के साथ उनकी योग्यता, बुद्धिमत्ता और अनुभव निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। सन् १९५४ में तो वे बहुमत दल के नेता निर्वाचित हो गये। १९६२ में राष्ट्रपति कैंनेडी की हत्या के बाद वे राष्ट्रपति काल की शेष अवधि तक अमेरिका के राष्ट्रपति भी रहे।

कौन जानता था कि जूतों पर पॉलिश करने वाला ९ नवम्बर, १९६० को अमेरिका जैसे महान देश का उपराष्ट्रपति बन जायेगा। परिस्थितिवश कोई व्यक्ति छोटे कार्य करता रहे अथवा अभावग्रस्तता का जीवन व्यतीत करता रहे तो उसके कार्यों में या परिस्थितियों में किसी की आँखें महामता को ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं करतीं।

नेता के रूप में उन्होंने जिस योग्यता का परिचय दिया था वह बहुत कम व्यक्तियों में देखने को मिलती है। सेवा काल में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं जो देखने में सर्वथा असम्भव प्रतीत होते हैं।

उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को 'टेक्सास क्वाटर्ली' में बहुत थोड़े शब्दों में प्रकट किया था "मैं क्रम से एक स्वतंत्र मानव, एक अमेरिकी नागरिक, एक अमेरिकी सेनेटर और एक डेमोक्रेट हूँ।"

जिसकी चेरी बर्नी प्रतिभाएँ—

लियोनार्दो दा विची

उसे माँ का प्यार नहीं मिला। वह दो वर्ष का ही था कि उसकी माता ने उसके पिता से तलाक लेकर दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। उसको यह बहुत अखरा पर क्या करता उसके बस की बात तो नहीं थी। जिन बालकों को बचपन में माँ का प्यार नहीं मिलता वे ही जान सकते हैं कि यह अभाव कितना खलने वाला होता है? जब किसी बालक को उसकी माता द्वारा दुलार पाते देखता तो वह उदास हो जाता। एक दिन उसने अपने पिता से पूछ ही लिया—“पिताजी आप नयी माँ को क्यों नहीं ले आते?”

“जब तुम्हें जन्म देने वाली माँ ही प्रेम न दे सकी तो यह आवश्यक नहीं की नयी माँ तुम्हें प्यार दे ही। वह उपेक्षा भी तो कर सकती है तुम्हारी और देखो बेटे तुम मुझे तो प्यार करते हो ना?” हाँ बहुत, “लेकिन तुम्हारी माँ मुझे भी छोड़कर चली गयी। कभी कुछ मुझमें ही रही होगी कि मैं उसका प्यार जीत नहीं सका। प्यार पाने का रास्ता किसी से प्यार की भीख माँगना नहीं है वरन उसे जीतना है। तुम चाहो तो अपने जीवन में एक व्यक्ति का ही नहीं हजारों व्यक्तियों का प्यार पा सकते हो।”

“सो कैसे पिताजी?”

“अपनी प्रतिभाओं को विकसित करके । तुम अभी बच्चे हो, नहीं जानते कि किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों ने हजारों लाखों लोगों का प्यार जीता है अपनी प्रतिभाओं के बल पर । किसी के स्नेह, श्रद्धा को पाने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि अपने को उतना अच्छा, योग्य और प्रतिभाओं का आगार बनाओ कि हर कोई तुम्हारे प्रखर व्यक्तित्व के आगे अभिभूत हो उठे तुम्हें प्यार करने लगे ।”

अपने अनुभवी और विद्वान पिता की बात इस बालक ने गाँठ बाँधकर रख ली और संकल्प कर लिया कि वह प्यार के लिये किसी के आगे रोयेगा, गिड़गिड़ायेगा नहीं वरन् वह अपने को ऐसा बनाएगा कि हर कोई उसे चाहने लगे । बचपन में मातृ-स्नेह से वंचित यही बालक अपने जीवन में हजारों हृदय जीतने में सफल हुआ । साथ ही वह इतिहास का आश्चर्य भी बन गया । इस व्यक्ति का नाम था लियोनार्दो दा विंची-सर्व विद्या-विशारद ।

सुन्दर, सुगठित, बलिष्ठ और आकर्षक शरीर का स्वामी महान मूर्तिकार, चित्रकार, कवि, साहित्यकार, विचारक, गणितज्ञ, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, तकनीशियन, भूगोल-वेत्ता, आविष्कर्ता, युद्ध विद्या विशेषज्ञ, विद्वान, धार्मिक, सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत तथा सच्चरित्र व्यक्ति कोई इतिहास के पृष्ठों पर दीखता है तो वह मात्र लियोनार्दो दा विंची ही है, जिसने अपने जीवन में किसी भी कार्य को असम्भव नहीं माना । उसे सीखा ही नहीं उसके शिखर पर पहुँचा । माँ के स्नेह के अभाव में जो बालक एक दिन उदास बैठा रहता था अपने जीवन में हजारों के हृदय जीत गया था अपनी प्रतिभाओं के बल पर ।

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में लियोनार्दो ने इटली के फ्लोरेंस नगर में जन्म लिया, जिसे कलाकारों की जन्मस्थली भी कहा जाता है । पिता अच्छे वकील थे । उन्होंने पुत्र का पालन-पोषण ही नहीं निर्माण भी किया । बचपन से ही यह बात उसके मस्तिष्क में बैठ गयी थी कि प्रतिभा और योग्यता वह शक्ति है जिसको पाकर व्यक्ति महत्वपूर्ण हो जाता है जो जितनी अधिक प्रतिभा विकसित करेगा वह उतना ही सम्मान का पात्र बनेगा । अतः उसने भी प्रतिभाओं के अर्जन और विकास पर अपना पूरा मनोयोग, आत्मविश्वास व श्रम जुटाया । उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा में ही यह जान लिया कि उसके पिता की बात कितनी सच है । वह पढ़ने में सबसे तेज था अतः उसके सब अध्यापक उसे बहुत प्यार करते थे । इससे उसका उत्साह और भी बढ़ गया । वह गणित और चित्रकला में उस समय भी इतना तेज हो गया था कि अध्यापक उसके प्रश्न सुनकर चकरा जाते थे और उसका काम देखकर विस्मित हो उठते थे ।

लोग कहा करते हैं ‘पुत्र के लक्षण पालने में ही दीख जाते हैं’ इस उक्ति में काफी सच्चाई है । बालक बीज रूप में पूरा वृक्ष होता है । यदि उसके अभिभावक उसकी सम्भावित प्रतिभाओं को समझकर तदनुरूप साधन-

सुविधाएँ और विकास के अवसर जुटाएँ तो वह बहुत कुछ बन जाता है । किन्तु अधिकांश माता-पिता बच्चों के अपने लघु संस्करण समझकर उन्हें अपने ढंग से अपनी इच्छानुसार बनाने का प्रयास करते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि उसकी सहज प्रतिभा का विकास नहीं होता । माता-पिता द्वारा आरोपित प्रतिभा को उसे विकसित करना पड़ता है अतः वह बात नहीं बन पाती जो बननी चाहिए और उसकी गति भी मन्द होती है । लियोनार्दो के पिता ने उसमें अंकुरित होती प्रतिभाओं को समझा और उन्हें विकास के पूरे अवसर दिये तो वह बचपन में ही गणित, संगीत, कविता और चित्रकला में आयु के अनुपात में बहुत आगे निकल गया । जो माता-पिता यह मान लेते हैं कि मेरा बच्चा तो निकम्मा है उसे जो सिखाते हैं वह सीखता ही नहीं है । वे यह देखने का प्रयास नहीं करते कि वह जो सिखाते हैं वह नहीं सीखता तो इसके पीछे कारण क्या है ? कहीं हम उसकी क्षमता व रुचि को परखने में भूल तो नहीं कर रहे हैं तो बहुत सम्भव है उन्हें अपने पुत्र में प्रतिभा के वे अंकुर दिखने लग जाएँ ।

चित्रकला और मूर्तिकला में लियोनार्दो की रुचि देखकर उसके पिता ने उसे फ्लोरेंस के एक दक्ष कलाकार वैरोचियो का शिष्य बना दिया । अपने शिक्षक के मार्गदर्शन में वह दो वर्ष में ही चित्रकला व स्थापत्य कला में इतना प्रवीण हो गया कि वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगा । दूसरी कलाओं साहित्य, गणित, विज्ञान आदि विषयों में भी वह इसी गति से प्रवीणता प्राप्त करता चला गया ।

बीस वर्ष की आयु में जब वह मिलान के शासक लुडोविको स्फोर्जा के पास अपनी मूल्यवान सेवाएँ समर्पित करने के लिये उपस्थित हुआ तो उसने बताया “मैं युद्ध कला, सार्वजनिक और व्यक्तिगत भवन निर्माण, नहरें और सरोवर निर्माण आदि में भी किसी भी जानकार व्यक्ति से बराबरी कर सकता हूँ और मूर्तिकला, चित्रकला में किसी भी कलाकार से पीछे नहीं हूँ साथ ही संगीत और साहित्य में भी अधिकार रखता हूँ ।” स्फोर्जा उसके इस अनूठे व्यक्तित्व पर मुग्ध हो उठा और उसने लियोनार्दो की सेवाएँ सहर्ष स्वीकार कर लीं ।

बचपन में माता के स्नेह-दुलार, यौवन में पत्नी का प्रेम-समर्पण और जीवन में दूसरे लोगों का सम्मान पाने की लालसा मनुष्य की सहज, स्वाभाविक कामना होती है । इसके पीछे अपनी जीवन और व्यक्तित्व की सार्थकता, उपयोगिता का भाव रहता है । सभी लोग उपरोक्त व्यवहार की आशा तो करते हैं किन्तु उसके लिये अपना पात्रत्व विकसित करने की बात अधिकांश व्यक्ति भूल जाते हैं । लियोनार्दो को बचपन में ही उसके पिता ने ऐसी भूल नहीं करने के लिये सचेत कर दिया था । अतः उसने यह चिन्ता नहीं की कि लोग उसे स्नेह, श्रद्धा, सम्मान देते हैं या नहीं, वह तो इसी में लगा रहा कि कैसे वह क्षमता उत्पन्न की जाय कि वह सभी का चहेता बन जाए । उसका यह

सोचना बिल्कुल ठीक था। सम्मान के पीछे-पीछे फिरने पर वह नहीं मिलता उसकी ओर ध्यान दिये बिना प्रतिभाओं के विकास की बात सोची जाय, उसे क्रियान्वित किया जाय तो सम्मान पीछे-पीछे चलने लगता है।

बयालीस वर्ष की आयु में उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'अन्तिम सायंकाल का भोजन' बनाया। उस चित्र को कई वर्षों बाद फ्रांस के राजा लुई बारहवें ने उसे देखा तो वह उस कलाकृति से इतना प्रभावित हुआ कि अपने दरबारियों से पूछने लगा—“क्या यह सम्भव नहीं है कि इस दीवारों को ही, जिस पर यह चित्र बना है, उठाकर फ्रांस ले जाया जा सके।” जबकि आश्चर्य तो इस बात का भी था कि उस समय तक उस चित्र का मसाला कहीं-कहीं से उड़ गया था।

चित्रकला के क्षेत्र में लियोनार्दो दा विंची ने कई मौलिक उपलब्धियाँ हस्तगत की थीं। वह पहला चित्रकार था जिसने छाया और प्रकाश का महत्व पहचाना था। रंगीन चित्रों में प्रकृति के यथार्थ रंगों को भरने की पद्धति को चलाने वाला भी वह पहला व्यक्ति था। युवावस्था में वह बौंसुरी वादन में बहुत रुचि लेता था। उसने अपने हाथों से एक चौंदा की सुन्दर बौंसुरी बनायी थी। जिसके बारे में कहा जाता है, उस समय इतना अच्छा और कोई वाद्य यन्त्र योरोप भर में नहीं था।

उसका अपना व्यक्तित्व भी प्रकृति की सौन्दर्य सुषमा सा मनमोहक रंगों से भरा पूरा था। उसके व्यवहार, शालीनता, शिष्टता, उदारता, आत्मीयता, विनोदप्रियता और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण जो भी उसके सम्पर्क में आता वही उसे चाहने लगता। राजा से लेकर रंक तक उसके प्रशंसक थे।

लियोनार्दो शरीर विज्ञान और वनस्पति शास्त्र का जनक कहलाता है। इसके पूर्व किसी ने इन विद्याओं को अध्ययन का विषय नहीं माना था। विज्ञान के क्षेत्र में उसने तरंगों की गति के नियमों का अध्ययन करके कई उपयोगी सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। प्लेग फैलने के समय मितान-वासियों के लिये नये नगर का नक्शा उसी ने बनाया था। कृष्ण सागर और केस्पियन सागर के प्जारभाटों का अध्ययन उसको उतना ही प्रिय था जितना चित्रांकन। उसने इटली के छह सुन्दर नक्शे भी बनाये थे जो आज भी इंग्लैण्ड में सुरक्षित हैं। इन्हें मानचित्र कला की श्रेष्ठ कृतियों में माना जाता है। उसने अपनी डायरी में वायुयान और वाष्पचालित यन्त्र की विषय योजनाएँ लिख रखी थीं। वायुयान का उसका प्लान इतना वैज्ञानिक था कि यदि उस समय उसे ऑयल इंजिन उपलब्ध होता तो निश्चय ही वायुयान निर्माण का सेहरा राइट बन्धुओं के सिर नहीं उसके सिर बैठता। इतालवी भाषा के गद्य को परिमार्जित रूप देने का श्रेय भी उसे मिलता है।

एक ही व्यक्ति द्वारा ज्ञान, विज्ञान, कला, तकनीक के क्षेत्र में उतना अधिकार रखना सचमुच एक आश्चर्य की बात है। कहीं हृदय की गहराइयों से निरगत होने वाली,

आत्मा की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करने वाली कला और कहीं गति, प्रकाश, किरणों व पदार्थों का शुष्क नीरस मस्तिष्कीय व्यायाम-विज्ञान। इन दो ध्रुवों को मिलाने का काम लियोनार्दो के इस धारित्री जैसे विशाल व्यक्तित्व ने किया।

कला और विज्ञान की एक ही शाखा में शिखरस्थ होना भी बहुत बड़ी बात मानी जाती है तो फिर सर्व विद्याओं को 'हस्तामूलक-करतलगत' करने की बात आश्चर्य ही मानी जाएगी। किन्तु सही बात तो यह है कि मनुष्य को सामर्थ्य मिली हुई है वह उसका सौवाँ, हजारवाँ अंश ही काम में ले रहा है और शेष या तो प्रसुत पड़ा है या गलत कार्यों में लगकर नष्ट हो रहा है। लियोनार्दो के इस आश्चर्यजनक व्यक्तित्व के निर्माण में उसकी एक प्रवृत्ति बहुत सहायक हुई थी। वह प्रवृत्ति थी हर बात को गहराई से लेना। वह किसी भी नई बात की गहराई तक पैठने के लिये सचेत, सचेष्ट रहा करता था। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' की उक्ति से सीख लेकर उसने ज्ञानोदधि में ऊपर-ऊपर से ही जानकारी रूपी मछलियाँ नहीं पकड़ी वरन् गहरा गोता लगाकर प्रतिभा, दक्षता के पानीदार मोती खोजे, जिनकी आभा आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। गहराई में जाने पर उसे सब विद्याएँ एक दूसरे की पूरक लगीं। चित्रों में छाया व प्रकाश का कलात्मक अभिव्यक्ति देने के साथ-साथ उसने उनकी गति का, शक्ति का, वैज्ञानिक अध्ययन भी किया। उसी प्रकार चित्रकला और मूर्तिकला में प्रवीणता पाने के लिये उसने शरीर विज्ञान और वनस्पति विज्ञान का भी अध्ययन किया। कला और विज्ञान वस्तुतः आदर्श और व्यवहार की तरह समान रूप से उपयोगी हैं। इसे उसने तभी स्वीकार कर लिया था।

पाँच सौ वर्ष बाद भी लियोनार्दो दा विंची अपनी चित्रकला और ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के रूप में जीवित है। उसका प्रसिद्ध चित्र 'मोनालिसा' नारी की गरिमा, उच्चता और महानता के सजीव अंकन के कारण कला जगत में अपना शीर्ष स्थान बनाये हुए है। दूसरों द्वारा की गयी उपेक्षा को भी व्यक्ति यदि सही ढंग से ले तो वह सन्त तुलसीदास, सूरदास व लियोनार्दो दा विंची बन सकता है। दुनिया में शिकायत वे किया करते हैं जिन्हें अपने पर विश्वास नहीं है, जिन्हें अपने पर विश्वास है और जो जिज्ञासा, मनोयोग, श्रम और सूझ-बूझ जुटा सकते हैं वे लियोनार्दो की तरह दुनिया का प्रेम, स्नेह, श्रद्धा व सम्मान जीत लेते हैं।

सच्चे नेतृत्व के प्रतीक—

लियोनिद ब्रेझनेव

जर्मन में हिटलर और उसके सहयोगी नाजीवादियों के विश्व विजय का स्वप्न उन्मत्तता की तरह छाने लगा तो आस-पास के पड़ोसी राज्य उनकी बर्बरता के शिकार होने लगे। ऐसी ही उन्मत्त स्थिति में जर्मनी सेनाओं ने सोवियत संघ पर आक्रमण बोल दिया। तब रूस की जनता

साम्यवादी क्रांति के बाद राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य में तन्मय होकर लगी थी। अनपेक्षित इस आक्रमण ने राष्ट्र निर्माण के प्रयासों को आघात तो पहुँचाया ही, लोगों का मनोबल भी तोड़ना आरम्भ किया। सोवियत जनता घबड़ाने-सी लगी। आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस और साम्राज्यवादी मद से प्रेरित नाजी सेनायें लगातार आगे बढ़ती जा रही थीं। उनसे आत्मरक्षा का कोई समर्थ उपाय ही नहीं सूझ पड़ता था।

तब सोवियत नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि राष्ट्र निर्माण के लिए जनता का मनोबल स्थिर रखना आवश्यक है। नेतृत्व का यही अर्थ नहीं है कि जनता को केवल भाषणों द्वारा ही मनोबल बनाये रखने के लिए कहा जाता रहे और स्वयं नेतृत्व के दायित्व से सम्पन्न व्यक्ति उनके पीछे भयभीत से अपनी कोठियों और बैंगलों में चुपचाप बैठे रहें। नेतृत्व का दायित्व तो, क्या राष्ट्र निर्माण और क्या आत्मरक्षा हर क्षेत्र में आगे रहने की पुकार करता है। रूस के नेता जो अब तक सामान्य जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश के पुनर्निर्माण में रत थे-राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या उठ खड़ी होने पर भी आगे आये।

संकटपूर्ण इस घड़ी में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रादेशिक समिति के सचिव लियोनार्दो ब्रेझनेव भी कंधे पर बन्दूक रखकर सुरक्षा अभियान में आगे आये। उनके साथ थे उनके ही पीढ़ी के लाखों लोग जो अब तक अपने नेतृत्व की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहे थे कि कब उस पद पर आसीन अगुआ का आगामी संकेत हो और कब वे राष्ट्रीय कर्तव्य के पालन हेतु कदम बढ़ायें। परन्तु संकेत नहीं हुआ कोई, दिखने में आयी क्रियाशीलता। वस्तुतः ऐसे समय में आचरण ही सर्वाधिक प्रभावशाली संकेत होता है। लोग तो सोचते हैं कि नेता शायद कोई मार्गदर्शन देगा। परन्तु नेतृत्व जब क्रियाशील होता दिखाई देता है तो अनुगामियों का उत्साह कई गुना बढ़ जाता है, संकट की उस बेला में।

ब्रेझनेव उस युद्ध में आदि से अंत तक लड़े। पूरे युद्ध काल में वे सक्रिय रूप से डटे रहे। अठारहवीं सेना के साथ काम करते हुए उन्होंने अनेक सैनिक अभियानों का नेतृत्व किया। अपने अधीनस्थ सैनिकों को वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से देश के लिए मर मिटने हेतु तैयार करने में प्रत्येक बार सफल रहे। कृष्ण सागर के तट पर ब्रेझनेव को स्वयं भी सैनिक अभियान के दौरान अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कई बार तो अकेले पहरा देते हुए वे शत्रुओं से भी घिर गये परन्तु प्रत्येक बार वीरतापूर्ण त्याग बलिदान की भावना से ओतप्रोत होकर संघर्ष करते रहे। अन्ततः विजय उनकी सृजबुद्धि और बुद्धिमत्ता की ही रहती। एक सामान्य व्यक्ति के लिए वह अवधि तो शायद बड़ी पीड़ाजनक और कष्टकारक ही सिद्ध होती। लेकिन ब्रेझनेव को उस एकाकी और आपदपूर्ण जीवन का अभ्यास पहले से ही था इसलिए उन्हें कोई विशेष

असुविधा नहीं हुई। उन्होंने अपना जीवन एक मजदूर-श्रमजीवी-सर्वहारा परिवार में जन्म लेकर ही तो आरम्भ किया था। रूस के मजदूरों की तत्कालीन अवस्था देखकर तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सैनिक अभियान के दौरान आने वाली कठिनाइयाँ उस जीवन की अपेक्षा कहीं सहज रही होगी।

लियोनिद ब्रेझनेव का जन्म उक्रेन प्रान्त के एक मजदूर परिवार में सन् १९०७ ई० में हुआ था। उस समय रूस का श्रमजीवी बहुसंख्यक वर्ग समाज व्यवस्था पर हावी कुछेक धनपतियों के अमानवीय शोषण से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। ब्रेझनेव के पिता कामेन्स कोये नामक शहर की एक इस्पात मिल में आजीवन मजदूरी करते रहे। उन दिनों उस परिवार को बड़ी मार्मिक आर्थिक तंगियों और अभावग्रस्त परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। सदियों से उस क्षेत्र के किसान कंगाली और मोहताजी का सामना करते थे। आरम्भ में ब्रेझनेव को भी अपने छोटे भाई-बहनों के साथ कठोर मेहनत कर जीवन निर्वाह की व्यवस्था करनी पड़ी। परिवार का खर्च तब भी मुश्किल से चलता था।

लेनिन के नेतृत्व में उन्हीं दिनों सन् १९१७ में रूस की जनता ने जारशाही का अन्त किया और समाजवादी गणराज्य की स्थापना की। अब देश के सामने एक नयी चुनौती थी। जार का रूस जिसका अर्थतंत्र विदेशी हस्तक्षेपों के कारण अस्त-व्यस्त हो गया था। उसका जीर्णोद्धार करना था। उन दिनों ब्रेझनेव ने अपना अध्ययन भी जारी रखा। रूस की सरकार और जनता दोनों खण्डहर से हुए रूस को नया व उन्नत रूप देने के लिए श्रमशील थे। वहाँ आधुनिक फैक्ट्रियाँ, बिजलीघर, कारखाने, स्कूल, भवन आदि कार्यों का निर्माण चल रहा था।

किशोर वय के श्री ब्रेझनेव ने ऐसे समय में अपना दायित्व निश्चित किया और वे विद्याध्ययन जारी रखते हुए मेहनत कर देश के पुनर्निर्माण में योगदान देते रहे। यद्यपि इसके पूर्व भी मेहनत-मजदूरी कर रहे थे परन्तु तब की और अबकी स्थिति में अन्तर था। तब उनके हृदय में अवसाद, बोझिलता, अनुत्साह और निराशा की कालिमा छाई रहती थी और अब सोवियत समाज के पुनर्रचना काल में उनके हृदय में उल्लास, निश्चिन्तता, उत्साह और आशा का आलोक व्याप्त था। उनकी पारिवारिक और आर्थिक स्थिति में भी शायद ही कोई अन्तर आया हो। परन्तु देश में तब जो हवा बनी हुई थी और वातावरण तैयार था वह सुखद भविष्य की सुस्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करता था। समाज के उत्कर्ष में अपना व्यक्तिगत विकास भी होता स्पष्ट दिखाई दे रहा था। जब कोई ऐसा अभियान चलता है जिसमें सभी वर्ग का कल्याण होना हो तो समझदार व्यक्ति अभावग्रस्त होते हुए भी आश्वस्त-सा रहता है।

ब्रेझनेव वयः संधि की उम्र में राष्ट्र निर्माण के यत्न में और भी अधिक घनिष्ठ सहयोग देने के लिए सन् १९२४ ई०

में कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार हो गये। तत्कालीन नेताओं ने इस अल्पवय के किन्तु उत्साही किशोर को पार्टी में प्राथमिकता दी एवं हर्ष व्यक्त किया। ब्रेझनेव कार्यकारी जीवन में तो श्रम और निष्ठापूर्वक व्यस्त रहे ही कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे।

एक अवसर पर पार्टी की मीटिंग में उन्हें युवकों की ओर से बोलने के लिए कहा गया। तब तक ब्रेझनेव ने कभी भी किसी भी अवसर पर अपने विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं किया था। इस अवसर पर उन्होंने थोड़ी हिचक महसूस की। फिर भी स्वयं को ढाढ़स देते हुए वे बोलने के लिए आये और गम्भीर किन्तु ओजस्वी वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगे। इस प्रथम भाषण में उन्होंने समाजवादी समाज रचना के प्रति दृढ़तापूर्वक विश्वास व्यक्त किया। उस भाषण के श्रोताओं की यह राय रही है कि सचमुच वह यौवन और जवानी का ही प्रतिनिधित्व था।

पार्टी ने श्रमजीवी जनता के प्रति उन्हें संवेदनशील और सहानुभूति से पूर्ण पाया। मजदूर जीवन के वे भुक्त-भोगी तो रहे ही थे, इससे श्रमिकों की समस्याओं और कठिनाइयों की उन्हें बड़ी अच्छी जानकारी थी। इसलिए पार्टी ने सन् १९३७ ई० में उन्हें कुर्स्क गुर्वेनिया और यूराल प्रान्त के मेहनतकश किसानों की स्थिति जानने के लिए सर्वेक्षक नियुक्त किया। ब्रेझनेव ने उस समय प्रचलित भूमि-पट्टा प्रणाली का परीक्षण इतनी गहराई से किया कि वहाँ के सभी कृषक और मजदूर उन्हें देवता के रूप में मानने लगे। यह सर्वेक्षण ब्रेझनेव स्वयं अपने लिए शिक्षाप्रद और जानकारी को बढ़ाने वाला मानते हैं। उस क्षेत्र के किसान मजदूर तो उनसे प्रभावित थे ही-उसी प्रभाव और लोकप्रियता के कारण उन्हें जिला सोवियत का युवा सर्वेक्षक नियुक्त किया। यह कार्य सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में उनका अगला कदम था।

उस समय सारे देश में औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित किये जा रहे थे। ब्रेझनेव ने भी तब इंजीनियरी का प्रशिक्षण प्राप्त ही किया। उस समय जगह-जगह पर स्थापित किये जा रहे औद्योगिक केन्द्रों के लिए तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता थी। उच्च सोवियत के समर्थक और आधार होने के नाते ब्रेझनेव ने स्वयं इस प्रकार की योग्यता हासिल करना आवश्यक समझा। इसे उनके स्वभाव की विशेषता ही कहना चाहिए, कि जब भी कहीं, जहाँ भी और जैसी भी सेवा की आवश्यकता हुई-ब्रेझनेव किसी को कहने-सुनने की अपेक्षा स्वयं ही उस प्रकार की सेवा योग्यता अर्जित करने के लिए आगे आये। लियोनिद ब्रेझनेव औद्योगिक प्रतिष्ठानों की तकनीकी आवश्यकता को समझते हुए एक धातु कर्म संस्थान में भर्ती हुए। पूरी तन्मयता और मनोयोग के साथ उन्होंने इंजीनियरिंग का पाठ्यक्रम पूरा किया। प्रबल पुरुषार्थ और अनथक परिश्रम करते हुए सन् १९३५ में स्नातक की डिग्री

ली। स्नातक बन जाने के बाद वे अपनी जन्मस्थली में ही एक इस्पात मिल में इंजीनियर के रूप में कार्य करने लगे। पार्टी में कई उच्च पदों पर कार्य करते हुए सम्मान और प्रतिष्ठा से भरा-पूरा जीवन व्यतीत करने के बाद भी उन्हें इस्पात मिल में काम करते हुए किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। सन् १९३८ में कम्युनिस्ट पार्टी ने उनको प्रादेशिक समिति का सचिव चुना।

इस पद पर रहते हुए ही उन्हें जर्मन की नाजी सेनाओं का मुकाबला करने के लिए युद्ध क्षेत्र में जाना पड़ा था। जब युद्ध समाप्त हुआ तो उन्हें प्रान्तीय संगठन का नेता चुना गया। ब्रेझनेव एकनिष्ठा से सौंपे गये उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए कार्य करते रहे। उद्योग और कृषि के क्षेत्र में वे अपनी सेवा-प्रतिभा का परिचय तो दे ही चुके थे। युद्ध के मोर्चे पर भी उन्होंने स्वयं को अद्वितीय अगुआ सिद्ध किया। राष्ट्र की जनता उनके व्यक्तित्व की क्षमता और प्रतिभा से धीरे-धीरे परिचित होती गयी और जैसे-जैसे उनकी प्रतिभा मुखरित होती गयी, एक से एक बड़े दायित्व जनता उन्हें सौंपती गयी।

छठे दशक में विशाल क्षेत्रफल वाले दुनिया के सबसे बड़े राज्य की बंजर पड़ी धरती पर खेती का कार्यक्रम हाथ में लिया गया। कजाखिस्तान-जिसकी लाखों एकड़ जमीन यों ही पड़ी हुई थी के एक कार्याधिकारी बनकर ब्रेझनेव को कृषि उत्पादन का मोर्चा सम्हालना पड़ा। यहाँ भी उन्होंने निर्देश देने और मार्ग-दर्शन भर करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानी। ब्रेझनेव अपने साथियों के साथ उजाड़ पड़े जमीन के टुकड़ों पर फंसल उगाने के लिए मेहनत करते रहे। उनसे प्रेरणा लेकर प्रोत्साहन पाकर लाखों नवयुवकों ने कजाखिस्तान की धरती पर पसीना बहाया। अन्ततः पसीने के फूल खिले जिनकी सुरभि देश में ही नहीं विदेशों में भी फैली। कजाखिस्तान आज सोवियत संघ का प्रधान अनाज उत्पादक केन्द्र है।

बाद के वर्षों में ब्रेझनेव मास्को में पार्टी के एक शीर्षस्थ पद पर कार्य करते रहे। प्रतिरक्षा क्षमता के विकास सम्बन्धी कार्यों, वैज्ञानिक प्रगति तथा औद्योगिक उन्नति में उन्होंने जो योगदान दिया वह ऐतिहासिक बन पड़ा है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि विश्व के मानचित्र में रूस का आज जो विशिष्ट स्थान है उसका समूचा श्रेय ब्रेझनेव को ही दिया जाना चाहिए। क्योंकि देश के विकास की नींव लाखों-करोड़ों लोगों ने मजबूत की है। फिर भी ब्रेझनेव ने अपने माध्यम से एक सच्चे राष्ट्र भक्त और जन नेता का आदर्श प्रस्तुत किया वह सभी नेता कहलाए जाने वालों के लिए अनुकरणीय है। जब भी अवसर आया हो ब्रेझनेव ने स्वयं को उसके अनुरूप ढाला और उस क्षेत्र में आगे कदम बढ़ाया, देशवासियों को विकास के पथ पर अग्रसर किया।

१९५२ ई० में आयोजित सोवियत संघ की उन्नीसवीं कांग्रेस में ब्रेझनेव पार्टी की केन्द्रीय समिति में निर्वाचित

हुए। सन् १९६४ में वे केन्द्रीय समिति के प्रथम सचिव और दो वर्ष बाद महासचिव बने। एक मजदूर से अपना जीवन आरम्भ कर सोवियत संघ जैसे महान के सर्वोच्च पद तक पहुँचने में उन्हें जो लम्बा यात्रापथ तय करना पड़ा है वह उनकी धैर्य भरी अनवरत साधना का ही प्रतीक है।

युद्धोत्तर फ्रान्स के राष्ट्र निर्माता—

लुई अर्माद

सन् १९६४-६५ में फ्रान्स में 'दगाल के बाद कौन' विषय पर जनमत संग्रह किया गया था। इस जनमत संग्रह का उद्देश्य यह था कि तत्कालीन राष्ट्रपति दगॉल के बाद लोग किस व्यक्ति को अपने लोकतंत्र का अधिपति बनाना पसंद करेंगे। जब इसके परिणाम सामने आये तो सारा संसार आश्चर्यचकित रह गया। फ्रान्स की जनता ने एक ऐसे व्यक्ति का नाम लिया था जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। हालाँकि वह व्यक्ति फ्रान्स की जनता में इतना अधिक लोकप्रिय रहा है कि शायद ही किसी और देश में ऐसा साधारण व्यक्ति रहा हो। अपनी लोकप्रियता से परिचित होते हुए भी उस व्यक्ति को राजनीति में भाग लेने की कतई दिलचस्पी नहीं रही है।

लोकप्रियता के उच्च शिखर पर आसीन इस असाधारण व्यक्तित्व का नाम है—लुई अर्माद। अर्माद का राजनीति से दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी उनकी लोकप्रियता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि फ्रान्स के लोग उन्हें अपने देश और समाज के सर्वोच्च पद पर देखने के लिए कितने उत्सुक थे। अर्माद की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है उनकी निस्वार्थ सेवा भावना। युद्धोत्तर फ्रान्स के नव निर्माण में उनके द्वारा दिया गया योगदान महान ही कहा जा सकता है। पेशे और व्यवसाय से वे एक इंजीनियर रहे हैं परन्तु उन्हें लोकप्रियता किसी भी राजनेता से कम नहीं वर्न् कई गुना ज्यादा ही मिली है।

फ्रान्स में—सेवाय के एक छोटे से गाँव में उनका जन्म हुआ। माता-पिता दोनों ही अध्यापक थे। न इतने अधिक धनवान कि अपने पुत्र के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधायें जुटा सकें और न इतने गरीब की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी न हों। कुल मिलाकर मध्यवर्गीय स्तर का परिवार। माता-पिता दोनों ही सुशिक्षित थे इसलिए अपने बालक के विकास पर उन्होंने पूरी तरह ध्यान दिया। भले ही वे उत्तराधिकार में कोई धन-सम्पत्ति देने में समर्थ नहीं रहे हों परन्तु अपनी सूझ-बूझ, उच्च गुणों की छाप और विकासमान बौद्धिक क्षमता के रूप में उन्होंने जो कुछ दिया वह किसी भी धन सम्पदा से लाख गुना बेहतर था। धनवान और अदूरदर्शी लोग ही अपनी

संतान को उत्तराधिकार में धन सम्पदा देने की बात सोचते हैं। यदि ऐसा नहीं हो सका तो वे मरते हुए भी यही सोचते हैं कि हम अपनी औलाद के भविष्य के लिए कुछ नहीं कर सके।

लुई अर्माद के माता-पिता ने उन्हें बचपन में स्कूल पढ़ने भेज दिया। श्रमशीलता, अध्ययन और धैर्य जैसे मानवोचित गुणों के विकास पर पूरा ध्यान देते हुए उन्होंने अपने पुत्र को राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होने में किंचित भी लापरवाही नहीं की। उचित देखभाल और सावधानी के कारण अर्माद की अन्तर्निहित प्रतिभा निखरने लगी वैज्ञानिक प्रयोगों तथा गणित के सबालों में उनकी आरम्भ से ही रुचि रही। माता-पिता ने भी अर्माद को इसी दिशा में प्रेरित किया।

बारह-तेरह वर्ष की आयु में उनका परिचय एक मेडीकल स्टोर के मालिक से हुआ। निःसन्तान होने के कारण वह अर्माद को बहुत प्यार भी करता था। इस मेडीकल स्टोर के मालिक ने उन्हें फोटोग्राफी का प्रशिक्षण दिया। अर्माद की वैज्ञानिक प्रयोगों में रुचि तो आरम्भ से ही रही थी। फोटोग्राफी सीखने के बाद अपने मुहल्ले के कसाई के यहाँ से हड्डियाँ लाकर उबालीं तथा उनमें से जिरेटिन निकाला जो फोटोग्राफी की प्लेटें तैयार करने में काम आता है।

विज्ञान की दिशा में प्रेरित करने के लिए माता-पिता ने अर्माद को शुरू से प्रकृति के रहस्यों से परिचित कराना आरम्भ कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्माद प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना सीख गये। चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में सूक्ष्म निरीक्षण के स्वभाव के परिणामस्वरूप अर्माद कई पेड़-पौधों तथा वनस्पतियों के बारे में इतना जानने लगे थे, जितना कि सामान्य युवक या प्रौढ़ व्यक्ति भी नहीं जानता है। फर्फूद की सी से भी अधिक जातियों तथा कुकुरमुत्ते की सैकड़ों किस्मों के बारे में वे अच्छी तरह जानते थे। यह भी इनमें से कौन-सी खाने योग्य है और कौन सी नहीं। इस जानकारीयों ने उन्हें आगे चलकर बड़ा लाभ दिया। उन्होंने जंगली फलों के रस से एक एसिड तैयार किया जो फोटो प्लेटें डेवलप करने के काम आता है।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर उन्होंने एनेसी और लियोन के विद्यालयों में आगे की पढ़ाई जारी रखी और उसके बाद एकोल पोलिलटेक्निक कॉलेज में प्रवेश किया। यहाँ की परीक्षाएँ पास कर वे खनिज इंजीनियरी के महाविद्यालय में भर्ती हुए। वहाँ उनके अध्ययन का विषय था भूमि की स्तर रचना। इसकी स्नातक परीक्षा में वे सर्वोत्तम आये। इस प्रकार अर्माद को लगातार सफलता मिलती गई। निस्सन्देह इन सफलताओं का कारण उनका बुद्धि कौशल था। इसके अभाव में कोई और साधन चाहे कितने ही प्रभावशाली

और सशक्त क्यों न हों-व्यक्ति रईसों के पुत्र भी मन्दबुद्धि होने के कारण स्कूली परीक्षाओं व जीवन के क्षेत्र में असफल होते देखे गये हैं ।

शिक्षा समाप्त कर अर्माद के सामने व्यवसाय के चुनाव का प्रश्न खड़ा हुआ । वे नहीं चाहते थे कि उनकी उपार्जित योग्यता और प्रतिभा पैसे कमाने अथवा अपने ही लिए सुख-सुविधायें जुटाने के काम आये । वे अपने ज्ञान का लाभ अन्य औरों को भी देना चाहते थे इसीलिए उन्होंने निश्चय किया कि वे इसी कॉलेज में प्राध्यापकी करें । परन्तु उस समय वहाँ कोई पद रिक्त नहीं था ।

अर्माद इससे निराश नहीं हुए । सेवाभावी व्यक्तियों के लिए कई क्षेत्र खुले पड़े हैं जहाँ वे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर समाज को लाभान्वित कर सकते हैं । ऐसे लोगों के सामने कभी 'नो वेकेन्सी' की समस्या नहीं रहती । उन्हीं दिनों क्लेरमोते फेरार्द में वैज्ञानिक शोधकर्त्ताओं की आवश्यकता हुई । अर्माद को पता चला और मालूम हुआ कि इन शोधकर्त्ताओं को फेरार्द के चर्मों का अध्ययन करना पड़ेगा क्योंकि चर्मों के पानी में कई रासायनिक तत्व मिले हुए हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिए आश्चर्यजनक रूप से लाभदायी सिद्ध हुए हैं । अर्माद ने अपना प्रार्थनापत्र सम्बन्धित अधिकारियों को दे दिया । अधिकारियों ने भी उनकी योग्यता, प्रतिभा और लगन देखकर उन्हें नियुक्त कर लिया ।

अर्माद यद्यपि एक रसायनशास्त्री थे फिर भी उन्होंने इस पानी का प्रयोग रोगग्रस्त चूहों पर किया । इन प्रयोगों के निष्कर्ष इतने महत्त्वपूर्ण थे कि फ्रान्स की 'मेडीकल एकेडमी' ने उन्हें अपना सदस्य चुन लिया । चर्मों के पानी का अध्ययन समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़ दी और रेलवे में नौकरी कर ली ।

रेलवे विभाग में एक जटिल समस्या उनकी प्रतीक्षा कर रही थी । उस समय रेल के इंजनों में वायलर लवण जम जाने के कारण जल्दी खराब हो जाया करते थे । जमे हुए लवणों को खुरचना भी बड़ा मुश्किल का काम था । अर्माद ने एक ऐसी चीज खोज निकाली जिसे पानी में मिला देने पर वायलरों में लवण जमते ही नहीं । इससे वायलर पहले से दुगुने समय तक काम देने लगे ।

१९३८ में, फ्रान्स की रेलों का राष्ट्रीयकरण हुआ । अर्माद की तेजी से पदोन्नति होने लगी । किन्तु तभी विश्वयुद्ध छिड़ गया । जर्मनी ने फ्रान्स को विजित भी कर लिया । फ्रान्स ने तब तक काफी प्रगति कर ली थी । उसके विकसित साधनों का उपयोग कर जर्मनी पूरी यूरोप को जीतने के लिए प्रयत्न करने लगा । अर्माद ने तब देशभक्ति का जो परिचय दिया वह कई फ्रान्सीसी युवकों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया । अर्माद और उनके साथी जर्मन सेनाओं की कार्यवाही में बाधा डालने के लिए तोड़-फोड़ करने लगे । जर्मन की खुफिया पुलिस परेशान हो गयी । पूरे चार साल तक तोड़-फोड़ मूलक गतिविधियों के आयोजक लुई अर्माद पर हाथ भी नहीं डाल पाये । अपने बुद्धि कौशल के बल पर वे यहाँ भी सफल होते रहे ।

परन्तु जून, १९४४ में वे आखिर जर्मन की खुफिया पुलिस के हाथों पड़ ही गये और उनका कोर्ट मार्शल हुआ । सैनिक न्यायालय ने उन्हें मृत्यु दण्ड का फैसला सुनाया और उनको कारावास की काल कोठरी में डाल दिया । अर्माद के जीवन यह कारावास बड़ा महत्त्व रखता है उन्होंने मानसिक संतुलन को कभी डिंगने नहीं दिया और लगातार यह सोचते रहे कि कभी ईश्वर की कृपा से मुक्त जीवन जीने का अवसर मिले तो वे फिर उसी निष्ठा के साथ राष्ट्र के नव निर्माण तथा मानव जाति के कल्याण के लिए प्रयत्न करेंगे । यहाँ तक कि उन्होंने कारावास में ही फ्रान्स की राष्ट्रीयकृत रेलों के विद्युतीकरण की योजना भी बना डाली ।

आखिर फ्रान्स विमुक्त हुआ । उस समय वहाँ की अस्सी प्रतिशत रेलवे सम्पदा नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी । इन्जिन, यात्री डिब्बे, माल के डिब्बे और अधिकांश कारखाने बर्बाद हो गये थे । प्रधान इंजीनियर के पद पर नियुक्त कर फ्रान्स की सरकार ने उन्हें इन सब को पुनर्व्यवस्थित करने का गुस्तर भार सौंपा था । अर्माद को तो जैसे इन उत्तरदायित्वों से ही प्रेम था । अधिकांश लोग अपने अधिकारों की चिन्ता करते हैं परन्तु जो उनकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्त्तव्य पालन का ही ध्यान रखते हैं उन्हें अधिकार के साथ-साथ अन्य अमूल्य उपहार भी स्वयमेव ही मिल जाते हैं ।

अर्माद ने रेलों को पुनर्व्यवस्थित करने के साथ-साथ ही उनके विद्युतीकरण की योजना भी सरकार के सामने रखी । उस समय विद्युत इन्जनों में हल्के वोल्ट का करैण्ट ही काम में लाया जाता था । अर्माद ने ऐसी विधि खोज निकाली जिससे इन्जनों में औद्योगिक करैण्ट का उपयोग किया जाने लगा और भी कई सुधारों के कारण विद्युतीकरण का खर्च बहुत घट गया । आज सारा संसार उस विधि का लाभ उठा रहा है ।

कुछ समय बाद उन्हें रेलवे बोर्ड का डायरेक्टर जनरल और बाद में अध्यक्ष बनाया गया । इन पदों पर रहकर उन्होंने महत्त्वपूर्ण कदम उठाये । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूरोपीय देशों को यातायात के मामले में एकीकरण के लिए तैयार कर लिया । पहले होता यह कि दूसरे देश में माल भेजने के लिए सीमा पर माल को उस देश की वैगनों में भरा जाता था । इससे समय और श्रम का अनावश्यक अपव्यय होता था । अर्माद ने यूरोपीय देशों में यह परम्परा बनायी कि वही वैगन दूसरे देशों में भी आने-जाने लगी । इससे वैगनों का पूर्ण उपयोग भी होने के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप का यातायाती एकीकरण हो गया ।

मशीनों के सम्बन्ध में अहर्निश सोचते रहने के बावजूद भी उनकी एक मूल मान्यता मशीनों के मूल्यांकन और महत्त्वबोध को स्पष्ट कर देती है । वे मानते हैं कि आधुनिक युग में यन्त्रों का अपना महत्त्व है परन्तु उनका विचार है कि ये यंत्र तो मानव जाति को सुखी बनाने के साधन मात्र हैं जहाँ उसके अस्तित्व शक्ति और मूल स्वरूप

को कोई हानि पहुँचाने लगती है अर्माद वहाँ यांत्रिक सभ्यता के सबसे बड़े विरोधी हैं। वस्तुतः आज तक युद्ध जीतने या धन कमाने की आकांक्षा ने ही आविष्कारकों को प्रेरणा दी है। इसी मूल आकांक्षा का परिणाम एक से एक बढ़-चढ़ कर संहारक अस्त्र, विनाशकारी अणु-परमाणु बम आदि वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं। परन्तु अर्माद विज्ञान के इस स्वरूप के घोर विरोधी हैं। वे मानते हैं कि मानव मात्र का हित साधन विज्ञान का आधार होना चाहिए।

अपने साथी इंजीनियरों को भी वे आर्थिक लाभ को गौण मानकर काम करने के लिए प्रेरित करते हैं और कहते हैं कि हमें तकनीकी दृष्टि से सम्भव और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद योजना पर भी इस कसौटी पर कसने के बाद विचार करना चाहिए कि वे औसत आदमी को कितना लाभ पहुँचाती हैं।

इसीलिए उन्होंने १९५८ में यूरेटस योजना बनायी जिसके अनुसार औद्योगिक क्षेत्र में अणुशक्ति का उपयोग करने के लिए पश्चिम यूरोप के कई देशों ने मिलकर प्रयास आरम्भ किये। मानवमात्र के हित साधक, विचारों से उदार और आदर्शवादी लुई अर्माद को फ्रान्सीसी जनता इतना अधिक प्यार करती तो उसे मात्र संयोग नहीं कहा जाना चाहिए। वास्तव में इस प्यार की कीमत उन्होंने स्वयं को ही समर्पित कर चुकाई है।

राजनीति के क्षेत्र में भले ही उसकी कोई दिलचस्पी न रही हो परन्तु वे किसी भी राजनेता से अधिक समय तक याद किये जाते रहेंगे।

जिन्होंने सामन्तशाही के विरुद्ध आवाज उठायी—

लू-शुन

लू-शुन की मृत्यु के बाद उन्हें श्रद्धांजलि-देते हुए चीन के राष्ट्राध्यक्ष माओत्से तुंग ने कहा था वे साँस्कृतिक क्रान्ति के महान सेनापति और वीर सेनानी थे। वे केवल लेखक ही नहीं वरन् एक महान विचारक और क्रांतिकारी भी थे, एक ऐसे तपे हुए असाधारण राष्ट्रीय वीर जो प्रतिभाशाली तत्त्वों से संघर्षों को अपना कर्तव्य मानकर जूझते रहे।

ये शब्द उस समय कहे गये जब माओ स्वयं भी एक क्रांतिकारी सैनिक के रूप में काम कर रहे थे। सन् १९३६ में चीन में परिवर्तनों का दौर-दौरा चल रहा था। जर्जर और अस्त-व्यस्त समाज व्यवस्था तथा शासनतन्त्र को तीव्र कर नये समाज की रचना के प्रयत्न चल रहे थे। तो ऐसे समय में अर्पित किये गये ये श्रद्धासुमन इस बात के प्रतीक नहीं हो सकते थे कि लू-शुन चीन के वर्तमान शासकों के अन्धभक्त या अन्ध समर्थक रहे हों। उस समय जब सामान्य जनता और बुद्धिजीवी हर कोई शिक्षण तथा उत्पीड़न का शिकार हो रहा था। यद्यपि स्वदेशी शासन

व्यवस्था थी परन्तु सामन्तों तथा जागीरदारों का समाज में इतना प्रभुत्व था कि उसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं था।

उस समय में इन तत्त्वों के खिलाफ आवाज उठाने का एक ही अर्थ था घुट-घुट कर मर जाने के लिए मृत्यु को निमन्त्रण। इसलिए ऐसा दुस्साहस शायद ही किसी का होता हो और जो यह दुस्साहस करता भी उसे बड़ी नारकीय स्थिति में जीना पड़ता। कुछेक आदर्शवादी और सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति ऐसा साहस करते भी तो भूख, बेकारी और पत्नी-बच्चों की कराह उन्हें जल्दी ही तोड़ देती। इन सब सम्भावनाओं के बावजूद भी लू-शुन ने चीन के नागरिकों को नये जीवन का सन्देश दिया तथा नये समाज के सृजन का आह्वान किया।

उपरोक्त परिस्थितियों का चित्रण करते हुए उन्होंने एक मार्मिक कहानी लिखी है—“भूतकाल का पश्चाताप”। जिसमें उनका यह आक्रोश बड़ी तीव्रता से व्यक्त हो उठा है। इस कहानी का नायक शिक्षित है और लेखक भी। बदलती परिस्थितियों में वह मितव्ययिता से अपना गुजारा चलाने का प्रयत्न करता है परन्तु परिस्थितियों से तालमेल नहीं बैठता। नायक की मनःस्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है इस कहानी में, उसे कोई काम नहीं मिलता। वह सोचता है कि जब मेरे पास आजीविका का कोई साधन नहीं है तो मैं अपनी पत्नी से प्रेम भी कैसे कर सकता हूँ और वह अपनी पत्नी को कहीं और भेज देता है—जहाँ वह मर जाती है। पत्नी के देहान्त का समाचार पाकर नायक अवाक् रह जाता है। इस स्थिति में एक सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति की क्या मनोदशा होगी, यह तो उसी स्तर का व्यक्ति अनुभव कर सकता है। लू-शुन सोचता है, उसके विचार बदलते हैं और वह विचार बदलने के साथ-साथ अपनी जीवन-दशा भी बदल देता है। उन निर्णायक क्षणों में वह कहता है कि निस्सन्देह इन परिस्थितियों से समझौता करने के लिए मुझे अपने हृदय को घायल करना पड़ेगा परन्तु जीने के लिए मुझे अपने घायल हृदय में सत्य को छिपाना ही पड़ेगा। जीने का एक यही रास्ता है कि अपने जीवन-दर्शन को भुलाकर असत्य को ही अपना मार्गदर्शक बनाना पड़ेगा। इस कहानी के शिल्प और भाषा में इतना करारा और तीव्र व्यंग्य किया गया था कि जो लोग उसका निशाना बने वे तिलमिला उठे। लू-शुन जानते थे कि नौकरशाही को नाराज कर उसके क्या कुपरिणाम भोगना पड़ेंगे। जानबूझ कर खतरा मोल लेना तो वस्तुतः एक बड़े साहस की बात है। अनजाने आ गये खतरों से साधारणतः बचाव ही करना पड़ता है, उससे व्यक्तित्व का उतना उत्कर्ष नहीं होता जितना कि जानबूझ कर खतरों को निमन्त्रण देने और उनसे जूझने में।

ऐसे संघर्षशील तपस्वी साहित्यकार लू-शुन का जन्म सन् १८८९ में चीन से बेकियांग प्रांत के शाओशिंग नगर में एक सामन्ती परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता

सम्पन्न और समृद्ध होने के साथ-साथ विद्वान और उदार व्यक्तित्व के भी थे। लू-शुन का बचपन का नाम चाओ-शेरेन था। उनके व्यक्तित्व पर माता का अधिक प्रभाव रहा था। जिसका नाम लू था। पिता कठोर अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। नियमों और मर्यादाओं में तनिक-सा ढीलापन भी उन्हें बर्दाश्त नहीं होता। इसी विशेषता के कारण वे कभी-कभी तो अपनी पत्नी के प्रति भी कठोर रूप हो जाया करते थे। माँ के सहृदय निकट सानिध्य में रहने से चाओ स्वयं को पिता के स्वभाव से सुरक्षित अनुभव करते और वे प्रभावित भी अपनी माँ से ही अधिक रहे। इसी कारण उन्होंने आगे चलकर लू-शेन के नाम से लेखन कार्य आरम्भ किया।

छहवर्ष की अवस्था में उन्हें स्कूल में भर्ती करवाया गया। उन्हें जो अध्यापक मिला था वह बहुत अच्छे ढंग से कहानियाँ कहना जानता था। अध्यापक की सुनाई हुई कहानियों ने लू-शुन का रुझान कहानी विद्या की ओर मोड़ा। कथा-कहानी सुनने और सुनाने में उन्हें बड़ा मजा आता। कालान्तर में उनकी रुचि चित्रकला में भी हुई लेकिन कहानी की ओर उनकी रुचि ज्यों की त्यों ही बनी रही। ११ वर्षों में लू-शुन ने इस स्कूल की पढ़ाई पूरी करली और नानकिंग के एकेडमी स्कूल में प्रविष्ट हुए।

यहाँ उन्होंने चार वर्ष तक पाठ्य-पुस्तकों के साथ पाठ्यक्रमेतर साहित्य भी पढ़ा। विदेशी लेखकों और साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी पुस्तकें उन्हें विशेष रूप से अच्छी लगती थीं। विदेशी साहित्य का अध्ययन करते समय वे यह भी सोचते कि चीनी भाषा में ऐसे साहित्य का वस्तुतः अभाव था। विदेशी साहित्यकारों की इन कृतियों को देखकर ही उन्होंने चीनी भाषा में सृजनात्मक साहित्य लिखने की प्रेरणा पायी। उस समय के संस्मरण लिखते उन्होंने एक स्थान पर कहा-जब कभी मैं कोई चीनी पुस्तक पढ़ता तो मुझे लगता था कि जैसे मैं मानवीय अस्तित्व का अंश नहीं हूँ। परन्तु विदेशी पुस्तकें पढ़ते समय मुझे बड़ी तीव्रता से यह अनुभूति होती है कि मैं मानवीय अस्तित्व के सम्पर्क में आ गया हूँ और मेरे शरीर में विद्युत-सी दौड़ने लगती। निस्सन्देह यह चीनी साहित्य की दीनता थी और इस दीनता को दूर करने के लिए मेरे अन्तःकरण में निरन्तर प्रेरणायें उठती रहती थीं।

लू-शुन ने सन् १९०१ में बी० ए० पास किया और सरकारी छात्रवृत्ति पर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शन और साहित्य का अध्ययन करने के लिए जापान चले गये। इन विषयों के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने जापानी जन-जीवन का अध्ययन भी किया जो प्रखर रूप से राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत था। वहाँ के नागरिकों की तुलना जब वे चीनी नागरिकों से करते तो दुःख और वेदना के कारण उनकी आँखें नम हो जातीं और वे सोचते कि चीनी जनता की यह उदासीनता न जाने कब दूर होगी। आठ वर्ष तक जापान में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर

जब वे चीन लौटे तो उनकी वेदना और अधिक बढ़ गयी तथा उन्होंने संकल्प लिया कि वे लोगों की शारीरिक चिकित्सा के स्थान पर मस्तिष्कीय, भावनात्मक-चिकित्सा, चेतना की चिकित्सा के लिए प्रयत्न करेंगे। शरीर के स्वास्थ्य की अपेक्षा मनुष्य का मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य अधिक महत्वपूर्ण है और इसी की प्राप्ति के लिए साहित्य ही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम सिद्ध हो सकता है। लू-शुन ने ऐसी स्थिति में डॉ० बनने की अपेक्षा शाओशिंग स्कूल में अध्यापक हो गये।

सन् १९११ में क्रांतिकारी लहरें उठने लगीं। इस क्रान्ति से राजवंशों का खात्मा तो हुआ लेकिन साम्राज्य-वाद और सामन्तवाद का उन्मूलन नहीं हो सका। सामन्ती समाज का प्रभाव और प्रभुता ज्यों की त्यों बनी रही। इस स्थिति को उलटने के लिए लू-शुन ने अपनी कलम उठायी और ऐसे तत्त्वों से लोहा लेने लगे। वे शाओशिंग से पेकिंग आ गये। पेकिंग उन दिनों साहित्यिक और सांस्कृतिक हलचलों का केन्द्र बना हुआ था। लू-शुन को सरकारी शिक्षा विभाग में एक अच्छा पद मिल गया तथा आगे चलकर १९१९ में वे जब पेकिंग विश्वविद्यालय में अध्यापक बने तो 'नवयुवक' पत्र का सम्पादन भी करने लगे।

यह पत्र लू-शुन की साहित्यिक गतिविधियों का प्रमुख माध्यम बना। इसी के माध्यम से पुरानी जर्जर व्यवस्था को नष्ट करने तथा नवसृजन के लिए युवकों और विद्यार्थियों को प्रेरणा दी व उनका मार्गदर्शन किया। जब लगा कि यह आंदोलन कुछ समय में पुरानी व्यवस्था के लिए चिंतनीय समस्या बन जायेगा तो सन् १९२६ ई० में इसका तीव्र दमन किया गया। इसी दमन के परिणामस्वरूप लू-शुन को पीकिंग विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग से पृथक भी होना पड़ा।

बचपन की अभिरुचि से विकसित कथा-शिल्प की प्रतिभा को उन्होंने और मौज कर निखारा तथा वे कहानियाँ लिखने लगे, ये कहानियाँ तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर लिखी गयीं। अपनी लेखनी द्वारा उन्होंने सामन्ती व्यवस्था पर करारे प्रहार किये। उन्होंने दोनों पक्षों का ध्यान रखा। पहला पक्ष तो था उन व्यवस्था से पीड़ित लोगों का जो शोषण के इस चक्र में बुरी तरह पिस चुके थे और पिसते जा रहे थे उनका करुणार्द्र चित्रण तथा दूसरा इसका विकल्प प्रतिपादन। वर्तमान व्यवस्था को तोड़ा जाय तो इसके स्थान पर किया क्या जाय?

पहले पक्ष में उन्होंने शोषित और उत्पीड़ित वर्ग का बड़ा ही करुण तथा मार्मिक चित्रण किया। जो आज भी इतना सजीव है कि पढ़कर नेत्र सजल हो उठें। सन् १९२८ में शंघाई आकर रहने लगे। उन्होंने यहाँ रहकर समाजवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। इस पक्ष को जन-साधारण के सामने रखने के लिए उन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध तथा ऐतिहासिक कहानियाँ

लिखीं। अन्य देशों की रचनाओं का साहित्यानुवाद प्रकाशित किया। उनकी कहानियाँ पढ़कर तिलमिला उठा हृदय समाधान पाकर तृप्त सा हो जाता। मात्र तृप्त ही नहीं वरन् एक दिशा भी प्राप्त कर लेता था।

इस प्रकार उन्होंने समाजवादी क्रांति की सम्भावनाओं को मजबूत बनाया। यह सच है कि कोई भी परिवर्तन चाहे बड़ा हो या छोटा विचारों के रूप में ही जन्म लेता है। मनुष्यों और समाज की विचारणा तथा धारणा में जब तक परिवर्तन नहीं आता तब तक सामाजिक परिवर्तन भी असम्भव ही है और कहना यही होगा विचारों के बीज साहित्य के हल से ही बोये जा सकते हैं। लू-शुन ने चीनी जनता को समृद्ध व सुखी बनाने के लिए इसी कृषि उपकरण का सफल प्रयोग किया।

सितम्बर, १९३६ में लू-शुन का देहान्त हो गया। परन्तु उन्होंने चीनी भाषा के साहित्य को जो समृद्धि और सम्पन्नता दी वह चिरस्मरणीय है।

व्यवस्थित जीवन की कुञ्जी-समय की पाबन्दी-

जार्ज वाशिंगटन

नियमपूर्वक तथा समय पर काम करने से सब काम भली प्रकार हो जाते हैं। जो लोग समय के पाबन्द नहीं होते उनके काम आधे-अधूरे और हमेशा धमा-चौकड़ी मची रहती है। काम अच्छी तरह समाप्त हो जाता है तो उत्साह भी मिलता है और प्रसन्नता भी होती है। काम पूरा न होने से असन्तोष और अप्रसन्नता होती है, इसलिये विचारवान व्यक्ति सदैव समय का पालन करते हैं। इस तरह दूसरी व्यवस्थाओं और प्रबन्ध के लिये भी समय बनाये रखते हैं।

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन के जीवन की एक घटना से समय की पाबन्दी की उपयोगिता का प्रकाश मिलता है। एक बार उन्होंने कुछ मेहमानों को तीन बजे भोजन के लिये आमन्त्रित किया। साढ़े तीन बजे सैनिक कमाण्डरों की एक आवश्यक बैठक में भाग लेना था।

नौकर जानता था कि जार्ज साहब समय की नियमितता को कितनी दृढ़ता से निबाहते हैं। ३ बजे ठीक मेज तैयार हो गई। सूचना दी गई भोजन की मेज तैयार है। तीन बज गये, अभी तक मेहमान नहीं आये।

एक बार ही वाशिंगटन के मस्तिष्क में एक चित्र उभरा-“मेहमानों की प्रतीक्षा न की गई तो वे अप्रसन्न हो जायेंगे। तो फिर क्या बैठक स्थगित करें। यह समय सारे राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित है। क्या अपनी सुविधा के लिये राष्ट्र का अहित हो सकता है? क्या राष्ट्र हित को दो-तीन व्यक्तियों की अप्रसन्नता के लिये उत्सर्ग करना बुद्धिमानी होगी।”

हृदय ने दृढ़तापूर्वक कहा-“नहीं नहीं, जब परमात्मा अपने नियम से एक सेकण्ड आगे-पीछे नहीं होता, जिस दिन जितने बजे सूरज को निकलना होता है, बिना किसी की परवाह किये वह उतने ही समय उग आता है तो मुझे ही इस ईश्वरीय आदेश का पालन करने में संकोच या भय क्यों होना चाहिए?”

ठीक है-नौकर को सम्बोधित कर उन्होंने कहा- शेष प्लेटें उठा लो हम अकेले ही भोजन करेंगे। मेहमानों की प्रतीक्षा नहीं की गई।”

आधा भोजन समाप्त हो गया तब मेहमान पहुँचे। उन्हें बहुत दुःख हुआ। देर से आने का, कुछ अप्रसन्नता भी हुई। वे भोजन में बैठ गये तब तक वाशिंगटन ने अपना भोजन समाप्त किया और निश्चित समय विदा लेकर उस बैठक में भाग लिया।

मेहमान इसी बात पर रुष्ट थे कि उनकी १५ मिनट प्रतीक्षा नहीं की गई, अब उन्हें और भी कष्ट हुआ क्योंकि मेजबान भोजन समाप्त कर वहाँ से चले भी गये। किसी तरह भोजन करके वे लोग भी अपने घर लौट गये।

सैनिक कमाण्डरों की बैठक में पहुँचने पर उन्हें पता चला कि यदि वे नियत समय पर नहीं पहुँचते तो अमेरिका के एक भाग में भयंकर विद्रोह हो जाता। समय पर पहुँच जाने के कारण स्थिति सम्हाल ली गई और एक बहुत बड़ी जन-धन की हानि को बचा लिया गया।

इस बात का पता कुछ समय बाद उन मेहमानों को भी चला तो उन्हें समय की नियमितता का महत्त्व मालूम पड़ा। उन्होंने अनुभव किया प्रत्येक काम निश्चित समय पर करने, उसमें आलस्य-प्रमाद या ढील न देने से भयंकर हानियों को रोका जा सकता है और जीवन को सुचारु ढंग से जिया जा सकता है।

वे फिर से राष्ट्रपति के घर गये और उनसे उस दिन हुई भूल की क्षमा माँगी। राष्ट्रपति ने कहा-“इसमें क्षमा जैसी तो कोई बात नहीं है पर हाँ जिन्हें अपने भोजन की व्यवस्था, परिवार, समाज और देश की उन्नति का ध्यान हो उन्हें समय का कड़ाई से पालन करना ही चाहिए।”

परिश्रम करना गौरव की बात है हीनता की नहीं-

अमेरिका में स्वतन्त्रता संग्राम चल रहा था। सुरक्षा की दृष्टि से एक किले की मरम्मत हो रही थी। मरम्मत के काम में संलग्न एक सैनिक टुकड़ी अपने नायक की देख-रेख में एक बड़ा लट्ठा दीवार पर चढ़ाने की कोशिश कर रही थी। लट्ठा ज्यादा भारी था इसलिये वह चढ़ नहीं रहा था। टुकड़ी का नायक सैनिकों पर झल्लाता, उन्हें डाँटता और कभी-कभी उत्साहित भी करता। किन्तु कोई फल न निकलता था। तभी एक घुड़सवार उधर से निकला

यह दृश्य देखकर उसने नायक से कहा-“महोदय ! यदि आप भी इसमें हाथ लगा दें तो यह लट्ठा शीघ्र ही दीवार पर चढ़ जाये ।”

नायक ने भीड़ें तानकर कहा-“यह आप क्या कहते हैं जानते नहीं मैं इस टुकड़ी का नायक हूँ ।” घुड़सवार अपने शब्द वापस लेकर घोड़े से उतर पड़ा और अपना कोट उतार कर सैनिकों के साथ काम में जुट गया । लट्ठा बात की बात में दीवार पर चढ़ गया ।

सवार ने आकर अपना कोट पहना, हैट लगाया और घोड़े पर सवार हो लिया तभी नायक ने उसे धन्यवाद दिया ! सवार ने नायक से कहा कि धन्यवाद की आवश्यकता नहीं है । किन्तु यदि आपको कभी इस प्रकार परिश्रम के कामों में अड़चन हो तो मुझे इस पते से याद कर लिया करें ।

“वाशिंगटन-प्रधान सेनापति अमेरिका ।” इसके पूर्व ही कि हक्का-बक्का हुए नायक के मुँह से कोई शब्द निकले वाशिंगटन यह कहकर आगे बढ़ गये-“परिश्रम करना गौरव की बात है हीनता की नहीं ।”

सभ्यता का स्तर

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन अपने कुछ मित्रों के साथ कहीं जा रहे थे । मार्ग में एक हब्बी ने अपनी टोपी उतार, अदब से झुककर उनका अभिवादन किया । प्रत्युत्तर में जार्ज वाशिंगटन ने भी उसी ढंग से अभिवादन किया । उनके मित्रों को यह बुरा लगा बाद में अवसर मिलने पर कहा-“आपको ऐसा करना कोई आवश्यक नहीं था ।” इस पर वे बोले-“राष्ट्रपति होने का मतलब यह तो नहीं कि कोई सभ्यतापूर्वक अभिवादन करे उसका उत्तर भी न दिया जाय ।” एक अनपढ़ हब्बी झुककर नमस्कार करता है तो वह उसकी सभ्यता है पर एक पढ़ा-लिखा सभ्य जो अमेरिका का राष्ट्रपति है वह उनका वैसा ही प्रत्युत्तर न देता तो यह असभ्यता ही होती ।”

शान्ति, स्वतन्त्रता का अमर उपासक-

विलियम पेन

विश्व-मानव को समृद्ध, आश्वस्त और सुखी बनाने के लिए नूतन आदर्श व सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वालों को काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता । भविष्य के ये दृष्टा अपने गहन चिन्तन के परिणाम स्वरूप ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित कर जाते हैं जो उनके समय में सर्वथा काल्पनिक व अव्यावहारिक लगते हैं, किन्तु आगे जाकर वे ही व्यवस्था में आते हैं-उन्हें कार्यान्वित किया जाता है । ऐसे ही एक व्यक्ति थे विलियम पेन जिन्होंने आज से २५० वर्षों पहले व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये

ब्रिटिश शासन से संघर्ष किया था । उन्होंने प्रजातन्त्र व स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि तैयार की थी । इस प्रतिपादन के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रसंघ की योजना भी बनाई थी ।

विलियम पेन का जन्म लन्दन में सन् १६४४ में हुआ था । उन दिनों व्यक्ति की आत्मा पर भी राजा का पहरा होता था । इंग्लैण्डवासियों को वही धर्म मानना होता था जो उनके राजा को पसन्द होता था । व्यक्ति की श्रद्धा व विश्वास पर पहरे बिठाये हुये थे । विलियम ज्यों-ज्यों वयस्क होते गये त्यों-त्यों उन्हें यह बन्धन अखरने लगे । घर में कमी कुछ भी नहीं थी, उनके पिता ब्रिटिश नौ सेना में एडमिरल थे । भविष्य में उनके लिए भी उच्च पद मिलना सुनिश्चित था किन्तु सोने के पिंजरे में रहकर भी पक्षी उस आनन्द से वंचित ही रहता है जो उसे स्वतन्त्र रहकर प्रकृति की गोद में उन्मुक्त विचरण से मिल सकता है ।

चौबीस वर्ष की आयु में ही उन्हें ‘लन्दन टावर’ नामक कारावास की सैर करनी पड़ी । उसका कारण उनका क्वेकर (शान्ति संगठन) नामक सम्प्रदाय का अनुयायी बनना था, जो राजाज्ञा के अनुसार प्रतिबन्धित था । क्वेकर सम्प्रदाय के सदस्यों को राजा के विधान द्वारा क्रूर यातनाएँ दी जाती थीं ।

पिता ने अपने पुत्र से बड़ी-बड़ी लौकिक कामनाएँ लगा रखी थीं । उनका सपना उनके पुत्र को ब्रिटिश शासन तन्त्र के उच्चधिकारी के रूप में देखने का था । किन्तु विलियम के कार्य-कलापों से उनका यह स्वप्न चूर-चूर हो गया । उन्होंने उसे बुरी तरह तिरस्कृत किया, मारा-पीटा भी पर वह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ थे । इसी कारण उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से भी निष्कासित कर दिया गया ।

नौ महीने के सश्रम कारावास ने उनके संकल्पों को दृढ़ ही किया था डिगाया नहीं । क्योंकि यह उनके अकेले की समस्या नहीं थी लाखों व्यक्ति इस अन्याययुक्त कानून से अपने धर्म, विश्वास तथा निष्ठा को बनाए नहीं रख सकते थे । जन-जन की इस पीड़ा को अपने हृदय में स्थान देने के कारण ही वे इतने दृढ़ बन सके थे ।

जेल से मुक्त होते ही उन्होंने ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, हालैण्ड आदि देशों की यात्रा की । उन्होंने स्थान-स्थान पर जनसभाएँ आयोजित करके लोगों को अपनी अंतःप्रेरणा को अभिव्यक्त करने के माध्यम धर्म को राज्य के कारागृह से मुक्त कराने का उद्बोधन दिया । इन जन सभाओं में अधिकांश क्वेकर मतावलम्बी आते थे या वे लोग आते थे जो अपने खोये हुए अधिकारों को पाना चाहते थे । इनकी संख्या हजारों में होती थी ।

लन्दन में अपने हजारों अनुयायियों की एक सभा में भाषण देते समय ब्रिटिश सरकार के सिपाहियों ने सभागृह के ताले डाल दिये । विलियम पेन को पकड़ लिया गया ।

उन्हें न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया गया। इस तथा-कथित न्यायालय में इस प्रकरण के समय जो कुछ हुआ वह न्याय के नाम पर अन्याय ही था।

न्यायाधीश सर सेमुअल स्टालिंग लार्ड मेयर ऑफ लन्दन ने उनसे कहा-‘तुम्हें राजाज्ञा उल्लंघन का अपराधी पाया गया है।’

विलियम पेन ने न्यायालय को चुनौती देते हुए कहा-“प्रश्न यह नहीं है कि मैं अपराधी हूँ या नहीं। प्रश्न यह है कि मुझे जिस प्रकार पकड़कर यहाँ अपराधी के कटघरे में खड़ा कर दिया है क्या वह वैधानिक है?”

विलियम पेन के इस उत्तर को सुनकर न्यायाधीश क्रोध से जल उठा। उसने पेन को अभद्र वचन कहते हुए सिपाहियों से उसे जानवरों के कटघरे में बन्द करवा दिया। पेन का उद्देश्य इंग्लैण्डवासियों में स्वतन्त्रता की भावना जगाना था। कटघरे में बन्द करके भी उनकी आवाज को तो बन्द नहीं किया जा सकता था। उन्होंने जूरी से अनुरोध करते हुए कहा-“देखिये आप लोग ब्रिटेन-वासी हैं। किस प्रकार एक भद्र व्यक्ति को जानवरों के कटघरे में बन्द किया गया है। क्या यह न्याय है? आप अपने अधिकारों को छोड़ियेगा नहीं। यह मेरी ही बात नहीं एक सम्मानित देश के सामान्य नागरिक की बात है।”

जूरी ने पेन को निर्दोष घोषित किया। क्रुद्ध न्यायाधीश ने उन्हें साम, दाम, दण्ड और भेद सभी नीतियों से अपने निश्चय से डिगाना चाहा पर वे अटल रहे। उन्हें मारा गया तथा उन्हें न्यायालय का अपमान करने का अपराधी मानकर जेल में डाल दिया। बाद में उन्होंने न्यायाधीश पर मुकदमा दायर किया और वे जीते।

विलियम पेन को पाँच बार जेल जाना पड़ा। जेल में भी उनका चिन्तन-मनन चलता रहा। इस समय में उन्होंने अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित स्वरूप दिया। नयी-नयी योजनाएँ बनायीं। जेल की दीवारों पर अपने सिद्धान्तों को लिखा। वह एक सम्प्रदाय के नेता से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के जनक बन गये। उनकी ख्याति देश-विदेश में फैल गयी। यह उनकी उस धीरता का परिणाम था कि जेल भी उनके लिए वरदान बन गयी।

वे जेल से बाहर निकले तो यूरोप के एक सशक्त लोकप्रिय व्यक्तित्व के धनी थे। उन्हें पीटर के समान महान माना गया। चार्ल्स द्वितीय, जेम्स द्वितीय, विलियम ऑफ ओरेंज तथा रानी एनी जैसे राज परिवार के लोग भी उनके प्रशंसक बन चुके थे। अपने इस प्रभाव से उन्होंने कितने ही लोगों को अन्याय के दमनचक्र से छुड़ाया।

कुछ लोगों के कहने पर उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में भी जमाने का प्रयास किया। उनका यह विश्वास था कि सुशासन लाने के लिए राजनीति में दखल रखना भी आवश्यक है। किन्तु दो चुनावों के परिणाम देखकर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि दो नावों पर पाँव रखकर चलने पर धोखा भी खाना पड़ता है। उनके उम्मीदवार दो बार

उचित-अनुचित दोनों तरीके काम में लाने के कारण हार गये। सच तो यह है कि बिना नैतिकता व आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठापना के समाज की समग्र प्रगति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने ‘एकै साथ सब सधे’ की उक्ति के अनुसार ही कार्य करना आरम्भ किया।

अपने ‘पवित्र प्रयोग’ के लिए उन्होंने इंग्लैण्ड छोड़कर अमेरिका को चुना। चार्ल्स द्वितीय से उन्होंने ५०,००० पौण्ड में अमेरिका के एक विस्तृत भूभाग को खरीदा। व्यक्ति, समाज, देश और विश्व को सुनियोजित कड़ियों में जोड़ने और अपने उस चिन्तन को एक व्यावहारिक रूप देने का कार्य किया, जिसे उन्होंने जेल की काल कोठरी में बैठकर किया था। यह प्रदेश डेल्वेयर नदी के पास था तथा क्षेत्रफल में इंग्लैण्ड जितना ही बड़ा था। यहाँ के निवासी रेड इण्डियन, डच, स्वीडिश तथा ब्रिटिश थे। यहाँ कोई व्यवस्थित सरकार नहीं थी। यहीं उसने अपने सिद्धान्तों का बीज रूप में रोपण किया जो कालान्तर में फले फूले।

१६८२ में अक्टूबर माह में विलियम पेन का डेल्वेयर नदी के तटवर्ती प्रदेश में पदार्पण हुआ। इस प्रदेश के निवासियों ने उनका बड़े जोर-शोर से स्वागत किया। उनके विचार, सिद्धान्त तथा ख्याति उनके आने के पहले ही वहाँ फैल चुकी थी। उन लोगों ने उस प्रदेश का नामकरण संस्कार उन्हीं के नाम पर पेन्सिलवेनिया कर दिया। आज यह प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका की समृद्धतम स्टेट है किन्तु उस समय यहाँ विशाल जंगल था।

यहाँ उन्होंने अपने उन महत्वपूर्ण स्वप्नों को साकार करना आरम्भ किया। १०,००० एकड़ में फिल्लेल्फिया नगर की योजना बनाई। यह एक बालक के उत्साह जैसा ही कार्य था। इतने बड़े नगर में रहने वाले कहाँ से आयेंगे अतः अनुभवी लोगों ने उन्हें १,२०० एकड़ में ही नगर बसाने की सलाह दी। किन्तु आज वह नगर उनके अनुमान से अधिक फैल चुका है। प्रत्येक मकान का अपना बगीचा और प्रत्येक सड़क वृक्षों से ढकी हुई बनायी गयी थी।

उनके सुशासन में सभी प्रकार से सुख-शान्ति थी। आदिवासी रेड इण्डियन तथा अन्य यूरोपीय देशों से आकर बसने वाले लोग भाईचारे से रहते थे। पेन ने इस कोलोनी का अपना एक संविधान बनाया था। इसमें प्रत्येक नागरिक को अपने वैयक्तिक अधिकार मिले हुए थे। चुनाव द्वारा पार्षद चुने जाते थे तथा वे स्टेट का प्रबन्ध करते थे। प्रत्येक वयस्क को मताधिकार था। सभी को समान रूप से न्याय मिलने की व्यवस्था थी। धर्म व संस्कृति के मामले में सरकार कोई दखल नहीं देती थी।

पेन ने न्यायपालिका को राज्यपालिका के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखा। वहाँ के न्यायालय में रेड इण्डियनों को भी जूरी में स्थान दिया था।

प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता ही नहीं आत्मनिर्भर तथा समृद्ध बनाने की सुविधाएँ भी उसने पेन्सिलवेनिया के

नागरिकों को प्रदान की। पेंसिलवेनिया में कलाकारों, कारीगरों तथा योग्य कृषकों को बसने की पूरी-पूरी सुविधाएँ जुटाई गयीं। जहाज निर्माण, खनिज दोहन तथा फल के व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया।

कालोनी में शिक्षा व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध था। गरीबों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान की परिधि में ही नहीं सिमटी हुई थी वरन् जीवन के समग्र विकास की कसौटी पर भी खरी उतरती थी। रूढ़िवाद तथा निरर्थक परम्पराओं से जनता को मुक्त रखा गया।

पेन का अपना परिवार सुखी तथा सम्पन्न था। उन्होंने पेंसिलवेनिया में अपना सुन्दर मकान बनाया तथा अपने परिवार के साथ आनन्दपूर्वक वहीं रहे। १७०१ में उन्हें अपनी कालोनी की प्रगति के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड आना पड़ा। उसके बाद वे पुनः अमेरिका नहीं लौट सके।

अपने 'एन ऐसे ऑन दी प्रजेण्ट एण्ड फ्यूचर पीस ऑफ यूरोप' (यूरोप की वर्तमान तथा भविष्य सम्बन्धी शान्ति पर एक लेख) नामक दस्तावेज में उन्होंने अपने गहन चिन्तन के आधार पर विश्व-शान्ति के सम्भाव्य हल तथा युद्ध की विभीषिका से मुक्ति का मार्ग सुझाया। यह दस्तावेज आज भी विश्व-शान्ति के लिये पथ प्रदर्शन कर सकता है। उनमें से बहुत-सी बातें अब अपनायी जा रही हैं।

उस काल में राज्य-तन्त्र तथा युद्ध मनुष्य की त्रासदियाँ थीं। आज भौतिक-समृद्धि को ही चरम सत्य मान बैठने की भूल मनुष्य कर रहा है। विलियम पेन की तरह आज कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्तों द्वारा भावी सुख-शान्ति का विधान रच रहा हो तो यह कोई असम्भव बात नहीं। आज वह नगण्य लगे पर कल उसका महत्त्व स्वीकार करना ही होगा।

आत्मविश्वास के धनी-

विंस्टन चर्चिल

सन् १९३९ की बात है। तब ब्रिटेन के प्रधानमंत्री थे बैबेइल चैम्बरलैन। स्वभाव से शान्तिप्रिय और युद्ध से घबड़ाने वाले। विश्व राजनीति के घटनाक्रम में जर्मनी एक बार फिर सिर उठा रहा था। चैम्बरलैन ने हिटलर को सन्तुष्ट करने और शांति रखने का हर सम्भव प्रयास किया परन्तु सब निष्फल गया। हिटलर ने आखिर पोलैण्ड पर आक्रमण कर ही दिया।

उन्नत वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों के सामने पोलैण्ड की सेनाओं के पैर नहीं जम सके और यह देश तीन सप्ताह में ही हार गया। जर्मनी, बेल्जियम, हालैण्ड और फ्रांस को रौंदता हुआ इंग्लैण्ड की ओर बढ़ने लगा। उस समय ब्रिटेन विश्व की सबसे बड़ी महाशक्ति थी। इसलिए वहाँ चिन्ता व्याप जाना स्वाभाविक ही था। चैम्बरलैन के सामने अबीब किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति पैदा हो गयी थी।

उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था। बाहर से शत्रु सेनाओं का बढ़ता दबाव और अन्दर जनता को तथा जनता के प्रतिनिधियों को जबाब देना मुश्किल। लोग माँग करने लगे 'चैम्बरलैन को हटाओ'- युद्ध काल में देश की इमेज को बचाने में असमर्थ नेता भले ही कितना लोकप्रिय क्यों न रह चुका हो, स्थिति पर काबू न पाने के कारण जनता का विश्वास खो ही देता है।

अब समस्या खड़ी हुई कि स्थिति का सामना करने के लिए किसे निमन्त्रित किया जाय और कौन नेता काँटों का ताज अपने सिर पर रखने के लिए आसानी से तैयार होगा। इस समस्या का समाधान भी सुझाया स्वयं ही जनता ने। 'चैम्बरलैन को हटाओ'-नारा लगाने के साथ-साथ एक माँग और रखी 'चर्चिल को बुलाओ।' लोगों का विश्वास था कि एकमात्र यही व्यक्ति ऐसा है जो देश को संकट के दौर में से उबारकर आगे खींच ले जा सकता है।

इसके पूर्व भी चर्चिल कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर देश की सेवा कर चुके थे। जनता उनकी प्रतिभा, सूझबूझ, योग्यता और नेतृत्व पर अगाध विश्वास रखती थी। इतना अधिक विश्वास कि संकटकाल में अपने नेतृत्व की क्षमता उन्हें एकमात्र चर्चिल में ही दीख पड़ी और चर्चिल ने सिद्ध कर दिखाया वास्तव में जनता का विश्वास सही है।

चैम्बरलैन ने इस्तीफा दे दिया और अगले ही दिन १० मई, १९४० को ६६ वर्ष के वृद्ध विन्स्टन चर्चिल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बन गये। उस समय उनके चेहरे पर दृढ़ता के भाव थे। जब लग रहा था कि इंग्लैण्ड का पतन अब निकट ही है। इस बात की पूरी सम्भावना लग रही थी शीघ्र ही जर्मन की सेनाएँ इंग्लैण्ड की धरती पर उतर जायेंगी। तब चर्चिल ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा-"हम अन्तिम दम तक लड़ेंगे। हम समुद्र तट और हवाई अड्डों पर लड़ेंगे, खेतों और खलिहानों में हम अपना बलिदान देंगे। भले हमें इंग्लैण्ड छोड़कर चला जाना पड़े तो भी हम दुनिया के किसी भी कोने में रहकर उस क्षण तक लड़ाई लड़ते रहेंगे जब तक कि हमें पूरी विजय प्राप्त न हो जाय।"

विश्व के कई राजनायकों ने इसे कोरी डींग कहा परन्तु वह चर्चिल का आत्मविश्वास बोल रहा था। जनता में भी उसी विश्वास की प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी और इंग्लैण्डवासियों के हौसले बढ़ गये। चारों ओर से चर्चिल के सन्देश का स्वागत हुआ। लोग घर-परिवार छोड़कर सड़कों पर निकल पड़े। सैनिक कार्यालयों के सामने भीड़ इकट्ठी हो गयी। इधर हिटलर अपनी सेनायें ब्रिटेन की धरती पर उतारने की तैयारी कर ही रहा था कि देश भर में फैले हुए जासूसों के जाल से पता चला। इंग्लैण्ड की जनता में अभूतपूर्व मनोबल जाग गया। कोई भी कदम सोच समझकर ही उठाया जाना चाहिए। अन्यथा व्यर्थ ही हानि उठानी पड़ सकती है।

अपनी आवाज से जादू फूँककर सोये हुए राष्ट्र को जगाकर चर्चिल ने खड़ा कर दिया। इस प्रभाव का मूल

कारण उनका अपना व्यक्तित्व और मनोबल था, जिसे उन्होंने तनिक भी असन्तुलित नहीं होने दिया। उन क्षणों का स्मरण करते हुए जब चर्चिल ने प्रधानमंत्री का पद भार ग्रहण ही किया था लिखा है-१० मई की रात को मैंने महायुद्ध के समय राष्ट्रीय शासन और सत्ता का मुख्य सूत्र हाथ में लिया। पिछली राजनीतिक हलचलों की सनसनी पैदा कर देने वाली घटनाओं के बावजूद भी मेरी नब्ज की रफ्तार बिल्कुल भी तेज नहीं हुई। मैंने सभी घटनाओं को सहज भाव से स्वीकारा।

लेकिन मैं यह नहीं छिपाऊँगा कि उस रात करीब तीन बजे बिस्तर पर लेटा तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे मन से एक बड़ा बोझ उतर गया है और वह क्षण आ गया है जब मैं समग्र राष्ट्रीय मंच पर घटनाओं का निर्देशन और संचालन कर सकता हूँ। मुझे लगा कि मैं स्वयं नियति के साथ कदम मिलाकर चल रहा हूँ और मेरा समूचा विगत जीवन, इसी जीवन की तैयारी में बीता है। इन शब्दों में विंस्टन चर्चिल का आत्मविश्वास अभिव्यक्त हुआ है साथ ही इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सन्तुलन बनाये रखने का उपाय भी बता दिया है और वह है-घटना क्रम को सहजता से स्वीकार कर लेना।

प्रायः लोग सरल और महत्त्वहीन घटनाओं के बारे में भी इतना ऊल-जलूल सोचने लगते हैं कि वे सचमुच ही बड़ी परेशानियों का कारण बन जाती हैं। जबकि बड़ी से बड़ी चिन्ताजनक परिस्थितियों को भी सहजता से स्वीकार करना उन्हें सहज और आसानी से बदल देने के योग्य बना देती है। सर चर्चिल ने अपने देश को घोर संकट से इसी मन्त्र द्वारा उबार लिया।

ऐसे मनस्वी और शौर्य बल के धनी चर्चिल का जन्म ३० नवम्बर, १८७४ को इयूक ऑफ मार्लबरो के कुलीन परिवार में हुआ। उनके पिता लार्ड रेन्डोल्फ ब्रिटिश सरकार में वित्तमन्त्री थे। सम्पन्न और उच्च प्रतिष्ठित परिवार का सदस्य होने के कारण उन्हें अच्छी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। परन्तु उन्होंने अपने आसपास-बिखरे पड़े साधनों का कभी उपयोग नहीं किया। बचपन में चर्चिल बड़े शरारती थे। इसलिए स्कूल में सदैव ही पिछड़े रहे। पिता चाहते थे कि उनका बेटा पढ़ लिखकर बैरिस्टर बने परन्तु बेटे को तो खेलकूद और शरारतों से अवकाश नहीं था।

बैरिस्टर बनाने का विचार छोड़कर पिता ने सेना में भर्ती करवाने के लिए सैण्टहार्ट के विख्यात ट्रेनिंग स्कूल में भर्ती करवा दिया। इन परीक्षाओं में भी वे दो बार फेल हुए तब कहीं आगे बढ़ पाये। खेलकूद और शरारतों में मन लगने के कारण इस शिक्षा में उन्होंने तेजी से प्रगति की और सैण्टहार्ट के प्रशिक्षणार्थियों की अग्रिम पंक्ति में उन्होंने अपना स्थान बना लिया।

सन् १८९६ से ९९ तक उन्होंने सैनिक जीवन व्यतीत किया। सदा से उन्मुक्त और स्वतन्त्र जीवन बिताने वाले चर्चिल को सेना का कठोर अनुशासन रास नहीं आया

और उन्होंने शीघ्र ही अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया। अब वे राजनीति की ओर आकृष्ट हुए तथा इस दिशा में प्रगति करने के लिए सेना से नाता तोड़ लिया।

१८९९ में उन्होंने पार्लियामेंट का चुनाव लड़ा परन्तु किस्मत ने साथ नहीं दिया और वे हार गये। चर्चिल इससे निराश नहीं हुए। तभी क्यूबा में लड़ाई छिड़ी और चर्चिल ने कुछ समय के लिए अपना ध्यान राजनीति से हटा लिया। अब वे युद्ध सम्पादक के रूप में सामने आये। क्यूबा और बाद में भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर फिर सूडान और अफ्रीका के बोअर युद्ध के मोर्चे से उन्होंने युद्ध का सजीव वर्णन लिखकर भेजा। उनकी वाणी की तरह लेखनी भी मनमोहक थी। उनके प्रेषित युद्ध समाचार अखबारों में छपे तो पाठकों ने उन्हें बड़ा पसन्द किया। चर्चिल की इससे अच्छी आमदनी हुई और उन्हें प्रसिद्धि भी खूब मिली।

उनकी लेखनी और वक्तुता शैली में मनमोहकता का गुण उनके व्यक्तित्व से ही निःसृत हुआ था। वस्तुतः कर्त्ता के व्यक्तित्व की छाप कार्य की शैली पर किसी न किसी रूप में अवश्य ही पड़ती है इसलिए कोई भी काम प्रत्येक व्यक्ति एक ही ढंग से नहीं कर सकता। चर्चिल की लेखनी ने जादू का काम किया और यह जादू उनके व्यक्तित्व से बहकर ही कागजों पर उतरा।

बोअर युद्ध में उन्हें गिरफ्तार भी कर लिया गया। कैद में उन्हें बड़ा यातनापूर्ण जीवन बिताना पड़ा। चर्चिल को जब लगा कि उनके प्राण खतरे में हैं तो उन्होंने बड़ा दुःसाहस किया और वे भाग निकले। इन सब घटनाओं ने उन्हें विख्यात और लोकप्रिय बना दिया।

इस ख्याति का उपयोग उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए किया। सन् १९०० में पार्लियामेंट का चुनाव लड़ा और विजयी हुए। उस समय वे ब्रिटेन की संसद के सबसे छोटे सदस्य थे। पार्लियामेंट में उनके अनुभव और विचारों ने संसद सदस्यों में विशिष्ट बना दिया। उनकी ख्याति लगातार बढ़ती रही। वे ब्रिटिश सरकार के गृहमन्त्री नियुक्त हो गये।

सन् १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया था। ऐसे समय में गृह मन्त्रालय का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण बन गया था। चर्चिल ने अपने उत्तरदायित्व को इतनी कुशलता के साथ निबाहा कि लोग दंग रह गये। प्रथम महायुद्ध की परिसमाप्ति के बाद उन्हें एक और उत्तरदायित्वपूर्ण विभाग सौंपा गया, बाद में उन्हें वित्तमन्त्री भी बनाया गया। लगभग तीस वर्ष तक ब्रिटेन की राजनीति के आकाश में छाये रहने के बाद उन्होंने अचानक राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया। यह संन्यास उन्होंने प्रत्यक्षतः ही लिया था, राष्ट्र के उत्थान की चिन्ता और प्रयत्न तो वे अविराम करते रहते थे।

राजनीति से दूर रहकर चर्चिल ने साहित्य साधना की और अंग्रेजी साहित्य को कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देकर समृद्ध बनाया। राजनीतिक गतिविधियों में भी वे कुछ ही काल

बाद खुलकर भाग लेने लगे । अब की बार वे सीधे युद्ध क्षेत्र में कूदे थे । रणक्षेत्र के मोर्चे पर शत्रु से डटकर मुकाबला करते हुए उन्होंने अद्भुत शौर्य और पराक्रम का परिचय दिया ।

राजनीति और साहित्य के कुशल खिलाड़ी होने के साथ-साथ वे एक अच्छे चित्रकार भी थे । चित्रकारिता का अभ्यास वे खाली समय में किया करते थे । उनका एक और शौक था राजगीरी का । फुरसत के समय वे इस प्रकार का अभ्यास किया करते थे । उनके कई चित्र और कलाकृतियाँ तो काफी लोकप्रिय भी हुए हैं । सच्चे अर्थों में वे अपने देश के नेता थे ।

दूसरे महायुद्ध में समय, देश जब विषम परिस्थितियों और कठिनाइयों के दौर से गुजर रहा था चर्चिल ने अपूर्व कार्य-शक्ति और प्रभावशीलता का परिचय दिया । अन्ततः महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय हुई । उसका अधिकांश श्रेय चर्चिल को ही दिया जाता है । उन्होंने अपने काल में कई महत्वपूर्ण सुधार किये, जिससे वहाँ का प्रशासन चुस्त और कड़ा हो गया ।

इन सब सफलताओं का कारण था चर्चिल का आत्म विश्वास । कई पुस्तकों में उन्होंने अनेक स्थलों पर आत्मविश्वास में अपनी आस्था व्यक्त की है । उन जैसा अनुकरणीय व्यक्तित्व शायद ही कोई दूसरा दिखने में आया हो ।

चर्चिल की कर्तव्यनिष्ठा

यद्यपि इंग्लैण्ड को भौतिकता प्रधान देश कहा जाता है, तो भी उसके प्रधानमंत्री श्री चर्चिल की ईमानदारी और देश-प्रेम निम्न उदाहरण से स्पष्ट होता है । मि० डब्लू० एच० टामसन ने अपनी पुस्तक 'मैं मि० चर्चिल का प्राइवेट सेक्रेटरी था' में लिखा है-

''मि० चर्चिल को प्रधानमंत्री की हैसियत से जो सुविधाएँ उपलब्ध थीं उनका कभी निजी कामों में प्रयोग नहीं करते थे । अगर वह अपनी सरकारी कार को निजी काम के लिए प्रयोग करते थे तो चाहे वह बहुत ही मामूली दूरी तय करें, मुझे यह आदेश था कि मैं चलने से पहले गाड़ी के मोटर में जितने मील अंकित हैं लिख लूँ और फिर वापिसी पर लिख लूँ । फिर उन मीलों को सरकारी गैरज के अफसर के पास भेज दिया जाता था और वह उनके (मि० चर्चिल के) निजी हिसाब में दर्ज करके उनकी कीमत वसूल कर लेता था । कौन-सा काम सरकारी है और कौन सा गैर सरकारी इसका निर्णय करने में मि० चर्चिल ने कभी सन्देह का लाभ नहीं उठाया..... मैंने तो यहाँ तक देखा है कि जब वह सरकारी कार पर सरकारी काम से जा रहे हों तो उन्होंने अपने रिश्तेदारों और अपने दोस्तों को भी बिठाने से इस कारण इन्कार कर दिया कि कार को जरा-सा भी चक्कर न लगाना पड़े ।''

विश्व शान्ति के लिए समर्पित जीवन- विली ब्राण्ट

१ दिसम्बर, १९१३ को जर्मनी के वाल्टिक सागर स्थिति ल्यूबेक नगर की एक दुकान पर काम करती एक युवती हर्बर्ट ने प्रसव-काल में मालिक से छुट्टी के लिये आवेदन किया और उसकी सदा के लिए छुट्टी हो गयी । दुकानदार ने उसे सेवा मुक्त कर दिया । पति रहे नहीं थे । असमय के वैधव्य और फिर मातृत्व तथा विषम आर्थिक परिस्थितियों से हर्बर्ट को अपने पिता के आश्रय में जाना पड़ा ।

उसी युवती के गर्भ से विली ब्राण्ट का जन्म हुआ जो आगे चलकर पश्चिम जर्मनी के चांसलर पद पर निर्वाचित हुए । तीन दशकियों पूर्व जिस देश के एक अगुआ ने विश्व शान्ति की धजियाँ उड़ा दी थीं और समूचे संसार को महायुद्ध की आग में झोंक दिया था, कैसे संयोग की बात है कि उसी देश का एक अगुआ अपने शान्ति प्रयासों के लिये नोबल पुरस्कार से अभिनन्दित किया गया । भीषण नर संहार करने वाला हिटलर यदि राजनीतिज्ञ और अपने देश के सर्वोच्च पद पर आसीन था तो उसी देश के विली ब्राण्ट भी राजनीति के पुराने खिलाड़ी हैं और जर्मन संघ राज्य के प्रधानमंत्री हैं ।

विली ब्राण्ट के बचपन का नाम हर्बर्ट एवैस्ट काल फ्राइ था । जन्म के पूर्व ही पिता का साया क्रूर काल ने छीन लिया था । विवश परिस्थितियों में कमजोर आर्थिक दशा वाले नाना की परवरिश में वे पले । वे एक कारखाने में एक्स्ट्रा-ब्रमिक थे । कभी काम लगता और कभी नहीं । जब उन्हें जबरन छुट्टियों पर रहना पड़ता या कारखाने में हड़ताल हो जाती तो भूखों मरने की स्थिति आ जाती । ऐसे ही एक समय की बात है । कारखाने में हड़ताल थी । बालक हर्बर्ट भूख से बिलबिला रहा था । नाना बाजार गये हुए थे, ज्यादा देर हो जाने के कारण माँ ने हर्बर्ट को उन्हें ढूँढ़ने भेजा । नाना को खोजने निकले हर्बर्ट की आँतें बोल रही थीं । बाल सुलभ वृत्ति से वह बाजार की दुकानों पर ताक-झोंक करने लगा । एक नानवाई की दुकान पर सजी हुई डबल रोटियाँ देखकर बालक का मन मयूर अटक गया और वह दुकान के आस-पास चक्कर काटने लगा । मालिक ने देखा तो चेहरे पर खिंच आयी भूख की वेदना से उसने स्थिति का अनुमान लगाया और हर्बर्ट को कुछ रोटियाँ दीं । खुश होता हुआ, नाना को खोजने की बात भूलकर हर्बर्ट घर दौड़ आया ।

देखा तो नाना दरवाजे पर ही खड़े मिले । हाथ में डबल रोटियों का पैकेट देखकर नाना ने पूछा । सारी बात सुनकर उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा और नन्हें हर्बर्ट को उनकी डाँट-फटकार सुननी पड़ी-हमें दान भीख

नहीं चाहिए। इन रोटियों को तुरन्त वहीं ले जाकर वापिस करो जहाँ से कि ये आयी हैं ?

ऐसे संस्कारवान परिवार और लोगों के बीच पाला-पोसा हर्बर्ट यदि आगे चलकर समाजवादी दल का कार्यकर्ता बन बैठा तो कौन से आश्चर्य की बात है ? सत्रह वर्ष की आयु में ही हर्बर्ट जर्मनी सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य बन गया। यद्यपि दल की संविदा के अनुसार अठारह वर्ष से कम आयु के लड़कों को क्रान्ति दल में सम्मिलित नहीं किया जाता था। फिर भी हर्बर्ट को उसकी कुशाग्र बुद्धि, तीक्ष्ण विचारशीलता और उत्साह के कारण पार्टी के संयोजकों ने उनकी प्रतिभा को तत्काल उपयोग का सुझाव भरा निर्णय लिया।

हर्बर्ट फ्राङ्क के नाना की आर्थिक स्थिति यद्यपि अच्छी नहीं थी फिर भी उन्होंने अपने नाती की शिक्षा-दीक्षा की उपेक्षा नहीं की। हर्बर्ट भी पढ़ने में मेधावी तथा होशियार था फलस्वरूप ल्यूबेक के अच्छे से अच्छे स्कूल में जहाँ वह पढ़ा उसे उसकी प्रतिभा के कारण सदैव छात्रवृत्ति मिलती रही। उसकी गणना सफल परिश्रमी छात्रों में होती रही। अपने छात्र जीवन में ही वह पत्रों के लिये कभी-कभी लेख लिखने लगा था। १९३२ में मैट्रिक कर लेने के बाद तो उसने ल्यूबेक के ही एक समाजवादी पत्र 'बाक्सवोट' में काम भी कर लिया।

उसके उत्साह और समाजवादी विचारधारा के प्रति अगाध निष्ठा के कारण शीघ्र ही दल के सक्रिय कार्य-कर्ताओं में उसकी गणना होने लगी। मार्च, १९३३ में बर्लिन में समाजवादियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ। जिसमें हर्बर्ट भी भाग लेने पहुँचा। दुनिया कहाँ तक आगे बढ़ चुकी है ? अपनी पहली विदेश यात्रा में हर्बर्ट को यह देखने का मौका मिला। जर्मनी की तत्कालीन स्थितियों से वह खिन्न भी हुआ।

हर्बर्ट ने अपने देश के लिये कुछ कर सकने योग्य स्थिति निर्माण हेतु जर्मनी छोड़ लेने का निश्चय किया और विली ब्राण्ट नाम बताकर मछेरों की एक नाव में छुप कर नार्वे जा पहुँचा। उसकी गतिविधियाँ यहीं पर प्रखर हुईं। पत्रकारिता को पेशे के रूप में अपनाकर विली ब्राण्ट ने जर्मनी से भागकर आये हुए लोगों से सम्पर्क स्थापित करने का काम आरम्भ किया। समाजवादी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये विली ने अपनी योजनाओं को मूर्त रूप यहीं देना शुरू किया।

वे कई यूरोपीय देशों में घूमे। उनकी गतिविधियों के समाचार जर्मन नाजियों तक पहुँचे और उन्होंने विली को देशद्रोही घोषित कर उनका नाम अपनी काली सूची में लिख लिया। आन्दोलन को गति देने के उद्देश्य से वे १९३६ में चोरी छुपे बर्लिन भी गये और वहाँ कई महीनों तक भूमिगत रहकर उन्होंने सक्रिय सहयोगी बनाये।

जैसे-जैसे वे राजनीति के क्षेत्र में उतरते गये पत्र-कारिता से उनका सम्पर्क टूटता रहा। सन् १९४७ में एक प्रकार से उनका पत्रकार व्यक्तित्व लोप हो गया और राजनीति में ही उनका सारा समय लगने लगा।

युद्ध समाप्त होने के बाद वे बर्लिन में ही स्थायी रूप से आकर रहने लगे। यद्यपि घृणा और समर की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयी थीं। नाजी हिटलर का भी अन्त हो गया था फिर भी बर्लिन शहर को दुनिया घृणा, संदिग्ध और उपेक्षित दृष्टि से देखती रही। वर्षों तक यही स्थिति रही। अनिश्चितता और गिरी हुई जन-भावना के कोहरे से आवृत्त इस नगर की व्यवस्था १९५७ में विली ब्राण्ट ने अपने हाथ में ली, जबकि वे नगर आयुक्त चुने गये और नौ वर्षों तक उन्होंने इस उत्तरदायित्व को बड़ी दक्षता से निबाहा।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी यूरोप के दो विश्व युद्ध में झोंकने का कारण बन चुका था। दूसरे महायुद्ध में जब इस देश का पतन हुआ तो चारों विजयी राष्ट्र रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने इस देश की इसलिए आपस में बन्दर बाँट कर ली कि कहीं जर्मनी फिर शक्ति सँजोकर उन्हें आँख न दिखाने लगे। इस कारण जर्मनी का ही नहीं वहाँ की राजधानी-बर्लिन का भी बँटवारा हो गया। कुछ समय बाद रूस के हिस्से की जर्मन पर जर्मन जनवादी गणराज्य (पूर्व जर्मनी) का उदय हुआ और अन्य तीन राष्ट्रों के आधीन भू-भाग जर्मन संघ गणराज्य (पश्चिम जर्मनी) कहलाया। विली ब्राण्ट जहाँ के प्रधानमंत्री हैं।

पूर्व जर्मनी की राजधानी पश्चिम जर्मनी बनी। विश्वयुद्ध के बाद चारों मित्र राष्ट्रों द्वारा किये गये समझौते में कालान्तर बाद मतभेद आ गये। बर्लिन नगर के बीचों-बीच एक दीवार चिनवाकर शहर की आत्मा के दो भाग कर दिये गये। इससे स्थिति इतनी विस्फोटक हो उठी कि लगा तीसरे विश्व युद्ध का सूत्रपात फिर बर्लिन से ही होगा।

क्षेत्रीय राजनीति से ऊपर उठकर विली ब्राण्ट जब पश्चिम जर्मन के विदेशमन्त्री बने तो उन्होंने अपना ध्यान सर्वप्रथम इसी बिन्दु पर केन्द्रित किया और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के प्रति सौहार्द एवं सहयोग की नीति अपनाना शुरू की। सोवियत संघ, पोलैण्ड आदि देशों से मैत्री संधि कर इस दिशा में प्रभावी पग उठाये। यथार्थ स्थिति से अवगत रहते हुये भी उन्होंने पूर्व जर्मनी से मैत्री का हाथ बढ़ाया।

उनके प्रयासों से अठारह माह की लम्बी पेशकश के बाद दूसरे विश्वयुद्ध के चार मित्र राष्ट्रों-अमरीका, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन के राजदूतों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये। जिससे बर्लिन से सम्भावित तीसरे विश्वयुद्ध का निश्चित अनुमान खत्म हो गया। पूर्वी व पश्चिमी जर्मनी दो

ध्रुवों में सहयोगी वातावरण के सूत्रपात के सिवा नोबेल शान्ति पुरस्कार के लिये इससे अधिक क्या पात्रता होगी ?

औचित्य और न्याय के प्रबल समर्थक— विलियम वेडर वर्न

सन् १८६० में बम्बई बन्दरगाह पर एक बाईस वर्ष का नवयुवक उतरा और उसने भारतभूमि को प्रणाम किया। यह युवक बम्बई प्रान्त की सिविल सर्विस में एक अच्छा अधिकारी बनकर इंग्लैण्ड से आया था। उसके साथी ने युवक को इस प्रकार प्रणाम करते हुए देखकर बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया। युवक ने फिर आसपास देखा और भारतभूमि की निराली छटा को देखकर उसका मन मयूर नाच उठा। वह कहने लगा—“कितना सुन्दर है यह देश और कितने सौभाग्यशाली होंगे इस देश के निवासी।”

युवक के साथी से अब तो रहा नहीं गया। वह बोल ही उठा—“बेवकूफ हो क्या ? आसपास कोई सुन लेगा तो क्या कहेगा।”

‘क्या कहेगा—निर्दोष भाव से युवक ने पूछा—’मैंने तो पृथ्वी माता की प्रशंसा की है। उस देश और भू-भाग की वन्दना की है, जिसका अन्न जल खा कर मुझे जीना है। तरुण साथी का आश्चर्य अभी भी समाप्त नहीं हुआ था। वह कहने लगा—पगले यह हमारा गुलाम देश है। हम यहाँ के शासक हैं और इस देश के निवासी हमारे सेवक।

मनुष्य-मनुष्य में भेद की दीवार युवक को असह्य लगी और उसने पूछा—‘नहीं भाई ! इस दुनिया में कोई किसी का गुलाम नहीं है। सभी लोग भगवान की संतान हैं।’ लगता है तुम सिविल सर्विस में किसी की सिफारिश से आये हो। अन्यथा ऐसा कभी नहीं कहते। एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ नहीं होता कि शासक जाति को शासित जाति और देश के प्रति किस प्रकार सोचना चाहिए।

“मैं यह सब जानता हूँ। परन्तु इसे ठीक नहीं समझता। किसी के प्रति दुर्व्यवहार और दुर्भावना बरतना मनुष्य को तो शोभा नहीं देता” युवक ने कहा।

दोनों साथियों में इस विषय पर देर तक वाद-विवाद चलता रहा और अंत में उस युवक का साथी अपने दोस्त से नाराज होकर चला गया। अपने तर्कों और प्रश्नों द्वारा इस अवांछनीय व्यवहार नीति का विरोध करने वाला वह युवक और कोई नहीं विलियम वेडर वर्न ही था जिन्होंने इंग्लैण्ड का नागरिक होते हुए भी सत्य, न्याय और औचित्य के आधार पर भारत के राष्ट्रीय हितों का समर्थन किया।

२५ मार्च, १८३८ को उनका जन्म एडिनबर्ग में मरजान वेडरवर्न के घर हुआ। जान वेडरवर्न भी भारतीय सिविल सर्विस में थे। परन्तु विलियम की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण इंग्लैण्ड में ही हुआ। उनके पिता जब

भी भारत से कभी घर आते तो यहाँ की घटनायें सुनाते रहते। अंग्रेज लोग भारतीयों से किस प्रकार व्यवहार करते हैं, उनकी उद्दण्डता को कैसी विवशता से यहाँ के देशवासी सह लेते हैं। ये सब बातें वे चटखारे ले-लेकर सुनाया करते थे।

विलियम को इन बातों में कोई रस तो नहीं आता उलटे वे बड़ी बुरी तरह झुल्ला उठते। एक बार जान वेडर वर्न सुन रहे थे कि उन्होंने किस प्रकार एक भारतीय की बेंतों से बुरी तरह पिटायी की और वह चुपचाप पिटता रहा। सभी परिजन जोर-जोर से हँस रहे थे और विलियम उदास।

पिता ने पूछा—क्यों बेटा। क्यों तुम्हें ये बातें अच्छी नहीं लगती।

‘मैं इन्हें सुनता तो हूँ परन्तु यह भी सोचता हूँ कि एक आदमी कितना गिर सकता है और एक कितना महान हो सकता है।’

अधिकारपूर्वक पीटने के कारण शायद मेरा बेटा मुझे महान समझने लगा हो। यह सोचकर अपने विश्वास की पुष्टि के लिए जान वेडर वर्न ने पूछा—महान कौन है ? बेटा।

वह भारतीय आदमी, जो चुपचाप पिटता रहा और गिरा हुआ वह जो अधिकार मद में मनुष्यता को भी भुला बैठा।

‘नॉन सेन्स’—सुनकर पिता एकदम क्रोध से उबल पड़े तुम क्या जानो कि ये हिन्दुस्तानी कितने जंगली और फूहड़ होते हैं।”

हिन्दुस्तानी जंगली हैं या फूहड़ यह तो मैं नहीं जानता परन्तु यह मेरी मान्यता है कि इन्सानियत को ताक में रख कर व्यवहार करने वाला व्यक्ति सभ्य और सुशिक्षित तो नहीं हो सकता। इस प्रत्युत्तर ने पिता की क्रोधाग्नि में आग का काम किया। माँ ने यदि बीच में बचाव न किया होता तो पता नहीं विलियम की पीठ पर कितने नीले निशान उभर आते।

इतनी निष्पक्षता के साथ मानवीय आदर्श को समझने वाले विलियम में यह सूझबूझ कहाँ से आयी ? यह मानवीय प्रश्न है। स्कूली पाठ्यक्रम पढ़ने के बाद विलियम अपना समय व्यर्थ की बातों में न गँवाकर उपयोगी तथा उत्कृष्ट-साहित्य का अध्ययन करने में लगाते थे। उपलब्ध समग्र धर्म-साहित्य और ईसा के उपदेशों का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। स्वाध्याय-साधना के माध्यम से प्राप्त प्रेरणाओं ने उनका प्रकाशदीप बनकर मार्गदर्शन किया। मानवता सत्य और न्याय के सिद्धान्तों पर उनकी आस्थाएँ दृढ़ बनीं। अच्छे साहित्य का प्रभाव पाठक की मनोभूमि पर निश्चित रूप से पड़ता है। जासूसी उपन्यास, अपराध फिल्म और अश्लील साहित्य पढ़कर कोई व्यक्ति चोर, डाकू और लुटेरा बन सकता है, तो यह क्यों सम्भव नहीं कि सत्साहित्य का अध्ययन मनुष्य के व्यक्तित्व और विचार का उत्कर्ष न करे।

स्वाध्याय और अध्ययन के निष्कर्षों पर चिंतन-मनन करने से ही विलियम वेडर वर्न में अनौचित्य की भर्त्सना का साहस जाग पड़ा। बाद में तो उन्होंने इस दिशा में सक्रिय कदम भी उठाये।

भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार की बातें सुन-सुनकर विलियम यह सोचने के लिए विवश हो गये कि हिन्दुस्तान का आदमी आखिर किस मिट्टी का बना हुआ है जो इतने अत्याचारों को भी चुपचाप सहन कर लेता है, उफ़ तक नहीं करता। यहाँ के जन-जीवन को निकट से देखने की इच्छा उनमें दिनोंदिन बलवती होने लगी। इसके पूर्व भारत के जनमानस को समझने के लिए इस देश से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना आरम्भ किया।

एडिनवर्ग में इस विषय में जो भी पुस्तकें मिल सकती थीं दूँढ़-दूँढ़कर पढ़ डालीं। तत्कालीन भारतीय जनमानस के प्रति उनका यह दृष्टिकोण बना-इस देश की जनता में राष्ट्रीय चेतना का अभाव है। अन्यथा वहाँ की संस्कृति तो इतनी महान है कि नये विश्व का काया-कल्प कर सकती है।

भारत के लोग आवश्यकता से अधिक भाग्यवादी और परिस्थितियों से समझौता कर उसे स्वीकार करने वाले हैं। जब इस युग में कर्मवाद और संघर्ष में विश्वास करने वाले व्यक्ति और जातियाँ ही अपने अहं और अस्तित्व को सुरक्षित रख सकती हैं।

विलियम ने इस निष्कर्षों पर पहुँचकर ही संतोष नहीं कर लिया। भारतीय समाज की इस दशा को बदलने का प्रयास भी उन्हें आनुषंगिक कर्तव्य लगा। चाहे जिस प्रकार हो भारत पहुँच कर वहाँ के लोगों में राष्ट्रीय चेतना का जागरण करना चाहिए-यह निश्चय कर वे इसे पूरा करने का मार्ग ढूँढ़ने लगे। मनुष्यत्व की गरिमा और वैभव को समझने वाले तथा उसमें निष्ठा रखने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्य को कभी ताक में नहीं रखते। एक काम पूरा कर लेने के बाद अगला कार्य वे पहले से ही निश्चित कर लेते हैं। वस्तुतः उनका लक्ष्य वह रहता भी नहीं है। वह तो जीवन ध्येय की प्राप्ति के मार्ग का एक दूरी सूचक पत्थर मात्र है।

विलियम ने महसूस किया कि भारत प्रवास का मूल कारण बताया गया तो शायद पिताजी न जाने दें। इसलिए उन्होंने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने की अनुमति माँगी। अपने पदचिह्नों पर चल रहे पुत्र के व्यक्त विचारों से पिता शीघ्र ही तैयार हो गये। विलियम वेडरवर्न ने परीक्षाएँ दीं और उत्तीर्ण भी हुए। तुरन्त उन्हें नियुक्ति भी मिल गयी और बाईस वर्ष की आयु में ही वे निर्धारित कार्यक्षेत्र में आ पहुँचे।

भारत की सिविल सर्विस में वे सात वर्ष तक रहे परन्तु उनके अधीनस्थ कर्मचारियों में कभी यह अनुमान नहीं किया कि हमारा अफसर अँग्रेज है। सभ्य, नम्र और शिष्ट जनोचित व्यवहार, दुःख-दर्द की घड़ियों में जिन लोगों की भी खबर मिली विलियम भाग उठते। भले ही

वह परिचित हो या अपरिचित। इस मानवीय व्यवहार ने उन्हें अधिनस्थों का श्रद्धेय बना दिया। अभी तक इतना सज्जन अँग्रेज कोई देखने में नहीं आया था। शासकीय सेवा में होते हुए भी वे आस-पास के लोगों में स्वाभिमान पैदा करने का प्रयत्न करते हैं।

परन्तु उनके सद्विचारों का विपरीत परिणाम सामने आया। वे भारतीय कर्मचारी जो पहले समय-असमय पर अँग्रेज अधिकारियों को बुरा-भला कहा करते थे अब विलियम की प्रशंसा करने लगे। विलियम को यह समझते देर न लगी कि इस प्रकार भारतीयों में राष्ट्रीय चिंतन तो नहीं वरन् अँग्रेजी शासन के प्रति निष्ठा भक्ति अवश्य जाग रही है। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने विलियम की इस मनचाही उपलब्धि पर उन्हें सम्मानित भी किया और 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

अपने प्रयासों का यह परिणाम देखकर विलियम को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने गलती को पहचाना। जितनी सफलता के साथ वे स्वतंत्र रहकर चेतना जगाने का कार्य कर सकते हैं उतनी सफलता अँग्रेज सरकार का एक पुर्जा बनकर प्राप्त नहीं की जा सकती।

उन्होंने तुरन्त सिविल सर्विस से त्याग पत्र दे दिया और स्वतन्त्र रूप से काम करने लगे। १८८७ में उनका नाम सर एलेन ह्यूम के साथ उभरा। वे स्वयं तो काँग्रेस के गठन और उसकी गतिविधियों का संचालन करने के कारण ही विख्यात हुए, विलियम भारतीय राष्ट्रवादी के रूप में राजनीति के क्षितिज पर चमके। यद्यपि राष्ट्रीय काँग्रेस के विकास में उन्होंने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। १८९० में वे बम्बई काँग्रेस अधिवेशन के सभापति भी चुने गये। इससे उनके सजातीय बंधु बड़े नाराज हुए। सभापति के पद से उन्होंने जोरदार भाषण दिया और भारत राष्ट्र के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की।

इस भाषण को लेकर सभी क्षेत्रों में खलबली मच गयी। एक उच्च पदस्थ भू० पू० अँग्रेज अधिकारी भारतीय हितों के पक्ष में इतनी दृढ़ता और स्पष्टता से बोल सकता है। यह सभी के लिए आश्चर्य की बात थी। परन्तु विलियम को स्वयं को तो बड़ा संतोष हुआ। औचित्य और अत्याचार के विरुद्ध उन्होंने पहली बार अपना आक्रोश सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया था। उनके मित्रों ने कहा अँग्रेज होकर तुम अँग्रेज राज्य के हितों पर चोट कर अच्छा नहीं कर रहे हो।

“महाशय ! मैं अँग्रेज होने से पहले इन्सान हूँ और इन्सान होने के नाते मुझसे यह कभी सहन नहीं होता कि किसी के अधिकृत हितों पर स्वार्थ के वशीभूत होकर किसी भी प्रकार आघात किया जाये।”

मित्रों ने उन्हें यह भी समझाया कि यह उन जैसे देशभक्त को शोभा नहीं देता तो विलियम बोले-“यदि किसी देश और समाज की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाना ही देशभक्ति है तो मुझे स्वप्न में भी उसकी चाह नहीं।”

एक बार उन्होंने कहा था-“मैं अपने शेष जीवन को भारत के लिए ही अर्पित करता हूँ। स्वयं को भारत का नागरिक मानकर मेरा सिर गर्व से ऊँचा हो उठा है। सचमुच स्वयं को इस देश और वहाँ की जनता के लिए अर्पित कर दिया। इंग्लैण्ड में वे ब्रिटिश काँग्रेस कमेटी के सदस्य बनकर और पार्लियामेंट के मेम्बर के रूप में भारतीय हितों की वकालत करते रहे।

१९१० में उन्हें फिर काँग्रेस अध्यक्ष चुना गया। इस पद पर रहकर उन्होंने काँग्रेस के अंदरूनी विवादों को जिस सूझबूझ के साथ सुलझाया वह उनकी भारत-भक्ति का ही परिचायक है। उन्होंने भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिसने आगे चलकर स्वराज्य आंदोलन का नेतृत्व किया। गोपाल कृष्ण गोखले, महामना मालवीय और लोकमान्य तिलक जैसे अनेकों विभूतियों को ढूँढ़ने और आगे बढ़ाने का अधिकांश श्रेय भाई विलियम वेडर बर्न को ही है।

सन् १९१८ में उनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के समय महादेव गोविन्द रानाडे ने कहा था “इस समय जब स्वराज्य का प्रश्न पहली भूमिका में है। विदेश में भारतीय हितों की आवाज उठाने वाला व्यक्ति कोई भी यदि रहते हैं तो वे ये। भारतीय हितों के लिए ही नहीं समूचे मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे।” अपने जन्म समाज का बैर विरोध और चुनौती भी उन्हें अपने पथ से नहीं डिगा सकी। आज भी संसार को ऐसे ही साहसी शूरीयों की आवश्यकता है।

विल्सन की विपत्ति पाठशाला

अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन से वार्ता करते हुए एक बार एक पत्रकार ने पूछा-“आपने किस विद्यालय में शिक्षा पाई?”

विपत्ति की पाठशाला में विल्सन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। लीजिये उस पाठशाला का विवरण नीचे पढ़िये।

विल्सन की आयु तब तक दस वर्ष की थी। इस आयु के बच्चे कक्षा ४ उत्तीर्ण कर लेते हैं। सम्पन्न परिवारों के बच्चे अपनी योग्यतायें और बढ़ा लेते हैं और मनुष्य जीवन का बहुत-सा हास-उल्लास भी पा लेते हैं, पर अभागे विल्सन के लिये भरपेट भोजन मिलना भी कठिन था, कक्षायें बेचारा क्या उत्तीर्ण करता?

एक दिन बालक ने विचार किया यों परिस्थितियों से हार नहीं माननी चाहिए। बच्चा हूँ तो क्या? बाहर निकल कर भाग्य से दो बातें करनी चाहिए और यह विचार आते ही विल्सन घर से निकल पड़ा। यह उसके पाठशाला की पहली कक्षा थी, जिसमें उसने सीखा आत्मोन्नति के लिये भाग्य और मोह-माया में बैठे न रहकर परिस्थितियों से संघर्ष करना।

लोग संघर्ष से घबराते हैं, पर विपत्ति का फल मीठा होता है। उसी से अपनी शक्तियों का पता चलता है।

उत्साह का विकास, चरित्र में दृढ़ता और जीवन में ऐश्वर्य एवं तेजस्विता आती है। शिशु-चरण से दूसरी कक्षा में प्रवेश करने पर यह अनुभव विल्सन ने पाये।

बीस वर्ष की आयु तक विल्सन ने बैल हाँके, बोझा ढोया, लकड़ी काटी, होटलों में बर्तन साफ किये, जंगलों में घूमा। प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक उसे परिश्रम ही परिश्रम का पाठ पढ़ना पड़ता था। १० वर्ष की इस कठिन श्रम-साधना के परिणामस्वरूप उसे ८४ डालर मिले। यह धन इतना था कि कोई पूरी खुराक का व्यक्ति उससे १ माह भी पार न पाता।

विल्सन ने इस रुपयों का उपयोग आत्म-शक्तियों के विकास में किया। जिज्ञा के स्वाद और सिनेमा या थियेटर देखने में नहीं। विल्सन कहते थे-“तब मुझे एक डालर ऐसा लगता था जैसे वह चन्द्रमा जैसा अत्यन्त प्यारा और वृहत् वस्तु है।”

पैसे बचाना विचार-संकीर्णता या कंजूसी न थी। बालक उस धन को आत्म-कल्याण में लगाना चाहता था। उसने अनुभव किया कि-शिक्षा और बौद्धिक क्षमता के अभाव में लोग नहीं पढ़ पाते हैं। इसलिए पढ़ना अनिवार्य है-पर पढ़ा कैसे जाय? यह समस्या थी। विल्सन ने देखा कि विद्यार्थी थोड़ा समय पढ़ने में लगाते हैं, शेष समय व्यर्थ गँवाया करते हैं यदि तल्लीनता और परिश्रम से पढ़ा जाय तो उतनी पढ़ाई एक माह में ही पूरी हो सकती है।

फिर क्या था, उसने वर्ष के ग्यारह महीने काम और एक महीने पढ़ाई। इस तरह ११ वर्ष तक उसने कमाई भी की और पढ़ाई भी। आजीविका भी जुटाई और ज्ञान भी बढ़ाया। अध्यवसायी जीवन सच्चाई और चरित्र ने उसे दृढ़ता और शारीरिक शक्ति दी। इस तरह उसने अभावों, आसक्तियों और अज्ञान के तीनों दरवाजे बन्द किये और उन्नति का पुण्य प्रमाण-पत्र उपलब्ध कर लिया।

विल्सन की यह संघर्ष शक्ति और परिश्रमशीलता काम आई, वह जिस क्षेत्र में बढ़े लोगों ने सम्मान दिया। अनुभवी व्यक्ति और चरित्रवान व्यक्ति ही लोक-नेतृत्व में सफल होते हैं यही विल्सन के साथ भी हुआ। विल्सन अन्त में अमेरिका के लोकप्रिय नेता हुए। देश ने उन्हें राष्ट्रपति के अति सम्माननीय पद पर प्रतिष्ठित किया। दरअसल यह प्रतिष्ठा विल्सन के शरीर की नहीं गुणों की थी, जिनका विकास उन्होंने विपत्ति की पाठशाला में किया।

सफल जननायक-

हिटलर

ऑस्ट्रेलियन श्रमिक दल का एक युवा सदस्य राजनीति के क्षेत्र में आगे आना चाहता था। उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय राजनीति में गहरी पैठ, उत्तम वक्तृत्व शैली, सिद्धान्त निष्ठा सभी कुछ उसमें थे जो उसे सफल राजनीतिज्ञ बना सकने में समर्थ थे

किन्तु उसकी प्रगति कलह की-सी मन्दगति से हो रही थी। अपनी इस मंदगति से वह बहुत ही क्षुब्ध रहता था।

१९५२ में बड़ा जोर लगाने पर वह संसद सदस्य बन पाया किन्तु फिर उसकी प्रगति पर लगभग विराम-सा लग गया। "मैं सफल क्यों नहीं हो पा रहा हूँ?" इस पर उसने गहन चिन्तन किया। आत्म निरीक्षण के दौर में उसे पता चला कि उसके व्यक्तित्व में एक भारी कमी है। उसमें सहनशीलता का अभाव है। इस सहनशीलता के अभाव के कारण वह लोकप्रिय नहीं हो पाता। उसके साथी उसका साथ छोड़ जाते हैं। उसे सब बातें भी स्मरण हो आयीं जो उसके व्यवहार में झलकी थीं और जिन्हें शालीन नहीं कहा जा सकता।

असहनशीलता व शीघ्र ही क्रोधित हो जाने के कारण उसने प्रधानमंत्री, गवर्नर जनरल तथा चीफ जस्टिस को भी अपशब्द कह दिये थे। यह अमर्यादित व्यवहार उसकी प्रगति में बाधक था। एक बार तो उसने गवर्नर जनरल पर पानी का गिलास ही फेंक दिया था।

आत्म निरीक्षण करने के पश्चात् उसने अपने स्वभाव को सुधारने का दृढ़ निश्चय कर लिया। श्रमिक दल में उन दिनों साम्यवादियों का वर्चस्व था। उनसे सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी उसने आत्मीय व शालीन व्यवहार रखना आरम्भ कर दिया। उसके मित्र जो पहले उससे रुठ हो गये थे वे भी उससे प्रसन्न रहने लगे। साम्यवादी वर्ग भी उसके व्यक्तित्व का लोहा मानने लगा।

अपनी इस भूल सुधार के द्वारा उसने आस्ट्रेलिया की राजनीति में एक नया मोड़ ला दिया। दिसम्बर, १९७२ में आस्ट्रेलिया में पूरे २३ वर्षों के बाद श्रमिक दल का नेता अपनी सरकार बनाने में सफल हुआ था। यह और कोई नहीं वही राजनेता था जो अपने क्रोधी स्वभाव के कारण अन्य सब योग्यताओं के रहते हुए भी अलोकप्रिय बना हुआ था। यह व्यक्ति थे आस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री श्री एडवर्ड गो डिटलाम।

उनका वह आक्रोश जो समय-समय पर प्रधानमंत्री, गवर्नर जनरल अथवा अपने किसी दलीय साथी के ऊपर प्रकट हो जाता था अपमानजनक शब्दों के रूप में। वह यों ही नहीं था। वह उनकी गलत नीतियों के कारण था। किन्तु उस समय वह व्यर्थ रहा था। जब तक कि स्वयं लोकप्रियता अर्जित कर अपनी श्रेष्ठ नीतियों से जनसाधारण व विश्व को लाभान्वित न कर दें।

शासन सूत्र हाथ में आते ही उन्होंने अपनी उन विश्व हितकारी नीतियों तथा राष्ट्र हितकारी कार्यक्रमों को पूरा करना आरम्भ कर दिया। चुनाव के समय उनकी पार्टी ने जनता को जो आश्वासन दिए उन्हें पूरा करने में उन्होंने कुछ भी देर नहीं की। अपने वचनों के पालन करते देख जनता के मन में उनके प्रति विश्वास तै अर्पित हुआ ही, विश्व भी उनके इस कार्य को देख आश्चर्यचकित रह गया।

श्री डिटलाम का जन्म आस्ट्रेलिया के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। उनके पिता किसी समय

कामन वेल्थ क्राउन में सॉलीसीटर रह चुके थे। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राइवेट स्कूलों में पूरी करते हुए वे सिडनी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ से उन्होंने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और वकालत आरम्भ कर दी। वे सफल वकील व सफल राजनीतिज्ञ दोनों हैं।

उन्होंने प्रधानमंत्री बनते ही विश्व में फैली हुई गुटबन्दी को समाप्त करने के प्रयास आरम्भ कर दिये। उन्होंने सत्ता हाथ में आते ही ताईवान से सम्बन्ध तोड़ लिए तथा साम्यवाद व पूँजीवाद की रस्साकस्सी को रोकने के लिए साम्यवादी चीन से बातचीत आरम्भ कर दी। सिडनी स्थित रोडेशियाई केन्द्र को बन्द कर दिया। यही नहीं उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन को वियतनाम युद्ध बन्द करने के लिए उनकी नीतियों के विरुद्ध पत्र लिखा। यह निश्चय ही विश्व में फैली हुई गुटबाजी को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम थे। अब तक आस्ट्रेलिया इंग्लैण्ड व अमेरिका की हॉ में हॉ मिलाया करता था। अब उसकी आवाज एक शान्तिप्रिय राष्ट्र की बन चुकी है। इसका श्रेय डिटलाम को ही जाता है।

उन्होंने भारत के प्रति बहुत विवेकपूर्ण दृष्टि रखी। वे एक सुलझे विचारों के राजनीतिज्ञ के रूप में उभरे। प० जर्मनी के चांसलर विली ब्राण्ट की तरह डिटलाम भी विश्व बन्धुत्व में विश्वास रखते। अपने भारत प्रवास के दौरान उन्होंने नई दिल्ली में हुए एक संवाददाता सम्मेलन में कहा था-"मैं आशा करता हूँ कि बंगला देश की वस्तुस्थिति को पाकिस्तान तथा चीन स्वीकार करेंगे। यदि इस बात को लेकर युद्ध हुआ तो मुझे बड़ा आश्चर्य होगा।" उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि कोई सिरफिरा राष्ट्रनायक ही युद्ध को बढ़ावा दे सकता है।

अपनी भारत यात्रा के दौरान उन्होंने भारत तथा आस्ट्रेलिया के सम्बन्धों को और भी दृढ़ किया है। पाकिस्तानी युद्ध बन्दियों के सम्बन्ध में भारत ने जो प्रस्ताव रखा है उसकी उन्होंने बड़ी सराहना की।

व्यक्ति जब अपने आप पर नियन्त्रण रखने में सफल हो जाता है तो दूसरे अपने आप नियन्त्रण में आ जाते हैं। उन्होंने अपने स्वभाव पर नियन्त्रण रखकर अपने दल के सदस्यों का विश्वास प्राप्त किया था। अपनी असाधारण योग्यता व वक्तृता के बल पर वे सामान्य सदस्य से प्रगति करते हुए १९६० में श्रमिक दल के उपनेता चुने गये। अब तक उनकी पार्टी कई गुटों में बँटी थी उसे उन्होंने कम किया। १९६७ में वे दल के नेता चुने गये तथा १९७२ के चुनाव में उनके दल को विजय मिली और वे प्रधानमंत्री बनाए गये।

प्रधानमंत्री बनने के बाद उन्होंने राष्ट्रीय मोर्चे पर भी बहुत काम किया। उन्होंने अनिवार्य सैनिक भर्ती समाप्त कर दी। आदिवासियों की प्रगति के लिए उन्होंने अधिगृहीत भूमि का आबंटन उनमें कर दिया ताकि वे कृषि व पशुपालन करके आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो सकें। महिलाओं को वहाँ पर पुरुषों से कम वेतन मिलता था।

उस अधिनियम पर पुनर्विचार करके उन्होंने महिलाओं के लिए समान वेतन पाने का अधिनियम बनाया। इन महत्त्वपूर्ण निर्णयों को लेने के कारण वे ऑस्ट्रेलिया के न्यायप्रिय, निर्णय कुशल, योग्य, प्रतिभाशाली तथा लोकप्रिय प्रधानमंत्री बन गये।

श्री हिल्लाम की नीतियों को देखते हुए वह आशा की जा सकती है कि सभी देशों में ऐसे ही विश्व-बन्धुत्व के समर्थक राष्ट्रनायक हों तो युद्ध की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जायें। एक सामान्य वकील से ऊपर उठकर प्रधानमंत्री पद तक पहुँचना भी उनकी कर्मनिष्ठा व आत्मविश्वास का बहुत बड़ा प्रमाण है। इनसे प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति यह प्रेरणा लेता रहेगा कि प्रयास करने पर सफलता सुनिश्चित है, साथ ही साथ आत्म-निरीक्षण व आत्म-विकास के प्रयास भी अनिवार्य हैं। वस्तुतः नेतृत्व की क्षमता उन्हीं व्यक्तियों में उत्पन्न हो पाती है जो सच्चे नागरिक को-समाज के एक जागरूक और नैतिक सदस्य की योग्यता भी अर्जित कर सके। कहना नहीं होगा हिल्लाम ने इन मूलभूत आधारों को गम्भीरतापूर्वक समझते और स्वीकार करते हुए ही यह पात्रता विकसित की थी।

पुर्तगाल के चाणक्य—

सालाजार

पुर्तगाल का एक छोटा-सा गाँव सान्ता कोम्बा। एक ३७ वर्षीय प्रतिभा और लगन का धनी युवक अपनी बीमार माँ की सेवा में संलग्न है। कहने को तो यह युवक कोयम्बरा यूनिवर्सिटी का अर्थशास्त्र का प्रोफेसर है पर उसकी यह सेवा भावना देखने से लगता था कि वह मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा वाली कोई सन्त आत्मा है। तभी तो पुर्तगाल के अच्छे-अच्छे सामन्त समाज के हित-चिन्तक और राजनीतिक आज शहरों के महल छोड़कर उस गाँव में पहुँचे थे एक आग्रह लेकर। यहाँ पहुँच कर इन लोगों ने प्रार्थना की आज देश को भ्रष्टाचार, दारिद्र्य, अनाचार आदि से बचाने के लिये आपकी आवश्यकता है, आपने हमारा मार्गदर्शन और नेतृत्व न किया तो पुर्तगाल कहीं का नहीं रहेगा।

उत्तर मिला—“अभी तो मेरे सामने मेरी माँ की सेवा की बात है इसलिये कोई निश्चित उत्तर पीछे मिलेगा आप लोग जा सकते हैं।”

प्रजा के हित की तब तक उपेक्षा हुई जब तक राज्य सत्ता वैभव विलास और महत्त्वाकांक्षाओं से ग्रस्त हुई चाहे वह प्रजातन्त्र शासन पद्धति रही हो अथवा राजतन्त्र। यह कहना गलत है कि राजतन्त्र में भ्रष्टाचार की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं प्रजातन्त्र में कम। सच तो यह है कि सत्ताधिकारियों का त्याग, सेवा भाव और उसकी प्रजा के हित में सुदृढ़ निष्ठा ही राष्ट्रों और राष्ट्रों में सुख-समृद्धि का विकास करती रही है। छोटा-सा देश पुर्तगाल उसका एक

ज्वलन्त उदाहरण है। इस देश के प्रजातन्त्र में राजतन्त्र के दर्शन का समन्वय यह अनुभव देता है कि प्रजातन्त्र जिसे चुनकर आये प्रतिनिधि नहीं त्यागी-तपस्वी, सेवाभावी प्रशासक चलाते हैं भले ही उनकी संख्या सात हो या कुल एक।

इन पंक्तियों में जिस व्यक्ति की चर्चा की जा रही है वह ऐसा ही एक व्यक्ति है। चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य की तरह पुर्तगाल के प्रधानमंत्री डॉ० आन्टोनियो डी. ओलिवेरा सालाजार। उस समय तो उन्होंने आग्रह-कर्त्ताओं को लौटा दिया पीछे माँ अच्छी हो गई तो सालाजार अपने कर्तव्य पर विचार करने लगे। आज तक कभी भी कोई काम अच्छी तरह विचार किये बिना नहीं किया था। बहुत दूर तक की सोचकर निर्णय लेने के इस गुण ने ही उसका जीवन सशक्त, संयत तथा प्रतिभासम्पन्न बनाया था। प्रोफेसर होने पर भी देश के वरिष्ठ, लोग उसे जानते और पूरी तरह उससे प्रभावित थे।

बात उन दिनों की है जब पुर्तगाल में जबरदस्त प्रशासनिक अस्थिरता चल रही थी। वहाँ के सम्राट कारलीस ने सत्ता के मद में प्रजा को जितना निचोड़ना सम्भव था निचोड़ा। भोग-विलास और अमोद-प्रमोद में जनता का जितना धन खर्च किया जा सकता था किया, तो खजाने खाली होने ही थे फलतः करों का बोझ बढ़ा, महँगाई, भुखमरी ने आ दबोचा यह तो अच्छा हुआ कि प्रजा जागरूक थी उसने विद्रोह कर दिया और निरंकुश राज्य सत्ता का अन्त कर दिया अन्यथा न जाने क्या से क्या हो जाता।

प्रजातन्त्र की स्थापना कर दी गई पर उससे जो आशा बाँधी गई थी वह कुछ ही दिन पीछे बालू के ढेर की तरह धूसरित हो गई। राजनीति में नये चेहरे आये पर उन सबकी महत्त्वाकांक्षाएँ, लिप्सायें कारलोस से बढ़-चढ़कर थीं। वे प्रजा के धन पर ही पूरी हो सकती थीं सो उनने भी शोषण, छल, कपट का वही बाना धारण कर लिया जो सम्राट से अभी-अभी उतरवाया गया था। राजनीति की अस्थिरता प्रजा की अस्थिरता के रूप में प्रतिबिम्बित हुई। साम्प्रदायिक दंगे, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक कर्मचारियों में रिश्तत आदि के मामले बढ़ गये। सन् १९०८ से १९२४ तक के १६ वर्षीय पुर्तगाली प्रजातन्त्र में ४३ मन्त्रिमण्डल बदले, २० साम्प्रदायिक दंगे हुये, आठ राष्ट्रपति चुने गये जिनमें से ३ ने त्यागपत्र दे दिया एक निकाल दिया गया, एक की हत्या कर दी गई।

पुर्तगाल के शुभचिन्तक एक बार फिर सालाजार के पास गये। सालाजार ने अब तक निश्चित कर लिया था कि देश में अनुशासन स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि शासनतन्त्र की सारी शक्तियाँ किसी विश्वासपात्र देशभक्त के हाथ में सौंपी जायें। उन्हें अपने आप पर पूरी तरह आत्मविश्वास था। मैं राज्यसत्ता में आकर भी कामिनी-कंचन से अपने आपको मुक्त रख लूँगा सो जब दुबारा वही लोग आये तो उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

नेतृत्व सम्भालने से पूर्व सालाजार ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी योजनाओं में कार्यपद्धति में कोई दखल नहीं देगा। लोगों को उन पर पूरा और पक्का विश्वास था इसलिए उनके इस कठोर रुख को भी सहर्ष अपनाया गया। इस तरह सालाजार ने अपना उदाहरण देकर सिद्ध कर दिया कि यदि व्यक्ति अपने आप में निष्काम और निष्पाप है। यदि उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का छल-कपट, दम्भ और पाखण्ड नहीं तो वह माता और पिता की तरह कठोर होकर भी शासन कर सकता है।

सालाजार को उपनिवेशित देश अपना शत्रु मानते हैं। गोआ के मामले में सालाजार इस देश के भी शत्रु रह चुके हैं पर जहाँ तक उनकी प्रजा की सेवा और देशभक्ति की बात है उनकी सराहना न करना मानवीय सभ्यता का गलत मूल्यांकन ही हो सकता है।

राजनीति का प्रारम्भ सालाजार ने एक वित्तमन्त्री की हैसियत से १९२८ में प्रारम्भ किया था। उन्होंने शासन में आने पर भी अपनी आवश्यकतायें बढ़ाई नहीं। वित्तमन्त्री थे तब उनका वेतन ४००० इस्कूडस या कुल ४६ डालर था और ४ वर्ष बाद जब वे प्रधानमन्त्री बन गये तो बहुत दबाव के बाद कुल १७८ डालर लेना स्वीकार किया जिसे वे अपने घर खर्च से अधिक मानते रहे और बचा हुआ धन देश के दूसरे आवश्यक कार्यों में खर्च करते रहे। उनका कहना था-धन प्रजा का है प्रशासक उसमें से अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिये ले सकता है, शेष धन प्रजा के हित में लगना चाहिए।

सालाजार ने सत्ता में आते ही अपना सारा ध्यान व्यवस्था, आर्थिक साधनों के विकास, सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन और बेरोजगारी को जड़ से समाप्त करने में लगा दिया। प्रशासन के प्रति उनकी दृढ़ता और कठोरता के कारण कुछ ही दिन में उखड़ी व्यवस्थायें जमने लगीं और छोटा-सा देश होने पर भी पुर्तगाल दुनिया के पदों पर शीशे की भाँति चमकने लगा।

इस बीच किसी ने यह भी नहीं जाना सालाजार रहते कहाँ हैं, खाते और पहनते क्या हैं, उनके घर में मेज, कुर्सियाँ और आलीशान सोफासेटों के साथ राजवैभव प्रदर्शित करने वाले ऐशो अशरत हैं भी या नहीं, विदेशी शराब, महँगे कलाकारों के चित्र और गगनचुम्बी राजप्रासाद भी हैं अथवा नहीं? एक दिन पत्रकारों का दल पता लगाता हुआ मुश्किल से प्रधानमन्त्री सालाजार के निवास पर पहुँच पाया वहाँ पहुँचकर उन सबने जो कुछ देखा उसे देखकर सबने दाँतों तले अँगुली दबाली। क्या यह उसी सालाजार का महल है जो प्रशासन के मामले में पहाड़ की तरह मजबूत और ज्वालामुखी की तरह तड़पन वाला है। यह लोग कठिनाई से निश्चित कर सके।

सालाजार का घर एक साधारण घर, कपड़े ठीक-थीक शिक्षकों जैसे, प्रातःकाल नियमित रूप से भगवान की उपासना, घंटों एकान्त में बैठकर अध्ययन, न कोई चमक-दमक और न कोई शान-शौकत, ठीक चाणक्य जैसे

सालाजार को देखकर देशवासियों के मस्तिष्क श्रद्धा से झुक गये। उन्हें यही कहते बना यदि सालाजार इतने त्यागी न होते तो शायद पुर्तगाल की उखड़ी व्यवस्था को सम्भाल भी न पाते।

आज इस देश की राजनैतिक अस्थिरता पर नियन्त्रण पाने के लिये सालाजार जैसे ही विप्लवी और विद्रोही देशभक्तों की आवश्यकता है जो देश को अपने त्याग, तप, सेवा और परिश्रम से सींचकर हरा-भरा बना सकें। प्रजा को अपने वोट का सदुपयोग अब ऐसे ही निस्पृह प्रशासकों की खोज में करना चाहिए ऐसा व्यक्ति एक भी मिल सके तो काफी है वह चाणक्य और सालाजार की तरह अकेला ही प्रजातन्त्र को चलाये तो भी कुछ बुरा नहीं।

कैलिफोर्निया के गान्धी-

सेसार कावेज

अमेरिका का डेलानो नगर। सन् १९४१ की बात है वहाँ के एक थियेटर में बैठे एक किशोर से मैनेजर उलझ रहा था। बात यह थी कि थियेटर में व्यवस्था के अनुसार गोरी चमड़ी वाले अमरीकनों को बैठने का अलग से स्थान था। वह किशोर मैक्सिकन (चिकानी) नस्ल का अमरीकी ही था जो दृढ़तापूर्वक गोरों की सीट पर बैठ गया था। कुछ गोरों दर्शकों ने इसे उठाना चाहा तो वह नहीं उठा। इस बात पर मैनेजर भी आ गया और उसे उठने के लिए जोर देकर कहने लगा। किशोर जिसका नाम 'सेसार कावेज' था, का कहना था कि हम भी तो इन्सानों में से ही, अमरीकन नागरिक हैं। एक ही प्रगतिशील देश के नागरिकों के अधिकारों में यह असमानता क्यों?

सत्ता का मद किसी भी व्यक्ति, जाति या समाज को पथ भ्रष्ट कर सकता है। गोरी नस्ल के लोगों का शासन था इसलिए वे अपने विशिष्ट स्थान पर किन्हीं नीच जाति के लोगों को बैठना कैसे सहन करते। कावेज ने कहा-अगर आपको मुझे उठाना ही है तो मैं बिना हाथ-पैर तुड़वाये नहीं उठूँगा। आखिर पुलिस को बुलाया गया। वे कावेज को पुलिस स्टेशन ले गये।

कावेज चला तो गया परन्तु पुलिस अधिकारियों के सामने भी उसने हार न मानी। अधिकारी चाहते थे कि वह आगे से ऐसी गलती न करने का वचन दे और कावेज का कहना था कि मैंने कोई गलती की ही नहीं है तो जबरन कैसे स्वीकार कर लूँ। आगे ऐसा न करने का वचन दिए वगैर ही पुलिस ने उसे अबोध और हठी लड़का समझकर छोड़ दिया।

बचपन से ही अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने वाला यही कावेज आगे चलकर अपनी सिद्धान्तनिष्ठा और मानवीय अधिकारों की रक्षा में अपना सारा जीवन अर्पित कर देने के कारण कैलिफोर्निया के गान्धी के नाम से प्रख्यात हुआ।

महात्मा गान्धी की अहिंसक रणनीति और साध्य तथा साधन की समानता वाला जीवन दर्शन विश्वविख्यात हो चुका था। देश में ही नहीं विदेशों तथा दूर-देशान्तों में भी उनके सिद्धान्त लोकप्रिय होने लगे थे। भारत के असंख्य स्त्री-पुरुषों ने गाँधी के नेतृत्व में मानवतावादी आन्दोलनों में भाग लिया। विदेशी लोग भी उससे प्रभावित हुए थे। कावेज तब सोलह वर्षीय अल्पवय का किशोर छात्र था।

उसका बचपन बहुत गरीबी में बीता। सन् १९२५ में यूमा गाँव के निकट एक पठारी फार्म में काम करती हुई गरीब महिला के गर्भ से वह जन्मा था। उस फार्म में उसके माता-पिता मजदूरी करते थे और दो जून का खाना बड़ी मुश्किल से जुटा पाते थे। अपने आरम्भिक जीवन में कावेज वहीं रहा और महसूस किया कि गोरे अमरीकी लोग उसकी नस्ल के लोगों को घृणा और उपेक्षा के भाव से देखते हैं।

उसे जब स्कूल में भरती किया गया तो छात्रों का व्यवहार अपने अभिभावकों की तरह उपेक्षा और घृणा पूर्ण था। गोरे लड़के कावेज तथा उसके साथियों को अवसर आते ही पीटते और अध्यापक भी इनमें बीच-बचाव करने की अपेक्षा गोरे लड़कों को प्रोत्साहित ही करते।

ऐसे पददलित दशा में पड़े हुए लोगों का जीवन कितना दुःखपूर्ण रहता है। अल्पायु में ही कावेज के परिवार पर एक घोर संकट आया। सन् १९३५ के लगभग अमरीका में जबरदस्त मन्दी आयी। जिस फार्म में कावेज का परिवार मजदूरी कर रहा था वह बन्द हो गया। उनकी जीविका का मुख्य आधार ही टूट गया। कावेज का पिता परिवार को लेकर कोलोरैडो नदी के किनारे आ गया। वहाँ मटर छीलने का मौसमी काम मिला। कुछ दिनों बाद यह काम भी समाप्त हो गया। कावेज परिवार को रोजी-रोटी की तलाश में खानाबदोशी की तरह इधर-उधर भटकना पड़ा।

जाड़े के मौसम में आक्सनाई शहर की एक उदार महिला ने अपनी खाली पड़ी जमीन का एक टुकड़ा दिया। वहाँ इसके परिवार ने एक तम्बू बना लिया। स्थान की कमी के कारण समूचा परिवार सिमटकर इस तम्बू में पड़ा रहता। सर्दी से बचने के लिए पास-पास सोने से और कोई अच्छा साधन नहीं जुट पाया। कभी-कभी जब बारिश होती तो उनके परिवारों को गीली सर्द जमीन पर ही पड़े रहना पड़ता। उन दिनों के संस्मरण कितने ही कठोर हृदय को आर्द्र कर सकते हैं।

सन् १९४० तक 'सेसार' को अपने परिवार के साथ बन्जारों की तरह घूमना पड़ा। परिस्थितियों तथा मानवता का मुखौटा पहने गोरे लोगों के अत्याचारों ने कावेज को विद्रोही बना दिया।

१९४३ में गोरे लोगों ने चिकानों पर खूब अत्याचार किए। गुलामों से भी गयी-गुजरी स्थिति बन गई। कावेज

के विवश अन्तर्मन से क्रान्ति का स्रोत फूट पड़ा और वह विद्रोही संगठन 'पचूको' का सदस्य बन गया। पुलिस और सेना के अत्याचारों को दूर करने में सारा जीवन लगा देने का संकल्प कर सेसार अठारह वर्ष की आयु में ही सामाजिक अन्यायों से जुझ उठा।

कावेज ने देखा कि चिकानो लोग गरीब ही नहीं अशिक्षित भी हैं। स्कूल में जब वे अपनी मातृभाषा स्पेनी में बोलते हैं तो दण्डित किया जाता है। उपेक्षित सामाजिक स्थिति के कारण रोजगार और शिक्षा की सुविधाएँ भी नहीं मिल पातीं। इस कारण वह स्वयं भी सातवीं कक्षा से आगे नहीं पढ़ पाया। परन्तु प्रकृति और समाज की पाठशाला में उसने जो पढ़ा वही शिक्षा उसको महामानव बनाने में सहयोगी सिद्ध हुई। सोल एलिस्की में मजदूरी करते वक्त उसका चिन्तनशील मस्तिष्क इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मजदूर हितों की रक्षा तथा अधिकारों की प्राप्ति केवल संगठन शक्ति के माध्यम से ही सम्भव है।

बुरी परिस्थिति और कष्ट-कठिनाइयाँ मनुष्य की महानता को अनावृत कर देती हैं। इस मायने में समझदार लोग आपत्तियों को ईश्वरीय वरदान समझकर सहन कर लेते हैं और तपाए हुए कुन्दन की तरह अपना भी व्यक्तित्व निखार लेते हैं। अहिंसा और प्रेम मानवता के दो आधार स्तम्भ हैं। बचपन से ही अत्याचार और अन्याय सहते हुए भी कावेज का मनुष्यत्व निखर उठा। अमानवीय दैत्य को परास्त करने के लिए वह उत्साही तो था परन्तु उसके लिए कावेज ने मानवीय सिद्धान्तों को ही अपनाया।

उसने घाटियों के अंगूर फार्म में काम करने वाले चिकानी मजदूरों को संगठित किया। चिलचिलाती धूप और कड़कड़ाती ठण्ड में धूल और विषैले कीड़ों के खतरों में वे अहर्निश काम करते। गुलामों की तरह मालिकों का व्यवहार और काम लेने की पद्धति में उन्हें अपने खून का पसीना बहाना पड़ता, फिर भी भरपेट भोजन उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाता। अधिकांशतया उन्हें भूखे रहना पड़ता और कई मजदूर तो इस असह्य भूख के कारण मर भी जाते। उसकी तंग झोपड़ियों में रोशनी की व्यवस्था भी नहीं होती तथा न ही पानी की। मजदूरों की इसी व्यथा वेदना से द्रवीभूत होकर सेसार कावेज ने 'नेशनल फार्म वर्कर्स एसोसिएशन' की स्थापना की और लगभग ५० हजार मजदूरों को अपने विचारों से प्रभावित कर अन्याय और शोषण से मोर्चा लेने के लिए संगठित किया।

सन् १९६४ में उन्होंने अन्याय के विरुद्ध पहली आवाज उठाई। फार्म के एक मालिक के विरुद्ध नियत राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन दर से कम मजदूरी देने के कारण मुकदमा चलाया। जीत संगठन शक्ति और न्याय की हुई। मनुष्यों की बनायी हुई न्याय व्यवस्था का पलड़ा भी शक्ति की ओर ही झुकता है। संगठन शक्ति की महत्ता को समझ लेने के कारण एक समय का मजदूर और मोहताज किशोर अपने जीवन के बहुत थोड़े समय में श्रमिक हितों

का रक्षक बन गया। मई ६५ में कावेज ने गुलाब की खेती करने वाले मजदूरों को संगठित किया तथा उचित पारिश्रमिक के लिए असहयोग का अस्त्र सम्हाला। चार दिन की हड़ताल से ही मालिकों ने मजदूरों की माँग स्वीकार कर ली।

अंगूर श्रमिकों की न्यायोचित माँगों के लिए कावेज को और कड़ा रुख अपनाना पड़ा। १९६७ में मजदूरी बढ़वाने के लिए उसे बहिष्कार का सहारा लेना पड़ा। उसके आन्दोलन से प्रभावित होकर गृहणियों ने अंगूर खरीदना बन्द कर दिया, होटलों में अंगूर परोसने से बैरों ने इन्कार कर दिया। मजदूरों ने अंगूर की पेटियाँ ट्रकों पर लादने तथा उतारने से लेकर जहाजों पर चढ़ाना तक बन्द कर दिया। सेसार कावेज का यह आन्दोलन यद्यपि पूर्णतया अस्वाभाविक था परन्तु अन्याय और पीड़ा सहने के कारण व्यक्ति में पार्श्विक भावनाओं का भड़क उठना भी स्वाभाविक है। कहीं-कहीं हिंसक कृत्य भी हुए। कावेज को इन कृत्यों से बहुत परचाताप हुआ।

किसी और को दोष देने की अपेक्षा उसने इन अमानवीय कृत्यों के लिए स्वयं प्रायश्चित्त रूप उपवास किए। यों तो उसने उपवास की घोषणा निजी तौर पर की थी परन्तु धीरे-धीरे यह प्रायश्चित्त कर्म सार्वजनिक उपवास के रूप में परिणित हो गया। भारी संख्या में उसके अनुयायियों ने उपवास में भाग लिया। श्रमिकों के झुण्ड के झुण्ड आने लगे और कावेज से क्षमा माँगने लगे। फिर हिंसा का सहारा न लेने का आश्वासन लेकर कावेज ने उपवास तोड़ा। मालिकों का हृदय भी इस प्रायश्चित्त रूप तप से पसीजा और उचित श्रमिक माँगों को अविलम्ब स्वीकार कर लिया।

इसी उपवास के दौरान कावेज को एक बार न्यायालय में बयान देने के लिए अदालत में भी जाना पड़ा था। जिस समय वह न्यायालय में बयान दे रहे थे हजारों श्रमिक बाहर सीड़ियों पर घुटने टेके ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। राबर्ट केनेडी की उपस्थिति में अहिंसा की जयघोष के बीच उन्होंने उपवास तोड़ा।

वे सच्चे गाँधीवादी जननेता हैं। विदेशी होते हुए भी उन्होंने शराब की बात तो दूर सिगरेट तक को नहीं छुआ। श्रमिक संगठन कार्यालय में वे सोलह घण्टे श्रम करते हैं तथा सप्ताह में निर्बाह के लिए मात्र दस डालर का पारिश्रमिक जो अमेरिका के जीवन स्तर को देखते हुए बहुत कम है ही नहीं है। वे समिति के प्रधान कार्यालय में ही सभी कर्मचारियों के साथ सामूहिक भोजन करते हैं। अपनी पत्नी और बच्चों सहित तीन कमरों वाले साधारण किन्तु सुख्यवस्थित तथा स्वच्छ मकान में रहकर सोने के समय को छोड़कर शेष पूरे समय में वे कठोर श्रम करते हैं। अपने जीवन काल में ही अधिक से अधिक लोगों के लिए परिश्रमरत रहने के कारण उनका स्वास्थ्य लड़खड़ा ने लगा। सन् ६८ में उनके पाँच बिल्कुल बेकार हो गए। सामान्य से रोग में ही जहाँ लोग विलाप करने लगते हैं वहाँ

सेसार कावेज के चेहरे पर एक मृदुल मुस्कान खेलने लगी। वे यही कहते रहे कि ईश्वर जिन पर प्रसन्न होता है कष्ट-कठिनाइयों द्वारा उसे सबसे पहले मजबूत बनाता है।

पाँच वर्ष पूर्व चलाए गये उनके श्रमिक आन्दोलनों ने मालिकों तथा मजदूरों को इतना समीप कर दिया कि श्रमिकों का पारिश्रमिक आन्दोलन के पूर्व की तुलना में दुगुना हो गया।

वे यथार्थ में गान्धी के अनुयायी हैं। बिनोबा भारत के वर्तमान गान्धी हैं तो सेसार कावेज एक विदेशी कैलिफोर्नियाई गान्धी।

लौह पुरुष—स्टालिन

पिता जूते गाँठने का काम करते थे और माता लोगों के कपड़े धोया करती थी। अपने पुत्र के लिए उन्होंने अपने अनुरूप ही भावी जीवन की कल्पनाएँ की थीं। पिता चाहता था कि उसका पुत्र बड़ा होकर उसी की तरह जूते गाँठने का कार्य करे। माँ कुछ अधिक ऊँचे और सामाजिक धरातल पर सोचा करती थी कि उसका बेटा पादरी बन जाय, जिससे उसका जीवन भी धार्मिक बन जाय और वह लोगों को सच्ची राह दिखाने का काम भी करे। सामान्यतया महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक सामाजिक ढंग से सोचती हैं तब उन्हें क्या पता था कि उनका पुत्र एक दिन रूस के जार से भी महत्त्वपूर्ण पद पा लेगा। यह बालक—इयोंसिफ विसारियोनोविच अपने भावी जीवन में सोवियत संघ का प्रधानमंत्री बना और अपने स्वभाव और दृढ़ता के कारण उसके साथियों द्वारा स्टालिन—इस्पात पुरुष कहा गया।

स्टालिन का जन्म जॉर्जिया के स्पीयन सागर व कृष्ण सागर के मध्य स्थित प्रान्त के एक छोटे से गाँव में १८७९ में हुआ था। रूस की सामाजिक दशा उन दिनों बहुत बिगड़ी हुई थी। वहाँ दो वर्ग थे एक धनी सामन्त वर्ग जो भूमि का स्वामी था साथ ही खूब सम्पन्न, सुखी और अत्याचारी भी। दूसरा वर्ग सामान्य कृषक गुलामों का जो भूमि पर खेती करते थे। मालिक खेती के साथ उन्हें भी बेच दिया करते थे। यह वर्ग अत्यन्त निर्धन और दीन-हीन पराधीन सा था। आर्थिक असमानता किस प्रकार के विद्रोह और सामाजिक विस्फोट—क्रान्ति को जन्म देती है। यह रूस के इतिहास में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। कृषक श्रमिक कुछ कर नहीं सकते थे पर मन ही मन सामन्त वर्ग से घृणा करते थे। यह घृणा जब विस्फोट बनकर उठी तो सामन्त वर्ग को ही उड़ा गयी। आज रूस में सामन्त (बुर्जुआ) शब्द गाली का पर्याय बन गया है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि धनिक लोगों ने निर्धनों की उपेक्षा की, अपने स्वार्थ में ही लिप्त रहकर वे सामाजिक हितों से विमुख हुए तो यह स्थिति कहीं भी दोहरायी जा सकती है।

स्टालिन का जन्म इसी दूसरे पराधीन कृषक वर्ग के परिवार में हुआ। उसके जन्म के कुछ समय पहले रूस में दास प्रथा का कानून समाप्त कर दिया गया था पर आर्थिक दासता का जुआ तो अभी भी उनके कंधे पर रखा ही हुआ था। जमीनें तो सामन्तों के पास ही रहीं। वे बेचारे विवश होकर पुनः उनके यहाँ मजदूरी करने लगे। स्टालिन के पिता ने जूते गाँठने और माता ने कपड़े धोने का काम आरम्भ किया।

माता की इच्छानुसार उसे तिफालिस के ईसाई धार्मिक विद्यालय में प्रविष्ट कराया गया। उसकी गरीबी को देखकर स्कूल के अधिकारियों ने उसके लिये छात्रवृत्ति का प्रबन्ध भी कर दिया। पर स्टालिन को पादरी नहीं बनना पड़ा। संयोग से एक दिन उसके हाथ में मार्क्स की पुस्तक 'पूँजी अथवा राजनैतिक-अर्थव्यवस्था' की एक समीक्षा लग गयी। साम्यवाद लाने का श्रेय इस पुस्तक में प्रकट किये गये कार्ल मार्क्स के सत्य पर आधारित प्रखर विचारों को कम नहीं जाता। मार्क्स के विचार ही साम्यवाद के जनक थे। विचार मनुष्य को क्या से क्या बना देते हैं। विचार व्यक्ति व समाज का कायाकल्प करके रख देते हैं। इस कथन की सत्यता को आज के सोवियत संघ के रूप में देखा जा सकता है।

मार्क्स की इस पुस्तक का प्रतिपादन ही कुछ इस ढंग का है और तथ्य इतने सत्य पर आधारित हैं कि समाज के विषमता व्यक्ति के सामने उजागर ही नहीं होती वह उसे मिटाने के लिये कृत संकल्प भी हो जाता है। फिर उसे इस वैषम्य को मिटाने के लिये जो रास्ता मार्क्स ने बताया था वही अच्छा लगता है। इस पुस्तक ने स्टालिन को पादरी बनने से बचा लिया और क्रान्तिकारी बना दिया। उसकी गतिविधियाँ देखकर शिक्षण संस्थान के अधिकारियों ने उसे बाहर निकाल दिया। इसकी उसे परवाह भी कहाँ थी। वह तो सामाजिक क्रान्ति के लिये प्राण विसर्जन जैसे बलिदान के लिये भी तैयार हो चुका था। वह क्रान्ति में भाग लेने लगा। मूल रूप से घर-घर जाकर क्रान्ति सम्बन्धी पर्चे बाँटना, किसानों को उसके लिये तैयार करना उसका काम हो गया। पुलिस उसके पीछे लग गयी। पुलिस को चकमा देने के लिये उसे आज यहाँ तो कल वहाँ भटकना पड़ा। किन्तु पुलिस का तो जाल बिछा था। वह कब तक बचता। वह पाँच बार पकड़ा गया और दण्ड भुगतने के लिए साइबेरिया भेजा गया। पाँचों बार वह वहाँ से भाग आया।

मनुष्य अपने सुखद भविष्य के लिये किस प्रकार दुःख पूर्ण वर्तमान को सह लेता है और फिर उसके साथ देश हित या समाज हित की भावनाएँ जुड़ी हुई हैं तो उसका कहना ही क्या? स्टालिन को गालियाँ, चाबुक, मार, यंत्रणाएँ कम नहीं सहनी पड़ीं इस दौरान, क्रान्ति के मार्ग में तो यही सब उपहार मिलते हैं। इन सबने उसके संकल्प को दृढ़ ही बनाया, कमजोर नहीं।

छटी बार जब वह पकड़ा गया तो ऐसे स्थान पर भेज दिया गया जहाँ से वापिस आना सम्भव नहीं था। उत्तरी ध्रुव प्रदेश से लगी रूस की सीमा के एक गाँव में उसे रखा गया जिसमें केवल चार ही मकान थे जिनमें बन्दी रहते थे। यहाँ न कोई प्रहरी था न कोई चहारदीवारी और न जेलर फिर भी वहाँ जेल थी। यहाँ से कोई आदमी भाग नहीं सकता था क्योंकि उस गाँव के निकट दो सौ मील तक कोई बस्ती ही नहीं थी। बारहों महीने यहाँ कड़ाके की शीत पड़ती थी। इस शीत से बचने का, अपने को गर्म रखने का एक ही साधन था खूब श्रम करना। ऐसी भयंकर जेल में स्टालिन ने चार वर्ष बिताये और अन्त में १९१७ में क्रान्ति के सफल होने पर मुक्त हुआ।

बीस से भी अधिक वर्षों तक वह क्रान्ति के लिये जी-जान से जुटा रहा था। इस दौरान लेनिन से उसका घनिष्ठ परिचय हो गया था और वह लेनिन का दाहिना हाथ बन चुका था। १९०५ में क्रान्ति का प्रयास असफल हो जाने पर लेनिन व ट्राट्स्की तो प्राण बचाने के लिये स्विटजरलैण्ड भाग गये थे पर स्टालिन रूस में ही रहा। पुलिस की आँखों में धूल झोंकता हुआ वह देशवासियों को प्रबल क्रान्ति के लिये तैयार करता रहा। यह निश्चित था कि यदि इन दिनों वह पकड़ा जाता तो उसे मृत्यु दण्ड अवश्य मिलता। जान की जोखिम उठाकर भी वह रूस में ही रहा। सच है कि जो अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को किसी लोकोपयोगी महान लक्ष्य से जोड़ लेते हैं तो उनमें स्टालिन जैसी सामर्थ्य स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

लेनिन विदेशों से गुप्त रूप से जो योजनाएँ बनाकर भेजते उसे वह कार्यान्वित करता, उनके गुप्त रूप से भेजे लेखों को क्रान्तिकारियों के भूमिगत मुद्रणालय में छापकर वितरित करता। स्टालिन इस प्रकार सोवियत जनता का हृदय सम्राट बनता जा रहा था और फिर एक दिन वह भी आया जब मानवीय संकल्पों ने सपनों को साकार कर दिखाया। लालक्रान्ति की सफलता के साथ ही रूस की अन्याय और स्वेच्छाचारिता के पाप-पंक में लिपटी जारशाही की समाप्ति हो गयी। वर्षों से धनी सामन्त वर्ग की दासत्व व अत्याचार सहने वाले कृषक और श्रमिक अब सोवियत संघ के भाग्य विधाता बन गये। सामन्तों को अपने उगाये काँटों को ही रोते-कलपते काटना पड़ा। क्रान्ति के बाद उनकी बड़ी दुर्गति हुई।

क्रान्ति का नेता लेनिन सोवियत रूस का सर्वेसर्वा बना। फिर भी अभी रूस को बहुत कुछ सहना था। नये-नये साम्यवादी संघ पर कई संकट आये। लेनिन की मृत्यु के पश्चात् स्टालिन व ट्राट्स्की में नेता पद के लिये संघर्ष हुआ जिसमें विजय स्टालिन की हुई। ट्राट्स्की मेक्सिको चला गया। शासन हाथ में आते ही वह सचमुच इस्पात पुरुष सिद्ध हुआ। उस समय इस नवोदित राष्ट्र को ऐसे ही मिथ्या भावुकता रहित व कठोर अनुशासन रखने वाले राष्ट्र नेता की आवश्यकता थी। क्योंकि दूसरे देश अभी भी साम्यवादी रूस को अच्छी नजरों से नहीं देखते थे।

वह पूरी तरह फौजी आदमी था-अनुशासन का पक्का। उसने श्रम करना सबके लिये अनिवार्य कर दिया। कोई श्रम करने से बच नहीं सकता था। उसकी दृष्टि में व्यक्ति का राष्ट्र के सन्दर्भ में कोई मूल्य नहीं था। चाहे वह उसका मित्र ही क्यों न हो यदि उसे लगता कि वह देश के साथ गद्दारी कर रहा है तो उसे वह गोली मरवा देता था। यह उसके व्यक्तित्व का हलका पहलू है। फिर भी यह उस समय सोवियत संघ के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ।

वर्षों से दासत्व व दीनता में जकड़े रहे व्यक्तियों में कुछ स्वाभाविक कमजोरियाँ भी आ जाती हैं। उन्हें कठोर अनुशासन में रखकर दूर करने का यह प्रयास राष्ट्र के हित में ही था। उस अनुशासन का ही परिणाम था कि १९४० में फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश को पाँच सप्ताह में धरती दिखा देने वाले जर्मनी को इस नवोदित राष्ट्र ने पराजित कर दिया। इंग्लैण्ड व अमेरिका से सहायता लेने का उसका कदम भी कम सराहनीय नहीं था।

अपने कठोर अनुशासन और प्रभुत्व के पीछे स्टालिन के मन में कोई व्यक्तिगत एषणा रही हो, ऐसा नहीं लगता। बीस वर्ष तक सोवियत संघ का एकछत्र शासक रहने वाला यह व्यक्ति जार के शानदार महल में रहने की बजाय सचिवालय में काम करने वाले सामान्य कर्मचारी को मिलने वाले क्वार्टर में ही रहा करता था। उन्हीं जैसा खाना खाता था, उन्हीं जैसे कपड़े पहनता था। जार के निरंकुश शासन से मुक्ति दिलाने के लिये अपने जीवन के स्वर्णिम बीस वर्ष समर्पित कर पग-पग पर मृत्यु की संभावना और कष्ट-कठिनाइयों से जूझने के तप, त्याग और बलिदान का मुआवजा स्टालिन ने सुख, वैभव और आरामतलबी के रूप में नहीं लिया। जार के नौकरों के रहने के क्वार्टर में रहने वाले इस रूस के प्रधानमन्त्री का यह उदाहरण कितना प्रेरक है, मार्गदर्शक है जननेताओं के लिये।

स्टालिन की पहली पत्नी को क्षय हो गया था। उस क्षय ने ही उसके प्राण ले लिये पर क्रान्ति में जुटा स्टालिन समाज के हित पर अपने व्यक्तिगत हित को बलिदान करके क्रान्ति के कामों में बाधा नहीं आने दी। दूसरा विवाह उसने चालीस वर्ष की आयु में किया। दूसरी पत्नी से एक पुत्र व पुत्री उत्पन्न हुई। स्टालिन और उसकी पत्नी के विचार नहीं मिलने के कारण वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रह सका। फौलाद के स्टालिन को ईश्वर ने जीवन की इस मधुरता से वंचित रखकर उसे सजा दी या सोवियत संघ पर अनुकम्पा की यह सोचने का विषय है।

आत्म-प्रशंसा व आत्म विज्ञापन से वह कोसों दूर रहता था। मास्को में रहने वाले विदेशी राजदूत उसे कम ही देख पाते थे। वह बोलता कम था, काम अधिक करता था।

स्टालिन बहुत कठोर था और कहते हैं वह निर्मम भी था। मरणोपरान्त उसके विरोधियों ने उसके विरुद्ध इतना

प्रचार किया कि उसके नाम पर बसाये नगर स्टालिन ग्राड नाम भी बदल दिया गया। उसके शव को लेनिन की समाधि से हटा दिया गया। फिर भी सोवियत संघ की जो सेवाएँ स्टालिन ने कीं वे भुलाई नहीं जा सकती थीं। उसकी कठोरता और निर्ममता भी राष्ट्र के हित में होने के कारण उपयोगी सिद्ध हुई। 'मनुष्य में अच्छाईयाँ भी होती हैं और बुराईयाँ भी होती हैं, न कोई पूर्णरूपेण अच्छा होता है न कोई बिल्कुल बुरा। गुण, कर्म, स्वभाव में हर मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होता है। किन्तु यदि सामाजिक हित पर व्यक्तिगत एषणाओं को वारे जाने का दृष्टिकोण अपनाने पर उसका यह मिश्रित स्वरूप भी उपयोगी और चिर-स्मरणीय बन सकता है।' स्टालिन इसका सटीक उदाहरण है।

गरीबों के साथ गरीब बनकर रहो

खलीफा अबूबक्र के उपरान्त उस स्थान पर हजरत उमर नियुक्त हुए। उनकी शासकीय कुशलता, बहादुरी और दूरदृष्टि में कोई कमी न थी। पर वे निज की सुविधाओं में कटौती ही करते रहते। रुखा-सूखा खाते और मोटा-झोटा पहनते।

दरबारियों ने उन्हें सुख-सुविधापूर्वक रहने और अच्छी पोशाक पहनने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा-“राजकोष प्रजा की अमानत है। मैं उसका सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए संरक्षक मात्र हूँ। उसकी दौलत का भक्षक नहीं बन सकता।”

वे जौ की रोटी खाते थे। किसी ने कहा देश में गेहूँ उपजता है फिर आप उसका उपयोग क्यों नहीं करते? उन्होंने कहा-“कि क्या इतना गेहूँ उपजता है कि हर एक के हिस्से में पर्याप्त मात्रा में आ सके? यदि नहीं तो किन्हीं को तो मोटे अनाज पर गुजर करनी ही पड़ेगी। यदि वह कार्य मैं करने लगूँ तो यह अच्छा ही रहेगा। इससे विषमता न पनपेगी और ईर्ष्या फैलने की गुंजाइश न रहेगी।”

वे मोटा कपड़ा ही नहीं पहनते थे वरन् फट जाने पर उसमें पैबन्द लगा लेते थे। उनकी निजी पोशाक में बारह पैबन्द थे। कपड़े की कमी से उसे बाहर न धुलाते। स्वयं ही धोते और एक ही होने के कारण तब तक बाहर न निकलते जब तक कि वह सूख न जाता। सीरिया की विदेश यात्रा पर भी उन्होंने शाही पोशाक बनवाने की जरूरत नहीं समझी। यहाँ के लोग इस सप्तमी पर मुग्ध होकर रह गये।

हजरत गरीब-अमीर सभी को अपने साथ बिठाकर खाने की प्रार्थना करते। भोजन इतना सादा होता था कि न खाने वालों को संकोच होता और न राजकोष पर कोई बड़ा भार पड़ता। बाबर्ची भी खीजता नहीं था। वे स्वयं

किसी के यहाँ भोजन करने जाते तो कीमती पकवानों को हाथ न लगाते । कहते-“इस प्रचलन से देश में फिजूलखर्ची, विलासिता और गरीबी बढ़ेगी ।” राजदूतों को भी वे वैसा ही खाना खिलाते ताकि वे अपने यहाँ ऐसी ही सादगी की आवश्यकता पर जोर दें ।

एक बार अकाल पड़ा । उन दिनों साधन जुटाने के प्रयत्नों के साथ उन्होंने जनता को इस बात के लिए प्रशिक्षित किया कि सभी मिलबाँट कर खायें और अपने हिस्से में कमी करें ।

एक बार निजी खर्च में तंगी पड़ी । मित्र से उधार ले लिया । उसने दे तो दिया पर साथ ही यह भी कहा-“आप तो शासनाध्यक्ष हैं । इतनी छोटी रकम तो राजकोष से भी उठा सकते हैं ।” उन्होंने कहा-“यह परम्परा डालने पर अन्य कर्मचारियों से ऐसा करना कैसे रोक पाऊँगा ?”

राजकर्मचारियों की नियुक्ति करते समय वे हिदायत देते-“महीन कपड़े न पहनना । मैदा प्रयोग न करना । दरवाजे पर द्वारपाल न बिठाना । ताकि बिना रोक-टोक के प्रजाजन तुम तक अपनी बात कहने आ सकें ।” नौकर नियुक्त करते समय उसकी निजी सम्पदा का हिसाब लिया जाता और बीच-बीच में उसे जाँचा जाता कि यह बढ़ तो नहीं रही है ।

मिस्र के इलाके की ओर नियुक्त किया गया एक अफसर महीन कपड़े पहनने व ठाट-बाट बनाने लगा था । शिकायत सही पाई गई तो उन्होंने उस अफसर को बुलवाकर कपड़े उतरवा लिए और एक कम्बल लपेटकर रहने तथा बकरियाँ चराने का काम दे दिया । अफसर अचकचाया तो उन्होंने कहा-“तेरा बाप भी तो बकरियाँ चराता था । किसी काम को छोटा समझना और बड़ी पदवी के लिए आग्रह करना बुरी बात है ।”

उस जमाने में शासकों के सामने हाथ बाँधकर खड़े होने और सिर पैरों पर रखने का रिवाज था । हजरत उबर ने उस रिवाज को बिल्कुल बन्द करा दिया और घोषित किया कि सभी इंसान खुदा के बन्दे और समान हैं ।

वे विचारशील लोगों से कहा करते थे कि ऊँट की तरह न रहो जो नकेल ढीली करते ही बेकाबू हो जाता है और लगाम खींचते ही गरदन मरोड़कर पीछे रख लेता है । दबाव का इन्तजार न करो । उसे स्वेच्छापूर्वक अपनाओ जो विवेकपूर्ण व न्यायोचित है ।

अमेरिका के ३९ वें राष्ट्रपति-

महान हर्बर्ट हूवर

महान हर्बर्ट हूवर जब केवल नौ साल के थे इनके माँ-बाप का देहान्त हो गया और वे संसार में अनाथ होकर अकेले रह गये । घर पर कोई ऐसी पैतृक सम्पत्ति भी न थी जो इनका सहारा बन्सी । इनके पिता लोहारी का काम करते थे और बहुत गरीब थे ।

गरीबी के कारण हूवर के माता-पिता उन्हें शिक्षा न दिला पाये थे, फिर इतनी कम आयु में वह पढ़ भी क्या पाते ? किन्तु घर पर माता-पिता के काम में हाथ बँटाते-बँटाते वे परिश्रमी स्वभाव के हो गये थे । हूवर अपने इस अनाथ-जीवन से घबराये नहीं । माता-पिता का शोक मनाने के बाद उन्होंने श्रम को अपना जीवन-सहचर बनाया और घर से चल निकले ।

सबसे पहले उन्होंने आयोवा में अपने एक चाचा के फार्म में कार्य करना शुरू किया । यद्यपि उनका चाचा उन्हें अधिक श्रम के काम में नहीं लगाना चाहता था और कुछ कृपा करना चाहता था । किन्तु कर्मठ पिता का पुत्र किसी की कृपा पर उस कच्ची आयु में भी निर्भर रहना नहीं चाहता था । बालक हूवर ने अपने चाचा के फार्म पर एक असम्बन्धित मजदूर की भाँति श्रम किया और अपने को लगन के साथ फार्म के विविध कामों को करने योग्य बनाया ।

इसके बाद औरिगन में अपने दूसरे चाचा के भूमि और खान सम्बन्धी कार्यों में चले गये । अन्य कामों के साथ-साथ वे उसके कार्यालय में कुछ देर छोटे-मोटे काम करते, जिससे उन्हें कुछ पढ़ना-लिखना आ गया ।

अपने जीवन-संघर्ष में बहुत कम आयु से पढ़ जाने के कारण उन्हें शिक्षा का कोई अवसर न मिला । किन्तु उनकी पढ़ने की जिज्ञासा दिनों-दिन प्रबल होती गई । अपने काम के बाद जो भी अवकाश मिलता, वह सारा समय पढ़ाई और पढ़े-लिखों के बीच बिताते ।

‘जहाँ इच्छा है वहाँ मार्ग भी है’ के सिद्धान्तानुसार लगभग १६-१७ साल की आयु में वे कैलीफोर्निया के नवीन स्थापित विश्वविद्यालय में किसी प्रकार पहुँच गये । यों वे विश्वविद्यालय में भरती तो हो गये, किन्तु वहाँ उनके खर्च की समस्या सामने आई । स्वाभिमानी हूवर इस समय भी किसी की सहायता लेना नहीं चाहते थे-। अस्तु, उन्होंने इस बार फिर अपने श्रम का सहारा लिया । विश्वविद्यालय के समय के बाद जो भी काम उन्हें मिल जाता, उसे पूरे परिश्रम से करते और उससे जो कुछ आय होती उससे अपना तथा शिक्षा का खर्च चलाते । इस प्रकार अपने अध्यवसाय और परिश्रम से उन्होंने छहवर्ष में इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तम श्रेणी से उत्तीर्ण की ।

किन्तु उस समय अमेरिका में इंजीनियरों की जरूरत न होने से विश्वविद्यालय से निकलते ही उन्हें कहीं कोई पद न मिल सका, पर इससे वे न तो निराश हुए और न हिम्मत हारे । उन्होंने पुनः अपने श्रम का सहारा लिया और एक साल तक एक सोने की खान में मजदूर का काम करते रहे । उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि मैं इंजीनियर की उपाधि रखने वाला किसी खान में मजदूरी कैसे करूँ, न कभी उन्होंने अपने साथी मजदूरों पर इसका रीब दिखाया और न अपनी इस योग्यता के लिये खान के मालिक से कोई रियायत चाही । वे वास्तव में एक मजदूर की भाँति काम करते और अपनी मजदूरी के पैसे लेते । इस मजदूरी

काल में वे केवल काम और दाम तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि अपने कुसमय को मजदूरों की गतिविधि और उनकी समस्याओं को समझने के रूप में सुअवसर बना लिया।

एक वर्ष के घोर परिश्रम और ठोस अनुभवों के बाद उन्होंने एक खान-इंजीनियर के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया। प्रारम्भ से अब तक अभावों और कष्टों के बीच दिन-रात पसीना बहने के बाद आय, प्रतिष्ठा और सुविधाओं से पूर्ण इंजीनियर का पद पाकर किसी भी युवक के लिये काफी था कि वह अपने को चारों ओर से समेट कर भूतकाल की कठिनाइयों को याद करता हुआ वर्तमान की सुख-सुविधाओं का आनन्द बढ़ा-चढ़ा कर लेता और एक निर्विघ्न जीवन-यापन करता।

किन्तु हूवर के विगत कठिन जीवन में उनमें एक ऐसी कर्मठता का जादू कर दिया था कि आराम से बैठकर खाना-पीना और मौज उड़ाना वे जानते ही न थे। संयोग-वश जो खान-इंजीनियर का पद उन्हें मिला था, उसमें बराबर दौरा करते रहना पड़ता था। महान हूवर ने इस अस्थिरता का खूब उपयोग किया। सात वर्षों में उन्होंने सात बार सारे विश्व का भ्रमण किया। अपने भ्रमणकाल में उन्होंने विश्व की समस्त गतिविधियों, समस्याओं और राजनैतिक वातावरण का बड़ा गहन अध्ययन किया। अपने अनुभवों में उन्हें मानवता के प्रति जो कसक मिली वह आजीवन उनके जीवन को मानव-कल्याण की ओर अग्रसर करती रही।

विविध छोटी-मोटी सार्वजनिक सेवा-कार्यों के अतिरिक्त जो उन्होंने बड़ा और ठोस कार्य किया, वह था-प्रथम विश्वयुद्ध से प्रभावित बेरिजियम और फ्रांस के लिए सहायता कार्यक्रम को कार्यान्वित करना। उनका यह कार्य ही विश्व में अपने ढंग का अनोखा और उपादेय कार्य था। विश्व ने इसके लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे इसके लिए काफी प्रसिद्ध हो गये। अपनी इस महान निःस्वार्थ सेवा के लिए हूवर को २४ योरोपीय देशों से सम्मानित नागरिकता प्राप्त हुई।

हर्बर्ट हूवर जिस समय राष्ट्रपति चुने गये, वह समय अमेरिका के अर्थतन्त्र के लिए बड़ा ही संक्रामक काल था। उस समय अमेरिका में इतनी मन्दी आई हुई थी कि अमेरिका के अर्थतन्त्र के असफल हो जाने का भय था। किन्तु हूवर ने अपनी दक्षता, योग्यता और परिश्रम के बल पर वह परिस्थिति सम्भाल ली। इस कार्य से वे इतने लोकप्रिय हो गये कि ह्वाइट-हाउस से संन्यास लेने के बाद आजीवन उनका मान राष्ट्रपति के समान ही होता रहा।

राष्ट्रपति का कार्यकाल पूर्ण होने पर वे पुनः राजनीति की गतिविधियों से हटकर सार्वजनिक सेवाओं में लग गये। वह अपना अधिकांश समय परोपकार और शिक्षा-प्रसार में बिताने लगे। उन्होंने अनेक शिक्षा-संस्थानों की स्थापना की, अनेक शिक्षा-सम्बन्धी योजनाएँ सरकार को दीं और अपना बहुत-सा धन पुरस्कारों और छात्रवृत्तियों के रूप में व्यय किया।

किन्तु प्रेसीडेण्ट टू मेन के समय में उन्हें पुनः साधारण सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र से उठकर विश्वव्यापक और उत्तरदायित्व पूर्ण सेवा-कार्य में संलग्न होना पड़ा।

राष्ट्रपति टू मेन ने उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पड़े अकाल के निवारणार्थ संसार की खाद्य-स्थिति का अध्ययन करने का उत्तरदायित्व सौंपा, जिसके लिये उन्होंने योरोप और एशिया के लगभग ३७ देशों का दौरा किया, जिसमें उन्हें लगभग पचास हजार मील की यात्रा करनी पड़ी। उन्होंने उक्त दुर्भिक्ष के अध्ययन का जो विवरण अमरीकी सरकार को दिया उसके अनुसार ही दुर्भिक्ष से लड़ने का कार्यक्रम बनाया गया और सहायता, पुनःस्थापना व सहयोग आदि की योजनाएँ बनीं तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत बाल कोष की स्थापना हुई।

नौ साल की आयु से ९० साल की आयु तक हूवर ने एक क्षण को भी आराम से बैठकर जीवन नहीं बिताया। वे सरकार और गैर सरकारी प्रत्येक रूप में मानवता की सेवा करते रहे। वे राजनीति को छल-नीति से बदलने के पक्षपाती न थे। उनका कहना था कि आवश्यकतानुसार राजनीति में जाना पड़ता है किन्तु जो आनन्द और आजादी उनसे अलग जन-सेवा में प्राप्त होती है, उसका राजनीति में अभाव है। सच्चे जन-सेवी राजनीति की मृत्तला में बैठने की अपेक्षा स्वतन्त्र रहना अधिक पसन्द करते हैं।

अपने इन्हीं महान विचारों और कार्यों के कारण श्री हर्बर्ट हूवर जीवन के अन्तिम क्षण तक अमरीकी जनता के ब्रह्मा और संसार के सम्मान के पात्र बने रहे। जनता ने उन्हें सदैव सच्चे जन-सेवी के रूप में याद किया और यदा-कदा उनकी क्षमताओं का लाभ उठाती रही।

लगभग घोर परिश्रम करने से जीवन के अन्तिम दिनों में वे अस्वस्थ हो गये, फिर यों कुछ न कुछ लिखते ही रहते और राजनीति, अर्थशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे।

श्री हर्बर्ट हूवर यद्यपि आज संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी मानव-सेवायें मनुष्य जाति के हृदय में आज भी ताजी हैं और अमेरिकी जनता इस परोपकारी नेता, राज-नीतिज्ञ और सेवक को बड़ी ब्रह्मा से याद करती है।

सविनय-असहयोग आन्दोलन के प्रवर्तक-

हेनरी थोरो

“प्रभो। मुझे इतनी शक्ति दे दो कि मैं अपने को अपनी करनी से कभी निराश न करूँ। मेरे हस्त मेरी दृढ़ता, ब्रह्मा का कभी अनादर न करें। मेरा प्रेम मेरे मित्रों के प्रेम से घटिया न रहे। मेरी वाणी जितना कहे-जीवन उससे ज्यादा करता चले। तेरी मंगलमय सृष्टि का हर अमंगल पचा सकूँ इतनी शक्ति मुझ में बनी रहे।”

रोम्यों रोला ने इस प्रार्थना को पढ़कर कहा कि गीतकार की वाणी में उपनिषदों का प्रभाव है। गाँधीजी

को रचना इतनी भाई कि उन्होंने इसे 'प्रार्थनाओं की प्रार्थना' कहकर पुकारा ।

इस गीत का गायक लगता है कोई नवनीत हृदय संत रहा होगा पर आप को यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि यह गायक एक ऐसा सरासरी विचारक, सुदृढ़ व्यक्तित्व का था, जिसने अमरीका सरकार की नैतिक और आर्थिक ज्यादतियों के विद्रोह में एक ऐसे तत्वदर्शन को जन्म दिया जो एक साधारण व्यक्ति को भी चट्टान की तरह मजबूत और स्थिर बना सकता है ।

उस तत्वदर्शन की शक्ति को वह सभी जानते होंगे जिन्होंने महात्मा गाँधी का जीवनचरित पढ़ा होगा । 'सविनय असहयोग आन्दोलन' जिसके बल पर किसी दिन भारतवर्ष का एकछत्र संगठन स्थापित हुआ और जिसके सामने ब्रिटिश-सामन्तशाही को झुकना पड़ा, गाँधी जी ने यह मंत्र उसी व्यक्ति के जीवन से पाया था-उसका नाम था हेनरी डेविड थोरो ।

थोरो का जन्म लगभग सन् १८२५ में अमरीका में हुआ था । लोकतन्त्र का काफी विकास हो चुका था तथापि वोटों से जीते हुये राजनेताओं में आर्थिक शोषण, लाल फीताशाही और ज्यादतियों की वही स्थिति थी जो आज भारतवर्ष में दिखाई देती है । थोरो ने कहा-लोकतन्त्र पर मेरी आस्था है, पर वोटों से चुने गये व्यक्ति स्वेच्छाचार करें मैं यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता । राज-संचालन उन व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए जिनमें मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना और कर्तव्य-परायणता विद्यमान हो और जो उसकी पूर्ति के लिये त्याग भी कर सकते हों ।

किसी ने कहा-"यदि ऐसा न हुआ तो ?" तो उस राज्य सत्ता के साथ हम कभी भी सहयोग नहीं करेंगे चाहे उसमें हमें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े ।" इसके लिये उसने जो कदम उठाया यह विध्वंसात्मक नहीं लोकतांत्रिक ही था ।

उसका सत्याग्रह लोगों को इतना भाया कि थोड़े ही दिनों में अमेरिका में उसके समर्थकों की भीड़ लग गई । इसी समय दास प्रथा को कायम रखने में मदद करने वाला 'पोल-टैक्स' लगाया गया । थोरो को उसके विरोध में पकड़ा गया और जेल भेज दिया गया । जेल में उसे अनेक तरह की यातनायें दी गई पर उसने मानवीय स्वत्वाधिकार के विरुद्ध कभी भी झुकना स्वीकार न किया । जेल जाते समय अपने अनुयायियों से उसने कहा-"भाइयो । मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं यदि वह अपने पीड़ित भाइयों के काम नहीं आता । अन्याय चाहे अपने घर में होता हो या बाहर उसका विरोध करने से नहीं डरना चाहिए और कुछ न कर सके तो भी बुराई के साथ सहयोग तो करना ही नहीं चाहिए ।"

अमरीकनो के दिलों में बात घर कर गई । सरकार प्रबल जन-प्रतिरोध देखकर घबड़ा गई और अन्त में उसे झुकना पड़ा । दास-प्रथा का अन्त कराने के साथ-साथ

राजनीतिकों में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में भी इस आन्दोलन को प्रमुख स्थान दिया जाता है । थोरो जीवन भर ऐसी ही विचारधारा का प्रसार करते रहे ।

बुराइयाँ चाहे राजनैतिक हों अथवा सामाजिक, नैतिक या धार्मिक जिस देश के नागरिक उनके विरुद्ध उठ खड़े हो जाते हैं, सविनय असहयोग से उसकी शक्ति कमजोर कर देते हैं वहाँ अमेरिका की तरह ही सामाजिक जीवन में परिवर्तन भी अवश्य होते हैं । आज हमारे देश में भी एक ऐसी ही लोकतांत्रिक क्रांति की आवश्यकता है ।

कर्मयोगी सन्त-

सम्राट हिरोहितो

वर्षा ऋतु आई, एक किसान अपने खेत की ओर बल पड़ा, दूसरे किसान खड़े देख रहे थे उसकी हिम्मत वह खेत तक कैसे जाता है, किस प्रकार उसकी जोताई करता है, कैसे उसमें धान रोपता है और फसल काटकर किस प्रकार अपने पोषण के लिये बढ़िया चावल तैयार कर अपने अन्न गोदाम में जमा कर लेता है ।

कृषि को किसान का सहज स्वाभाविक धर्म है, इसमें आश्चर्य की क्या बात ? दरअसल आश्चर्य यह है कि यह किसान कोई सर्व साधारण किसान नहीं जापान के सम्राट हिरोहितो हैं-कर्मयोगी हिरोहितो-महाराज जनक की तरह वह अपनी आजीविका आप कमाते हैं । सत्ताधीश होने का अर्थ उसकी हुकूमत, वैभव, विलासिता और दंभ नहीं प्रजा की सेवा माना है । सत्ताधिकारी का आदर्श क्या हो ? वे इसके मूर्तिमान प्रतीक कहे जा सकते हैं । प्रतिवर्ष बसन्त और वर्षा ऋतु में अपने खेतों पर अपने हाथ से काम करके उन्होंने यह दिखाया कि परिश्रम मनुष्य जीवन का सौन्दर्य है, स्वास्थ्य की रक्षा करता है और सबसे बड़ी बात है कि मनुष्य का मूल्य भी उसका परिश्रमी होना ही बढ़ाता है ।

कुछ लोग पदाधिकार और शासन-सत्ता पा जाने पर यह मान लेते हैं कि उनके जीवन का उद्देश्य मात्र सुखोपभोग और आदेश चलाना रह गया पर सम्राट हिरोहितो की मान्यता उस अन्धविश्वास से भिन्न थी । उनका कहना था कि शासन की सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारी का पालन करते हुए भी व्यक्ति को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह अन्ततः एक मनुष्य ही है भगवान नहीं, सो मानवीय प्रतिभा के विकास का मार्ग किसी भी स्थिति में नहीं रुकना चाहिए । हिरोहितो इस बात के जीते जागते उदाहरण थे ।

वनस्पतिशास्त्र के विद्यार्थी होने के कारण उनकी बाल्यावस्था से ही इस विषय में गहन अभिरुचि थी । विद्यार्थी जीवन से निकलने के बाद भी हिरोहितो ने अपनी इस अभिरुचि को बनाये ही नहीं रखा वरन् वनस्पतिशास्त्र

तथा जीवशास्त्र की अपनी जानकारीयों को शोध का रूप प्रदान किया। मनुष्य के पास बुद्धि थोड़ी है पर यह कोई निराशाजनक बात नहीं है, दुःखद बात यह होती है कि मनुष्य अपनी बुद्धि का विवेकजन्य उपयोग नहीं करता इसीलिये वह जहाँ की तहाँ स्थिति में पड़ा रहता है हिरोहितो ने अपनी प्रारम्भिक जानकारीयों के आधार पर वनस्पति और जीवशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर आठ पुस्तकें लिखने की उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, इसके बाद भी उनके जीवन का यह क्रम बन्द न हुआ। उनका कहना था सौ पुस्तकें लिखने और अपनी भावी पीढ़ी को पका पकाया ज्ञान और अनुभव दे जाने की लालसा में अपनी मृत्यु तक अवश्य पूरी कर लूँगा। उसके लिये अपने समय के हर क्षण का उपयोग वे प्रयोगशाला और खुले आकाश में जाकर अध्ययन किया करते थे।

‘इम्पीरियल हाउस होल्ड’ नामक संस्था शाही परिवार का खर्च उसकी व्यवस्था जुटाती थी। इस संस्था के मत में ‘हिरोहितो सम्राट कम संत अधिक हैं’-सचमुच ही उन्होंने अपने जीवन में संत के गुणों को धारण करने का सदैव प्रयास किया। मानवीय दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए झुठा अहंकार उन्होंने कभी भी प्रदर्शित नहीं किया। अमेरिका के साथ युद्ध में राजप्रासाद ध्वस्त हो गया था। ‘इम्पीरियल हाउस होल्ड’ ने बाद में एक विशाल भव्य और आधुनिकतम राजमहल बनाने की योजना तैयार की। पाँच एकड़ भूमि में लगभग ५० करोड़ की लागत से पुख्ता कंक्रीट का महल बनाये जाने का प्रस्ताव था-सम्राट के सामने यह योजना आई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उसे अस्वीकार करते हुये अपनी वेदना इन शब्दों में व्यक्त की-अमेरिका की बमबारी से मेरी बहुत-सी प्रजा के घर नष्ट हो चुके हैं, देश अभी गरीब है, जिन लोगों के पास खाने को नहीं, जिनके अपने मकान नहीं उन्हीं के पैसों से मेरे लिये भव्य महल बने यह मानवता और देशभक्ति के नाम पर अपमान है, जब तक जापान का हर नागरिक उद्योग में नहीं लग जाता, जब तक सब के अपने घर नहीं हो जाते मैं अपने लिये नया राजप्रासाद कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

मंत्रिमंडल को यह बात पसंद नहीं थी कि शाही परिवार एक साधारण मकान में रहे। ‘इम्पीरियल हाउस होल्ड’ की मान्यता भी ऐसी ही थी इसलिये इन पर फिर से जोर डाला गया। उन्होंने पहले तो योजना को आधा किया फिर यह वचन लिया कि जब इमारत बन जायेगी तो उसमें उनका स्टाफ और राज कर्मचारियों के कार्यालय काम करेंगे। उनका भी एक ऑफिस उसी में रहेगा। अपना निवास स्थान वे अपने पुराने महल में ही रखेंगे। आदर्शों के आगे किसी की एक न चली और अन्ततः यह योजना ही अन्तिम रूप से क्रियान्वित हुई।

सम्राट हिरोहितो प्रजा के स्वास्थ्य के प्रति बहुत जागरूक थे। सामान्य प्रजाजन में खेल-कूद के प्रति अभिरुचि बनाये रखने के लिये वे स्वयं भी प्रतिदिन

नियमित रूप से खेलते थे। यहाँ तक कि उन्होंने कुश्ती का अभ्यास करने के लिये भी अपने लिये क्रीड़ा निर्देशक सुमोदारा को नियुक्त कर रखा था। प्रजाजन को इस बात का पता चला कि उनका राजा एक सामान्य व्यक्ति के साथ मल्लविद्या का अभ्यास करता है तो लोगों को अच्छा नहीं लगा, विरोध उन तक भी पहुँचा तब उन्होंने अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रजा की इच्छा का आदर अवश्य किया किन्तु अपनी खेलों के प्रति अभिरुचि को उन्होंने छोड़ा नहीं। उसी का परिणाम है कि आज जापान समस्त एशिया का प्रथम श्रेणी का खिलाड़ी देश है। किसी ने सच ही कहा है ‘जैसा राजा वैसी प्रजा’ आज हमारे देश में प्रजातंत्र है पर प्रजा और सत्ताधिकारियों के बीच जमीन-आसमान का अन्तर है। आदर्श सिद्धान्त की बातें भाषणों में तो बहुत की जाती हैं पर व्यावहारिक दृष्टि से प्रजा जब अपने मार्गदर्शकों को खोखला पाती है तो वह भी फिसल जाती है यही कारण है कि इतने वर्ष की स्वाधीनता के बाद देश अपनी आन्तरिक समर्थता, स्थिरता, अनुशासन और व्यवस्थायें जमा नहीं पाया। राष्ट्रीय जीवन भ्रष्ट और खोखला है तो उसका दोष उन राजनेताओं पर है जो बातें तो हिरोहितो से भी ऊँची करते हैं पर करनी में सिंघाय गन्दगी के और कुछ परिलक्षित नहीं होता। देश हिरोहितो की तरह से कर्मवादी होकर ही अपनी समर्थता चरितार्थ कर पाता है भाषणों और लेखनी से नहीं।

हिरोहितो को पश्चिमी सभ्यता के रंग में लाने की कोशिश की गई। होटलों में उन्हें पश्चिमी जीवन की आकर्षक रंगीनियों की ओर आकर्षित किया गया। सुरा-सुन्दरी के दिवास्वप्न उन्हें आतिथ्य में प्रदान किये गये पर वे विचारशील थे। तात्कालिक इन्द्रिय सुखों के प्रलोभन में यथार्थ से आँख मूँदना उन्हें मानवीय बुद्धि और विवेक का अपमान लगा। उन्होंने पश्चिमी जीवन दर्शन का गहराई से अध्ययन किया तो मिला कि यौवन और सौन्दर्य के उन्माद का एक और रस है वहाँ का सामाजिक पारिवारिक जीवन बहुत विषाक्त है। ऐसी रंगीनी को उन्होंने ठुकरा दिया और इस अध्ययन से उन्हें मानव जीवन के यथार्थ की ओर झाँकने का अवसर मिला। फलतः हिरोहितो का मन अध्यात्मवाद की ओर मुड़ता गया उन्होंने संत सामाने जी को अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शक चुना और उनके आदेशानुसार अपने आप को पारमार्थिक लक्ष्य की ओर गतिशील बनाये रहे।

इतना सब होते हुये भी वे परम्परावादी नहीं थे। नियमानुसार राजपरिवार कुछ सीमित कुलीन वंशों में से साम्राज्ञी चुनते जा रहे थे। वही बात जब हिरोहितो के सम्मुख आई तो उन्होंने कहा सारा मनुष्य परिवार एक है-संस्कार और विशेषतायें किन्हीं वंशों तक ही सीमित नहीं छोटे से छोटे व्यक्ति में भी महानता के संस्कार हो सकते हैं। इस धारणा के अनुसार ही उन्होंने अब तक चली आ रही परिपाटी तोड़ दी और एक गरीब घर की सुशील कन्या को ही अपनी धर्मपत्नी चुना।

सम्राट होकर हिरोहितो ने एक सामान्य किन्तु असाधारण जीवन जीकर यह बता दिया कि मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य सुखोपभोग नहीं है, समाज और स्वदेश की सच्ची सेवा करते हुये आत्म कल्याण करना है। उनका यह आदर्श घिरकाल तक हर वर्ग के व्यक्ति को मार्गदर्शक प्रकाश देता रहेगा।

अफसोस कि मेरे पास एक ही जीवन है--

हैलनैथन

संयुक्त राज्य अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम लगभग ६ वर्षों तक चला था। एक ओर थे स्वाधीनता प्रेमी क्रान्तिकारी, जो जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में अपने भाग्य को बनाने का अधिकार स्वयं प्राप्त करने के लिये लड़ रहे थे तो दूसरी ओर थी अधिकार और साधन सम्पन्न ब्रिटिश सेनायें। इस स्वतन्त्रता युद्ध में कई उतार-चढ़ाव आये। कभी क्रान्तिकारियों का पलड़ा भारी होता तो कभी सत्तारूढ़ विदेशी सरकार की दमनकारी सेनाओं का। सन् १७७६ ई० में ब्रिटिश सेनाओं का पक्ष मजबूत था। वैसे भी ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला करना कोई हँसी खेल नहीं था पर स्वतन्त्रता प्रेमी अमेरिकी नागरिक जीवन साहस और हौसले के बल पर उस गम्भीर चुनौती का सामना कर रहे थे। शस्त्रास्त्र और साधनों के अभाव में उस वर्ष कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हुई कि जार्ज वाशिंगटन को पीछे हटना पड़ा और कब्जे में आया आइलैण्ड का मोर्चा एक बार फिर शत्रुओं के हाथ में चला गया। इससे क्रान्तिकारियों के खेमे में एक बारगी निराशा दौड़ गयी। कुछ लोग यह सोचने लगे कि ब्रिटिश राज्य में कभी सूर्य अस्त न होने की बात एक दम सही है और उसे झुठलाना आसान नहीं है।

इस प्रकार निराशा होने वाले क्रान्तिकारियों में कई ऐसे बुलन्द हौसले के व्यक्ति भी थे जो अपनी विजय को सुनिश्चित मानकर चल रहे थे और अगली रणनीति क्या हो इस पर विचार-विनिमय कर रहे थे। इस विचार-विनिमय के दौरान इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सका कि किसी प्रकार ब्रिटिश सेना की गतिविधियों का रहस्य पता लगाया जाय और उसी के अनुरूप अपनी रणनीति तय की जाय ताकि विजय असंदिग्ध रहे। निष्कर्ष तो निकाल लिया गया परन्तु प्रश्न उठा कि इस प्रकार प्रत्यक्ष मौत के मुँह में घुसने का साहस कौन करे? अधिकारियों का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक था। स्वाभाविक ही इस कार्य में जोखिम उठाने का साहस और परिस्थितियों को देखकर तत्काल निर्णय लेने की सूझ-बूझ का एक साथ होना आवश्यक था। जब इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा था कि इस मुहिम पर कौन जाये तो वहीं उपस्थित एक सैनिक अधिकारी ने कहा--“मैं जाऊँगा।” किसी को इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता तो सम्भव था कि

वह अपेक्षित साहस और उत्साह न जुटा पाता। किन्तु उक्त सैनिक अधिकारी ने इस कार्य के लिए स्वयं को प्रस्तुत किया और कहा--“मैं जानता हूँ कि युद्ध के मोर्चे की अपेक्षा शत्रु सेनाओं के कैम्प में जाना अधिक जोखिम का काम है। किन्तु हम लोग अपने परिवार वालों से अन्तिम विदा लेकर आते हैं और यह मानकर चले हैं कि मौत कभी भी आ सकती है तो उसे टालने के लिए क्यों बगलें झाँका जाय।”

हैलनैथन का यह उत्साह देखकर न केवल उपस्थित दूसरे सैनिकों में विजय की आशा जगी वरन् उसमें भी वैसा ही उत्साह उमगने लगा। वे भी इस बात के लिए कृतसंकल्प दिखाई दिये कि गोली खायेंगे तो सीने में। जीते जी पीछे न हटेंगे और न पीठ दिखायेंगे। हैलनैथन ने इस खतरनाक और जोखिम भरे कार्य में स्वयं को झोंककर आत्माहुति दे दी परन्तु उसकी आत्माहुति भी एक इतिहास बन गयी और अमेरिकावासी हैलनैथन का नाम भी श्रद्धा व आदर के साथ लेते हैं।

राष्ट्रहित के लिए, समाजहित के लिए स्वयं को झोंक देने की उत्सर्ग भावना के बीज हैलनैथन में बचपन से ही पड़ गये थे। यद्यपि उनका जन्म एक कृषक परिवार में हुआ था किन्तु सेवा और कष्ट-पीड़ितों की सहायता के लिए जोखिम उठाने के संस्कार उन्हें अपने परिवार से विरासत के रूप में मिले थे। जब भी कभी ऐसी घटना होती जिसमें हैलनैथन दूसरों के लिए कुछ करते तो उन्हें अपने माता-पिता से प्रोत्साहन मिलता था। एक बार की घटना है, वे अपने साथियों के साथ गाँव के पास ही एक झील के किनारे खेल रहे थे। उसी झील में कुछ बड़ी उम्र के लड़के मछलियाँ पकड़ रहे थे। उनमें से एक लड़के को न जाने क्या सूझी कि वह गहरे पानी में जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा। साथियों ने मना किया तो भी वह नहीं माना और गहरे पानी में आगे बढ़ता ही चला गया।

झील में एक गड़हा था, वह वहाँ तक पहुँच गया और यकायक ही उसका पैर फिसल गया। हड़बड़ाहट में उसने हाथ-पैर मारे किन्तु कुछ बन न सका। किनारे पर मछलियाँ पकड़ रहे लड़के शोर मचाने लगे किन्तु किसी में इतना साहस नहीं हुआ कि वे डूबते हुए साथी तक तैर कर जाते और उसे बचाने की कोशिश करते। किनारे पर खेल रहे हैल ने जब यह चीख-पुकार सुनी तो वह भागता हुआ आया, चिल्ला रहे लड़कों से पूछने लगा कि क्या बात है? सारी स्थिति को तुरन्त समझकर वह झील में कूदा और आयु तथा शरीर में अपने से दुगने लड़के को आनन-फानन में निकाल कर ले आया और कोई माता-पिता होते हो इस जोखिम भरे साहस के लिए समझाते-बुझाते और आगे से वैसा न करने के लिए कहते किन्तु हैलनैथन के माता-पिता ने न केवल उसकी सराहना की वरन् उसे एक सुन्दर पुरस्कार लाकर भी दिया। उस समय हैल के पिता ने अपने बेटे को प्रोत्साहित करते हुए कहा था--“बेटे जोखिम तो सभी कामों के लिए उठाना पड़ता है

परन्तु दूसरों की भलाई के लिए उठायी जाने वाली जोखिम सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

स्वतंत्रता संग्राम के मोर्चे पर ब्रिटिश सेनाओं के भेद लाने को जोखिम उठाकर हैलनैथन ने अपने पिता की सीख को सर्वाधिक श्रेष्ठ ढंग से जीवन में उतार लिया था । क्योंकि तब किसी दूसरे व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं, समूचे राष्ट्र का हित सामने था । इससे पूर्व भी हैलनैथन ने पढ़-लिखकर कोई लाभदायक व्यवसाय करने की अपेक्षा अपने लिए अध्यापन का पेशा चुना था । वह जानते थे कि शिक्षा ही किसी देश के चरित्र को ऊँचा उठाती है और किसी के चरित्र की सुदृढ़ आधारशिला रख देना उसका सबसे बड़ा लाभ कर देना है । वे अपने विद्यार्थियों को केवल स्कूल में ही नहीं घर पर भी पढ़ाया करते, यही नहीं अन्य निरक्षर व्यक्तियों को भी शिक्षा का महत्व समझा कर उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरित करते रहते थे ।

हैलनैथन ने अपने छात्रों के लिए शिक्षण की अनूठी ही शैली अपनायी थी । तथ्यों की जानकारी के अलावा वे अपने व्यक्तित्व से ही छात्रों का शिक्षण करते थे । उज्ज्वल चरित्र, आदर्श कर्तव्य, देशभक्ति, समाज सेवा और राष्ट्रीयता के भावों का विकास उनके सम्पर्क में रहने वाले छात्रों में अपने आप ही होने लगता । निष्ठा और लगनपूर्वक वे अध्यापन कार्य में लगे हुए ही थे कि स्वतंत्रता-युद्ध का उद्घोष हुआ । जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में देश उठ खड़ा हुआ और उत्साही व्यक्ति इस समय कूद पड़े । सेवा परायणता और देशहित की प्रेरणायें बचपन से ही प्राप्त करते रहने वाले हैलनैथन कैसे पीछे रहते ? वे भी समाज में कूद पड़े । उनके साहस, शौर्य और उत्साह ने उन्हें जार्ज वाशिंगटन के साथ लड़ने वाली अग्रपंक्ति में पहुँचा दिया ।

और जब आईरैण्ड के मोर्चे पर पराजय की स्थिति आयी तो भी हैल ने सबसे बड़ा-चढ़ा उत्साह दर्शाया, वे एक डच अध्यापक का वेश बनाकर ब्रिटिश लाइनों में पहुँचे और अपना उत्तरदायित्व इतनी कुशलता के साथ निभाया कि किसी को भी संदेह न हुआ । वे काफी समय तक अपना काम बखूबी करते रहे । इस प्रकार सैनिक रहस्य स्वतंत्रता सेनानियों के पास पहुँचते रहे और उन्हें विजय भी मिलती रही । ब्रिटिश सेनाओं का हर दौंव असफल जाता । बार-बार मिलने वाली पराजय और उसके कारणों को जानने के लिए सैनिक अधिकारियों की पैनी दृष्टि ने हैलनैथन का रहस्य खोल दिया और गिरफ्तार कर लिये गये । युद्ध नियमों के अनुसार उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया । उस समय हैलनैथन ने जो शब्द कहे वे असंख्यों देशभक्तों और समाजसेवियों के लिए प्रेरणा बन गये । उन्होंने कहा-“मुझे अफसोस है तो सिर्फ एक बात का कि मेरे पास अपने देश के लिये, अपने समाज के लिए न्योछावर करने हेतु एक ही जीवन है ।”

नाजी दुरभिसन्धि से जूझने वाला—

होराल्ड

संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति डिग्विट डी आइजनहावर ने अपनी पुस्तक ‘क्रूसेड इन यूरोप’ में लिखा है “यदि जर्मन अपने नवीन अस्त्रों को जिस समय काम में ला सके उसके छह महीने पहले यदि उन्हें काम में ला सके होते तो यूरोप पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य रह पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता ।”

जर्मन चाहते थे कि उनके नवीनतम अस्त्र वी-१ बम का प्रयोग वे इंग्लैण्ड को पूर्णतया नष्ट करने के लिए १९४३ के अन्तिम महीनों में ही हो जाय । हिटलर ने अकेले लन्दन नगर पर ५० हजार वी-१ बम गिराने का लक्ष्य रखा था । वह अपने इस अभिप्राय को पूरा नहीं कर सका । ५० हजार के बजाय जर्मन बमवर्षक केवल २ हजार बम ही गिरा सके । उनसे ही लन्दन की दुर्गति हो गई थी । जबकि ये बम १९४४ के मध्य में गिरे थे तब तक मित्र राष्ट्र पूरी तरह सँभल चुके थे तथा सं० रा० अमेरिका की सहायता उन्हें मिल गई थी ।

यह देरी जर्मनी की तरफ से नहीं हुई थी, न वे असावधान थे । किन्तु उनके इन भ्रष्ट इरादों को मिट्टी में मिला देने के लिए एक व्यक्ति अपनी जान पर खेला था । तथा उसकी सूचनाओं के कारण ब्रिटिश वायु सेना उन बम-वर्षक अड्डों को भूमिसात कर सकी थी जहाँ से लन्दन समूचे इंग्लैण्ड पर वी-१ नामक बमों की वर्षा की जाने वाली थी । यह साहसी व्यक्ति था फ्रांस का एक साधारण औद्योगिक डिजाइनर माइकल होराल्ड ।

वह पेरिस के एक अनुसन्धान केन्द्र का अल्प वेतन भोगी कर्मचारी था । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पेरिस पर जब जर्मन सेना का अधिकार हो गया तो उसके मालिक को भी जर्मनों के लिये काम करना पड़ा ।

माइकल साधारण कर्मचारी तो था फिर भी उसमें अपने देश तथा विश्व-मानव के प्रति श्रद्धा भक्ति थी । वह जानता था कि हिटलर सारे विश्व का अकेला निरंकुश शासक बनना चाहता है तथा सब देशों को जर्मनी के अधिकार में ले आने का कुचक्र रच रहा है, तो उसके सहयोग के लिये कार्य करना उस जैसे स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्य के लिए सम्भव नहीं हो सका । उसने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया ।

उसने केवल अपनी नौकरी से ही त्यागपत्र नहीं दिया वरन् स्वयं भी हिटलर तथा उसके घृणित नाजी समर्थकों के विरुद्ध संघर्ष करने की ठान उठा ।

वह मित्र राष्ट्रों विशेषकर ब्रिटेन के लिये अपनी जासूसी सेवाएँ देना चाहता था । उसने उसी के उपयुक्त काम भी चुन लिया । उसने ऐसे निर्माता के यहाँ काम शुरू कर दिया जो लकड़ी के कोयलों से चलने वाले गैस जनेरेटों का निर्माण करता था ।

उसे अपने इस सेवाकाल में कई बार जंगलों में जाना तथा कोयला उत्पादन का काम देखना पड़ता था। यह लकड़ी का कोयला बनाने वाले क्षेत्र फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमा पर थे। यह उसके लिये उपयुक्त कार्य क्षेत्र था।

माइकल होराल्ड ने यह निश्चय किसी भावुकता अथवा आवेश में नहीं किया था। इसके पीछे उसकी अन्तःप्रेरणा थी जो उसे प्रेरित कर रही थी कि विश्व शान्ति को संकट उपस्थित करने वालों की घृणित कामनाओं के विरुद्ध उसे जमकर संघर्ष करना है, चाहे इसमें प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े।

मनुष्य के अन्तःकरण में ईश्वर के संतकार्यों के लिये साहस कर गुजरने की अदभुत सामर्थ्य प्रदान की है। यह सामर्थ्य प्रत्येक दिशा में फूट पड़ती है। यही सामर्थ्य उसे कुछ कर गुजरने के लिये विवश कर रही थी।

उसने विश्वयुद्ध के दौरान ४९ बार फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमाओं को पार किया था। फ्रांस में जर्मनी का अधिकार था तथा स्विट्जरलैण्ड तटस्थ राष्ट्र था। यहाँ उसे ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर मिल जाते थे जिन्हें वह जर्मन सेना की गतिविधियाँ तथा बमवर्षक अड्डों के पते व नक्शे दिया करता था।

उसने पूरे एक अभियान का सूत्र संचालन किया था। जर्मनों की गतिविधियों का पता वह अकेला नहीं लगा सकता था। उसने अपने मित्रों, परिचितों तथा ऐसे देशभक्तों का एक संगठन बनाया जो अपने देश को जर्मनों के पंजों से छुड़ाना चाहते थे तथा विश्व संकट को दूर करना चाहते थे।

बुरे काम के लिये चोर-डाकुओं को भी साथी सहयोगी मिल जाते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर चलने वाले को साथी क्यों न मिलते? पहले वह अकेला इस काम में जुटा फिर उसके साथियों की संख्या बढ़ती गई। यह संख्या तीस वर्षों में १२० तक पहुँच गई। इनमें से बीस जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिये गये तथा मृत्यु के घाट उतार दिये गये।

होराल्ड तथा उसके साथियों ने सबसे बड़ा काम जो किया गया वह बी-१ बमवर्षक अड्डों की सूचना एकत्रित करके ब्रिटिश सरकार तक पहुँचाना था।

ये अस्त्र बिना चालक के वायुयानों द्वारा गिराये जाते थे। इस प्रकार के भयानक अस्त्र अन्य किसी देश के पास नहीं थे। फ्रांस में इनके चार अड्डे बन रहे थे।

होराल्ड के कान में इस प्रकार के अस्त्रों की भनक पड़ी तथा यह ज्ञात हुआ कि ये अस्त्र यहाँ फ्रांस में भी बन रहे हैं तथा इनमें जो मजदूर काम में लगाये गये हैं वे स्विस् हैं जिससे कि उनका भेद कोई जान न पाये। यह बड़ी सावधानी तथा गुप्त रीति से बनाये जा रहे थे।

वह यह खबर सुनकर काँप उठा। उसने तीन वर्ष तक अपनी बीबी-बच्चों का मुँह नहीं देखा। दिन-रात

ऐसे गुप्त अड्डों की खोज में भटकना ही उसका काम था। उसके साथी तथा वह साइकिलों पर पूरे देश का चप्पा-चप्पा छानने लगे। उनके न कोई खाने का समय था, न सोने का। जो मिल जाता खा लेते तथा जहाँ जगह मिल जाती वहीं पड़े रहते। पूरे तीन वर्षों तक उसकी यह तपस्या चलती रही।

जहाँ भी नई इमारत बन रही होती वहाँ मजदूर के वेश में, भिखारी के वेश में वह पहुँच जाता तथा पता लगाता कि यहाँ कोई बमवर्षक अड्डा तो नहीं बन रहा है।

उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता भी मिल रही थी। तीन सप्ताह में ही उन्हें साठ ऐसे अड्डों का पता लग गया था। चौथे सप्ताह में चालीस का और पता चला। यह सब दो सौ मील के घेरे में बन रहे थे।

अड्डों का पता लगा लेना ही काफी नहीं था। उनकी पूर्ण स्थिति के नक्शे बनाना तथा बनने वाले अड्डों के ट्रेस लेना और उन्हें ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के हाथ में पहुँचाने का जोखिम भरा काम भी वही करते थे। होराल्ड इस प्रयास में कई बार क्रूर नाजियों के चंगुल में फँसते-फँसते बचा था।

सीमा पार करना बड़ा ही साहस का काम था। फ्रांस की सीमा पर जर्मन सैनिक तथा उनके खूँखार कुत्ते मनुष्य की गन्ध पाते ही उस ओर लपकते थे। ऐसे कड़े पहरे को पार करके स्विट्जरलैण्ड की सीमा में पहुँचना तथा वहाँ से पुनः फ्रांस की सीमा में घुस आना पूरी तरह जान पर खेलना था।

एक बार सीमा की कैटीली बाड़ फाँदते समय होराल्ड की पिन्डली जर्मन सैनिकों के कुत्ते ने पकड़ ली। उस समय वह एक घसियारे के वेश में था। उसके पास आलुओं से भरी एक टोकरी थी जिसमें वे गुप्त कागजात रखे हुए थे जिनमें अड्डों के नक्शे थे।

होराल्ड के पास कोई शस्त्र भी नहीं था। उसने ऐसी विकट परिस्थिति में साहस नहीं छोड़ा। उसके हाथ में एक लकड़ी मात्र थी। उसका एक भरपूर वार कुत्ते की नाक पर किया वह चारों खाने चित्त हो गया तथा होराल्ड ने तुरन्त अपनी राह ली।

तीन वर्षों में वह थक कर चूर हो चुका था। दिन-रात की दौड़ तथा सिर पर मँडराती पकड़े जाने की आशंका के बीच वह अपना काम करता रहा था। जर्मनों को आश्चर्य होता था कि उनके बनते हुए अड्डे किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं। इंग्लैण्ड में बैठे चर्चिल को कैसे इन गुप्त भेदों का पता चल जाता है।

वे अपने इरादों को धूमिल होते देखकर बौखला उठते। नाजी गुप्तचर गली-गली में इस प्रकार की सूचना भेजने वालों की टोह लेते घूमते-फिरते थे। इन सब के बीच माइकल होराल्ड विश्व को अपनी पराधीनता के दमन चक्र से बचाने के लिये प्राणपण से जूझता रहा। वह जानता था कि इंग्लैण्ड का पतन हो जाने पर जर्मनी की

शक्ति से लोहा लेना किसी के बस का नहीं रहेगा । वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफल रहा । यद्यपि वह युद्ध के अन्तिम समय में जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिया गया था तथा फ्रांस में अपनी हार होती देखकर उसे अन्य बन्दियों के साथ एक अँधेरे जहाज में बैठाकर उस जहाज को समुद्र में उतार दिया था । किन्तु मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है । एक रेडक्रासशिप की सहायता से वे सब मनुष्य बच गये ।

अपने इस साहसिक कृत्य के लिये माइकल होराल्ड को ब्रिटिश सेना का सर्वोच्च पदक प्रदान किया गया । उसके ले जाने के लिये राजकीय वायु सेना का वायुयान आया तथा पूरे सम्मान से वह पदक भेंट किया गया । वह इस सर्वोच्च सैनिक पदक को पाने वाला प्रथम विदेशी नागरिक था ।

इतिहास के पृष्ठों में माइकल होराल्ड का नाम जब तक रहेगा विश्व-मानवता के लिए अपनी जान जोखिम में डालने वालों का प्रेरणा स्रोत बना रहेगा ।

वियतनाम के राष्ट्रपिता-

हो ची मिन्ह

सन् १९१०-११ के लगभग की बात है । तब दक्षिण पूर्व एशिया के एक छोटे से देश वियतनाम पर फ्रान्सीसियों का कब्जा था । कहना नहीं होगा कि उपनिवेशवादियों का उद्देश्य अपने अधीन देशों का शोषण करना ही होता था । वियतनाम में कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता-वहाँ के शासक जाति उस माल को अपने देश में ले जाती और उस माल से चाँदी काटती । चूँकि प्रचुर मात्रा में होता था कच्चा माल, इसलिए वियतनाम के प्रमुख बन्दरगाह सैगोन पर फ्रान्सीसी जहाजों का तौता लगा रहता था ।

ऐसे ही जहाज के आस-पास चक्कर काट रहा था एक इक्कीस वर्षीय शिक्षित नवयुवक । इरादा था कि जहाज में कोई छोटा-मोटा काम मिल जाये और विदेशों में घूमने का अवसर प्राप्त हो । उस युवक ने जहाज के मजदूरों से पूछताछ की कि कोई काम मिल सकेगा क्या, पर वे सब उपेक्षा भरी निगाहों से उसकी ओर देख भर लेते, जो यह कहती कि तुम क्या काम करने लायक हो या किसी काम के योग्य नहीं हो ।

जिन मजदूरों से भी उसने पूछा उन्होंने यही रूखा-सा जबाब दिया । आखिर एक कर्मचारी के हृदय में न जाने क्यों युवक के प्रति सहानुभूति उमड़ आयी और वह उसे कप्तान के पास ले गया । कप्तान ने वियतनामी युवक को देखकर शाही अन्दाज में पूछा-‘तुम क्या काम कर सकते हो ।’

‘जो भी आप बता दें’-युवक ने कहा ।

‘ठीक है’-कप्तान बोला और उसने जहाज के रसोइये का सहायक बनाकर इस प्रकार उनकी ओर देखा कि उसने किसी भिखारी की थैली में अशर्फियाँ उड़ेल दी हों

पर युवक इसी में सन्तुष्ट था और वह जी लगाकर मेहनत से रसोइये के सहायक का काम करने लगा । इस जहाज के कर्मचारियों सहित सवार यात्रियों की कुल संख्या लगभग एक हजार थी और इन सबके लिए एकमात्र किचन में सहायक था वह युवक । जो सुबह चार बजे उठकर रसोई साफ करता, अँगीठियाँ जलाता, निचली मंजिल से सब्जियाँ और अनाज ढोकर लाता, उन्हें काटता, बरतन मौजता और थक जाने के बाद रात के नौ दस बजे के करीब बिस्तर पर पहुँचता जहाँ कुछ घण्टों तक किताबें पढ़ता रहता ।

जहाज पर रसोइये का सहायक बनकर विदेश यात्रा के उद्देश्य से निकलने वाला वह नवयुवक और कोई नहीं वर्तमान वियतनाम का राष्ट्रपिता हो ची मिन्ह ही था । जो एक स्कूल में अध्यापकी की अच्छी नौकरी छोड़कर जहाज पर यह साधारण-सा कठोर मेहनत का काम स्वीकार करने के लिए निकल पड़ा था और यह सब इसलिए कि किसी प्रकार वियतनाम को फ्रान्सीसी शिकंजे से मुक्त किया जा सके । वे एक उच्च अधिकारी के बेटे थे परन्तु फिर भी उन्हें देशभक्ति अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी ।

यद्यपि उनके पिता का बचपन बड़ी गरीबी में बीता । वे एक चरवाहे का काम किया करते परन्तु पढ़ने-लिखने और शिक्षा प्राप्त करने में उनकी रुचि बचपन से ही रही थी । अतः वे शिक्षा प्राप्त करने के बाद एक अध्यापक बन गये । उन्हीं के परिवार में सन् १८९० ई० में उनका जन्म हुआ । एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन आरम्भ कर आगे वे जिलाधीश बने । इस कारण ही तथा उनके भाई-बहनों को आम वियतनामी जनता द्वारा भोगी जा रही यंत्रणाओं से मुक्ति तो मिली परन्तु हो का हृदय अपने झी स्वदेश बंधुओं पर फ्रान्सीसी अफसरों द्वारा ढोये जा रहे जुल्मों को देखकर विदग्ध हो उठता । अक्सर वियतनाम की साधारण जनता को बेगार में लगा दिया जाता । नाम मात्र को मजदूरी और पशुओं की तरह दिन-रात काम में जुटे रहना जैसा उन मजदूरों की नियति ही बन गया था । कैसा भी मौसम हो और कैसा भी स्वास्थ्य, क्या मजाल है कि इस जूए से थोड़ी गर्दन भी हिला सकें । जरा भी किसी कारण से काम में ढिलाई आती तो उन्हें बैतों और हण्टरों से बड़ी बुरी तरह पीटा जाता । कई लोग जो अपुष्ट खाद्य और कड़ी मशक्कत के कारण अपना सारा मौस गलाकर हड्डियाँ ही बचाये रह सके थे, इस पिटाई के कारण हड्डियों का वह पिंजरा भी छोड़कर अपने प्राण पखेरू ले उड़ते । इन अत्याचारों को हो ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था और करुणा तथा आक्रोश का समन्वित भाव उदय हो उठता था ।

हो के पिता भी एक देशभक्त और क्रान्तिकारी विचारधारा के व्यक्ति थे । भले ही वे उच्च पदाधिकारी रहे हों पर जनचेतना जगाने का उनका अपना अलग ढंग था और उसी हिसाब से वे इस दिशा में काम भी करते रहे ।

काफी समय तो फ्रान्स के उच्च अधिकारियों को इस बात का पता नहीं चला, लेकिन जब उन्हें सुराग मिल गया तो उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया।

पुनः उनका परिवार पूर्व की स्थिति में आ गया। लेकिन न पिता निराश हुए न पुत्र ने हिम्मत हारी। जिस कार्य को वे शासकीय सेवा में रहते हुए चोरी-छुपे करते थे वह काम अब वे खुल्लम-खुल्ला करने लगे और देश के निर्धन मजदूरों में जन-चेतना जगाने का कार्य शुरू कर दिया। परन्तु परिवार की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करना भी तो जरूरी था। अतः हो ची मिन्ह ने एक गैर सरकारी स्कूल में शिक्षक का पेशा अपनाया। गैर सरकारी स्कूल में इसीलिए कि वहाँ के विद्यार्थी बच्चों में देश-भक्ति के बीज बोये जा सकें।

डफथान्ह के उस स्कूल में हो ने लगभग एक वर्ष तक नौकरी की और एक दिन नौकरी छोड़कर सैगोन पहुँच गये। अपने अध्यापक काल में हो ने ये अनुभव कर लिया था कि वियतनामी जनता को दासता और शोषण से मुक्त करने में इस प्रकार के छुट-पुट प्रयास ही काफी नहीं होंगे-वरन् इसके लिए दीर्घकालिक अभियान संघर्ष की आवश्यकता है। उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक यन्त्र बना जा सके, इसके लिए उन्होंने विदेश जाकर आवश्यक अध्ययन और समुचित शिक्षण प्राप्त करने का निश्चय किया और इक्कीस वर्ष की आयु में ही एक जहाज के किचन-सहायक बनकर उन्होंने यह अवसर भी प्राप्त कर लिया।

जहाज-जिसमें कि हो रसोइए के सहायक बनकर यात्रा कर रहे थे मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुँचा। वहाँ सभी कर्मचारियों को वेतन दिया गया और साथ में टिप भी। लेकिन हो को जो वेतन मिला वह अन्य कर्मचारियों की तुलना में बहुत कम था। जबकि उनका काम था सबसे कठोर परिश्रमपूर्ण। हो से न्यूनतम अधिक जिस कर्मचारी को वेतन और टिप मिला था उसका दसवाँ हिस्सा हो को दिया गया था। परन्तु उन्होंने निरापदभाव से इतना मात्र ही स्वीकार कर लिया क्योंकि वेतन के उद्देश्य से तो उन्होंने जहाज में नौकरी नहीं की थी-नौकरी तो की थी विदेशों की यात्रा के उद्देश्य से ताकि पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर वे अपने देश के स्वतन्त्रता सैनिकों को मार्गदर्शन करा सकें, जहाज जितने दिन मार्सेल्स में रुका उतने दिन तक हो फ्रान्स घूमते रहे और वहाँ के जन-जीवन का निकट से अध्ययन करते रहे। मार्सेल्स से रवाना होकर जहाज स्पेन, पुर्तगाल और दयूनेशिया होता हुआ अफ्रीकी महाद्वीप में पहुँचा। इन सभी स्थानों पर हो ने बड़ी गम्भीरता से वहाँ के जन-जीवन को देखा और पाया कि सभी स्थानों पर गरीबी है परन्तु यहाँ के शासन तंत्र का अपनी जनता से व्यवहार इतना गिरा हुआ नहीं है जितना कि वियतनाम में। उन देशों में गुलाम देश के नागरिक को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है-यह भी हो ने अनुभव किया। उपनिवेशवादी देश के नागरिक जिस दृष्टि से गुलाम देश के नागरिकों को देखते थे वह उन्हें सहन न हुआ।

एक बार किसी बन्दरगाह पर-शायद अफ्रीकी देश के ही-समुद्र में तूफान आया। उस समय जहाज बन्दरगाह के बाहर था और तूफान इतना तेज था कि जहाज का बन्दरगाह में प्रवेश कर पाना लगभग असम्भव-सा हो गया। ऐसी परिस्थिति में नावें भी नहीं उतारी जा सकती थीं। अतः तट पर खड़े फ्रान्सीसी अधिकारियों ने जहाज से सम्पर्क साधने के लिए अफ्रीकी तैराकों को समुद्र में उतारा। पहले एक तैराक उतरा-कुछ देर तक तो वह समुद्री तूफान से संघर्ष करता रहा परन्तु बाद में लहरों में खो गया। होना तो यह चाहिए था कि ऐसी स्थिति में अधिकारीगण खेद व्यक्त करते और पुनः वैसी गलती न दोहराते परन्तु हुआ इसके विपरीत ही-समुद्री लहरों में अफ्रीकी तैराक को खो गया देखकर वे खिलखिला उठे और उन्होंने दूसरे तैराक को उतारा। दूसरे अफ्रीकन को अपनी मौत सामने खड़ी देखकर भी समुद्र में उतरना पड़ा उसका भी वही परिणाम हुआ-परिणाम की प्रतिक्रिया भी वही। अन्य यात्रियों और कर्मचारियों के साथ हो भी यह दृश्य देख रहे थे और इसमें फ्रान्सीसी अधिकारी अपना मनोरंजन करते तो अन्य गैर फ्रान्सीसी मूक दृष्टा बने रहे। जिनसे नहीं देखा गया वे डैक पर से चले आये। लेकिन हो को यह दृश्य देखकर रोना आ गया।

अफ्रीका के बाद अमेरिका और यूरोप के कई देशों में जहाज के साथ घूमते हुए १९१६ में इंग्लैण्ड आ गये और वहाँ उन्होंने जहाज छोड़ दिया। उनकी दृष्टि में ब्रिटेन में जन-जीवन का अध्ययन महत्वपूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हो सकता था इसलिए उन्होंने यहीं रहने का निश्चय किया और 'एक स्कूल' में सफाई कर्मचारी का पद प्राप्त कर लिया। यह काम भी बड़ी मेहनत का था और वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि इस प्रकार कठोर परिश्रम करते हुए वे अपने स्वास्थ्य को नहीं बचा पायेंगे। अतः शीघ्र ही एक और काम खोज लिया-लेकिन वह भी अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ तो उन्होंने लंदन के एक होटल में बेयरे की नौकरी कर ली।

इन्हीं दिनों पहला विश्वयुद्ध भी छिड़ चुका था अतः हो ने इंग्लैण्ड में ही रहने का विचार किया। होटल की इयूटी देने के बाद जो समय बचता उसे वह अँग्रेजी सीखने में लगाने लगे। इन दिनों मित्रराष्ट्रों ने अपने गुलाम देशों से इस वचन पर मदद ली थी कि विश्वयुद्ध समाप्त हो जाने के बाद वे उन्हें आजाद कर देंगे, पर जैसे ही विश्वयुद्ध समाप्त हुआ युद्ध के विजेता राष्ट्र अपने वायदे से मुकर गये। इसी युद्ध के दौरान रूस में लेनिन की साम्यवादी सरकार का गठन हुआ था। रूस की क्रान्ति ने हो को एक नयी दिशा दी और वह अपने देश के संदर्भ में इस निर्णय पर पहुँचे कि यदि उपनिवेशों की गुलामी के चंगुल से मुक्त होना है तो वहाँ की जनता को स्वयं ही इसके लिए लड़ाई लड़नी होगी।

अब यहीं से उनके सक्रिय जीवन का आरम्भ होता है। उक्त आशय का एक पैम्फलेट छपवाकर वियतनामी

मजदूरों और फ्रान्सीसी सेना के वियतनामी सिपाहियों में बैठवाया। जिसका बड़ा प्रभाव हुआ।

इंग्लैण्ड छोड़कर वे फ्रान्स आ गये क्योंकि वहाँ वे अपना कार्य अधिक सुविधापूर्वक चला सकते थे। अतः उन्होंने लगातार लेख और पत्र लिखकर जनता में बैठवाना आरम्भ कर दिया। यहीं रहकर उन्होंने साम्यवादी विचारधारा का अध्ययन किया और फ्रान्सीसी सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य भी बने। इस समय तक उनका प्रभाव क्षेत्र भी काफी बढ़ गया था और राजनैतिक गतिविधियों में व्यस्तता भी। जीविकोपार्जन के लिए अधिक समय लगा पाना सम्भव नहीं रहा अतः उन्होंने फोटोग्राफी का धन्धा सीखा और उससे कामचलाऊ उपार्जन करके अपनी जीविका चलाने लगे। किसी भी ध्येय विशेष के लिए समर्पित महामानवों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं पर जरा कम ही समय लगा पाना सम्भव रहता है। हो के लिए भी यही सिद्धान्त लागू होता था अतः वे बहुत थोड़ा समय अपने निर्वाहोपयोगी साधन जुटा पाने में लगाते और अधिकांश समय पुस्तकालयों अथवा राजनैतिक कार्यक्रमों में। रहने के लिए भी उन्होंने पेरिस की मजदूर बस्ती में एक छोटे से कमरे की व्यवस्था की थी।

१९२३ में मास्को में कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। फ्रैंच कम्युनिस्ट पार्टी ने उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। वहाँ पर साम्यवादी नेताओं ने वियतनाम में क्रान्तिकारी आंदोलन का संगठन करने का काम सौंपा। वियतनाम में भी हालांकि कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हो चुका था, पर उनमें एकता नहीं थी। पार्टी तीन गुटों में बँटी हुई थी और प्रत्येक गुट जनता पर अपना-अपना प्रभाव जमाने की कोशिश में एक दूसरे की टाँग खींच रहे थे। फलस्वरूप जनसाधारण पर कम्युनिस्ट आंदोलन का कोई प्रभाव नहीं होता था, उल्टे बिखरी हुई शक्तियाँ समाजवाद की स्थापना में बाधक ही बनती थीं।

इन्हीं दिनों वे चीनी क्रान्ति में हिस्सा लेने के लिए चीन भी गये और वहाँ से ही तीन गुटों के कर्णधारों से सम्पर्क साधा व उन्हें एकजुट होकर एक ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने हेतु एकता के सूत्र में बाँधा। हो ची मिन्ह के प्रयत्न सफल रहे और अप्रैल, १९३० में वियतनाम की जनता ने क्रान्ति का उद्घोष सुना व जनक्रान्ति का आरम्भ भी हो गया। फ्रान्सीसी सरकार के लिए यह एक अप्रत्याशित घटना थी अतः पहले तो वह बौखला उठी और फिर उसने जनता की आवाज को कुचलने के लिए उपनिवेशवादी का प्रमुख शस्त्र सम्माला, दमन-चक्र। जनक्रान्ति का श्रीगणेश तौकिन से हुआ था अतः सरकार ने उन्हें बड़ी बुरी तरह रौंद डालने का प्रयास किया लेकिन इसका परिणाम उल्टा ही हुआ। क्रान्तिकारियों के पक्ष में सारे देश की जनता उठ खड़ी हुई और एक स्थान पर दबायी गयी जनता की आवाज स्थान-स्थान से मुखर और बुलन्द होने लगी। देश में कई जगहों के मजदूरों और श्रमजीवियों ने हड़तालें कीं और सरकार

ने अपना दमन चक्र और तेज कर दिया। यहाँ तक कि हवाई जहाज द्वारा बमबारी करके भी उन्होंने मजदूरों को पस्त हिम्मत और परास्त करने का कदम उठाया परन्तु दमन चक्र के दौरान किये गये सभी प्रयास क्रान्ति की आग में घी का काम करने लगे। यहाँ तक कि कुछ प्रान्तों में तो जनवादी सरकारें भी बन गयीं।

फ्रान्सीसी सरकार ने सेना के बल पर, अपने साथी देशों के बल पर इस आन्दोलन को तेजी से दबा दिया। अब तक हो ची मिन्ह बाहर रहकर ही क्रान्ति का नेतृत्व कर रहे थे। समस्त विपत्तियों के सूत्रधार वे हैं, यह पता चलते ही उन्हें हांगकांग में गिरफ्तार किया गया। लेकिन जल्दी ही छोड़ भी दिया क्योंकि उनकी गिरफ्तारी से तो और भी अनर्थ होने की सम्भावना थी।

जब दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ तो फ्रान्स का सारा ध्यान महायुद्ध की ओर लग गया तथा उसका दमन चक्र भी ढीला पड़ा। इस अवसर का फायदा उठाने के लिए हो ची १९४१ की शुरुआत में वियतनाम लौट आये। अपनी मातृभूमि पर उन्होंने तीस साल बाद कदम रखे और रखते ही क्रान्ति को मुक्ति संग्राम का आयाम दिया। चीनी सीमा के नजदीक एक पहाड़ी स्थान पर उन्होंने गुरिल्ला कैम्प लगाने आरम्भ किये और उन्हें संगठित कर मुक्ति संघर्ष में जुटा देने का कार्य आरम्भ किया।

गुरिल्ला कैम्प के संचालन-उनके संगठन और उनके निर्देशन में हो ची मिन्ह दिन रात लगे रहते, फलस्वरूप वे बीमार पड़ गये। बीमारी की अवस्था में भी उन्होंने काम करना नहीं छोड़ा, जिससे स्वास्थ्य इतना गिर गया कि उन्हें सन्निपात के दौर पड़ने लगे। बड़ी मुश्किल से चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया और वे स्वस्थ हो गये। स्वस्थ होते ही पुनः काम में भूत की तरह डट गये।

और मुक्ति संघर्ष में, मुक्ति मोर्चे को प्रतिदिन सफलतायें मिलती गयीं और मोर्चे ने २ सितम्बर, १९४५ को अपनी सरकार बना ली। हनोई पर तो विजय प्राप्त कर ली परन्तु अभी संघर्ष शेष था- जो सन् १९५४ तक चला। जनवादी सरकार का राष्ट्रपति हो ची बनाया गया। हालांकि सितम्बर, १९४५ में ही मुक्ति मोर्चे ने फ्रान्सीसी सेनाओं को परास्त कर डाला परन्तु प्रतिपक्ष की सेनाओं ने अपने बर्बर आक्रमण जारी रखे और मुक्ति मोर्चे ने लम्बे संघर्ष के बाद उनकी भी कमर तोड़ कर रख दी।

इस रक्तपात का अन्त १९५५ में हुआ। उस समय वियतनाम को दक्षिणी और उत्तरी वियतनाम दो भागों में बाँट दिया। हो ची यह कदापि स्वीकार नहीं हुआ फिर भी एक भाग में शांति की स्थापना के लिए उन्होंने विवशता से इसे स्वीकार किया और दूसरे क्षेत्र में मुक्ति संघर्ष जारी रखा। जिसका अभी थोड़े समय पूर्व ही अन्त हुआ है और खण्डित वियतनाम पुनः एक हुआ है। पर यह देखने के लिए तो हो ची जीवित नहीं रहे। १९६७ में ही उनका देहान्त हो गया। अपने देश को अखण्ड देखने की उनकी यह आकांक्षा इतनी बलवती थी कि इसके बिना उन्हें

अपना ध्येय अधूरा मिला लग रहा था। १९६७ में रूस सरकार ने जब उन्हें लेनिन पुरस्कार देना चाहा तो इसी कारण उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा-“यदि हम अमेरिका के विरुद्ध युद्ध में अन्तिम विजय प्राप्त कर लें, तभी मेरे लिए कोई पुरस्कार लेना उचित होगा।”

सैद्धान्तिक क्रान्ति के स्रष्टा-

टॉमस जैफर्सन

ब्रिटिश शासन काल में औपनिवेशिक विधान सभा-हाउस ऑफ वर्जेंसिज के सदस्य का चुनाव लड़कर टॉमस जैफर्सन ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत की। यों पेशे से वह एक न्यायाधीश थे परन्तु कुछ कारणों से उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया। इन कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने जनता के सामने शपथ ली-“मैं मनुष्य के मन पर किये जाने वाले हर प्रकार के अत्याचार का अनन्त काल तक विरोध करूँगा।”

उन्होंने अपने देश में मानवता पर भयानक अत्याचार होते देखा। परमात्मा के पुत्रों का मनुष्य द्वारा सम्पत्ति के व्यवसाय की तरह लेन-देन, व्यापार, दास प्रथा का षणित तम रूप, निरीह और पद दलित नीग्रो लोगों पर अमानवीय अत्याचार उस समय चरम सीमा पर था। टॉमस जैफर्सन के मन में शुरू से ही नीग्रो गुलामों के प्रति सहानुभूति थी और जब वे कुछ कर सकने की स्थिति में आये तो सहानुभूति कर्तव्य में बदल गयी।

जैफर्सन को विरासत में अच्छी जायदाद मिली थी। बचपन से ही गुलामों ने जैफर्सन को अपने प्रति सुहृदय पाया तो काले नीग्रो भी उन्होंने भरपूर हृदय से प्यार करने लगे। उनकी सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति की तरह समझकर और अच्छी देखभाल करने लगे। परन्तु जैफर्सन इन गुलामों की स्थिति को मानवता पर कलंक समझते थे। इसलिए वे यही सोचा करते कि जब भी मुझे अवसर मिलेगा मैं इस कलंक को मिटाकर रहूँगा।

वह अवसर भी शीघ्र ही आया। जैफर्सन अपने पिता की जायदाद के उत्तराधिकारी बने और उन्होंने सभी गुलामों को स्वतन्त्र कर देने की घोषणा का विचार किया। परन्तु उस समय का कानून मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हुआ। तब गुलामों का मालिक भी स्वेच्छा से अपने गुलामों को मुक्त नहीं कर सकता था। इस बाधा को दूर करने के लिए उन्हें राजनीति में प्रवेश करने की बात सोचनी पड़ी। क्योंकि काफी समय तक प्रयत्न करने के बाद भी उनके विचार से कोई सहमत होता नहीं दिखाई देता था। वे वर्जिनिया के हाउस ऑफ वर्जेंसिज के सदस्य चुन भी लिये गये।

टॉमस जैफर्सन का जन्म एक सम्पन्न परिवार में १३ अप्रैल, १७४३ ई० को हुआ। माता-पिता ने उनकी योग्यता

विकास के साथ-साथ चरित्र और मानवीय गुणों के अभिवर्द्धन की ओर भी समुचित ध्यान दिया था। इसी कारण वे आगे चलकर न्याय और प्रेम के प्रबल पोषक बने। मानवीय गुणों और तकाजों की अवहेलना कर किया गया सम्पत्ति का उपभोग अनर्थकारी ही होता है। विपुल सम्पदा में तो और भी अधिक उपेक्षा की सम्भावना रहती है परन्तु उसका यदि विवेक सम्मत उपयोग किया जाय तो मनुष्य महान भी बन सकता है।

टॉमस जैफर्सन ने अपना जीवन काल एक वकील के रूप में आरम्भ किया। वे समझते थे कि इस पेशे को अपनाकर न्याय की अधिक सेवा कर सकेंगे। परन्तु शीघ्र ही उनकी यह धारणा टूट गयी। इस क्षेत्र में आते ही उन्होंने अनुभव किया कि वकील एक ऐसा व्यक्ति है जिस का काम हर तरह के सवाल करना, स्वयं कुछ भी न करना और घण्टों बातें करते रहना है। स्वार्थ और पैसे के लोभ में वकील अपनी प्रतिभा के बल पर हर अनुचित को उचित भी ठहरा सकता है और उचित को अनुचित भी। इस प्रकार न्याय सस्ता नहीं दुरुह और खर्चीला बन जाता है। यही नहीं तर्क-वितर्कों के जंजाल में पड़ जाने से कभी-कभी तो न्याय के स्थान पर अन्याय ही मिलता है। सैद्धान्तिक रूप से उन्हें अपना पेशा ठीक नहीं जँचा और उन्होंने बकालत छोड़ दी।

कुछ वर्षों बाद वे न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए। कालान्तर में इस पर कार्य करते हुए जैफर्सन ने देश के लाखों लोगों के लिये जो न्याय पाने के लिए किसी भी अदालत का दरवाजा नहीं खटखटा सकते थे, न्यायाधीश का पद भी छोड़ दिया और औपनिवेशिक सभा के सदस्य चुने गये।

सदस्य बनते ही उन्हें प्रतिज्ञा को पूरा करने का अवसर मिला और संसद में उन्होंने एक ऐसा कानून पेश किया जिसके अनुसार किसी भी ग़ोरे स्वामी को यह आदेश दिया जा सकता था कि वह अपने अधीनस्थ गुलामों को मुक्त कर सके। दास प्रथा पर यह उनकी पहली चोट थी। वे जानते थे कि इससे बड़ी चोट करना अपनी स्थिति और पहुँच के बाहर की बात है। इस विधेयक का भी बहुत विरोध हुआ परन्तु अन्ततः पारित हो गया और उन्होंने अपने सभी दासों को मुक्त करा दिया।

अब उन्होंने राजनीति को ही जनसेवा का उपयुक्त माध्यम बना लिया था। तभी कौन्टिनेण्टल काँग्रेस का गठन हुआ। यह काँग्रेस अमेरिका की स्वतन्त्रता घोषणा के लिए गठित की गयी थी। जैफर्सन को भी इसका सदस्य बनाया गया। उस समय उनकी आयु केवल ३३ वर्ष की थी। इस घोषणा का मसविदा तैयार करते हुए उन्होंने लिखा कि-“सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं। उनके स्रष्टा ने उन्हें कुछ अनपहरणीय अधिकार दिये हैं जिन्से जीवन, स्वतन्त्रता और सुख-प्राप्ति के प्रयत्न भी हैं।”

इस घोषणा की सर्वत्र सराहना की गयी। उनके समकालिक विद्वानों ने उन्हें ‘क्रान्ति की कलम’ कहकर

सम्मानित किया। किन्तु जैफर्सन इससे भी अधिक थे। उनकी गतिविधियाँ और क्रियाशीलता मात्र यहीं तक सीमित नहीं थीं। वे इस घोषणा को कार्यरूप में परिणत हुआ देखना भी चाहते थे।

जॉर्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में गठित सरकार ने उनकी प्रतिभा का उपयोग अमेरिकी संविधान के निर्माण और अधिकार पत्र जोड़ने में किया। अमेरिकी संविधान में पहले दस संशोधनों को अधिकार पत्र कहा जाता है। यह राज्य के शासनाधिकारों को परिमित कर नागरिकों की मान्यता और आस्थाओं की सुरक्षा के लिए जोड़ा गया था। इन अधिकारों में पूजा-उपासना, समाचार पत्रों और विचारों के प्रकाशन के अधिकार भी सम्मिलित हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जैफर्सन को जॉर्ज वाशिंगटन ने अपना प्रमुख सहयोगी बनाया और एक वरिष्ठ मंत्रालय सौंपा। परन्तु वाशिंगटन की कुछ नीतियों से असहमत होने के कारण उन्होंने थोड़े ही समय बाद मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया।

उन्होंने एक नये राजनीतिक दल का गठन किया जो आगे चलकर सत्तारूढ़ दल के समकक्ष ही लोकप्रिय बना। यह दल था डेमोक्रेटिक पार्टी। इस पार्टी का विश्वास था कि विकेंद्रित शासन प्रणाली द्वारा ही व्यक्ति को सर्वोत्तम संरक्षण प्राप्त हो सकता है। यह दल संघवाद के विरुद्ध राज्यों के अधिकारों का प्रबल समर्थक रहा है।

सन् १८०० में वह अपने देश के तीसरे राष्ट्रपति चुने गये। वाशिंगटन के बाद उस समय जैफर्सन से योग्य उनका उत्तराधिकारी कोई दूसरा नहीं था। अपने चारों ओर व्यस्त विपुल सम्पदा तथा उसके उपभोग का अधिकारी होने के बावजूद भी वे किसी भी प्रकार की शान-शौकत के खिलाफ थे। देश के अधिकांश लोग जिस स्तर का जीवन जीते हैं उनकी दृष्टि में उसी स्तर का जीवन एक राष्ट्राध्यक्ष को भी जीना चाहिए। लाखों-करोड़ों आम नागरिकों को जो सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं उतनी सुविधाओं के उपभोग का नैतिक अधिकार ही एक राष्ट्रपति को है। उनकी इस महानता ने कई विरोधियों को भी अपना प्रशंसक बना लिया। मरने के बाद भी किसी भी प्रकार का दिखावा या धन का अपव्यय न हो इस प्रकार की कड़ी हिदायतें दी थीं। उनकी कब्र पर केवल चार पंक्तियाँ अंकित हैं जिनमें लिखा है—“यहाँ अमेरिकी स्वातन्त्र्य घोषणा और वर्जिनिया के धार्मिक स्वाधीनता कानून का लेखक एवं वर्जिनिया विश्वविद्यालय का जनक टॉमस जैफर्सन दफनाया गया है।” लोग उनके जीवन और विचारों से प्रेरणा प्राप्त करें—इसी तथ्य का ध्यान यहाँ रखा गया है न कि उनके राष्ट्राध्यक्ष होने की सफलता से प्रभावित हों।

१४ जुलाई, १८२० को ८३ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। उनका जीवन सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान एक जाग्रत अन्तःकरण की कहानी है। उन्होंने असंख्य लोगों के मानवीय अधिकारों के लिए संकल्प का सूत्रपात

किया जो आगे चलकर कुछ ही दशाब्दियों में सफल होकर रहा।

जैफर्सन की समरसता

भू० पू० अमरीकी राष्ट्रपति टॉमस जैफर्सन, एक भव्य होटल में गये और ठहरने के लिए स्थान माँगा। वे कृषक की-सी मामूली पोशाक में थे। होटल के मालिक ने उन्हें मामूली व्यक्ति समझकर स्थान देने से इन्कार कर दिया। जैफर्सन चुपचाप चले गये।

थोड़ी देर बाद यह पता चलने पर कि अभी जो आये थे—वे राष्ट्रपति जैफर्सन थे, होटल मालिक ने उन्हें ससम्मान वापस बुलाने के लिए अपने आदमी दौड़ाये, किन्तु जैफर्सन ने उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि “अपने मालिक से कहना कि अगर तुम्हारे होटल में एक कृषक के लिए स्थान नहीं है तो अमरीका का राष्ट्रपति ही वहाँ कैसे ठहर सकता है।”

राष्ट्रपति जैफर्सन ने आजीवन अपने देशवासियों के समकक्ष रहकर महान उत्तरदायित्वों का पालन किया।

मृत्यु को निमन्त्रण देने वाले टेरेन्स—

मैकस्विनी

कार्क—आयरलैण्ड के लॉर्ड मेयर पद पर २६ वर्षीय तरुण नेता टेरेन्स मैकस्विनी निर्वाचित हुए तो सिनफिनी दल की बैठक में भाषण करते हुए उन्होंने कहा—“मैं बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता, या तो मारा जाऊँगा या कैद में पड़ा सड़ रहा होऊँगा और वहाँ मैं अपना बलिदान कर दूँगा।” इन उद्गारों को सुनकर दल के अन्य सदस्यों में उत्साही और देशभक्त मैकस्विनी के प्रति अपार करुणा और सद्भावना जाग्रत हुई थी। उस समय आयरलैण्ड अंग्रेजों का गुलाम था और वहाँ की जनता दासता के निर्मम दमन चक्र में पिस रही थी।

मैकस्विनी—जैसे विचारशील और देशभक्त नागरिकों ने स्वाधीनता के जन्मसिद्ध अधिकार को पुनराजित करने का नारा बुलन्द तो किया था परन्तु वह अभी जनता की आवाज नहीं बन सकता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर उसके लिए कार्य करने वाले नेताओं ने सिनफिन पार्टी नामक एक संगठन बनाया था और वे उसके माध्यम से अपने ढंग से काम भी कर रहे थे। मैकस्विनी इसी दल से सम्बन्धित थे। मेयर चुने जाने के बाद उन्होंने जो भाषण दिया था वह स्पष्ट मृत्यु के आगमन की घोषणा और उसकी प्रतीक्षा करने का संकल्प था। यह १९२० की बात है। मैकस्विनी को भली-भाँति मालूम था कि सरकारी अधिकारी उन पर निगाह रखे हुए हैं और उन्हें किसी भी क्षण गिरफ्तार किया जा सकता है। अब तक के अनुभव तो मृत्यु के निश्चित आगमन की ही सूचना देते थे।

कुछ माह बाद ही उनके उद्गार सत्य सिद्ध हुए। १२ अगस्त, १९२० को अचानक उनके घर पर छापा पड़ा और

वे गिरफ्तार कर लिए गये। उनके पास कुछ क्रांतिकारी साहित्य बरामद हुआ था। सरकार को उन्हें अपराधी प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त था। उन पर अभियोग लगाया गया कि मैकस्विनी अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह फैलाने का षडयन्त्र रच रहे हैं। उन पर साधारण अदालत में नहीं सैनिक अदालत में मुकदमा चला। मुकदमा तो क्या चलना था पूरा नाटक करना था ताकि कहा जा सके कि मैकस्विनी ने कानूनन अपराध किया है और उन्हें वैधानिक ढंग से दण्डित किया गया है।

कोर्टमार्शल में नियुक्त न्यायाधीशों ने उनसे पूछा—“आपको अपने बचाव की ओर से कुछ कहना हो तो कह सकते हैं।”

तब मैकस्विनी ने कहा—“मेरे कहने का आप पर क्या असर होगा। क्योंकि जब भी किसी अनीति और अन्याय को सैद्धान्तिक रूप देना होता है तो बचाव पक्ष की सभी दलीलें भी कोई काम नहीं आती हैं। स्पष्ट है आप की कार्यवाही गैरकानूनी है क्योंकि आप लोगों ने मेरे विरुद्ध जिस प्रकार षडयन्त्र रचा था वह मुझे ही नहीं मेरे देश की आत्मा को, उसकी आवाज को जिसका प्रतिनिधित्व मैं और मेरा दल कर रहा था, कुचल देने का ही प्रयास था। आपके कहने पर केवल मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप जो कुछ भी कर रहे हैं वह अमानवीय तथा अवैधानिक भी है।”

मैकस्विनी की इस स्पष्टता को न्याय का अपमान समझा गया और उन्हें कठोर कारावास की सजा दी गयी। अदालत से जेल में ले जाते समय जब उनके साथी उनसे मिलने के लिए आये तो पूछा—“यह तो सचमुच बहुत बुरा हुआ है। आपके न रहने से तो हमारा कार्यक्रम ही असफल हो जायगा।”

“आप लोग गलत सोचते हो मित्रो”—मैकस्विनी बोले—“मेरे रहने या न रहने से स्वाधीनता की प्राप्ति के मार्ग में कोई लाभ या हानि नहीं होनी है। हमारा कार्य और भी द्रुतगति से बढ़ेगा।”

साथियों ने फिर भी ममतावश पूछा—क्या हम न्याय के हित में कुछ करें। आपका मार्ग-दर्शन हमारे लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

“न्याय के हित में, मैं व्यक्तिगत रूप से अपना कार्यक्रम निर्धारित कर चुका हूँ और आपसे कई बार उसके विषय में भी कह चुका हूँ। मैं वही करने जा रहा हूँ।”

मैकस्विनी के यह कहने पर उनके साथी समझ गये कि उसका आशय क्या है? जेल में वे सत्याग्रह करने के लिए कटिबद्ध थे। कई बार वे अपने साथियों से कह चुके थे कि यदि मैं पकड़ा गया तो जेल में अनशन करने लूँगा और सरकार को अपनी बात का औचित्य-मनवाने के लिए उस पर दबाव डालूँगा। लेकिन मैकस्विनी के साथियों को बिल्कुल भी आशा नहीं थी इस बात की कि उनके सत्याग्रह का सरकार पर कोई प्रभाव भी पड़ेगा। विपरीत इसके मैकस्विनी की जान पर खतरा ही पैदा

होगा। शासन तो उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देगा। उन्होंने यह आशंका भी व्यक्त कर दी, तब मैकस्विनी ने कहा—“मुझे मृत्यु का जरा भी भय नहीं है और आप लोगों को भी मेरे मरने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उससे तो लाभ ही होगा। मेरा बलिदान राष्ट्र की आत्मा में नया प्राण फूँकेगा, मित्रो।” कहते-कहते वे जोश से भर उठे। आखिर उनके साथियों को निरुपाय हो लौट जाना पड़ा। और कारागृह में मैकस्विनी अपने ढंग से न्यायिक पक्ष की ओर से संघर्ष करने लगे। उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। मैकस्विनी के मित्र उन्हें छुड़ाने के लिए वैधानिक उपाय भी करते रहे परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। न तो किसी मन्त्री ने उनके मामले में हस्तक्षेप किया और न ही सम्राट ने। क्योंकि इस प्रकार तथाकथित न्याय की व्यवस्था में, गड़बड़ी हो जाती थी। एक दिन-दो दिन, इस प्रकार ढाई माह गुजर गया परन्तु किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। ७४ दिन की लम्बी तपश्चर्या के बाद उनकी आत्मा देह से मुक्त हो गयी और सचमुच उनकी आशा के अनुरूप उनका बलिदान रंग लाया। उनके बलिदान से देश भर में ऐसी जाग्रति की लहर आयी कि आयरलैण्ड वासियों को अपना अपेक्षित लक्ष्य प्राप्त होकर ही रहा।

स्वाधीनता और स्वाभिमानपूर्ण जीवन के लिए संघर्ष करते हुए प्राणीत्सर्ग कर जाने वाले देश और संस्कृति से प्रेम करने वाले देशभक्त टेरेन्स मैकस्विनी का जन्म आयरलैण्ड के ही एक गाँव में १८९४ ई० में हुआ था। परिवार की स्थिति कोई खास अच्छी नहीं थी। उस समय तो शायद ही कोई ऐसा आयरिश परिवार रहा हो जिसे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न कहा जा सके। क्योंकि उस समय तो प्रत्येक आर्थिक शोषण का शिकार बना हुआ था।

माता-पिता ने परिश्रमपूर्वक जैसे-तैसे प्रयत्न कर जीविका चलाकर मैकस्विनी को बी० ए० तक पढ़ाया ताकि सरकार के ही किसी विभाग में कर्मचारी बन जाये और सम्मानित जीवन जिये। मैकस्विनी के संवेदनशील हृदय पर तत्कालीन वातावरण का ऐसा कुछ प्रभाव हुआ कि उनका मन व्यवस्था के प्रति घृणा से भर उठा। थोड़ी समझ विकसित होने पर उन्हें पता चला कि इस समय आयरलैण्ड पर विदेशियों का राज्य है और यही कारण है कि कठोर श्रम के बावजूद भी आयरिश लोगों को भूखों मरना पड़ता है। अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहना पड़ता है। सारी गतिविधियाँ देख-देख कर उनका हृदय आक्रोश और विद्रोह से भर उठा तथा वह विद्रोह व्यक्त हुआ नाटकों और काव्य-कृतियों के माध्यम से। उनकी रचनायें प्रखर अनुभूतियों से भरी होने के कारण युवकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनीं।

यही था उनका पहला अपराध जिसके कारण उन्हें अधिकारियों का कोपभाजन बनना पड़ा और १९२६ में वे गिरफ्तार कर लिए गये। बिना कोई अभियोग या मुकदमा

चलाये उन्हें इंग्लैण्ड की एक जेल में रखा गया और कुछ दिनों बाद बड़े नाटकीय ढंग से मुक्त कर दिया गया। इस घटना ने उनकी ख्याति बढ़ा दी और उनके आक्रोश को भी एक नयी दिशा दी। कभी-कभी अनचाही और अनपेक्षित परिस्थितियाँ मनुष्य को अद्भुत और अयाचित लाभ दे जाती हैं। उनकी ख्याति के साथ-साथ उनके विचार भी फैलते गये और सरकार ने फिर १९२७ में गिरफ्तार कर लिया। चार माह जेल में रहकर वे फिर मुक्त हो गये लेकिन कुछ ही महीनों के बाद उन्हें फिर गिरफ्तार किया गया। उन्होंने चौथी बार जेल में अनशन किया और राष्ट्रीय-यज्ञ में आत्माहुति दे दी।

जनहित के लिए संघर्षरत सेनानी—

डेविड मोर्स

कोलम्बिया स्टेट की एक एस्बेस्टस फैक्ट्री में दुर्घटना घटित हो गयी। जिससे तीन श्रमिकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। श्रमिक दिन भर लोहे के दैत्य जैसी मशीनों के साथ जी झोंककर काम करता है तब कहीं परिवार की गाड़ी खिंचती है। उसकी परिवार रूपी मोटर में उसके श्रम का ईंधन जलता है तो वह चलती है।

उन अकाल कवलित हुए श्रमिकों की पत्नियाँ उनके काम से लौटने की प्रतीक्षा कर रही थीं। बच्चे अपने आपको आश्वस्त कर रहे थे कि उनके पापा आने ही वाले हैं फिर सब मिलकर खाना खायेंगे। उनके कान अपने पिता के जर्जर जूतों की चिर-परिचित चरमराहट सुनने को आतुर थे। किन्तु उन्हें अपने पिता के स्थान पर उनकी मृत्यु के हृदय बेध देने वाली सूचना मिली। क्रूर काल के एक झोंके ने उनकी दुनिया में अँधेरे की काली चादर तानकर रख दी।

एक सोलह वर्ष का किशोर जो उसी कारखाने के बेकिंग रूप में काम करता था मृतक श्रमिक के स्ट्रेचर को धामते समय फूट-फूट कर रो पड़ा। उसके बहते आँसु उसके मन में पनपते संकल्प को पानी दे रहे थे। उसने संकल्प किया कि वह अपना जीवन श्रमिकों के जीवन की सुरक्षा व उनके परिवार के भविष्य को अंधकार में निमज्जित होने से बचायेगा।

उन दिनों दुर्घटनाग्रस्त श्रमिकों को मालिकों की ओर से कोई क्षतिपूर्ति की राशि देना मालिक की स्वेच्छा का विषय था। ऐसे सुदृढ़ कानूनों का अभाव ही था जिससे चोट लगने पर श्रमिकों को तथा मृत्यु हो जाने पर उसके परिवार वालों को क्षतिपूर्ति की पर्याप्त राशि मिल सके। युवक ने वकील बनकर श्रमिक वर्ग की सेवा करने—श्रमिक हितकारी कानून बनवाने तथा उनका प्रालन करवाने का परमार्थ-युक्त संकल्प लिया।

वह दिन को कारखाने में काम करता था तथा सुबह शाम पढ़ने जाता था। यह साधनहीन युवक अपने दृढ़

निश्चय, पुरुषार्थ एवं परिश्रम के बल पर अमेरिका का प्रसिद्ध श्रमिक विधि-दक्ष वकील बना तथा उसकी योग्यता को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संचालित अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का महानिदेशक बनाया गया। इस पद पर रहते हुए उसने विश्व के श्रमिकों का जो कल्याण किया वह भुलाया नहीं जा सकता। यह युवक था डेविड मोर्स।

जिस घटना ने मोर्स के अन्तःकरण में अपने आपको समर्थ बनाकर दूसरों की सेवा-सहायता करने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न की वैसी घटनायें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके आस-पास के सामाजिक परिवेश में घटती रहती हैं जो मानवीय चेतना पर दबी राख को झाड़कर उसे प्रखर तेजोमय बन्धि रूप प्रदान करने का प्रयास करती है, हृदय में भावनात्मक आवेश उत्पन्न करती हैं। उस आवेश को यदि स्थायित्व दे दिया—उस समय उठे हुए संकल्पों को साकार करने में जुट जाया जाय तो फिर क्या कहने? किन्तु अधिकांश मनुष्य उसे विस्मृत कर देते हैं तथा अपने पुरुषार्थ को सान पर नहीं धरते।

डेविड मोर्स इस तथ्य से अनभिज्ञ न थे कि दृढ़ता से उठाया हुआ एक-एक चरण उत्तुंग गिरि शिखरों पर मनुष्य की विजय पताका फहरा देता है, बूँद-बूँद जल संचित करके सरिताएँ महासागर का विशाल उदर भर देती हैं, उसी प्रकार सफलता की दिशा में बढ़ाया हुआ एक-एक पग लक्ष्यपूर्ति का सोपान बनता है। इस धैर्य और विश्वास का सम्बल जिसे मिल जाता है फिर उसे कोई रोक नहीं सकता।

एस्बेस्टस फैक्ट्री में काम करने वाला यह श्रमिक युवक विश्वविद्यालय के वाद-विवाद दल का शीर्षस्थ वक्ता तथा फुटबाल टीम का श्रेष्ठ खिलाड़ी इसी विश्वास के आधार पर बना था।

वकालत की सम्मानित डिग्री पाने के बाद वह जम कर अपने क्षेत्र में काम करने लगा। तब तक मजदूरों के हित को ध्यान में रखते हुए अमेरिकी सरकार ने श्रमिक कानून बना दिये थे। वह श्रमिकों के मुकदमे बिना फीस अथवा नाममात्र की फीस लेकर पूरे मनोयोग व तैयारी से लड़ता था। वकालत का यह प्रश्न भी उसके अपने लोक हितकारी दृष्टिकोण के कारण परमार्थ साधन का हेतु बन गया। न्यूजर्सी की डाई क्लीनिंग इन्डस्ट्री व न्यूमार्क के दुग्ध उद्योग के श्रमिकों को अपने अधिकार दिलाने के लिए उसने धुआँधार पैरवी की जिससे उसकी ख्याति विश्वस्तार पर फैल गयी।

अफ्रीका, इटली तथा जर्मनी की सरकारों ने अपने देश में श्रमिक हितकारी अधिनियम बनाने के लिये उन्हें आमंत्रित किया गया। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना पर उसके समक्ष उसका महानिदेशक बनने का प्रस्ताव रखा गया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। १९४८ में उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण पद को स्वीकार कर लिया।

प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति साधारण श्रमिक के रूप में श्रमिकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आंदोलन किया करते हैं उन्हें संगठित करते हैं, किन्तु जब वह उस संचित श्रम शक्ति के धक्के के साथ उच्च पद पर पदासीन हो जाते हैं तो उसको धन से-पद से एक प्रकार का मोह-सा हो जाता है तथा वह बड़ा बन जाने पर खजूर के वृक्ष की भाँति छाया व फल की दृष्टि से जनसामान्य की पहुँच से बाहर हो जाते हैं। किन्तु मोर्स के साथ यह नहीं हुआ। वे जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के निर्देशक की कुर्सी पर बैठकर भी कोलम्बिया की फैक्ट्री में खून पसीना एक करने वाले मजदूर ही बने रहे।

इस पद का निर्वाह तथा अपने लक्ष्य की पूर्ति इन दोनों का निर्वाह करना सही माने में टेढ़ी खीर थी। साढ़े पाँच करोड़ वार्षिक बजट में विश्व स्तर पर श्रम कल्याण योजनाएँ कार्यान्वित करना तथा ७९ देशों को प्रतिनिधियों को संतुष्ट करना मोर्स जैसे कुशल व्यक्ति का ही काम था। इतने कम, बजट में भी उन्होंने जो बड़े-बड़े काम किये उनसे उनकी श्रमिक सर्वहारा वर्ग के प्रति जो पीड़ा सदभावना है। वह स्पष्ट झलकती है।

स्वयं मोर्स इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं अपनी सहायता करने के लिये जब कोई व्यक्ति तैयार है तो उसे थोड़ा-सा प्रोत्साहन, थोड़ी-सी सहायता भी पर्याप्त हो जाती है। यही स्वयं की शक्तियों को जगाने की प्रक्रिया उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र के जनमानस के मन में जाग्रत की। जिस प्रकार उपासना के दौरान साधक अपने इष्ट को प्रतीक रूप में स्वीकार करके वैसे ही तेजस्विता, प्रखरता अपने आप में उत्पन्न करता है वैसे ही प्रखरता उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र में जगाई।

अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों की औद्योगिक प्रगति की दिशा में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित कराये। विगत दस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने देशों में परस्पर सहयोग के आधार पर १००० तकनीकी सहायता विशेषज्ञ स्तर से अधिक देशों में भिजवाये हैं।

खानों में तथा कारखानों में होने वाली दुर्घटनाओं पर मजदूरों तथा उनके परिवारों को मिलने वाली सुरक्षा तथा क्षति पूर्ति की राशि, काम के घण्टे, कार्य मुक्त होने पर मिलने वाला निर्वाह वेतन, महिला श्रमिकों को मिलने वाला प्रसवकालीन अवकाश, रुग्णावस्था में मिलने वाली चिकित्सा सुविधाएँ, बोनस, बाल श्रमिकों से श्रम लेने पर पाबन्दी आदि विषयक विधान प्रत्येक देश में बनवाने का पूरा-पूरा प्रयास उन्होंने किया।

श्रमिक अपना श्रम बेचता है। श्रम तथा पूँजी में यही अन्तर होता है कि श्रम पूँजी का विनियोग नहीं किया जाय तो वह नष्ट नहीं होती। किन्तु श्रम का श्रमिक से प्रथक

कोई मूल्य नहीं होता अतः श्रमिक बेकार बैठा रहता है तो उसका श्रम नष्ट ही होता है। श्रमिक अपना श्रम बेचने में यहीं कमजोर पड़ता है। उसकी इसी कमजोरी से लाभ उठाकर पूँजीपतियों ने उसको खूब निचोड़ा और आज भी निचोड़ने से बाज नहीं आते हैं उनका बस चले तो समूचे श्रमिक समूह को निचोड़ कर रख दें। इस शोषण से श्रमिकों को बचाने तथा इस संघर्ष को विस्फोटक बना जाने से पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने स्थिति पर नियंत्रण कर लिया। इस नियंत्रण में मोर्स का योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

मोर्स की योग्यता व व्यवहारकुशलता से श्रमिक वर्ग ही लाभान्वित हुआ हो ऐसी बात नहीं, उत्पादकों को भी काफी लाभ मिला है। उनकी यह मान्यता कि एक व्यक्ति भी पूरे उद्योग को लाभ पहुँचा सकता है, उत्पादन वृद्धि में बहुत योगदान कर श्रम बचाने तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए देशों में भेजे गये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में एक-एक विशेषज्ञों ने उत्पादन क्षमता में २० से लगाकर ४० प्रतिशत तक वृद्धि की है। इससे एक ओर श्रमिकों का वेतन बढ़ा है वहीं दूसरी ओर उत्पादन लागत में भी कमी आयी है।

इस प्रकार के विशेषज्ञों को खोज लेना तथा उनकी सेवाएँ प्राप्त कर लेने में दक्ष होने के कारण १९४० में इस श्रम संगठन के महानिर्देशक बनने के पश्चात् उनके कार्य काल में निरन्तर वृद्धि होती गयी।

उच्च लक्ष्य को सामने रखकर चलने वाले व्यक्ति को किस प्रकार वैयक्तिक लाभ अनायास ही प्राप्त होते जाते हैं इसका अनुपम उदाहरण मोर्स के जीवन में देखने को मिलता है। वे कहा करते हैं कि जिस प्रकार एक कसाई की दुकान पर काम करने वाले व्यक्ति को अपने उपार्जन के साथ-साथ निरन्तर घृणा, जुगुप्सा तथा हत्या के घृणित व्यापार की नारकीय वेदना भोगनी पड़ती है वैसे ही ओछे लक्ष्य को अपनाकर व्यक्ति को भी कष्ट क्लेश भोगने पड़ते हैं। गुलाब की खेती करने वाला किसान अपने उपार्जन के साथ मनभावन सौरभ भी पाता है तथा चित्त में आह्लाद व प्रसन्नता भरता है-आम के उपवन का रखवाला जिस प्रकार पके आम मुफ्त में ही खा लेता है वैसे ही मैं भी श्रमिक वर्ग की, जनसमाज की सेवा का लक्ष्य चुनकर इस महत्वपूर्ण पद पर पहुँच सका हूँ नहीं तो मैं भी कोलम्बिया की उस एस्बेस्टस फैक्ट्री में काम करते-करते तन-मन से जर्जर हो गया होता।

डेविड मोर्स के इस कथन में राई रती झूठ नहीं है सन् १९०३ में एक साधारण श्रमिक परिवार में जन्म लेने वाला यह साधारण बालक अपने अन्तःकरण से उठने वाली सद्प्रेरणाओं का अनुगमन करता हुआ विश्वविख्यात हुआ तथा कोटि-जनसमुदाय की सेवा का पुण्य-लाभ प्राप्त कर

सका । उनकी यह सफलता भला किसे उनका अनुगमन करने को लालायित न करेगी ।

प्रारब्ध बड़ा या पुरुषार्थ ? सदेह उत्तर—

डॉ० तहाहुसेन

मिस्त्र का एक छोटा-सा गाँव । तमाम बच्चे खेलने के लिये हैंसते, किलकारी मारते दौड़ रहे हैं । एक छोटा बच्चा दौड़ता है, मैं भी खेलने जाऊँगा । दो कदम भी न चल पाया था कि एक पत्थर से जा टकराया । माथा फूट गया । रक्त बहने लगा । लोग दौड़े, घर वाले आये । डॉट पड़ी अभागे से चुप नहीं बैठा जाता । परमात्मा ने आँख छीन ली तो इतनी बुद्धि भी नहीं कि चुपचाप एक स्थान पर बैठा रहे ।

बच्चा बैठ गया । प्रतिदिन उसी स्थिति में बैठा रहता । एक दिन पड़ौस की स्त्री उधर से गुजरी और करुणार्द्र होकर कह ही तो बैठी—“भगवान ऐसी, जिन्दगी से मौत अच्छी थी ।”

चोट खाये हुए बालक का मर्म कुरेद गया । उसने निश्चय कर लिया अब मरना ही श्रेयस्कर है, बेचारा आहट लेता हुए कुँये की ओर बढ़ चला ।

पड़ौस में एक मौलवी साहब रहते थे । वह बच्चे का इशारा समझ गये । बच्चा कुएँ में छलाँग लगाने की युक्ति बना ही रहा था कि वह दौड़े और हाथ पकड़ कर उसे बचा लिया ।

छाती से लगाते हुए उन्होंने कहा—बच्चे । मानता हूँ, तुम्हारी आँखें छिनी गई हैं पर अभी तुम्हारे पास मन है । तुम नहीं जानते मन में एक संकल्प शक्ति रहती है, उसे जगाओ तो तुम वह काम कर सकते हो जो आँखों वाले न कर सकें ? ”

“यह संकल्प शक्ति क्या होती है बाबा !” बच्चे ने सरल भाव से पूछा । “इच्छाशक्ति की दृढ़ता और लक्ष्य पूर्ति तक प्रयत्न का नाम है संकल्प । तुम एक बार यह निश्चय कर लो कि मुझे यह होना है, यह करना है, अमुक सफलता पानी है । अमुक प्रकार का जीवन जीना है और फिर उसकी पूर्ति के लिये अपनी सम्पूर्ण चेष्टाओं के साथ लग जाओ तो तुम देखोगे कि यह मन ही आँखें दे देगा, मन ही संसार के हर सुख-साधन सुलभ कर देगा । इतनी प्रचंड शक्ति पास रखकर भी तुम घबड़ाते हो । यह तो मानवीय शक्ति का अपमान है मेरे बच्चे ।”

बच्चे ने मौलवी साहब के पाँव छुए “बाबा, यह बात मुझे अभी तक किसी ने नहीं बताई थी । अब आपके दिखाए हुए—रास्ते पर चलूँगा, मेरी कायरता दूर हो गई, निराशा भाग गई ।

मिस्त्र में आज इसी बालक का उदाहरण देकर लोग हारे हुए, परिस्थितियों से घबड़ाये हुए असफल व्यक्तियों को हिम्मत बाँधाया करते हैं । कहते हैं—तहा को देखो—तीन वर्ष की आयु में ही अन्धा हो गया था । कोई

रास्ता दिखाने वाला न था । कोई साधन न थे पर उसने अपने जीवन की पतवार किस दृढ़ता और हिम्मत के साथ पकड़ी और उसे किस शान से पार ले गया । असहाय और अपंग व्यक्ति जब अपनी क्रिया-शक्ति, संकल्प-शक्ति को जगाकर बड़े मनोरथ पूर्ण कर लेते हैं तो स्कूली शिक्षा, आर्थिक उद्योग, खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करने या और कोई सफलता पाने के लिए शारीरिक दृष्टि से समर्थ व्यक्तियों को क्यों निराश होना चाहिए ।”

यह बालक जिसका पूरा नाम तहाहुसेन था, अब दूसरों से सुनकर कुरान शरीफ पढ़ने लगा । कुछ ही दिनों में उसने कुरान कंठस्थ कर ली । इसके बाद वह ‘अलजहर’ में शिक्षा पाने लगा । आंशिक सफलताओं से उसका उत्साह बढ़ता गया । १९१४ में उसने काहिरा विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० और कई विश्व-विद्यालयों से डाक्ट्रेट पाई ।

बौद्धिक शक्तियों के विकास के साथ ही उसने साहित्यिक सेवा भी प्रारम्भ कर दी और १९४६ में मिस्त्र का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार घोषित हुआ । १९५० में यह मिस्त्र के मंत्री बनाये गये । यूनेस्को के ‘डायरेक्टर जनरल’ पद के लिये कई बार बुलाया गया पर मिस्त्र ने अपने इस ‘हरे’ को छोड़ने में असमर्थता प्रकट की ।

डॉ० तहाहुसेन ने मन की सामर्थ्य को जगाकर केवल अपनी प्रगति का पथ प्रशस्त नहीं किया वरन् यह भी सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य का प्रारब्ध बड़ा नहीं । हिम्मत हो तो पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध को भी सरल और सद्म बनाया जा सकता है ।

जर्मनी में पुनर्प्राण प्रतिष्ठा करने वाले—

वान थेडन

१९६१ की जुलाई का एक दिन पश्चिमी बर्लिन के उस विशाल ओलम्पिक स्टेडियम में जहाँ कभी नाजीवाद के झण्डे लहराते थे, उस दिन एक लाख से अधिक श्रोता उपस्थित थे । एक ऊँची मीनार पर पवित्र क्रॉस को स्थापित किया हुआ था । एक निश्चित समय पर सारी जर्मनी के गिरजाघरों के घंटे एक साथ निनादित हो उठे तीन हजार जोड़ी हाथ ऊपर उठे तथा उपस्थित जन समुदाय ने पुराने धर्म स्त्रोत्र का सस्वर पाठ किया ।

उस छोटे से मंच पर जहाँ कभी हिटलर खड़ा होकर परेड की सलामी लिया करता था अथवा सार्वजनिक सभाओं उत्सवों में भाषण दिया करता था उसी स्थान पर एक ६९ वर्षीय व्यक्ति भाषण देने के लिये खड़ा था । उसका लम्बा तना हुआ छरहरा शरीर, उसके लहराते हुए धवल केश तथा उसकी मर्मभेदी नीली आँखों पर श्रोताओं की नजरें जैसे आकर रुक सी गई थीं । यह व्यक्ति रेनोल्ड वान थेडन ट्रीगलाफ था जिसे सारा यूरोप जर्मनी राष्ट्र में पुनः प्राण प्रतिष्ठा करने वाला मनुष्य मानता है ।

यह जनसमुदाय यहाँ उसी के द्वारा चलाये गये धार्मिक आन्दोलन 'किस्वेन्टाग (उपासना का दिन) के अन्तर्गत यहाँ उपस्थित हुए थे। इस आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध की भयंकर मार खाकर आँधे मुँह पड़े हुए जर्मनीवासियों के मन अन्तःकरण में एक नवीन प्रेरणा तथा नये उत्साह का सृजन किया है। इसके प्रणेता को यूरोपवासी जर्मनी की खोयी आत्मा का दाता कहते हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

इस अभियान के अंतर्गत विशाल रैली का आयोजन किया जाता था। जिसमें हजारों-लाखों व्यक्ति भाग लेते थे। इन भाग लेने वालों में अधिकांश सामान्य व्यक्ति थे। कृषक, मजदूर, क्लर्क तथा अन्य सभी वर्ग के व्यक्ति इन रैलियों में भाग लेते थे।

इस अभियान का उद्देश्य लोगों में धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना था। ईसाई दुनिया में जो कुछ अनिष्टकारी घटनाएँ सामने आयी थीं उनमें प्रमुख नाजीवाद का उदय तथा साम्यवाद का प्रसार था। इन दोनों ने जर्मनी को तहस-नहस करके रख दिया था। जनसामान्य को विघटन के प्रति अपना दायित्व अनुभव कराने का ही उद्देश्य इस अभियान के प्रणेता का था। वह कहता था "ईसाई समाज में जो कुछ घटा है उसके जिम्मेदार ईसाई ही हैं।"

इस अभियान के मूलभूत सिद्धान्त को स्थान विशेष तथा समुदाय, धर्म विशेष से पृथक् करके देखा जाय तो यह सत्य समझ आये बिना नहीं रहता कि जब भी जन जीवन धर्म से दूर हुआ है समाज में विकृति आयी है-युद्ध हुए हैं-विघटन हुए हैं। वस्तुतः धर्म का शाश्वत सत्य ही जन-जीवन की धुरी है जिसके चारों ओर अन्य समृद्धियाँ पल्लवित-पुष्पित होती हैं। हमारा भारतीय संस्कृति में भी धर्म को अर्थ, काम तथा मोक्ष से प्रथम स्थान मिला है। वान श्रेडन ने उसे सामान्य जर्मनवासी समझ सके वैसे शब्दावली में उनके सम्मुख रखा। वैसे यह सत्य सभी देश व जातियों के ऊपर लागू होता है।

वान श्रेडन का व्यक्तित्व इस अभियान के प्रणयन की योग्यता से भरा पूरा था। उसका जन्म प्रशिया के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था। उसके पिता एक बड़े पादरी थे। धर्म के प्रति निष्ठा उसे अपने पैतृक गुणों के रूप में मिली थी।

ग्रिफ़स्वाल्ड नगर के कॉलेज में प्रवेश पाने के बाद उसकी इस आस्था को क्रियात्मक रूप मिला। उसने विद्यार्थी धार्मिक आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया। १९२८ में जबकि जर्मनी में हिटलर का समाजवाद अपना सिर उठा रहा था उसे जर्मनी के विद्यार्थी आंदोलन का प्रधान बनाया गया। हिटलर के प्रति उसके मन में अच्छे भाव थे। वह हिटलर के उदय से प्रसन्न था। किन्तु जब हिटलर ने सभी प्रोटेस्टेण्ट चर्चों को नाजी धार्मिक मंत्री के अधीन कर दिया तो हिटलर के प्रति उसके विचार बदल गये तथा उसने धर्म पर इस प्रकार प्रतिबंध लगाने के

विरोध में 'कन्फेसिंग चर्च' नामक गुप्त आन्दोलन में पूरा-पूरा सहयोग दिया। इस आन्दोलन में उसका नाम पास्टर निमोलर तथा विशप डिबिलियर जैसे धर्माध्यक्षों के समकक्ष गिना गया।

यद्यपि यह आन्दोलन नितान्त गोपनीय रीति से संचालित किया जाता था फिर भी नाजी गुप्तचर विभाग गेस्टोपो की नजरों से वान श्रेडन बच नहीं सका तथा वह नाजियों द्वारा बंदी बना लिया गया। बंदी बना लेने पर भी वे उसका कोई अपराध सिद्ध नहीं कर पाते थे तथा उसे छोड़ देते थे। इस प्रकार वह कई बार पकड़ा व छोड़ा गया। उसे अपना बंदी बनाकर तरह-तरह से क्रूर यन्त्रणाएँ दी जिससे कि वह आन्दोलन की पूरी-पूरी जानकारी उन्हें दे किन्तु उन यातनाओं को सहते हुए उसने 'उफ' तक नहीं किया। यह साहस तथा सहनशीलता उसे उसकी धर्मनिष्ठा ने ही दी थी।

उसकी इस चुप्पी के कारण नाजीदल ने उस पर विश्वास कर लिया तथा द्वितीय विश्व युद्ध के समय उसे सेना में उच्च पद देकर बेल्जियम के नगर लुवीयन का प्रशासक बनाया। प्रायः आक्रान्ता जर्मनों के प्रति विजित प्रदेश के नागरिकों के हृदयों में असीम घृणा थी किन्तु लुवीयन नगर के नागरिक आज भी उसके सुशासन की प्रशंसा करते नहीं थकते हैं।

किसी विवाद को लेकर जर्मन पुलिस ने लुवीयन निवासी तीस बेल्जियमों को गिरफ्तार करके जर्मनी भेजने का आदेश दिया, जिसे अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा किसी भी देश के नागरिकों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना मानवता के विरुद्ध है अतः उन्हें बिना किसी अपराध के बंदी नहीं बना सकते।

हिटलर तथा उसकी पुलिस सेना को यह दो टूक उत्तर देने का साहस स्तुत्य था। कोई और होता तो इस तरह इन्कार नहीं कर सकता था किन्तु वान श्रेडन जानते थे कि मनुष्य 'अभय' से दूर नहीं है। कष्ट-कठिनाइयाँ तथा दंड उसका शरीर भोगता है। आत्मा तो सदा निर्भय रहती है वह दुःख कष्टों से परे है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार हो जाने पर उन्हें सोवियत रूस द्वारा बंदी बना लिया गया। उन्हें रशियन सिपाहियों ने बुरी तरह पीटा तथा सोवियत सरकार ने उन्हें उत्तरी महासागर के तटवर्ती भयंकर शीत के प्रदेश में बंदी बनाकर रखा।

बंदीगृह में भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे रहे। शरीर पर तो इस समय कठोर पाबन्दियाँ थीं कि मन तथा मस्तिष्क पर उस समय कोई बोझ नहीं था। इस काल में उन्होंने जर्मनी के पतन तथा साम्यवाद के उदय के कारणों पर गहन चिन्तन किया। इस चिन्तन का निष्कर्ष यह था कि मनुष्यों की धर्म के प्रति आस्था समाप्त प्राय हो जाने तथा उसके शाश्वत सत्यों को भूल जाने के कारण ही जर्मनी में जाति तथा वर्ण की उच्चता को लेकर हिटलर तथा उसकी नाजी पार्टी ने समूचे विश्व पर जर्मन प्रभुत्व का अमानवीय स्वप्न

देखा। यहाँ भी ईसाई मत ही प्रचलित था। फिरकापरस्ती तथा नये-नये चर्चों के उदय ने जनमानस को धर्म से दूर कर दिया था। रूस में भी यही हुआ था। उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम का निर्धारण भी इस कारावास में ही कर लिया था। यह कार्यक्रम था ईसाई मतावलम्बियों को निकटतम लाना तथा उनमें धार्मिक जाग्रति उत्पन्न करना ही था।

नौ महीने के कारावास में उनका शरीर सूखकर अस्थि कंकाल मात्र रह गया था। किन्तु इस अस्थि पिंजर में आत्म ज्योति की प्रखर किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं। नौ महीने के एकांत चिंतन तथा तीतीक्ष्णमय जीवन ने उनके आत्मबल में अनुपम वृद्धि जो की थी। उनका शरीर रोग तथा भूख का शिकार हुआ था। किन्तु आत्मा नहीं।

वहाँ भी उन्होंने अपने नित्य क्रम में कोई व्यवधान नहीं आने दिया था। वे प्रसन्नचित रहते तथा उपासना, स्नान, पूजा, चिंतन, स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त रहते। बंदियों के केम्प में ही उन्होंने धर्म प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उनके साथ प्रार्थना में सम्मिलित होने वालों की काफी संख्या हो चली थी यहाँ तक कि रूसी गार्ड भी उनसे अप्रभावित नहीं रहे थे।

युद्ध समाप्त होने पर वे अपने देश जर्मनी आये। जर्मनी की दशा उस समय भूमिसात खंडहर-सी थी। उनका परिवार भी इस विनाश से बचा न था। उनके पाँच में से तीन बच्चे युद्ध की भेंट चढ़ गये थे। उन्होंने अपने परिवार को पुनः व्यवस्थित किया पश्चात् अपने मिशन में जुट पड़े।

उनके पहले वाले कन्फेसिंग चर्च की व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो चली थी। सरकार द्वारा नियंत्रित लूथेरियन, रिफोर्मूड तथा यूनाइटेड चर्च चल रहे थे। कन्फेसिंग चर्च की एक शाखा इवांगेसिकल चर्चों के नाम से चल रही थी। वान ग्रेडन इन भिन्न-भिन्न चर्चों में समन्वय स्थापित कर ईसाइयत के शाश्वत सिद्धान्तों को जन-सामान्य तक पहुँचाने वाला आन्दोलन चलाने के काम में जुट पड़े।

प्रथम तो उन्होंने सब चर्चों के प्रमुखों को अपनी योजना से अवगत कराया। उन्होंने बताया कि जर्मनी को इन दो महायुद्धों में जो चोटें सहनी पड़ी हैं कि जनता का मनोबल समाप्त प्रायः हो गया है। उस खोये मनोबल को पुनः वापस दिलाने का एक ही रास्ता है और वह है धार्मिक क्रान्ति। वान ग्रेडन से पहले ही सब चर्चों के प्रधान प्रभावित थे अतः उनकी इस योजना से असहमत तो कोई नहीं हुआ किन्तु उन्हें सफलता में संदेह ही दिखाई दे रहा था अतः उन्होंने उसका दायित्व सब उन पर ही छोड़ा।

नवम्बर, १९४८ में उनका यह अभियान व्यापक रूप से जर्मन जनता के सामने आया। विशाल रैलियों का आयोजन किया जाता। इनमें भाग लेने वाले व्यक्तियों से एक ही आग्रह किया जाता था कि वे उस दिन पूरी तरह धावन जायें। इन रैलियों में प्रारम्भ में उपस्थिति हजारों की

संख्या में हुई तथा बाद में यह बढ़ती हुई लाखों तक पहुँच गयी।

इन रैलियों के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे के सम्पर्क में आया। उनमें आत्मीयता की भावना उत्पन्न हुई। एक ने दूसरे के दुःख-दर्द को समझा तथा उसे दूर करने का भरसक प्रयास किया। कुछ ही वर्षों में इस अभियान की सफलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी।

१९५० में पश्चिमी जर्मन के इसेन नगर में एक रैली का आयोजन किया गया। इसमें दो लाख व्यक्तियों ने भाग लिया। इस रैली में भाग लेने के कारण मिल मालिकों तथा ट्रेड यूनियन में सद्भाव बढ़ा तथा उनके बीच जो झगड़े चल रहे थे वे निपट गये तथा भावी हड़ताल तथा तालेबंदी की सम्भावनाएँ समाप्त ही हो गयीं।

म्यूनिख में हुई रैली में साढ़े तीन लाख, लिपजिंग में छह लाख तक व्यक्ति उपस्थित हुए। इस प्रकार की रैलियों ने भिन्न-भिन्न चर्च के अनुयाइयों को निकट आने में सहायता की तथा वे समझ गये कि धर्म में कोई विभेद नहीं है।

जर्मनी ने महायुद्ध के बाद जिस गति से प्रगति की है उसे देखकर आश्चर्य होता है। उस प्रगति में वान ग्रेडन के इस अभियान का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। ऐसे व्यक्तियों की विश्व को सदा सर्वदा आवश्यकता रहती है।

विश्व शांति और विश्व बंधुत्व के स्वप्न दृष्टा—

निकोलाई रोरिख—

“सुन्दरता में ही हम संगठित हैं, सुन्दरता के ही माध्यम से हम प्रार्थना करते हैं और सुन्दरता से ही हम विजयी होंगे—इन कुछ शब्दों को अपने जीवन का मूल मन्त्र मानकर निकोलाई रोरिख ने कला साधना आरम्भ की और इसी मन्त्र की उत्कट साधना ने उन्हें विश्व में सिरमौर चित्रकार के उच्च शिखर पर जा पहुँचाया। चित्रकारों की कमी नहीं है दुनिया में और न ही कवियों तथा गीतकारों की। परन्तु उन सब चित्रकारों और कलाकारों में रोरिख चन्द्रमा की भाँति अलग ही दैदीप्यमान होते दिखाई देंगे। क्यों? इसलिए कि सब चित्रकार एक जैसे चित्रकार नहीं होते। तूलिका और रंग सभी के हाथों में होते हैं, प्रत्येक कलाकार इन उपकरणों के माध्यम से अपनी कृति को श्रेष्ठ रूप प्रदान करने की आकांक्षा रखता है। परन्तु वह आकांक्षा जिस भावभूमि से उद्भूत होती है, जिस प्रेरणा से प्रेरित होकर कलाकार अपनी तूलिका उठाता है वह भिन्न और विशिष्ट हो सकती है। यही भिन्नता तथा विशिष्टता उसे भी भिन्न, अद्वितीय और विशिष्ट स्थान प्रदान कर जाती है।

रोरिख ऐसे ही कलाकार थे। जिन्होंने केवल चित्र के लिए चित्र नहीं बनाये, कविताओं के लिए कवितायें नहीं लिखीं, गीतों के लिए गीत नहीं गाये और यहाँ तक कि

राजनीति के लिए राजनीति में भाग नहीं लिया। यह सब एक विशिष्ट उद्देश्य से अन्तःप्रेरणा से अभिभूत होकर किया गया था और इसी कारण वे कला के आकाश में नक्षत्रों के अधिपति चन्द्रमा बनकर कला सम्राट के रूप में चमके। वे जो कुछ भी करते थे सब इस प्रतिपादना के लिए कि वर्ग, जाति, सम्प्रदाय और राष्ट्रीयता के खेमों में बँटा समूचा मानव समाज स्वयं की एकता को अनुभव और स्थापित कर सके। इस उद्देश्य की दिशा में उन्हें अपनी साधना की सफलता भी इसी जीवन में मिलती दिखाई भी दी।

समस्त मानव जाति में एकात्मा के दर्शन करने वाले रोरिख में इस दिशा में बढ़ने के लिए पहले तो स्वयं को समस्त दिलों और बाढ़ों से ऊपर उठाया था। प्रायः देखा गया है कि एक दल का व्यक्ति दूसरे दल के व्यक्ति को अपने सामने शत्रु के स्थान पर खड़ा मानता है। लेकिन वहीं यह भी सत्य है कि दल और वाद से ऊपर उठ चुकी विभूति को सभी दलों से और वाद के व्यक्तियों से आदर, सम्मान तथा अपेक्षा मिलती है। रोरिख भी इसी श्रेणी के व्यक्ति थे। अपने निर्दलीय और वाद निरपेक्ष व्यक्तित्व के कारण उन्हें हर वर्ग का व्यक्ति चाहने लगा था। इसका प्रमाण है जिन निकोलाई को १९०४ में रूस के सम्राट ने शाही परिवार का सदस्य होने के लिए आमन्त्रित किया था, उन्हीं निकोलाई को १९२७ में रूस की साम्यवादी सरकार ने कलामन्त्री का पद सौंपा। हालांकि उस समय सरकार में कलामन्त्री का कोई पद नहीं था परन्तु निकोलाई के अपेक्षित सहयोग और मार्गदर्शन ने सरकार को यह पद निकालने के लिए विवश किया।

ऐसी महान विभूति का जन्म १८७४ में पीटर्सवर्ग (बाद में लेनिनग्राद) के एक अभिजात्य कुल में हुआ था। उनके पिता कॉन्स्टेंटिन रोरिख अपने समय के प्रख्यात और सफल बैरिस्टर थे। रोरिख का घराना रूस के महान पीटर का वंशज था। अभिजात कुल के स्तरीय और ऐश्वर्यसम्पन्न वातावरण में निकोलाई का पालन पोषण हुआ।

किशोरावस्था में ही उनका रुझान कवितायें लिखने की ओर हुआ। इसी समय से वे चित्रकारी भी करने लगे थे। उनकी प्रथम कविता सन् १८८९ ई० में प्रकाशित हुई जबकि उनकी आयु मात्र १५ वर्ष की थी और २४ वर्ष की आयु में प्रथम चित्र प्रदर्शित हुआ—सन्देश वाहक। जिसने उन्हें चित्रकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। चित्रकार और काव्यकला को उन्होंने शौकिया तौर पर ही अपनाया था। अन्यथा उन्होंने तो अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में आरम्भ किया था।

सन् १८९८ में वे पुरातत्व के आचार्य नियुक्त हुए। यद्यपि वे मूलरूप में चित्रकार कवि थे फिर भी पुरातत्व के साथ उन्होंने विज्ञान का ही गम्भीर अध्ययन और अध्यापन किया था। इन क्षेत्रों में उनकी अपार रुचि रही। रूस के अध्यापकी जीवन अमेरिका के प्रवासकाल तथा भारत की

निवास अवधि में उन्होंने पुरातत्व और विज्ञान में गहन रुचि ली। अपने जीवन में वे भारत से सर्वाधिक प्रभावित रहे और अधिकांश विख्यात कृतियाँ यहीं की पृष्ठभूमि पर चित्रित की गयी हैं। भारतीय पृष्ठभूमि पर बनाये गये चित्रों में भी उनके वे चित्र सर्वाधिक विख्यात रहे हैं जो हिमालय की प्रेरणाओं से निसृत होकर निकोलाई के अन्तःकरण से हाथों और तुलिकाओं में होते हुए कैनवास पर उतरे हैं। इन चित्रों को देखकर पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी कह उठे थे—जब हम इन चित्रों की ओर देखते हैं जिनमें से अधिकांश हिमालय से सम्बद्ध हैं तो ऐसा लगता है कि हमने उन पर्वतों की आत्मा को पकड़ लिया है जो भारत के मैदानों पर मीनारों की तरह छाई हुई है और युग युगान्तर से हमारी प्रहरी है। हमारा इतिहास, हमारा चिन्तन, हमारी संस्कृति और हमारी आध्यात्मिक विरासत का वे इस कदर स्मरण कराते हैं कि उसका सम्बन्ध न केवल हमारे अतीत के साथ ही रहता है वरन् भारत में जो शाश्वत और नित्य है उससे भी जुड़ जाता है। तभी हमें लगता है कि हम रोरिख के कितने ऋणी हैं जिन्होंने इन चित्रों में अपनी आत्मा को उड़ेल दिया है।

अपनी कृति में अपनी आत्मा को अभिव्यक्त कर पाना उच्च कला साधना और उसकी गहन गहराइयों में बैठने की क्षमता से ही सम्भव है। इसकी उपलब्धि का श्रेय रोरिख ने हिमालय को दिया है और इसी कारण वे भारत भूमि को अपनी मातृभूमि की तरह प्यार करते रहे। निकोलाई रोरिख जो वस्तुतः विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व के उपासक हो गये अपनी कला साधना के बल पर, उसका श्रेय और प्रेरणा स्रोत भी हिमालय को ही माना जाता है। सन् १९७४ में जब उनकी जन्म शताब्दी मनायी जा रही थी तो एक विख्यात पत्रकार ने लिखा था—‘हिमालय में कितना जबरदस्त आकर्षण है, उसे कोई भुक्तभोगी ही जानता है। भारत में ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्हें हिमालय ने कभी अपनी ओर आकर्षित न किया हो। हिमालय केवल भारत के भूगोल और इतिहास का ही निर्माण नहीं करता बल्कि स्मरणातीत काल से वह भारत की अन्तरात्मा को भी जोड़ता है। हिमालय की इसी मोहिनी ने रूस में जन्मे, पले, यूरोप और अमरीका में प्रौढ़त्व को प्राप्त हुए आधुनिक बुद्धिजीवी और प्राचीन ऋषि को अपने व्यक्तित्व में समाहित करने वाले निकोलाई रोरिख को अपनी ओर आकर्षित किया। यह आकर्षण इतना जबरदस्त सिद्ध हुआ कि विश्व-शान्ति और विश्व भ्रातृत्व का यह उपासक अन्ततः हिमालय का ही होकर रह गया।

विश्व-बन्धुत्व का स्वप्न देखने वाले रोरिख अपने सपनों को यथार्थ के धरातल पर साकार करने में भी सफल हुए थे। जीवन भर उन्होंने अपना यह स्वप्न साकार करने के लिए अनथक प्रयत्न किये और उन्हीं के प्रयासों से ६० से भी अधिक देश इस बात के लिए तैयार हो गये कि संसार की सांस्कृतिक धरोहरों की सुरक्षा के लिए वे सभी

परस्पर सहयोग और सद्भावपूर्वक प्रयत्न करेंगे तथा एक दूसरे की संस्कृति, जीवन मूल्यों को समादर देंगे। यह समझौता एक सन्धि के रूप में किया गया था जिसे रोरिख-पैक्ट नाम दिया गया। एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के रूप में मान्य इस सन्धि की प्रथम परिकल्पना १९१४ में की गयी थी। १९३५ में अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने २१ देशों के प्रतिनिधियों से इस पर बातचीत की और बाद में ३६ देशों ने इस पर हस्ताक्षर किये। सातवें दशक के आते-आते तो साठ से भी अधिक देश रोरिख-पैक्ट को मान चुके थे।

निकोलाई रोरिख की धर्मपत्नी हेलेना भी उनके कार्यों में रुचि लेती थी। हेलेना के पिता एक सिद्धहस्त शिल्पकार थे और दर्शन तथा धर्म स्वयं हेलेना के प्रिय विषय थे। इन विषयों पर उन्होंने स्वयं भी लिखा तथा अपने पति को भी लिखने की प्रेरणा दी व सहयोग किया। धर्म और दर्शन तथा विविध विषयों पर रोरिख ने काफी लिखा। अब तक उनके आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उनका पूरा साहित्य ३० बड़े खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है।

बहुमुखी और बहुआयामी प्रतिभा के धनी निकोलस रोरिख ने विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रगति की वह सामान्य व्यक्ति के लिए दुर्लभ है। दुर्लभ इसलिए नहीं कि उन्हें कोई पा नहीं सकता वरन् इसलिए कही गयी है कि उसे पाने के लिए उस स्तर के प्रखर प्रयत्न करने का साहस बहुत कम लोग ही करते हैं। यदि उनकी सी निष्ठा और लगन से कोई व्यक्ति इन साधना समर में उतरे तो ऐसी सिद्धि प्राप्त करना कोई मुश्किल बात नहीं है। रोरिख जिस कार्य को भी हाथ में लेते उसे पूरी गम्भीरता और निष्ठा से पूरा करते थे। काम कितना ही बड़ा हो या कैसा ही छोटा उसे पूरा करने में वे इतने तन्मय हो जाया करते थे कि उन्हें अपने आसपास का कोई ध्यान नहीं रहता था। बड़े से बड़े कैनवास और छोटे से छोटे चित्र में भी उन्हें उसी प्रकार तन्मय और तल्लीन हुआ देखा गया। इसी का परिणाम है कि वे अपनी कला और अपने सृजन के माध्यम से विश्व को बहुत कुछ नया दे सके-ऐसी अनूठी देन जो शायद ही किसी और ने दी हो।

चित्रकला के विकास एवं प्रशिक्षण हेतु उन्होंने देश विदेशों में कई संस्थाओं को जन्म दिया। अमरीका में कला समन्वय की धारा के विकास हेतु उन्होंने 'यूनाइटेड आर्ट्स म्युजियम' के नाम से विभिन्न कला संस्थाओं का इन्स्टीट्यूट, शिकागो इन्टरनेशनल सोसायटी ऑफ आर्टिस्ट्स, इन्टरनेशनल आर्ट सेन्टर, भारत में हिमालय रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा उरुस्वती आदि विभिन्न संस्थाओं को जन्म दिया। इन सभी संस्थाओं का एक ही लक्ष्य था-विश्व शान्ति और सांस्कृतिक एकता।

प्रस्तुत लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने विभिन्न कोणों से विभिन्न कदम उठाये और औरों को भी प्रेरित किया। विश्व बन्धुत्व को लक्ष्य बनाकर चित्रकारिता के मार्ग से

आत्माभिव्यक्ति में निष्णात निकोलाई रोरिख ने चित्रकला को अनूठा योगदान दिया। उन्होंने अपने पूरे जीवनकाल में ७,००० से भी अधिक चित्र बनाये। जो विश्व की प्रत्येक वीथिका में गौरवपूर्ण स्थान पर स्थापित हैं। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं से लेकर, प्राकृतिक दृश्यों और रहस्यवादी कल्पनाओं तक सभी पृष्ठभूमियों पर जो रेखायें खींची और आकृतियाँ उभारी हैं वे संगीत की भाँति हृदय तक पहुँचती, फूल की भाँति मन को लुभाती और प्राण की भाँति जीवन को स्पन्दित करती हैं।

भारत प्रवास के दौरान उन्होंने हिमालय को भी विविधता, समग्रता और विशालता के साथ चित्रित किया। हिम पर्वत पर सूर्यास्त, सौभाग्य अश्व लद्दाख, हिमालय की महान आत्मा-उनकी महानतम कलाकृतियाँ हैं। एक समीक्षक ने उनकी कृतियों का अवलोकन कर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था-"उनके चित्रों में आनन्द की भारतीय परिकल्पना साकार हुई है। लोकोत्तर भी और अलौकिक भी। रंगों की बहुलता के बीच भी एक अद्भुत रहस्य की सृष्टि उनके चित्रों में है। जैसा कि शोखेन होयर ने कहा था हर कला लगातार संगीत की दिशा में प्रेरित होती है, उनके चित्रों में भी ऐसी लयबद्धता दिखाई देती है। हिमालय की महान आत्मा उनका एक ऐसा चित्र है जिसमें एक ओर से सारे गुण हैं साथ ही स्थापत्य का वैशिष्ट्य भी।"

उनका देहान्त सन् १९४५ में हुआ। पूरे विश्व में उन्होंने विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व के लिए जो प्रयास किये वे वस्तुतः किसी राजनेता की तुलना में कम नहीं अधिक ही थे। निकोलाई ने यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी व्यक्ति किसी एक ही क्षेत्र को पकड़े और उसी में आगे बढ़ सके यह कोई जरूरी नहीं है वरन् वह अपनी गतिविधियों और क्रियाकलापों को बहुमुखी बनाकर उन सभी क्षेत्रों में असाधारण प्रगति कर दिखा सकता है। वे प्रभावशाली वक्ता थे और उनकी वक्तृता लोग मन्त्र मुग्ध होकर सुनते थे यह सच है। परन्तु यह भी सच है कि उन्होंने यह तथ्य वाणी या लेखनी से नहीं अपने जीवन और व्यक्तित्व से प्रतिपादित किया। जिसे अपनाकर कई जन प्रगति पथ पर बढ़े हैं, बढ़ रहे हैं और बढ़ते रहेंगे। काश ! हम भी इस तथ्य को सुन-समझ और अंगीकार कर सकें।

चैकोस्लोवाकिया के गान्धी-

मैसरिक

उन दिनों आस्ट्रिया और इटली में युद्ध चल रहा था। दोनों ओर की सेनाएँ मार्गवती गाँवों में लूटमार मचाती हुई आगे बढ़ रही थीं। गाँववासी लोग अपने घर छोड़कर भाग रहे थे। जहाँ मालूम हो जाता कि सेना पास आ गयी है तो वे भाग जाते परन्तु जिस गाँव में समाचार पहुँचने के पहले ही सैनिक पहुँच जाते उन लोगों के सामने चुपचाप

अत्याचार सहने के अलावा क्या चारा था। ऐसे ही एक गाँव में सुना गया कि सेना मुश्किल से मील दो मील दूर है। सब लोग घबरा गये। गाँव की चौपाल पर एकत्रित होकर इस उत्पीड़न से बचने के लिए सलाह-मशविरा होने लगा। किसी ने कोई मार्ग सुझाया किसी ने कोई।

एक लड़के ने उठकर कहा मैं गाँव वालों को बचा सकता हूँ। लोगों ने पूछा-‘कैसे’ गाँव में प्रवेश के सबसे पहले वाले मकान पर लिख दिया जाय कि इस गाँव में हैजा फैल रहा है। बात सबकी समझ में आयी। परन्तु फिर भी जो लोग भाग सकते थे वे गाँव छोड़कर चले गये।

सेनाएँ जब इस गाँव के पास पहुँची तो प्रवेश द्वार के पहले मकान पर लिखा देखा-इस गाँव में भीषण हैजा फैल रहा है और वह चुपचाप गाँव को छोड़ती हुई चली गई। बाद में इस नवयुवक की बड़ी प्रशंसा हुई और सेना के मुख बन जाने पर खूब हँसे भी सही।

आस्ट्रिया में उन दिनों दास प्रथा का बोलबाला था यह नवयुवक एक ऐसे ही दास दम्पति का बेटा था जो आगे चलकर स्वतन्त्र चैकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपिता और प्रथम राष्ट्रपति मैसरिक बनकर विख्यात हुआ। माता-पिता गाड़ीवान थे। दरिद्रता के कटु अनुभवों को सहते हुए बालक असाधारण रूप से जिज्ञासु वृत्ति का था। पिता ने अपने इस बालक को पढ़ाने के लिए बड़ी कोशिशें कीं। अपने स्वामियों की लाख मिन्नत कर इसे स्कूल में भर्ती करवाया। घर में गरीबी इतनी कि सदी के दिनों में भी माँ-बाप और बेटे को पर्याप्त कपड़े नहीं मिल पाते। पिता की फटी पुरानी पोशाक को काट-छाँटकर माँ-बेटे के लिए कपड़े तैयार करती। धनी पुत्रों की पुरानी गरम पोशाक भी कोई दया दृष्टि से दे देता तो ठीक अन्यथा इसी दैन्य-स्थिति में जीवन की गाड़ी लुढ़कती रहती।

पिता ने अपने मालिक से याचना कर उसे स्कूल में तो भर्ती करवाया परन्तु शिक्षा ज्यादा देर तक नहीं चल सकी। गाँव के ही लोहार कारखाने में मैसरिक ने लोहा पीटने की नौकरी कर ली और कुछ दिनों बाद फिर पढ़ने लगा। शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उसी गाँव के एक स्कूल में मास्टरी का काम मिल गया और वहाँ उसे अपनी ज्ञान पिपासा शान्त करने का अच्छा सुयोग मिला। दर्शन, इतिहास और साहित्य मैसरिक के प्रिय विषय थे। इस प्रकार के अध्ययन में स्वाधीन देशों की जीवन प्रणाली, रीति रिवाज और शासन तन्त्र का ज्ञान हुआ। इसके लिए उन्होंने अरबी भाषा भी सीखी और विदेशों के प्रति उनमें गहन जिज्ञासा जागी। मैसरिक ने विदेश में राजदूत बनने का सपना देखा। परन्तु उन जैसे साधनहीन व्यक्ति के लिए यह सपना निरा सपना ही लगता था। वे अपनी स्थिति और सामर्थ्य से अनभिज्ञ नहीं थे इसलिए उन्हें निराश ही रहना पड़ा। अध्ययन और मुक्त आकाश के तले दूर तक फैली हुई हरियाली को निहारते रहकर चिन्तन करते रहना ही उनकी जीवनचर्या बन गयी थी।

इसी चिन्तन प्रक्रिया के दौर में वे साहित्य सृजन की ओर झुके और लिखने लगे। मृत्यु के विषय पर उनकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई और वे अपना भाग्य आजमाने के लिए वियेना से लिपजिग चले आये थे। मैसरिक ने सोचा था कि उनकी विद्वता के कारण लिपजिग विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद मिल जायगा परन्तु उन्हें निराश ही रह जाना पड़ा और वे फिर दर्शन शास्त्र के अध्ययन में जुट गये।

यही उनका परिचय एक अमेरिकन किशोरी से हुआ जो प्रेम में परिणत होकर दाम्पत्य सूत्रों में बँध गया। दोनों सच्चे साथी सिद्ध हुए। मैसरिक ने अपनी पत्नी के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि-मेरे जीवन विकास में मेरी पत्नी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अन्धकारपूर्ण निराशा से भरे क्षणों में उसके मधुर सम्पर्क और उत्साहवर्धक प्रेरणाओं से मुझे बड़ा बल मिला है। मैसरिक लिपजिग से प्राग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बनकर आये। प्राग उन दिनों सांस्कृतिक और राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र था। चेक जाति की स्वतन्त्रता और संस्कृति के रक्षण की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने चेक जाति को मुक्त बनाने के लिए क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चलाने का निश्चय किया और प्राग से ही एक समाचार पत्र प्रकाशित करने लगे।

साठ वर्ष की उम्र तक पहुँचने पर उन्होंने अपने अभियान को अधिक तीव्र बनाना शुरू किया। १९०८ में आस्ट्रिया ने बलगारिया को जीत लिया था और वहाँ के मूर्धन्य नेताओं को राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया था। इसी घटना से मैसरिक के हृदय में विद्रोह की चिंगारी भड़क उठी। सन् १९१४ में यूरोप का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ उस समय मैसरिक की आयु ६५ वर्ष हो चुकी थी। यद्यपि इस आयु में सभी लोग शान्त जीवन की कामना करते हैं परन्तु उन्होंने अपने शरीर और मन को पहले से भी अधिक सशक्त मानकर मुक्ति संग्राम की वहि शिखा जला दी। आस्ट्रिया के उद्धत साम्राज्य का अन्त करने के लिए उन्होंने विप्लवी मार्ग को ही उचित माना और उन्होंने अपने साथियों को एकत्र कर एक गुप्त योजना भी बना ली। इस योजना के बारे में उन्होंने अपनी पत्नी को भी कुछ नहीं बताया।

नवम्बर, १९१४ में मैसरिक इटली जाने वाली ट्रेन पर सवार हो गए। सीमा पार करने के लिए पासपोर्ट था नहीं। वे अपना क्रान्ति-चक्र चलाने के लिए इटली जा रहे थे। कानून की आँखों में किसी प्रकार धूल झाँककर वे इटली पहुँच गए। रोम पहुँचकर उनका सम्बन्ध कई विप्लववादियों से हुआ और आस्ट्रिया के अत्याचारी राजतन्त्र का अन्त करने के लिए उन्होंने षड्यन्त्र का ताना-बाना बुन लिया।

विप्लव के लिए सैन्य दल का गठन आवश्यक था। मैसरिक समर-नीति से अनभिज्ञ थे फिर भी उन्होंने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया। आस्ट्रिया से रूस भागकर आये

चेक-नागरिकों को उन्होंने एक स्वयंसेवक दल बनाया और उन्हें सैन्य प्रशिक्षण दिया गया। इन्हीं दिनों रूस में जाराशाही का पतन हो गया था। इससे यह काम और भी सुलभ हो गया। दर्शनशास्त्र के अध्यापक का सैन्य दल के अधिनायक बनने की कहानी कम आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु पैंसठ साल की बुद्धावस्था में भी मैसरिक ने अदम्य उत्साह और साहस के बल पर दार्शनिक से कुशल सेनापति बनकर दिखा दिया।

सन् १९१८ में वे साइबेरिया होते हुए अमेरिका गये और राष्ट्रपति बुड्रो विल्सन से भेंट की। विल्सन को जब उनकी गतिविधियों और सैनिक संगठन का पता चला था तो आस्ट्रिया के विभाजन से वे सहमत हो गए। मैसरिक का स्वप्न साकार हुआ। तीन सौ वर्षों की दुःसह पराधीनता के बाद चेक जनता ने राहत की साँस ली। स्वाधीन प्रजातन्त्र राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति उन्हें ही घोषित किया गया।

परन्तु अभी संघर्ष की शुरुआत ही हुई थी। मैसरिक यद्यपि राष्ट्रपति घोषित कर दिये गये थे फिर भी आस्ट्रिया साम्राज्यवाद से संघर्ष की घड़ी तो अब आयी थी। आस्ट्रिया के शासकों ने उनकी पत्नी को गिरफ्तार कर लिया, जेल में ही तड़प-तड़प कर एक पुत्र मर गया और एक को बाध्य होकर आस्ट्रियन सैनिक बन जाना पड़ा।

अन्ततः साम्राज्यशाही को प्रजातन्त्र के आगे घुटने टेकने पड़े और प्राग के जिस दुर्ग में सम्राट का सिंहासन था, उसी पर राष्ट्रपति मैसरिक का अभिषेक किया गया। राष्ट्रपति निर्वाचित होकर भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे तथा सत्तर वर्ष की आयु तक वैसा ही कठिन श्रम करते रहे। राष्ट्रपति होते हुए भी उन्होंने सामान्य स्तर का सादा जीवन जिया। एक साधारण से मकान में निवास, सामान्य सा निर्वाह वेतन। उन्होंने राष्ट्राध्यक्ष की निर्वाह परम्परा डाली जो सभी देशों के आदर्श के लिए अनुकरणीय है। इसी कारण वे अमर हैं। चैकोस्लोवाकिया के गान्धी कहे जाते हैं।

हजारों की प्राण रक्षा करने वाले—

डॉ० आटमर कोहलर

जर्मन सेना की साठवीं मोटराइज्ड डिवीजन का कप्तान आटमर कोहलर १ जनवरी, १८५४ को रशियन कैद से मुक्त हो स्वदेश लौट आया। इस प्रकार ग्यारह वर्ष की यन्त्रणा, अभाव, निरासक्ति और मानवीय कुशाग्र बुद्धि की मिली-जुली कहानी का अन्त हुआ। यह कहानी चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अनूठी मानी गई है।

रूस के भयावह बन्दी शिविरों में डाक्टर कोहलर ने बिना किसी बेहोशी की दवा के और शल्य चिकित्सा के उपकरणों के पुराने रेजर, ब्लेडों से हाथ-पैर व शरीर के अन्य अंगों के छोटे-बड़े हजारों ऑपरेशन किये। घावों व

चीरों को सीनों के लिए उपयुक्त धागे के अभाव में उन्होंने मोची के धागे से काम लिया। इस प्रकार उन्होंने इस ग्यारह वर्ष के बन्दी काल में २०,००० से भी अधिक लोगों को रोग मुक्त किया तथा हजारों लोगों के ऑपरेशन किये। दवा, चिकित्सा, उपकरण, बेहोशी की दवा तथा पट्टियों आदि की जो स्थानापन्न वस्तुएँ उनके पास थीं वे थीं मानवीय सम्वेदना, तीव्र बुद्धि और ईश्वर में अगाध निष्ठा।

डॉक्टर कोहलर सन् १९०८ में जर्मन के कोलोन नगर में जन्मे। उनके पैदा होने के कुछ ही महीने पहले उनके पिता जो व्यवसाय से डॉक्टर थे, उनके सहित चार अल्प व्यस्क बच्चों का भार उनकी माँ के कमजोर कन्धों पर छोड़कर परलोकवासी हो गये। इस प्रकार डॉक्टरी और अभाव उन्हें पैतृक सम्पदा के रूप में मिले थे। साधन-सुविधाओं और सम्पन्नता के नन्दनवन में तो हर कोई अपने व्यक्तित्व के पुष्प को सहज ही खिला सकता है किन्तु जो गरीबी और अभावों के बीहड़ वन प्रान्तर में अपने व्यक्तित्व के पादप को पल्लवित-पुष्पित करता है—अपनी सौरभ से उस प्रदेश को भरता है जहाँ उसकी आवश्यकता है, वह प्रशंसनीय होता है।

बालक कोहलर अपने स्वयं के परिश्रम तथा पुरुषार्थ के सहारे डॉक्टर बने। वह विश्वविद्यालय में नौकरी भी करते और पढ़ते भी। उन्होंने रोस्तोक, वियेना तथा कोलोन में अपनी शिक्षा पूरी की। सन् १९३४ में उन्होंने अपना निजी चिकित्सालय खोला। पाँच वर्ष बाद उन्हें जर्मन सेना में आठ सप्ताह के सैनिक सर्जन का पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए बुलाया गया ताकि जब कभी अवसर आ जाये तो वे युद्ध पीड़ितों की सेवा कर सकें। यह आठ सप्ताह का प्रशिक्षण पन्द्रह वर्ष तक लम्बा खिंच गया।

१९४२ में वे रशियन सीमा से सिर के भारी घाव को ठीक करने के लिए छुट्टी पर घर लौटे। स्वास्थ्य लाभ होते ही पुनः अपने काम पर जाने लगे। मित्रों-परिजनों ने उन्हें छुट्टियाँ बढ़ाने का आग्रह किया। किन्तु वे रुके नहीं वे जानते थे कि सीमा पर डॉक्टरों की बड़ी आवश्यकता है। अपनी छह वर्ष की बच्ची उथ और पत्नी एरीना को छोड़कर वे सीमा पर लड़ने वाले घायल सिपाहियों की सेवा करने के लिए चल पड़े। इस जुदाई के बाद वे वापस लौटे तब उनकी पुत्री सत्रह वर्ष की हो चुकी थी।

डॉ० कोहलर गम्भीर प्रकृति के धर्म प्राण व्यक्ति थे। युद्ध से उन्हें बड़ी घृणा थी। युद्ध को रोक सकना उनके बस की बात नहीं थी। युद्ध भले ही नहीं रोका जा सके युद्ध से होने वाली जन-हानि को बहुत कुछ अंशों में वे रोक सकते थे। इसी मानवीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए वे सीमा पर आये। उन्हें रशिया और जर्मनी की संकीर्णता से मतलब नहीं था। बमबारी से ध्वस्त एक मकान में वे अपना अस्पताल चलाते थे। एक दिन रूसी सैनिकों को उनके अस्पताल का पता चल गया। उन्होंने डॉक्टर कोहलर को बन्दी बना लिया और अपने साथ ले गये।

शून्य से भी कम तापमान वाले प्रदेश में दो दिन तक वे रशियन सैनिकों तथा अन्य युद्ध बन्दियों के साथ भूखे प्यासे चलते रहे। तदनन्तर उन्हें दुबोवको के अस्थायी बन्दीगृह में रखा गया। यह बन्दी गृह बिना छत का एक गिरजाघर था। जिसमें कोई खिड़की नहीं थी। इसमें बकरी की तरह २५०० आदमियों को दूँस रखा था। टाइफाइड, अतिसार, पैर के फोड़े तथा ठण्ड से पीड़ित सौ से भी अधिक व्यक्ति प्रतिदिन मर जाते थे। किन्तु उतने ही बन्दी फिर उनका खाली स्थान भरने के लिए आ जाते थे।

अनिश्चित भविष्य, अस्वास्थ्यकर वातावरण तथा अपर्याप्त भोजन ने लोगों के धैर्य को समाप्त कर दिया था। वे निराश हो चुके थे। उनके पास ऐसा कोई सम्बल नहीं था जिसके सहारे वे जी सकें। डा० कोहलर जानते थे कि धर्म और ईश्वर ये दो शक्तियाँ ही मनुष्य के खोये हुए विश्वास को लौटाती हैं। इनको धारण करने वाला मनुष्य हर परिस्थिति में प्रसन्न रह सकता है। उन्होंने इन निराश लोगों में मनुष्य के प्रति, ईश्वर के प्रति पुनः विश्वास उत्पन्न किया। वे सब मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करते। इस प्रार्थना से उन्हें अपूर्व शान्ति मिलती। वे बाइबिल को सदा अपने पास रखते थे। बारी-बारी से सब लोग उसका पाठ करते।

इस बन्दीगृह में उन्होंने चिकित्सा अभियान आरम्भ किया। शल्य चिकित्सा के उपकरणों के रूप में उन्हें दो तीन पुराने रेजर, ब्लेड तथा एक टूटी-फूटी कैंची मिली जिसे पत्थर पर घिसकर तेज किया गया। दवाइयों के नाम पर 'फर्स्ट एड किट' ही उनके पास था। मृतकों के शरीर से उतारे हुए कपड़ों को उबालकर, फाड़कर उनकी पट्टियाँ बनायी गईं। बेहोशी की दवा के अभाव में पुरानी लकड़ी के शिकंजे की पद्धति अपनायी गई। औजारों को उबालने के लिये भोजनालय का एक टिन काम में लिया गया।

इतने ही उपकरणों व औषधियों से उनका अस्पताल चल पड़ा। इनसे उन्होंने छोटे से छोटे व बड़े से बड़े ऑपरेशन किये। एक व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी का जटिल ऑपरेशन इन्हीं साधनों से सम्पन्न किया गया जो सफल हुआ। एक व्यक्ति की टाँग का ऑपरेशन किया गया तो उसे २० डिग्री फारनहाइट के ठण्डे तापमान में भी पसीना आ गया। क्योंकि बेहोशी की दवा थी नहीं और उसे टेबल से बाँधकर ऑपरेशन किया गया था।

छह महीने के बाद उन्हें वह बन्दी शिविर छोड़कर दूसरे शिविर में ले जाया गया। इस शिविर में ५००० जर्मन ऑफीसर बन्दी थे। इन बन्दियों को जंगल में जाकर लकड़ी काटने का कठोर श्रम करना पड़ता था। वे जब जंगल से लौटते थे तो बड़ी बुरी तरह थके व भूखे होते थे। डा० कोहलर ने बहुत कमजोर व्यक्तियों के पाँवों की मालिश करने के लिए एक स्वयं सेवक दल का गठन किया।

रोग से यह शिविर भी मुक्त नहीं था। वे अपने पुराने उपकरण वहीं भूल आये थे। यहाँ उनके सामने फिर वही समस्या आयी। यहाँ फिर उन्हें नये उपकरण बनाने पड़े। अन्य बन्दियों के सहयोग से उन्होंने आध्यात्मस्कोप बनाया। सीमेंट से वे प्लास्टर का काम लेते थे।

इस प्रकार उन्हें एक-एक करके तेरह कैम्प बदलने पड़े सब में यही हाल था। चिकित्सा की कोई सुविधाएँ इन बन्दियों को उपलब्ध नहीं थीं। हर स्थान पर उन्हें नये उपकरण बनाने पड़े। इस ग्यारह वर्ष के बन्दी जीवन में एक भी दिन उन्हें हताश, उदास व मासूम बने किसी ने नहीं देखा। दूसरों की सेवा के बाद उन्हें समय ही नहीं बचता कि वे अन्य बात सोचते। वह बन्दी जीवन उनके लिए एक अभिनव प्रयोग व आत्मतृप्ति का पाथेय बन गया था।

एक कैम्प में मलेरिया बड़ी तेजी से फैल रहा था। हजार में से पन्द्रह व्यक्तियों को ही रशियन अफसर बीमारों की सूची में लेते थे। शेष को बिना किसी चिकित्सा सुविधा के प्वर का प्रकोप सहना पड़ता था। औषधियों के अभाव में वह पुरानी पद्धति की सुलभ औषधियों से मलेरिया की चिकित्सा करते रहे। जर्मन व रूसी का भेदभाव किये वे रूसी गाड़ों की भी चिकित्सा करते थे। बाद में उन्होंने भी सहयोग देना आरम्भ कर दिया, जिससे उनका काम क़फी आसान हो गया।

सबसे कठिन ऑपरेशन उन्होंने स्लोनी में एक बन्दी का किया। जिसका सिर व हाथ एक पेड़ के गिर जाने से बुरी तरह कुचल गये थे। रूसी सैनिकों ने उसे मरने के लिए अकेला छोड़ देने का आदेश दिया किन्तु कोहलर माने नहीं उन्होंने अपने हाथ के बने चाकू से उसकी खोपड़ी को उधेड़ा तथा सुथारी के काम में आने वाली रुखानी से उसकी खोपड़ी में छेद करके उसमें घुसे हड्डियों के टुकड़ों को निकालकर दर्जों के काम आने वाले धागे से पुनः चमड़ी के टाँके लगाये। हाथों का भी ऑपरेशन किया। पन्द्रह दिन तक वह अचेत रहा। उसके बाद उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधरने लगा और कुछ ही महीनों में वह पूरी तरह ठीक हो गया।

सन् १९४८ में बड़े दिनों के आस-पास एक रूसी सैनिक उसके पास आया। उसकी पत्नी चार दिन से प्रसव वेदना सह रही थी। यदि वह थोड़ी देर बाद आता तो प्रसूता तथा बालक दोनों की मृत्यु निश्चित थी। स्थिति बहुत गम्भीर थी। डाक्टर कोहलर के प्रयास से प्रसव ठीक प्रकार हो गया तथा दोनों की जान बच गयी। उस रूसी सैनिक ने डा० कोहलर से पूछा—“हम तुम्हें बन्दी बनाए हुए हैं। तुम्हारे साथ शत्रु का सा व्यवहार करते हैं फिर तुमने मेरी पत्नी के प्राण क्यों बचाये?”

“क्योंकि तुम्हारी पत्नी भी मनुष्य है। मनुष्य ही मनुष्य की सहायता नहीं करेगा तो और कौन करेगा?” सच है जीवन की इस सच्चाई को जिसने आत्मसात कर लिया हो उसके लिए यह धरा स्वर्ग बन जाती है और हर मनुष्य उसका परिजन।

यह समाचार सुनकर कई रूसी भी उनके पास चिकित्सा कराने आने लगे। अपने बन्दी जीवन में उन्होंने ३००० से भी अधिक रूसियों की चिकित्सा की थी।

औषधियों की कमी को उन्होंने आदिम औषधियों का प्रयोग करके पूरा किया। अतिसार की औषधि के रूप में उन्होंने जानवरों की हड्डियों के कोयले का चूर्ण काम में लिया। एक अन्य रोग में ओक की पत्तियों का काढ़ा काम में लिया गया। इस प्रकार कई जड़ी-बूटियों का प्रयोग भी वे करते रहे।

१९४९ में १,३०० बन्दियों को छोड़ दिया गया। उन्हें जर्मनी भेज दिया गया। किन्तु कोहलर को नहीं छोड़ा गया। उन पर अभियोग चलाया गया। न्यायालय ने उन्हें दस वर्ष का सश्रम कारावास दिया। इस काल में भी उन्होंने रूसी अस्पतालों में चिकित्सा सेवाएँ दी। स्टालिन-ग्राड के एक अस्पताल में वे मानवता की सेवा करते रहे।

दिसम्बर, १९५३ में रूसी सरकार ने उन्हें जर्मनी सरकार से किए समझौते के अनुसार अपने देश भेज दिया। मानवता की अनुपम सेवा करने तथा युद्ध बन्दियों का आत्मविश्वास बनाए रखने के कारण उनका पश्चिमी जर्मनी में भव्य स्वागत किया गया। उन्हें ग्रेट क्रास प्रदान किया गया। तीन दिन में ही उनके पास दो हजार से अधिक अभिनन्दन पत्र आये जिनके भेजने वाले व्यक्ति उनके युद्ध बन्दी काल के मरीज थे। सभी ने एक ही कहानी दोहरायी थी "आपने हमारी प्राण रक्षा की है।"

पश्चिमी जर्मनी सरकार ने उन्हें कोलोन-मरियम म्युनिसिपल मेडीकल सेन्टर में मुख्य सर्जन का पद दिया। दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा से भी अधिक समझने का जीवन दर्शन अपनाकर उन्हें जो श्रद्धा व सम्मान मिला है वह लोभ-मोह की संकीर्णता अपनाने वालों को भला कहाँ नसीब होता है ?

काँग्रेस के जन्मदाता—

सर ऐलेन ह्यूम

आज के युवकों को यदि यह बताया जाय कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्मदाता एक अँग्रेज आई० सी० एस० अधिकारी थे, तो वे सहसा इस पर विश्वास नहीं करेंगे। यह बात उनके गले नहीं उतर पाती कि एक अँग्रेज अधिकारी भारत में अँग्रेजी राज्य की समाप्ति की प्रेरणा लोगों का दे सकता है। पर सत्य है, उतना ही यह सत्य है, जितनी कि हमारी आज की स्वतन्त्रता। यह अँग्रेज व्यक्ति ऐलेन ओटेवियम ह्यूम थे जो ब्रिटिश सरकार के उच्चाधिकारी रह चुके थे। वे निर्भीक भद्र पुरुष थे और उस महान व्यक्तित्व परम देशभक्त व समाज-सुधारक जोसेफ ह्यूम के सुपुत्र थे। भारत के साथ सहानुभूति और प्रजातंत्र में दृढ़ विश्वास उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला था।

आज ८५ वर्ष पूर्व जब अँग्रेजी शासन हमारे देश में दृढ़तापूर्वक जमा हुआ था, वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं, जिनसे प्रेरित होकर इस अँग्रेज अधिकारी ने भारतीयों को स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित किया, उन्हें उत्साहित किया, तैयार किया, सहयोग दिया और सर्वस्व न्यौछावर किया ? सर ह्यूम ने एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने भारतीय काँग्रेस की स्थापना की और भारत को अँग्रेजों से मुक्ति दिलाने का बीड़ा उठाया। आज देश के उलझे हुए वातावरण और काँग्रेस पार्टी की आन्तरिक फूट को देखते हुए इस बात का खास महत्व है।

ऐलेन ह्यूम का जन्म सन् १८२९ में हुआ। ये अपनी युवावस्था में अपने समकालीन अँग्रेज समाज सुधारकों से बहुत प्रभावित हुए थे। इन नेताओं के आन्दोलन का मुख्य ध्येय जनता के लिए आजादी की, रोटी की पुकार, अपने अधिकार की माँग था। इस आन्दोलन का ह्यूम के युवा-हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

२० वर्ष की अवस्था में उन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार की सेवा में आना पसंद किया। अपने इस निश्चय में वे अपने पिता से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे, जिन्होंने भारत में रहकर ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय रियासतों के राजे-महाराजों, नबावों के बीच अनेक महत्वपूर्ण समझौते कराने में असाधारण योग्यता, विवेक और अद्भुत दूरदर्शिता एवं प्रतिभा का परिचय दिया था।

भारत में ह्यूम की प्रथम नियुक्ति सन् १८४९ में बंगाल के उच्च अधिकारी के रूप में हुई थी। आरम्भ से ही उन्होंने भारतवासियों की भावनाओं को समझने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में गहरी रुचि प्रदर्शित की थी। इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में डिप्टी कलेक्टर की नियुक्ति के दौरान भी देश में शिक्षा प्रसार के लिए उन्होंने कई सराहनीय कार्य किये। इन्हीं के प्रयत्नों से जनवरी १८५७ तक इटावा जिलों में लगभग १८१ निशुल्क प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना हो चुकी थी। इन्हीं के अथक परिश्रम और लगन से इटावा में प्रथम मेडीकल कॉलेज खोला गया।

सन् १८५९ में ह्यूम ने एक भारतीय मित्र के सहयोग से एक समाचार पत्र 'दि पिपुल्स फ्रेंड' आरम्भ किया, जो बड़ा लोकप्रिय हुआ और देश के कोने-कोने में इसका प्रचार हुआ।

सर ह्यूम एक कुशल प्रशासक थे। अपनी सरकार के प्रति पूरी कर्तव्यनिष्ठा के साथ-साथ भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार बड़ा स्नेहपूर्ण और उदारता का रहा। अपने कार्यकाल के दौरान कुछ वर्षों तक वे कस्टम कमिश्नर भी रहे और सन् १८७० में भारत-सरकार के सचिव के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। भारत के ग्रामीण जीवन और कृषि की अवस्था की उन्हें विशेष जानकारी थी। अतः वाइसराय लार्ड मेयो ने भारत के ग्रामीण सुधार का सारा कार्य भार उन्हें सौंपा। ह्यूम इस कार्य में जी-जान से जुटे थे और चाहते थे कि भारत के कृषि सुधार के कार्य

के लिए एक रचनात्मक योजना तैयार की जाए परन्तु अंग्रेज उच्चाधिकारियों ने एक ऐसा षड्यन्त्र इनके विरुद्ध रचा कि उन्हें नौकरी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

उन्होंने इस घोर अन्याय को चुपचाप सहन कर लिया पर इससे उनके हृदय को बड़ी ठेस लगी। इस विपत्ति में एक प्रकार का आत्मदर्शन हुआ। उन्हें यह साफ महसूस हुआ कि ब्रिटिश शासन जनता के हित में नहीं। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो चला कि भारत के लोगों की जो निरन्तर दुर्दशा हो रही है, इसकी रोकथाम के लिए कोई ठोस कदम उठाने होंगे।

विदेशी राज्य के उस काल में अंग्रेजों शासकों और भारतीय जनता के बीच ऐसी कोई कड़ी नहीं थी और न कोई ऐसे संवैधानिक उपाय थे, जिनके द्वारा भारत की निरीह जनता के दुःखों, कष्टों, भावनाओं आदि का सरकार को पता चल सकता। ह्यूम इस विचारधारा के थे कि भारत में अंग्रेजी शासन चलाने तथा सरकार द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीयों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

पर कोई काम आरम्भ करने से पूर्व ह्यूम ने उचित समझा कि क्यों न पहले तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड डफरिन से परामर्श कर लिया जाए क्योंकि स्वयं वायसराय भी लोगों की वास्तविक भावनाओं को समझने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। वे भी इस मत के थे कि कोई ऐसी जिम्मेदार संस्था भारत में होनी चाहिए, जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानियों की सही भावनाओं का पता चलता रहे।

उन दिनों कोई भारतीय राजनैतिक संस्था विद्यमान न हो, ऐसा नहीं था। बंगाल में सन् १८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इन्डियन एसोसियेशन की स्थापना कर चुके थे तथा मद्रास में महाजन सभा का भी जन्म हो चुका था। दोनों संस्थाएँ देश में राष्ट्रीयता का बीज बोने का सफल कार्य कर रही थीं पर ह्यूम एक ऐसे केन्द्रीय संगठित आन्दोलन का सूत्रपात करना चाहते थे, जो राष्ट्रीय इकाइयों को एक सूत्र में पिरो दे।

इस लक्ष्यपूर्ति के लिए वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के कार्य में जुट गये। ह्यूम की इस संकल्पित संस्था का उद्देश्य था—“भारत का एक राष्ट्र के रूप में आध्यात्मिक, चारित्रिक, सामाजिक और राजनैतिक पुनरुत्थान और पुनरुद्धार।”

इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया बड़ी सबल हुई। देश भर में इसका स्वागत हुआ। भारत के प्रत्येक भाग से राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत व्यक्ति इस आन्दोलन को सहयोग देने आगे आए। ह्यूम ने इनके सहयोग से प्रथम भारतीय राष्ट्रीय यूनियन की स्थापना की। बाद में यह यूनियन केन्द्रीय आन्दोलन की प्रेरणा स्रोत बनी। इसके साथ ही कराँची, अहमदाबाद, सूरत, बम्बई, पूना, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा और लाहौर में स्थापित की गई। इनकी गतिविधियों को केन्द्रित करने के

लिए पूना में इस यूनियन की एक परिषद का आयोजन भी किया गया। वे सब कार्य बड़ी तेजी से सम्पन्न हुए।

देश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह जानना बड़ा दिलचस्प प्रतीत होता है कि इस यूनियन का सदस्य होने के लिए जो पाँच योग्यतायें अनिवार्य रखी गई थीं। वे इस प्रकार हैं:-

(१) सार्वजनिक रूप से निष्कलंक चरित्र।

(२) भारत के लोगों के आर्थिक, शारीरिक, चारित्रिक, मानसिक तथा राजनीतिक स्तर के उत्थान की प्रबल इच्छा और सच्ची भावना से ओत-प्रोत होना।

(३) बौद्धिक शक्ति और विस्तृत दृष्टिकोण, तर्क-वितर्क की जन्मजात प्रतिभा व शिक्षा ग्रहण द्वारा मानसिक संतुलन बनाए रखने की क्षमता।

(४) जनता के हित में स्वयं के हित को बलिदान करने को तत्पर होना।

(५) स्वाधीन एवं स्वतन्त्र विचार तथा अपने निर्णय में निष्पक्ष होना।

अपने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए ह्यूम इंग्लैण्ड भी गए और वहाँ वे अनेक प्रमुख नेताओं, समाचार-पत्रों के सम्पादकों आदि से मिले और उन्हें अपने मिशन का उद्देश्य समझाया। उन्हें इन सबसे पर्याप्त सहानुभूति मिली। इस सफलता से प्रसन्न हो, इंग्लैण्ड से जब वे लौटे पूना में दिसम्बर, १८८५ में यूनियन के प्रथम अधिवेशन की तैयारियाँ हो चुकी थीं। इस बीच यह निर्णय किया गया कि यूनियन को ‘भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस’ नाम दिया जाए, क्योंकि यह संस्था अब राष्ट्रीय महत्व का रूप धारण कर चुकी है और देश के कोने-कोने से इसे समर्थन मिलने लगा है।

पर यूनियन का यह अधिवेशन पूना में न हो सका क्योंकि पूना में उन्हीं दिनों अकस्मात प्लेग की बीमारी फूट पड़ी। इसलिए अधिवेशन का स्थान पूना से बदलकर बम्बई में रखा गया। इस प्रकार २७ दिसम्बर, १८८५ को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सर्वप्रथम अधिवेशन का श्रेय बम्बई को मिला। कांग्रेस के आरम्भिक दिनों में ब्रिटिश अधिकारी इस संस्था की उपेक्षा करते रहे पर जब यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो उनके कान खड़े हुए और इसके प्रति उनके व्यवहार में कठोरता आने लगी। अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने यहाँ तक राय प्रकट की कि कांग्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया जाए और ह्यूम को भारत से निर्वासित कर दिया जाए। फलतः उन्हें भारत छोड़ने को विवश होना पड़ा।

भारत में ब्रिटिश सरकार के प्रतिरोध को खत्म करने के लिए ह्यूम ने इंग्लैण्ड में भारतीयों के अधिकारों के बारे में प्रचार का एक सशक्त कार्यक्रम तैयार किया। १८८६ में इंग्लैण्ड में एक संस्था की स्थापना की गई, जो भारतीयों की भावनाओं को इंग्लैण्ड के लोगों तक पहुँचा सके। दादा भाई नौरोजी जो उन दिनों इंग्लैण्ड में थे, ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रथम भारतीय प्रतिनिधि नियुक्त

हुए। बाद में सर विलियम बेडरवर्न और ब्राडला ने भी सहयोग दिया।

ह्यूम १८९२ में इंग्लैण्ड लौटे। वहाँ वे कुछ वर्ष रहे। वृद्धावस्था और निरन्तर गिरते स्वास्थ्य के बावजूद भारत के हितों के लिए वे अन्त तक ब्रिटिश सरकार से जुड़ते रहे। अनेक कठिनाइयों का उन्हें सामना करना पड़ा फिर भी वे कांग्रेस को सुदृढ़ बनाने और इस देश में राष्ट्रीयता जगाने के लिए अहर्निश लगन से काम करते रहे। इंग्लैण्ड से वे भारत लौटना चाहते थे। पर वे अकस्मात् बीमार पड़ गये और ८४ वर्ष की आयु में ३१ जुलाई, १९१२ को उनका देहान्त हो गया।

मानवीय समता का प्रतिष्ठापक-

कार्ल मार्क्स

सन् १८४८ का वर्ष योरोप के निरंकुश शासकों के लिये बड़ा अमंगलकारी था। जन क्रांति की ज्वाला एक बड़े देश से दूसरे में फैलती जाती थी और एकाधिकार के बड़े-बड़े दुर्ग धराशायी होते जाते थे। फ्रांस में पुराने शासन को लौट दिया गया और उसकी जगह सामान्य जनता का अस्थायी शासन कायम हो गया। उधर बेलजियम में भी साम्यवादी विचार वालों ने मध्यमवर्गीय नेताओं पर आक्रमण करके उनको अपमानित किया। इस झगड़े में मार्क्स को भी, जो उन दिनों अपने देश जर्मनी को त्यागकर बेलजियम की राजधानी ब्रुगेल्स में रहता था, हानि उठानी पड़ी। अब तक वहाँ के अधिकारियों ने जर्मन सरकार के आपत्ति करने पर भी उसको अपने यहाँ रहने दिया था। पर इस घटना के बाद वे भी उससे डरने लगे और उसे गिरफ्तार करके देश निकाले का दण्ड दे दिया। उसी समय उसके पास फ्रांस की अस्थायी सरकार के एक सदस्य 'फर्डिनेण्ड फ्लोकन' का पत्र आया, जिसमें लिखा था-

"वीर और विश्वस्त मार्क्स! अत्याचारियों ने तुम को देश निकाले की आज्ञा दी है। पर स्वाधीन-फ्रांस तुम्हारे लिये अपना दरवाजा खोलता है-तुम्हारे लिये और उन सब लोगों के लिये जो मनुष्य-मात्र के उद्धार के पवित्र उद्देश्य के लिये लड़ रहे हैं। इस सम्बन्ध में फ्रांसीसी सरकार का प्रत्येक कर्मचारी अपना कर्तव्य भली-भाँति समझता है। भ्रातृ-भाव पूर्वक नमस्कार।"

मार्क्स पेरिस पहुँच गया और वहाँ की क्रांति में भी यथाशक्ति भाग लिया। पर उधर उसके घर जर्मनी में भी क्रांति की चिंगारियाँ अपना काम कर रही थीं। मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट लीग' के जर्मन सदस्यों को प्रेरणा दी कि वे जर्मनी पहुँचकर क्रांति में भाग लें। फिर जब आग भड़कने का अवसर आया वह भी अपने सहयोगी रॉजिल्स को लेकर राइनलैण्ड में चला आया और 'न्यू राइनिश बीटुंग' नाम का एक दैनिक पत्र निकालने लगा। यह उस समय

सबसे प्रभावशाली पत्र था, जिससे सरकार भी डरती थी। इसके सम्बन्ध में रॉजिल्स ने, जो उसका सहकर्मी सम्पादक था, एक स्थान पर लिखा है-

उस समय यही एक ऐसा पत्र था जो श्रमजीवियों का पूर्ण रूप से समर्थन करता था। कुछ अन्य पत्रों ने उसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया, क्योंकि वह उन सभी बातों का विरोध करता था जिन्हें वे 'पवित्र' मानते थे। वह निरंकुश शासन-सत्ता का घोर विरोधी था चाहे वह सत्ता बादशाह की हो और चाहे पुलिस के एक सिपाही की। इन बातों को वहाँ रहकर लिखता था जहाँ छावनी में आठ हजार सिपाही सदा तैयार रहते थे। जर्मनी का केन्द्रीय न्याय विभाग उसके लेखों को बराबर गैर कानूनी करार देता रहता था और सरकारी वकील पर मुकदमा चलाने का जोर डालता रहता था। दो बार उस पर मुकदमा चलाया भी गया, पर जूरियों ने निर्दोष कहकर छोड़ दिया। अन्त में जब केन्द्रीय सरकार की बहुत बड़ी सेना राइनलैण्ड में आ गयी और क्रांति पूरी तरह से दबा दी गयी तब सरकार इस पत्र को बन्द करने का साहस कर सकी। इसकी अंतिम संख्या १८ मई १८४९ के 'रक्त-अंक' के नाम से प्रकाशित हुई जो लाल रंग के कागज पर छपी थी।

"न्यू राइनिश बीटुंग" को जीवित रखने के उद्देश्य में मार्क्स को अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना पड़ा। यद्यपि यह बड़ा लोकप्रिय पत्र था और साल भर के भीतर ही इसकी ग्राहक संख्या काफी बढ़ गई थी; पर सरकार की दमन नीति का मुकाबला करने के कारण पत्र पर बहुत सा कर्ज हो गया। मार्क्स ने अपना सब कुछ बेचकर कर्जदारों का १५ हजार रु० चुकाया। इसके बाद वह पेरिस पहुँचा, पर वहाँ देखा कि 'लाल प्रजातन्त्र' के बजाय शासन में क्रांति विरोधी दल का बोलवाला हो गया है। तब वह लन्दन चला आया और अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत किया।

लन्दन में मार्क्स लगभग इकतीस वर्ष की आयु में पहुँचा और चौतीस वर्ष तक वहीं निवास करता रहा। इस बीच में जिस प्रकार आर्थिक कष्ट सहन करते हुए उसने जनसेवा का कार्य जारी रखा, उसी से वह आज तक संसार के श्रमजीवियों का आराध्य बना हुआ है। उस समय वह कितना दरिद्र हो गया था इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि जब उसे अपने जर्मनी स्थित साथियों का समर्थन करने के लिये एक ट्रैक्ट निकालने की आवश्यकता हुई तो उसको अपना अन्तिम कोट गिरवी रखकर कुछ रुपया प्राप्त करना पड़ा। सन् १८५१ से १८६० तक मार्क्स की आमदनी का खास जरिया अमरीका से प्रकाशित होने वाले 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के लिये लेख भेजना ही था उसे प्रति लेख १५ रु० मिलते थे। सन् १८६२ में उसका आर्थिक कष्ट इतना बढ़ गया कि उसने रेलवे ऑफिस में क्लर्क की नौकरी के लिए दरखास्त दी। पर कितने ही बड़े लेखकों की तरह उसकी हस्तलिपि इतनी अस्पष्ट थी कि उसे नौकरी न मिल सकी, जिस

महापुरुष के सम्मुख इस समय आधी दुनिया श्रद्धा से मस्तक झुकाती है, उसे पेट भरने के लिये क्लर्क की नौकरी भी न मिल सकी इससे बड़ी विधि-विडम्बना और क्या हो सकती है ?

पर उस कठिन परिस्थितियों में भी वह अपने सिद्धान्तों पर कितनी अधिक निष्ठा रखता था, इसका पता एक अन्य घटना से लगता है। कुछ समय पश्चात् जर्मनी के शासकों ने मार्क्स के एक मित्र द्वारा उससे जर्मनी के सरकारी पत्र का आर्थिक-सम्वाददाता बन जाने को कहलाया। इस काम में काफी आमदनी थी और उसका भयंकर अर्थकष्ट और दरिद्रता पूर्ण रूप से दूर हो सकती थी। पर साथ ही इसका अर्थ यह भी था कि यह अपने प्राणों से प्यारे सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर सरकार का पक्ष समर्थन करने वाली बातें लिखे। मार्क्स ने जर्मन सरकार के प्रस्ताव को तुकरा दिया और वह सांसारिक सुखों के लिए अपनी आत्मा का खून करने को तैयार न हुआ। यही एक घटना मार्क्स को त्यागी और अपरिग्रही ऋषियों की कोटी में पहुँचाने को पर्याप्त है।

इस आपत्तिकाल में उसकी पत्नी ने जिस धैर्य और आत्मत्याग का परिचय दिया उससे प्रकट होता है वह सच्चे अर्थों में एक पतिव्रता थी। वह एक रईस घराने की पुत्री थी और उनका एक भाई उस समय भी जर्मनी के मंत्रिमण्डल का सदस्य था। आयु में भी वह मार्क्स से कुछ बड़ी थी पर घोर दरिद्रता या अर्थकष्ट से घबड़ाकर उसने कभी मार्क्स की शिकायत न की, न अपने भाग्य को उसके साथ विवाह होने के कारण कोसा। वह स्वयं और घर के अन्य सब लोग, मार्क्स का हार्दिक सम्मान करते थे और कभी किसी ने यह इच्छा प्रकट न की कि वह अपना प्रचार कार्य त्याग कर धन-कमाने के लिये कोई दूसरा काम करे। वह सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी थी। वह सदा प्रसन्नचित्त रहती थी और ऐसी व्यवहार कुशल थी कि मार्क्स के समस्त इष्ट-मित्र और अनुयायी उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे।

मार्क्स के छ सन्तानें हुईं। जिनमें से तीन कन्यायें जीवित रहीं और दो लड़कों तथा एक लड़की का देहान्त बचपन में ही हो गया। इनकी मृत्यु का एक बड़ा कारण मार्क्स की कंगाली भी था। अगर इनकी सेवा-सुश्रूषा का ठीक प्रबन्ध होता और डाक्टरों के कहने के मुताबिक उचित इलाज किया जाता, तो सम्भवतः उनकी जीवन-लीला इस प्रकार अकाल में समाप्त न हो जाती।

यद्यपि मार्क्स एक भयंकर क्रान्तिकारी समझा जाता था, जिसके नाम से योरोप की शक्ति-शाली सरकारें भी डरती थीं, पर व्यक्तिगत जीवन में वह बड़ी कोमल प्रकृति का और विनोदप्रिय था, छुट्टी के दिन शाम को जब वह अपने कुटुम्बियों और मित्रों के साथ सैर करने को निकलता या दिल बहलाव को गपशप करता तो उसकी चुटकियों और मजाक पर लोग खूब हँसा करते थे। उस समय किसी को यह ख्याल भी नहीं आता कि वह एक

भयंकर क्रान्तिकारी है। लन्दन की गलियों में खेलने वाले गरीबों के बच्चे उसे 'दादा मार्क्स' कहते थे और वह राह चलते हुये सदा उनके साथ खेलने को तैयार रहता था। प्रसिद्ध कवि हेन ने जो पेरिस में मार्क्स के परिवार का सबसे अधिक घनिष्ठ मित्र था और जिसने एक बार घोर परिश्रम और सेवा करके मार्क्स के एक बच्चे की प्राण रक्षा की थी, लिखा है—“मैं जितने मनुष्यों को जानता हूँ, मार्क्स उन सब में कोमल और मीठी प्रकृति का व्यक्ति है।”

पर इतनी कठिनाइयों और अभावग्रस्त हालत में रहते हुये भी मार्क्स अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में जितना अधिक परिश्रम करता था उसे जानकर आश्चर्य होता है। लंदन पहुँचने पर दिन के समय तो उसे अक्सर अनेक सभा-संस्थाओं में भाग लेना पड़ता था और कई घंटे वहाँ पर निकल जाते थे। इसलिये वह पढ़ने-लिखने का काम रात में करने लगा। धीरे-धीरे यह आदत यहाँ तक बढ़ गई कि वह सारी रात काम करता रहता और सुबह होने पर थोड़ी देर सो लेता। उसकी पत्नी ने इसका विरोध किया, पर उसने उसकी बात हँसी में उड़ा दी और समझा दिया कि उसे इसी प्रकार काम करने की आदत है। पर प्रकृति के विरुद्ध चलने का फल उसे भोगना पड़ा। यद्यपि उसका शारीरिक गठन जन्म से बहुत मजबूत था, पर इस असाधारण परिश्रम के कारण आठ-दस साल में ही उसके शरीर में अनेकों रोग पैदा हो गये। डॉक्टरों से सलाह लेने पर उन्होंने रात का पढ़ना-लिखना कतई बन्द कर देने और नित्य-प्रति कुछ व्यायाम करने तथा दूर तक घूमने को कहा। इसके अनुसार चलने से उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा। पर जैसे ही शक्ति कुछ बढ़ गई वह फिर रात को काम करने और अर्थशास्त्र के अध्ययन में अत्यधिक परिश्रम करने लगा, नतीजा यह हुआ कि वह फिर बीमार हो गया और डॉक्टरों की शरण में जाना पड़ा। इसी प्रकार अधिक परिश्रम करने के कारण उसे बार-बार बीमार पड़ना पड़ता। जिस डॉक्टर ने अन्तिम बीमारी में उसका इलाज किया उसने कहा था कि अगर मार्क्स इस प्रकार शक्ति से बाहर काम न करता तो वह बहुत दिनों तक जिन्दा रह सकता था।

पर मार्क्स का यह असाधारण परिश्रम व्यर्थ न गया। उसका अमर ग्रंथ 'कैपिटल' इसी परिश्रम का परिणाम है। अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में उसने लन्दन के जगत विख्यात पुस्तकालय 'ब्रिटिश म्यूजियम लायब्रेरी' में सोलह-सोलह घंटे बैठकर इस सम्बन्ध में साहित्य को मथ डाला था। उस युग में अर्थशास्त्र के साहित्य पर उससे अधिक जानकारी रखने वाला विद्वान दूसरा न था। इसी ज्ञान के आधार पर उसने 'कम्यूनिज्म' के सिद्धान्तों को ऐसे सुदृढ़ आधार पर स्थापित किया कि वे आज तक दुनिया को हिला रहे हैं। उसका यह 'कैपिटल' ग्रंथ अभी तक 'कम्यूनिज्म की बाइबिल' के नाम से प्रसिद्ध है और श्रम जीवियों के विकास तथा अधिकारों का प्रतिपादन करने वाली सर्वोपरि रचना मानी जाती है। इस कई हजार पृष्ठों

के महा-ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुये १४ मार्च, १८८३ को मार्क्स की मृत्यु हो जाने पर उसके परम मित्र एंजिल्स ने कहा था-

"आज मनुष्य जाति एक बड़े महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क से रहित हो गई । जिस प्रकार डार्विन ने जीव-जगत के सिद्धान्त का पता लगाया था ठीक उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास सम्बन्धी नियम की खोज की । यह नियम बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है, पर तब तक यह आदर्शवाद के घटाटोप में छिपा हुआ था । मार्क्स ने 'समाज-प्रजातन्त्रवाद' को एकमत या सिद्धान्त के बजाय एक जीवित सत्य बना दिया जो आज बिना हार माने युद्ध कर रहा है और अन्त में अवश्य विजयी होगा । मार्क्स ने अपनी समस्त योग्यता और शक्ति को मानव जाति के हितार्थ लगा दिया । वह स्वयं जन्म भर गरीबी और अभावग्रस्त दशा में रहा, पर उसने करोड़ों दीन-हीन लोगों के लिये उद्धार का रास्ता खोल दिया ।"

वास्तव में ऐसे ही परमार्थ में जीवन अर्पण करने वाले ऋषि और मुनि कहलाने के अधिकारी होते हैं । 'कैपिटल' के लिखने में यद्यपि मार्क्स ने अमानुषीय परिश्रम किया था और प्राणों की बाजी लगा दी थी, पर फिर भी साधनों के अभाव से जब वह अपने जीवन के अन्तिम समय तक उसे पूरा प्रकाशित न करा सका तो वह बहुत दुःखी हुआ । जिस समय मार्क्स की मृत्यु हुई उन दिनों उसका प्रभाव इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी में बराबर बढ़ता जा रहा था और अनेक प्रसिद्ध साम्यवादी नेता उसके सिद्धान्तों का प्रचार जोरों से करने लगे थे । मार्क्स के सिद्धान्तों के पक्ष या विपक्ष में अनेक संस्थाओं की स्थापना की जा रही थी पर जिस महापुरुष के नाम पर ये सब कार्य किये जा रहे थे वह स्वयं बर्बाद हो चुका था । परिश्रम का दुनिया ने उसे कुछ भी पुरस्कार नहीं दिया ।

साम्यवाद के जन्मदाता

अन्य आदर्शवादियों की तरह साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स को भी गरीबी और कठिनाई के बीच दिन गुजारने पड़े । उनकी पुत्री दवा के लिए पैसा न होने के कारण बेमौत मर गई ।

जब कर्जा भी न मिला तो उनकी पत्नी ने पुराने कपड़े खरीदकर उनमें से छोटे कपड़े निकालने और गली-गली घूमकर बेचने का धन्धा किया और पति को अपने महान कार्य में संलग्न रहने में कुछ व्यवधान न पड़ने दिया ।

दृढ़ सिद्धान्तवादी

कार्ल मार्क्स लन्दन में निर्वासित जीवन जी रहे थे । फ्रान्स और जर्मनी की सरकारों ने उन्हें क्रान्तिकारी घोषित कर देश निकाला दे दिया था । यहीं पर रहकर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास कैपिटल' की रचना की थी । लन्दन प्रवास के दौरान मार्क्स को घोर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । इस बीच उन्हें गरीबी और भूख के कारण दो बच्चों से भी हाथ धोना पड़ा था ।

समय पर किराया न चुकाने के कारण कई बार मकान मालिकों ने घरों से भी निकाल दिया था । रोटी के लिए बिस्तर भी बेचने पड़े । किन्तु श्रमिकों के उद्धार का संकल्प उन्होंने उठाया था । उसे भूखों रहकर आजीवन निभाया । उसमें राई-रत्ती भर शिथिलता नहीं आने दी ।

उन्हीं दिनों जर्मनी में बिस्मार्क का प्रभुत्व था । वे जर्मनी के प्रधानमंत्री भी थे । पूँजीवादी राष्ट्रों में जर्मनी अग्रणी था । बिस्मार्क को डर था कि यदि मार्क्स के विचार समाज में फैल गये तो मजदूरों को काबू में रख पाना सम्भव न होगा । पूँजीवाद की नींव जर्मनी से सदा के लिए उखड़ जायगी । बिस्मार्क को एक उक्ति सूझी । क्यों न मार्क्स को प्रलोभन देकर खरीद लिया जाय और उसके बढ़ते प्रभाव को समाप्त कर दिया जाय । मार्क्स के पुराने साथी बूचर को लालच देकर अपने पक्ष में कर लिया । उसके हाथों गुप्त पत्र भिजवाया । जिसमें कार्ल मार्क्स को सरकारी समाचार पत्र का सम्पादक बनने की बात कही थी इस पत्र में पारिश्रमिक की मोटी रकम अदा करने की बात कही गई थी तथा सुरक्षा का पूरा आश्वासन भी दिया गया था । पत्र के अन्त में कहा गया था कि सरकार के समर्थन से राष्ट्र की सेवा और अच्छी तरह हो सकती है ।

किन्तु मार्क्स खरीदे नहीं जा सके । बिस्मार्क अपने कुटिल इरादों में असफल रहा । मार्क्स श्रेष्ठ सिद्धान्त और पवित्र-लक्ष्य तथा जन-कल्याण की भावना लेकर कार्य के प्रति समर्पित थे । इसलिए अभाव भरे जीवन से भी उन्हें कोई शिकायत नहीं थी । कार्ल न झुके न बिगरे । यह प्रलोभनों पर आदर्शों की महान विजय थी, जो मार्क्स को सदा के लिए महान बना गई ।

कम परिश्रम में अधिक कमाई

एक युवक सिर झुकाये अपने काम पर तेजी से जा रहा था । रास्ते में एक मजदूर को दीवार पर पेन्ट करते देखा । युवक कुछ समय रुका और मजदूर के पास जाकर बोला-"दोस्त ! इससे भी कम समय और कम रंग में इससे अच्छी रंगाई हो सकती है । क्या तुम उस तरकीब को सीखना चाहोगे ।" मजदूर भौंचक्का रह गया । पास ही मालिक भी खड़ा था । दोनों ने कहा-"भाई ऐसी तरकीब हो सकती है तो कर दिखाओ न ।"

युवक आस्तीन ऊँची करके मजदूर का बुश और रंग डिब्बा हाथ में लेकर काम पर जुट गया । शाम होने से पहले ही उसने अपनी बात सही सिद्ध करके दिखा दी । चलते समय मालिक ने इस युवक के हाथ में पारिश्रमिक और इनाम थमाया तो उसने उसे काम पर लगे मजदूर को दे दिया । कहा-करना तो इन्हीं को है-मैंने तो ऐसे ही थोड़ी अक्ल लगा दी ।

यह युवक था-कार्ल मार्क्स । जिसकी अक्ल ने दुनिया को अधिक अच्छी कम समय और कम परिश्रम में बना देने की तरकीब बताई और वह साम्यवाद के रूप में सबके सामने आई ।

जाम्बिया के गाँधी—

राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा

आठ वर्ष के निर्धन और काले नीग्रो बालक कोण्डा को देखकर कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि यह आगे चलकर एक नवोदित राष्ट्र का अध्यक्ष ही नहीं राष्ट्रपिता का गौरव और सम्मान प्राप्त करेगा। परन्तु सफलता किसी के चेहरे पर नहीं लिखी होती वह मनुष्य के पुरुषार्थ, पराक्रम और अडिग निष्ठा के बल पर स्वयं लिखनी होती है। एक तो ऐसे परिवार में जन्म, जिसे न तो मनुष्य की तरह जीने दिया जा रहा था और न ही वह पशुओं का कुनबा था। मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह दुर्व्यवहार आज की नहीं सदा की पैशाचिक वृत्ति रही है। शक्तिशाली और समर्थ लोगों में आसुरी तत्व घुसकर उन्हें मानवता के पद से कितना नीचा गिरा देते हैं यह जानना हो तो कोई उस समय का इतिहास पढ़े।

ज्यादा पुरानी नहीं कुछेक दशक पूर्व की ही बात है तब जाम्बिया में युनियन जैक फहराता था और वहाँ की बहुसंख्यक नीग्रो जनता चन्द गोरी चमड़ी वालों की बिना मूल्य गुलामी कर रही थी। इन लोगों के साथ अँग्रेजों ने जिस स्तर का व्यवहार किया उसे सुनकर आने वाले नये युग का इन्सान शायद परिलोक की कहानियाँ ही समझेगा। जगह-जगह उस समय अफ्रीकियों को नफरत की निगाह से देखा जाता था। गृहस्थी में जरूरत पड़ने वाली चीजें भी वे बाजार जाकर दुकान के सामने खड़े हो कर खरीद नहीं सकते थे। उनके लिए दुकान की बगल में एक छेद होता था। जिसमें से बेचारे अफ्रीकी अपना काला मुँह बिना दिखाये सामान खरीदते थे। दुकानदार-मुँह-माँगा दाम वसूल करता और अफ्रीकी ग्राहक थोड़ी भी आनाकानी करता तो वस्तु तो नहीं मिलती कोड़ों की मार भी खानी पड़ती।

होटलों के यूरोपियन मालिकों के कुत्तों को भी आदाब बजाता और कोई अफ्रीकी गेट के आसपास भी नजर आता तो कुत्तों की तरह दुत्कार दिया जाता। अपने जातीय भाईयों के साथ इस प्रकार का व्यवहार होते देख कैनेथ कोण्डा का कोमल मन इस कदर व्यथित और इतना आक्रोश युक्त हो उठता कि वह सोचता काश उसका बस चलता तो वह इन नरपिशाचों का मुँह नोच लेता।

उसका बस तो चला नहीं दुर्देव से सिर से पिता का साया भी उठ गया। अब जीवन निर्वाह की समस्या भी खड़ी हो गयी। परन्तु माता-पिता ने अपने इकलौते पुत्र को इस प्रकार प्रशिक्षित किया था कि उसने हिम्मत नहीं हारी। उस समय कैनेथ कोण्डा स्कूल में पढ़ रहे थे। कुछ अफ्रीकी समझदार लोगों ने कम से कम इतना तो कर रखा था। गोरी सरकार ने भी अपनी दयालुता का प्रदर्शन करने के लिए इस प्रकार की छूट दे रखी थी। कैनेथ के

माता-पिता ने इसी आशा के साथ अपने बेटे को स्कूल में भर्ती करवाया था कि शायद उसके जीवन में कभी ऐसा समय आये जब वह अपनी शिक्षा और योग्यता के बल पर सम्मानित जीवन जी सके।

पिता का देहान्त हो जाने के बाद फीस जमा करवाने के लिये भी पैसे नहीं रहते। स्कूल के प्रधानाचार्य ने कैनेथ कोण्डा को बगीचे में निराई-गुड़ाई का काम दे दिया जिसे उन्होंने वरदान समझा। फीस तथा पुस्तकों की व्यवस्था के साथ निर्बाह में भी सहायक सिद्ध होने वाला एक साधन मिल गया। ये उसी तरह तन्मयतापूर्वक अध्ययन में जुटे रहे जिस प्रकार अपने पिता के जीवन काल में थे। कैनेथ कोण्डा ने दुर्भाग्यपूर्ण षड़ियों से भी स्वावलम्बन का पाठ पढ़ कर उन्हें सुखद बना लिया। सच है कोई भी परिस्थितियाँ और विपत्तियाँ ईश्वर का भेजा हुआ एक ऐसा वरदान हैं जो व्यक्ति के उन गुणों और विशेषताओं को उद्घाटित करती हैं जिनके बल पर भविष्य को सुखद बनाया जा सकता है।

१७ वर्ष की आयु में कैनेथ कोण्डा ने स्कूल शिक्षा समाप्त कर ली और अध्यापक बन गये। उन्हें प्रशिक्षण लेने के लिए पास के कस्बे में भेजा गया था। यह बाहर की दुनिया देखने का पहला अवसर था। आज तक वे अपने गाँव से कभी बाहर नहीं निकले थे। इसी दौरान उन्हें अफ्रीकी समाज पर गोरे लोगों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का व्यापक अनुभव हुआ और उन्होंने संकल्प लिया कि जब कभी अवसर मिला तो इस व्यवस्था पर करारे प्रहार करेंगे।

प्रशिक्षण समाप्त कर लेने के बाद वे अपने ही गाँव में अध्यापक बनकर आये। अध्यापक जीवन से ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और एक बेलफेयर एसोसियेशन का गठन किया। जिसका उद्देश्य था अफ्रीकी लोगों में आत्म-विश्वास तथा साहस की भावना का संचार। आगे चलकर वे प्रबुद्ध अफ्रीकी नेताओं के आन्दोलनात्मक संगठन-अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के भी सदस्य बने। इस संगठन में भाग लेने के कारण उन्हें अपनी नौकरी भी छोड़नी पड़ी।

फरवरी, १९५२ में अफ्रीकी नेताओं का एक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुआ। इसमें रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यासालैण्ड के कई नेताओं ने भाग लिया। सम्मेलन का उद्देश्य था ब्रिटिश सरकार द्वारा इन देशों का एक संघ बनाने की योजना का विरोध। संघ बनाने से अँग्रेज जो थोड़ा बहुत ध्यान स्थानीय समस्याओं पर देते थे वह भी नहीं देते। ब्रिटिश सरकार की इस योजना का सभी अफ्रीकी नेताओं ने विरोध किया। इस सम्मेलन में एन्कुम्बुला जैसे नेता भी सम्मिलित हुए थे। कैनेथ कोण्डा सम्मेलन में भाग लेने के बाद और अधिक सक्रिय हो गये।

उत्तरी प्रान्त में संगठन की स्थान-स्थान पर शाखाएँ खोलने का भार उन्होंने अपने ऊपर लिया। इस समय उन्हें स्वयं की और परिवार की भी चिन्ता नहीं रहती। उनके स्वभाव में अनुकूल पत्नी मिलने से अपने कार्य में और भी

निश्चिन्ता पूर्वक लगे रहते । घर पर पत्नी सेकण्ड हैंड कपड़े बेचकर गुजारा करती और खेती-बाड़ी सम्हालती तथा कोण्डा गाँव-गाँव घूमकर स्वाधीनता का अलख जगाते, साइकिल पर दिन भर में मीलों सफर तय करते और गाँववासियों में पुकार करते ।

काँग्रेस के काम में मनोयोग के साथ जुट जाने के कारण उन्हें सफलता भी मिली । उनके प्रयासों से पूरे प्रान्त की जनता जाग उठी और स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने को उठ खड़ी हुई । जन-जागरण अभियान को सफल बनाने में प्रचार से अधिक उनके व्यक्तित्व का योगदान था । यह जानकर कि कोण्डा परिवार तंगियाँ और कठिनाइयाँ उठा रहा है फिर भी कैनेथ लोकहित के लिए पारिवारिक सुख-सुविधाओं का बलिदान देकर जनता को जगाने के लिए निकले हैं, लोग बड़े प्रभावित होते । किसी भी प्रचारक की सफलता उसके क्रिया-कलापों में नहीं उसके आत्मोत्सर्ग की भावना पर आधारित है । कैनेथ कोण्डा की सफलता का यही रहस्य था ।

अपने क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य करता देखकर पार्टी के नेताओं में इस छोटे से कार्यकर्ता की योग्यता और प्रतिभा का मान हुआ और देशहित में उनका साधन उपयोग करने के लिए एक बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा । अगस्त, १९५३ में उन्हें अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस का अध्यक्ष चुना गया । अब सारा देश उनका कार्यक्षेत्र बन गया था । वे उसी प्रकार इसी निष्ठा से लगे । श्रम और समय की तो एक सीमा होती है परन्तु उत्तरदायित्व को समझने के बाद बढ़ी हुई निष्ठा उतने ही श्रम और समय में कई गुना परिणाम प्रस्तुत कर देती है ।

जाम्बिया की जनता पर कोण्डा छाते गये । जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, सरकार को चिन्ता होने लगी । अन्ततः सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करना ही उचित समझा और सन् १९५५ में उन्हें जेल में डाल दिया । जेल का यातनाओं से भरा जीवन और घर कष्ट सहते पत्नी बच्चे तथा परिजन । उस समय कोण्डा को स्वयं का ही नहीं उनसे सम्बन्धित सभी स्वजनों का जीवन कष्टपूर्ण हो गया । सरकार ने दबाव डाला परन्तु वे न तो क्षमा याचना के लिए झुके और न राष्ट्र सेवा के अपने निश्चय से हटे । सरकार उन्हें अधिक समय तक कारावास में नहीं रख सकी और वे जल्द ही स्वतन्त्र हो गये ।

जेल से लौटने के बाद उनकी लोकप्रियता उगते सूरज के प्रकाश की तरह फैलने लगी । सरकार अब तो और भी चिन्तित हुई । उसे डर लगा कि कहीं यह आदमी भी जाम्बिया का गाँधी न बन जाये । अभी सात-आठ वर्ष पूर्व ही तो एक ऐसे ही निहत्थे आदमी के कारण एक बड़ा राष्ट्र उनके हाथ से निकला था । कैनेथ कोण्डा भी निहत्थे थे । वे चाहते तो सशस्त्र क्रान्ति की योजना भी बना सकते थे और वह बड़ी सफल भी होती । लेकिन गाँधी की ही तरह उनका भी विश्वास जनशक्ति की अपराजेय क्षमता में था, बिना शस्त्र उठाये ही एक देश की सामान्य जनता के

हाथों मानवीय सिद्धान्तों के आधार पर लड़ी गयी लड़ाई में शस्त्र बल और सैन्य बल से सुसज्जित राष्ट्र की सरकार को पराजित होते हुए देखा था । विश्व इतिहास की इस अद्वितीय घटना ने मानवता की शक्ति-सामर्थ्य पर कई गुना विश्वास जमा दिया था । कैनेथ कोण्डा ने भी साध्य और साधन की समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया और ३१ जनवरी, १९५८ के दिन अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के सदस्यों के नाम एक परिपत्र जारी किया । जिसमें स्वतन्त्रता के लक्ष्य प्राप्ति हेतु कौन-सा मार्ग अपनाया जाय इस विषय में उन्होंने विचार व्यक्त किये थे । उन्होंने लिखा था-

“मैं यह महत्वपूर्ण पत्र आपको उस दिन लिख रहा हूँ जबकि न केवल भारत, बल्कि संसार उस महापुरुष की याद कर रहा है, जिसने अहिंसा के शक्तिशाली अस्त्र का सफल प्रयोग किया था । उन्होंने इस हथियार से संसार की एक बड़ी ताकत और सबसे बड़े साम्राज्य ब्रिटेन से टक्कर ली थी ।” इस पत्र में गाँधीजी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी थी और इसे एक ईश्वरीय संयोग माना गया था कि पिछले सात वर्षों से अफ्रीकी जनता का आन्दोलन अहिंसक ही रहा है ।

सरकार को जितना खतरा पहले अनुभव नहीं हो रहा था उतना अब होने लगा था । आसुरी-शक्तियों के विरुद्ध मानवीय-शक्तियों के उठ खड़े होने पर वे भयभीत हो जाती हैं । पवित्र साधनों से एक अच्छे और सच्चे लक्ष्य के लिए जो संघर्ष छेड़ा जाता है उसमें बाधक तत्व बढ़ी जल्दी घबरा उठते हैं । भारत में सत्य और अहिंसा के हाथों अन्याय और अनाचार की भीषण पराजय अभी ही हुई थी । उसी देश के उन्हीं आततायियों को पुनः इसी शक्ति का सामना करने की हिम्मत जुटाना मुश्किल पड़ रहा था । सो सरकार ने कैनेथ कोण्डा को जो इस संग्राम के अग्रणी नेता थे पुनः गिरफ्तार कर लिया । १९५९ में उन्हें देश के दुर्गम क्षेत्र में नजरबन्द कर दिया गया । वहाँ उन्हें दूसरे राजनैतिक कैदियों से अलग रखा गया तथा किसी से मिलने-जुलने की सुविधाएँ भी नहीं दी गयी थीं । उल्टे कसकर काम लिया जाता ।

सरकार ने स्वाधीनता आन्दोलन को कुचलने के लिए अफ्रीकी नेशनल पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया । कुछ ही महीनों बाद कैनेथ कोण्डा भी रिहा कर दिये गये । जैसे ही वे जेल से बाहर निकले पार्टी के कार्यकर्ताओं में जोश आ गया । कोण्डा और अन्य नेताओं ने मिलकर एक नया संगठन बनाया जिसका नाम रखा गया-“यूनाइटेड नेशनल इन्डिपेण्डेंट पार्टी ।” कैनेथ कोण्डा इसके अध्यक्ष चुने गये और पार्टी की तरफ से आयोजित पहली ही जनसभा में अपनी नीतियों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा-“यदि किसी व्यक्ति को हवा से उछालकर जमीन पर फेंका जाय तो भी उसे यही कहना चाहिए कि मुझे मार डालो पर मैं स्वतन्त्र हो कर रहूँगा ।”

अहिंसक आन्दोलन का प्रभाव जल्दी नहीं हुआ फलस्वरूप जनता अधीर होने लगी । कई लोगों ने कोण्डा

को क्रान्ति का रास्ता अपनाने के लिए कहा जिनमें उनके स्वयं के साथी भी थे परन्तु वे तैयार नहीं हुए। मुक्ति का संघर्ष चलते-चलते १२ वर्ष हो गये। परन्तु सफल न होते देखकर निराश हुए लोगों को धैर्य बँधाते, भारत ने तो वर्षों तक यह लड़ाई लड़ी है। मुक्ति संग्राम का परिणाम धीरे-धीरे सामने आया। १९६३ में उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यायलैंड का संघ टूट गया। इस सफलता ने वहाँ की जनता का उत्साहवर्धन किया और लोग धैर्य तथा साहस के साथ आजादी की लड़ाई लड़ने लगे।

यह अहिंसक संग्राम शीघ्र ही निर्णायक बिन्दु पर पहुँचा और २३ अक्टूबर, १९६४ को जाम्बिया सदियों की दासता से मुक्त हुआ। रात के बारह बजते ही जाम्बिया की राजधानी में वहाँ का नया ध्वज फहराने लगा। सत्ताधारियों ने शासन तंत्र कैनेथ कोण्डा को सौंपा।

जिस देश की आजादी के लिए उन्होंने दिन रात एक कर दिया अब उसी तरह वे अपने देश के पुनर्निर्माण में जुटे। महामानव एक लक्ष्य प्राप्त कर लेने के बाद अगला लक्ष्य पहले से ही चुन लेते हैं। विश्राम नहीं करते हैं।

कर्मयोगी ऐसे ही होते हैं—

डा० चार्ल्स

“तुम्हारा ऑपरेशन अभी करना पड़ेगा। तुम तैयार हो जाओ।” डॉक्टर के यह वचन सुनकर रोगी यकायक घबरा उठा। वह अपने साथ किसी परिवार के सदस्य को नहीं लाया था। उसने सकुचाते हुए डॉक्टर से अपनी दुविधा बताई—“मैं अकेला हूँ, मेरे साथ कोई नहीं।”

डॉक्टर ने उसकी पीठ पर आत्मीयता पूर्वक हाथ फेरते हुए कहा—“इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। हम जो हैं तुम्हारे साथ।” रोगी ने इस श्वेत केशी वृद्ध डॉक्टर को देखा जिसके चेहरे पर विश्वास की मन्द मुस्कान थिरक रही थी।

रोगी आश्चस्त हो गया। उसे पता था कि उसे सम्हालने का दायित्व जब डॉक्टर ने अपने ऊपर लिया है तो उसे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है।

यह डॉक्टर थे विश्वविख्यात मेयो अस्पताल के जाने माने शल्य चिकित्सक डा० चार्ल्स मेयो। जिन्हें उनके हजारों रोगी प्यार से डॉ० चुक कहा करते हैं।

उनका यह आत्मीयतापूर्ण व्यवहार उस मान्यता से सर्वथा भिन्न है जिसे लोगों ने अधिकांश डॉक्टरों के व्यवहार में देखकर बना ली है कि ये लोग बहुत अनात्मीय तथा व्यवहार में रुक्ष होते हैं। प्रतिदिन पच्चीस से भी अधिक जटिल ऑपरेशन करते हुए भी वे न तो थके ही हैं न उनके चेहरे पर खेलने वाली मुस्कान बन्द हुई है।

डॉ० चार्ल्स मेयो के पिता, चाचा तथा दादा सभी डाक्टर थे तथा उन्होंने इसी मेयो अस्पताल में रोगियों की सेवा करते-करते सारा जीवन व्यतीत कर दिया था।

इन्हीं लोगों के पुण्य प्रयासों तथा सेवा भावना के परिणामस्वरूप उनके दादा विलियम वारेल मेयो द्वारा स्थापित यह निजी चिकित्सालय एक छोटे से औषधालय से विकसित होते-होते विश्व का सबसे बड़ा निजी अस्पताल बन चुका है जिसमें ९०० डॉक्टर कार्यरत हैं।

डॉ० चार्ल्स मेयो के पिता चार्ली मेयो एक प्रसिद्ध सर्जन थे तथा उनकी माँ रोचेस्टर की प्रथम प्रशिक्षण प्राप्त नर्स तथा एनेस्थेटिक (बेहोशी की दवा सुँधाने वाली) थी।

‘सर्जरी’ की प्रतिभा उन्हें अपने माता-पिता से पैतृक गुण के रूप में ही मिली थी। उसका विकास उन्होंने मेयो फाउण्डेशन से एम० डी० की उपाधि पाकर किया। वे आगे चलकर विश्वविख्यात ‘सर्जन’ बने।

जिस प्रकार उन्हें ‘सर्जरी’ की प्रतिभा अपने माता-पिता से मिली थी। उसी प्रकार सेवा की भावना भी उसके साथ ही साथ मिली थी। वे प्रसिद्धि तथा धन से दूर रहकर मेयो चिकित्सालय के अन्य डॉक्टरों की तरह एक डॉक्टर ही रहे। उन्होंने ‘चीफ सर्जन’ तथा मुख्य चिकित्सक बनना अस्वीकार कर दिया।

वे वेसिलवेनिया मेडीकल कॉलेज में पढ़ते हुए उनका सम्पर्क एक सुन्दर, सभ्य युवती एलिस प्लेक से हुआ। यह सम्पर्क घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया। एक दिन एलिस ने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। इस पर उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य उसके समक्ष रख दिया। “मैं तुम्हें यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मेरे जीवन में पहला स्थान अपने चिकित्सालय का है। दूसरा स्थान तुम्हें मिल सकता है। ठीक उसी प्रकार तुम्हें भी पहला स्थान हमारे अस्पताल को तथा दूसरा अपने पति को देना होगा।”

डॉ० चार्ल्स ने परमार्थ का लक्ष्य प्रथम रखा तथा और परिवार तथा स्वार्थ का द्वितीय। उनकी मान्यता है कि मनुष्य को अपने गौरव के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए। समाज में रहकर वह जितनी सुख-सुविधाएँ पाता है उसके बदले में उसे समाज को कुछ न कुछ देने का भरसक प्रयास भी तो करना चाहिए।

वे कहा करते हैं—“काम का महत्त्व उसके साथ जुड़ी हुई भावना से होता है। बेगार या मजदूरी समझकर किसी काम को किया जाय तो कार्य कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो भावना निम्नकोटि की होने से महत्वहीन हो जायगा। छोटे काम को भी यदि पूरी निष्ठा से ईश्वरोपासना समझकर किया जाय तो वह महत्वपूर्ण हो जाता है।”

वे आगे कहते हैं—“मुझे स्मरण है जब मैं मेयो अस्पताल में नया-नया ‘सर्जन’ बनकर आया था तो कई रोगी यह समझते थे कि यह लड़का अपने दादा तथा पिता की सी लगन से मरीजों की सेवा नहीं कर सकेगा। एक सत्तर वर्ष के वृद्ध सज्जन ने तो मुझे मुँह पर ही कह दिया

था "मैंने कई वाचाल पिताओं के मूक पुत्र देखे हैं।" "लेकिन मेरी निष्ठा तथा भावना कमजोर नहीं थी।"

उनके सम्पर्क में आने वाले रोगी जानते हैं कि उनमें युवावस्था का वह उत्साह ज्यों का त्यों बना हुआ है।

सन् १९३१ में जब वह प्रथम बार डॉ० ई० स्टार जुड के सहायक के रूप में मेयो अस्पताल में आये थे प्रथम दिन ही उन्हें तेरह ऑपरेशन केस दिये गये थे। कोई और होता तो उसके हाथ-पाँव फूल जाते। लेकिन डॉ० चुक (चार्ल्स) ने उन्हें सफलतापूर्वक पूरा किया।

उनके दिन भर का कार्यक्रम पूर्व निश्चित रहता है। उसमें वे एक मिनट की देर नहीं करते। अपने इस कार्य विभाजन के कारण वह व्यस्त दिनचर्या में भी अपने मित्रों तथा परिवार के अन्य सदस्यों से वार्तालाप तथा मनो-विनोद करने का समय निकाल लेते हैं।

नित्य कर्म से निवृत्त हो अपने निवास से रवाना हो कार द्वारा सवा छः बजे अपने अस्पताल पहुँच जाना उनका नित्य का क्रम है। वहाँ पहुँचकर वे अपने वार्ड का 'राउण्ड' लेते हैं। उनका यह 'राउण्ड' चिकित्सा तथा शल्य क्रिया से भी महत्वपूर्ण जादू है। रोगी को थोड़े ही क्षणों में आशा-उत्साह तथा आत्मीयता की वर्षा से सराबोर कर देते हैं।

सात बजे तक अपना राउण्ड पूरा करके वे अपने सहायकों को आवश्यक निर्देश दे देते हैं। तदनन्तर साढ़े सात बजे अपना श्वेत चोगा पहनकर ऑपरेशन के लिये तैयार हो जाते हैं। मुख्य ऑपरेशन वे करते हैं तथा प्रारम्भिक तैयारी तथा टाँके लगाने आदि का कार्य उनके कुशल सहायक करते हैं।

अपनी इस क्रिया-पद्धति को अपनाकर वे दिन के दो बजे तक अपने सभी ऑपरेशन केस निबटा लेते हैं। मेयो चिकित्सालय के प्रत्येक 'सर्जन' को छः से लगाकर बारह ऑपरेशन नित्य करने पड़ते हैं। डॉ० चार्ल्स मेयो प्रतिदिन बारह से अधिक ही ऑपरेशन करते हैं। ऑपरेशन क्रम के बीच ही वे भोजन तथा अल्पाहार भी ले लेते हैं।

बासठ वर्ष की आयु में भी वे थकने का नाम नहीं लेते। उनके साथ चार सहायक होते हैं। इन सहायकों से वे पूरी-पूरी सहायता लेते हैं फिर भी जिम्मेदारी का काम वे स्वयं करते हैं। वे कहा करते हैं कि "मैं अपने सहायक को रोगी की वही शल्य क्रिया सौंपता हूँ जो वे मेरे शरीर पर कर सकते हैं।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि वे प्रत्येक रोगी के दर्द को अपना दर्द समझते हैं। दूसरे की पीड़ा को इस प्रकार अपनी पीड़ा मानने के कारण उनके लगभग सभी ऑपरेशन सफल होते हैं।

अपने घर पर रहते हुए भी वे उन रोगियों के विषय में चिन्तन करते हैं जिनकी महत्वपूर्ण शल्य क्रिया का भार वे अपने किसी सहायक को सौंप चुके होते हैं। यदि उन्हें उसके सम्बन्ध में किंचित भी शंका होती है तो वे अपनी

कार में बैठकर वहाँ जाते हैं तथा आश्वस्त होकर ही लौटते हैं।

अपने सहायकों को वे कभी ऐसा भार नहीं सौंपते जो उनके बूते का नहीं होता। जो लोगों की भावनाओं को समझने की सामर्थ्य नहीं रखते उन्हें वे अपने सहायक चुनते भी नहीं हैं।

उनका अपना निवास 'मेयो बुड' १६०० एकड़ का एक डेरी तथा कृषि फार्म है। यहीं जुम्बको नदी के तट पर छोटे से पहाड़ी टीले पर उनका मकान है। वे अपने मित्रों को भोजन के समय वार्तालाप हेतु आमन्त्रित करते हैं। प्रायः चार-पाँच व्यक्ति उनके सायंकालीन भोजन में उनका साथ देते हैं। इस प्रकार वे समय की बचत भी करते हैं तथा अपनी मैत्री का क्षेत्र भी बढ़ाते हैं।

साढ़े नौ बजे के बाद वे अपनी मित्रगोष्ठी समाप्त करके आधा घण्टे तक अपने परिवार के साथ टेलीविजन का आनन्द लेते हैं तदनन्तर सो जाते हैं ताकि वे दूसरे दिन अपना सेवा धर्म पूरी निष्ठा से निभा सकें।

वे कहा करते हैं "मैं केवल एक सर्जन या डॉक्टर नहीं रहना चाहता। मैं नहीं चाहता कि कोई व्यक्ति मेरे अस्पताल में आये और चिकित्सा कराकर अपने घर चला जाय और मुझे भूल जाय। मैं अपनी एक स्थायी स्मृति उनके हृदय पटल पर अंकित कर देना चाहता हूँ। उनके इस कथन को उन्होंने सदा निबाहने का पूरा-पूरा प्रयास किया है। वे हजारों लोगों के प्रिय डॉक्टर बन चुके हैं।

मेयो अस्पताल विशुद्ध सेवा दृष्टिकोण से चलाया जाता है। कोई लाभ का दृष्टिकोण इसके पीछे नहीं है। यह एक संस्थान द्वारा चलाया जाता है। डॉ० चार्ल्स मेयो इस संस्थान के अध्यक्ष तथा बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के सदस्य हैं।

डॉ० चार्ल्स का यह चिकित्सालय "मरीजों का उच्चतम न्यायालय" कहलाता है। सभी जगहों से निराश रोगी इसकी शरण लेते हैं। उनमें से अधिकांश स्वास्थ्य लाभ पाते हैं। इस चिकित्सालय को ऐसी प्रतिष्ठा दिलाने में डॉ० चार्ल्स का पूरा-पूरा योगदान रहा है।

वे चिकित्सा क्षेत्र की प्रमुख पत्रिका 'पोस्ट ग्रेजुएट मेडीसिन' का सम्पादन भी करते हैं। बड़ी आँत सम्बन्धी ऑपरेशन में विश्व में उनकी श्रेणी के कुछ ही सर्जन हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में दो बार ऑपरेशन किये जाने वाले केस एक ही ऑपरेशन में कर दिखाये। यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास है।

वस्तुतः डॉक्टर को उपार्जन के साथ-साथ सेवा का अलभ्य अवसर भी प्राप्त होता है। डॉ० चार्ल्स ने अपने डॉक्टरी जीवन में यह सिद्ध कर दिखाया कि लोभ-मोह के प्रपंचों में न फँसकर पूरे मनोयोग से इस पेशे को

किया जाय तो मानवता की महान सेवा की जा सकती है। उनका यह जीवन सहस्रों को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त है।

धर्म एक और सनातन है

गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका में थे। अफ्रीकियों के स्वत्वाधिकार के लिये उनका आन्दोलन सफलतापूर्वक चल रहा था, ब्रिटिश सरकार के इशारे पर एक दिन मीर आलम नामक एक पठान ने गाँधीजी पर हमला कर दिया। गाँधी जी गम्भीर रूप से घायल हुये। मनुष्य का सत्य, सेवा और सच्ची धार्मिकता का मार्ग है ही ऐसा कि इसमें मनुष्य की सुविधाओं की अपेक्षा कष्ट ही अधिक उठाने पड़ते हैं।

पर इससे क्या, उच्च आत्मायें कभी अपने पथ से विचलित हो जाती हैं क्या? बुराई की शक्ति अपना काम बन्द नहीं करती तो फिर भलाई की शक्ति तो सौगुनी अधिक है वह हार क्यों मानने लगे। गाँधीजी को स्वदेश लौटने का आग्रह किया गया पर वे न लौटे। घायल गाँधीजी पादरी जोसेफ डोक के मेहमान बने और कुछ ही दिनों में यह सम्बन्ध घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया।

पादरी जोसेफ डोक यद्यपि बैपटिस्ट पंथ के अनुयायी और धर्म गुरु थे तथापि गाँधीजी के सम्पर्क से वे भारतीय धर्म और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुये। वे धीरे-धीरे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का भी समर्थन करने लगे।

पादरी डोक के एक अंग्रेज मित्र ने उनसे आग्रह किया कि वे भारतीयों के प्रति इतना स्नेह और आदर भाव प्रदर्शित न करें अन्यथा जातीय कोप का भाजन बनना पड़ सकता है इस पर डोक ने उत्तर दिया-मित्र, क्या अपना धर्म पीड़ितों और दुखियों की सेवा का समर्थन नहीं करता? क्या गिरे हुएों को ऊपर उठाने में मदद देना धर्म-सम्मत नहीं? यदि ऐसा है तो मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ। भगवान ईसा भी तो ऐसा ही करते हुए सूली पर चढ़े थे फिर मुझे घबराने की क्या आवश्यकता?

मित्र की आशंका सच निकली कुछ ही दिन में गोरे उनके प्रतिरोधी बन गये और उन्हें तरह-तरह से सताने लगे। ब्रिटिश अखबार उनकी सार्वजनिक निन्दा और अपमान करने से भी नहीं चूकते थे लेकिन इससे पादरी डोक की सिद्धान्त-निष्ठा में कोई असर नहीं पड़ा। बहुत सताये जाने पर भी वे भारतीयों का समर्थन भावनापूर्वक करते रहे।

गाँधीजी जहाँ उनके इस त्याग से प्रभावित थे वहाँ उन्हें इस बात का दुःख भी बहुत अधिक था, वे पादरी डोक को उत्पीड़ित नहीं देखना चाहते थे इसलिये जिस तरह भी उनके पास गये और बोले-आपको इन दिनों अपने जाति भाइयों से जो कष्ट उठाने पड़ रहे हैं उसका कारण हम भारतीय हैं, मैं भारतीयों की ओर से आपका

आभार मानता हूँ पर आपके कष्ट हमसे नहीं देखे जाते। आप हमारा समर्थन करना बन्द कर दें। परमात्मा हमारे साथ है-यह लड़ाई भी हम लोग निबट लेंगे।

इस पर पादरी डोक ने कहा-मि० गाँधी। आपने ही तो कहा था कि धर्म एक और सनातन है। पीड़ित मानवता की सेवा। फिर यदि साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की अवहेलना करके मैं सच्चे धर्म का पालन करूँ तो इसमें दुःख करने की क्या बात और यह तो मैं स्वान्तःसुखाय करता हूँ। मनुष्य धर्म की सेवा करते आत्मा को जो पुलक और प्रसन्नता होनी चाहिए वह प्रसाद मुझे मिल रहा है इसलिये बाह्य अड़चनों, दुःखों और उत्पीड़नों की मुझे किंचित भी परवाह नहीं।

पादरी डोक अन्त तक भारतीयों का समर्थन करते रहे, उन जैसे महात्माओं के आशीर्वाद का फल है कि हम भारतीय आज अपना धर्म आदर्श और सिद्धान्तों पर निष्कण्टक चलने के लिए स्वतन्त्र हैं।

जिन्होंने फ्रांस को नयी सामर्थ्य दी-

जार्ज पाम्पीदू

फ्रांस के उन्नीसवें राष्ट्रपति जार्ज जीन रेमांपाम्पीदू का २ अप्रैल, १९७४ की रात ९ बजे देहावसान हो गया। जार्ज पाम्पीदू तिरसठ वर्ष के थे। सात वर्ष के उनके कार्यकाल में अभी दो वर्ष और बाकी थे। पिछले कई दिनों से वे बीमारियों से संघर्ष करते हुए भी राष्ट्र की बागडोर सम्हाले हुए थे।

जार्ज पाम्पीदू का तिरसठ वर्ष का जीवन विविधताओं से भरा पड़ा है। हर क्षेत्र में सफल होने वाले पाम्पीदू का जीवन महत्वाकांक्षियों के लिये एक पथ प्रदर्शक बन सकता है। कैसे कोई व्यक्ति प्रगति करता हुआ राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है। यह देखने के लिए उनके जीवन को गहराई से देखना होगा।

जार्ज पाम्पीदू का जन्म १९११ में हुआ था। उनके माता-पिता दोनों अध्यापक थे। पाम्पीदू ने भी शिक्षा समाप्त करने के बाद अध्यापक बनना पसन्द किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा मध्य फ्रांस के कैटराल जिले में हुई। १९३५ में अपनी शिक्षा समाप्त करके लीसेसेन्ट चार्ल्स में साहित्य के अध्यापक हो गये।

जार्ज पाम्पीदू की जीवन बगिया कई प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित-सुसज्जित रही है। वे एक सफल अध्यापक, सफल साहित्यकार, अर्थवेत्ता तथा सफल राजनेता रहे हैं। इन क्षेत्रों में उन्होंने जो सफलताएँ अर्जित की वे आदर्श हैं। निश्चित रूप से इन सफलताओं का श्रेय उनके श्रम, साहस, संकल्प व अध्यवसाय को है।

अध्यापन के साथ-साथ वे साहित्य सृजन भी किया करते थे। किन्तु उनके इस सृजन के बीच में ही उन्हें हाथ रोककर संघर्ष के पथ पर चलना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल पूरे योरोप पर मँडराने लगे थे। युवा जार्ज

पाम्पीदू अपनी स्वर्गादिपि गरीयसी मातृ भूमि-फ्रांस की रक्षा के लिए सेना में भर्ती हो गये। अपने अदम्य साहस और विवेक के सहारे उन्होंने शत्रुओं की कई गुप्त चालों का पता लगाया था। इससे उनके व्यक्तित्व को परखने वाले लोगों से उनका सम्पर्क बढ़ा। इन्हीं लोगों में से जनरल दगाल भी एक थे।

युद्ध समाप्ति के अनन्तर १९४५-४६ में जनरल दगाल की शिक्षा नीति के सलाहकार बनाये गये। यहीं से दगाल और पाम्पीदू ने एक दूसरे को समझा परखा। दगाल को पाम्पीदू के रूप में एक सुयोग्यतम सहायक प्राप्त हो गया और पाम्पीदू को दगाल जैसा समर्थ मार्गदर्शक। पाम्पीदू की तीक्ष्ण बुद्धि के दगाल कायल हो चुके थे।

१९४५ में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी कि दगाल के न चाहते हुए भी पाम्पीदू को शिक्षा सलाहकार का पद छोड़ देना पड़ा। वे बैंक में नौकर हो गये। प्रायः लोगों को अपने पद की जितनी चिन्ता होती है अपने व्यक्तित्व की नहीं होती। वे किसी भी प्रकार कोई पद हाथ लग जाय तो उससे येन केन प्रकारेण चिपके हुए रहना चाहते हैं। वह वस्तुतः उनकी मानसिक गरीबी का परिचायक होता है। किन्तु जिन्हें अपने व्यक्तित्व पर भरोसा होता है, उन्होंने यत्नपूर्वक उसे समर्थ बनाया होता है, उनके लिए कोई भी नया 'कैरियर' चुनने की जोखिम उठाना एक प्रकार का 'एडवेंचर' ही होता है। सच पूछा जाय तो यही जीवन की सच्ची सहानुभूति भी कराता है।

जार्ज पाम्पीदू शिक्षा सलाहकार का पद त्याग कर बैंक की सर्विस में आये और थोड़े ही समय में अपनी कर्तव्यपरायणता, लगन व निष्ठा के कारण उस बैंकिंग संस्थान के महानिदेशक पद पर जा पहुँचे। अध्यापक, कवि, साहित्यकार व सैनिक पाम्पीदू अर्थवेत्ता के रूप में भी सफल रहे। यह सफलता किसी के लिए क्या कम सुखकारक होगी?

योग्य व्यक्ति की हर जगह पूछ होती है। १९५८ में जब जनरल दगाल फ्रांस की सत्ता में आये तो उन्होंने पाम्पीदू को राजनीति में खींच लिया। फ्रांस की निरन्तर अस्थिर राजनीति के कारण जनरल दगाल को ही सत्ता की बागडोर सम्हालने का अनुरोध किया गया। वे वृद्ध हो चले थे, अतः उन्हें एक युवा सहयोगी चाहिए था। यह युवा सहयोगी और कोई नहीं उनके विश्वस्त सलाहकार जॉर्ज पाम्पीदू ही हो सकते थे।

१९५९ में वे जनरल दगाल के प्रधानमंत्री बनाए गये। १९६३ में दगाल ने एक संवैधानिक संशोधन प्रस्तुत किया जिसे लेकर प्रतिपक्ष से उनकी ठन गयी और उसमें उनकी सरकार को पराजय का मुँह देखना पड़ा। फलतः पाम्पीदू को प्रधानमंत्री पद छोड़ना पड़ा। उन्हें इस पद को पाकर न तो किसी प्रकार की विशेष प्रसन्नता हुई और न उसे छोकर किसी प्रकार की खिन्नता ही।

दगाल ने अपने अधिकारों का प्रयोग करके राष्ट्रीय एसेम्बली को भंग कर दिया। कुछ समय बाद एसेम्बली के

अधिकांश सदस्यों ने जनरल दगाल की नीतियों का पूर्ण समर्थन करने का आश्वासन दिया तो पाम्पीदू पुनः प्रधानमंत्री बनाये गये।

१९६५ में दगाल के पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित होने पर वे भी पुनः प्रधानमंत्री बनाये गये। मई-जून १९६८ में फ्रांस फिर एक क्रान्ति के दौर से गुजरा। सामाजिक व आर्थिक घटनाएँ बड़ी तेजी से घटित हुईं। छात्रों और श्रमिकों ने हड़ताल कर दी। ऐसे समय में जार्ज पाम्पीदू ने महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित की। इससे वे राष्ट्रपति दगाल के प्रिय ही नहीं हुए वरन् जनमत में भी उन्हें अच्छी-खासी प्रतिष्ठा मिली। लोग उन्हें दगाल का उत्तराधिकारी समझने लगे।

दगाल से सैद्धान्तिक ऐक्य होते हुए भी कार्यपद्धति को लेकर पाम्पीदू उनसे सहमत नहीं थे। कुछ स्थितियाँ ऐसी पैदा हुई कि उनके बीच मतभेद पैदा होने लगा। वे जनरल दगाल की कार्यकारी नीतियों के प्रति असहमति जताने लगे, यही उनके व्यक्तित्व का खरापन प्रकट होता है। 'समझौता परस्ती' उनके स्वभाव में नहीं थी। वे समझौता करते भी क्यों? उन्हें कोई स्वार्थ तो था नहीं। वे अपनी बात में देश का हित समझते थे सो अपनी बात पर दृढ़ रहे। फलस्वरूप उन्हें प्रधानमंत्री पद से हटना पड़ा।

पाम्पीदू एक सफल राजनीतिज्ञ थे। पर उनकी सफलता दाँव पेचों पर आधारित न होकर आदर्शों पर आधारित थी। वे यह मानते थे कि किसी भी राजनैतिक व्यक्ति के जीवन में उसके पदों का उतना महत्त्व नहीं होता जितना अपने आदर्शों का होता है। अतः कई बार उन्हें प्रधानमंत्री पद को त्याग देने में ही अपना हित दिखाई पड़ा था।

१९६९ के चुनाव में वे राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए। वे सैद्धान्तिक दृष्टि से दगाल की नीतियों के समर्थक थे। उन्हें दगालवादी ही कहा जाता है। उन्होंने अपने देश के हित को सर्वोपरि स्थान दिया था। वह कहा करते थे कि उनकी अपनी नीतियाँ हैं, वह उन्हीं नीतियों का अनुसरण करेंगे जो उनके देश के लिए हितकर होंगी। उन्होंने ऐसी ही नीति योरोपीय साझा मण्डी के साथ भी अपनायी। मृत्यु के एक दिन पूर्व ही उन्होंने कहा था कि योरोपीय साझा मण्डी अपनी पूर्व निषेधाधिकार नीतियों में परिवर्तन करने का प्रयास करेगी तो फ्रांस निषेधाधिकार का प्रयोग करेगा।

जॉर्ज पाम्पीदू दगाल की परम्परा के प्रतिनिधि थे। ऐसे काल में जब फ्रांस आपस की राजनीतिक दलबन्दी से बीमार हो गया था और उसकी प्रतिष्ठा क्षीण हो चुकी थी, तब दगाल ने राजनीतिक मंच पर आकर फ्रांस को नयी शक्ति से समन्वित किया। अमेरिका के आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव से फ्रांस को मुक्त किया और अटलांटिक सैनिक सन्धि का जुआ फ्रांस के कन्धों से उतार फेंका। अल्जीरिया को आजादी दी। ब्रिटेन से स्वतन्त्र रहकर पश्चिमी योरोपीय देशों का साझा मण्डी का व्यापार क्षेत्र बनाया। राजनैतिक क्षेत्र में महायुद्ध के बाद फ्रांस ने ही यूरोप के स्वाभिमान के लिए सिर ऊँचा किया जिसका अनुकरण आज यूरोप के सब देश कर रहे हैं।

जॉर्ज पाम्पीदू के नेतृत्व में फ्रांस और जर्मनी के मनोमालिन्य दूर होकर उनमें एकता का बीज वपन हुआ और पश्चिमी जर्मनी के सम्बन्ध रूस और पूर्वी योरोप के देशों के साथ पुनः स्थापित हुए। दो जर्मन देशों की प्रथम सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में पुनः मित्रता और बराबरी के सम्बन्ध बने। पूर्वी जर्मनी की साम्यवादी सरकार को विश्व के अन्य देशों द्वारा मान्यता दिलाने और पूर्व पश्चिम की धुरियों को एक शांति चक्र पर घुमाने के महत्त्वपूर्ण कार्यों में जार्ज पाम्पीदू ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

उन्होंने र्थ सब कार्य इस राजनैतिक दक्षता से किये थे कि उनमें अमेरिकी कुटिल नीति की दाल नहीं गलने पायी थी। जो शांति-सन्तोष योरोप को इन दिनों मिल रहा है बीसवीं सदी में उसे कभी नसीब नहीं हुआ था। इसमें फ्रांस के प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति के रूप में जॉर्ज पाम्पीदू ने जो भूमिकाएँ निभायी थीं वे राजनीति के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगी। वे अपने इन कार्यों के कारण सर्वत्र सराहे गये। अपने युग के राष्ट्र-नेताओं में उनकी गणना होती है।

उन्होंने भारत जैसे तटस्थ और शांतिप्रिय देश से मित्रता के सम्बन्ध प्रगाढ़ किये। यों भारत की कोरी आदर्शवादी दब्बू नीति के अंध समर्थक वे कभी नहीं रहे। कई बार उन्होंने भारत की अप्रसन्नता मोल लेकर भी फ्रांस को पाँच बड़ी ताकतों में से एक बनाया। साथ ही भारत

से सम्बन्ध सुधारने के लिए सैनिक सहयोग किया और सैनिक गुटबन्दी से अलग होकर अपनी निष्पक्षता का परिचय भी दिया। अरब देशों से सम्बन्ध सुधारने की पहलभी उनकी तरफ से ही की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ व सुरक्षा परिषद में फ्रांस ने अपने आपको किसी गुट में न रखते हुए तटस्थता की नीति अपनायी, जो जॉर्ज पाम्पीदू की विश्व शान्ति के लिए निष्ठा का प्रदर्शन करती है।

राजनीति किस प्रकार देशसेवा का, राष्ट्र के उत्थान का एक हेतु हो सकती है यह जार्ज पाम्पीदू के जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है। यही नहीं अपने देश को समर्थ और शक्तिमान बनाने के प्रयास करते हुए विश्वमैत्री के लिए भी भरसक प्रयास किये जाते हैं। भारतीय नेतागण जो घर में तो राजनीति के खेल खेलते हैं और बाहर आदर्शों की दुहाई देते हैं, उनके इस व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीख सकते हैं। काश वे देश को सही मायने में अपनी राजनीति से कुछ दे पाते जिस प्रकार जॉर्ज पाम्पीदू ने फ्रांस को नया जीवन दिया है।

पिछले एक वर्ष से जार्ज पाम्पीदू अपनी अस्वस्थता से संघर्ष कर रहे थे। यों राजनीतिज्ञ का जीवन संघर्षों का जीवन ही होता है। उसे कई स्तरों में संघर्ष करना होता है। अपनी अस्वस्थता के दौरान भी उन्होंने राष्ट्र की बागडोर को जिस तरह सम्हाला यह उनकी आन्तरिक शक्ति की परिचायक है। जॉर्ज पाम्पीदू का निधन फ्रांस की ही नहीं विश्व-राजनीति की बहुत बड़ी क्षति है, जिसे उन्हीं जैसा कोई व्यक्तित्व पूरा कर सकता है।



परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रंगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान का माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेडा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ औवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार।

युगतीर्थ औवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अंग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है— वही पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं— जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया— वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। औवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रस्त

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवन्दनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छपी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवन्दनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्यास अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवन्दनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवन्दनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शान्तिकुंज को उनसे एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवन्दनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट् स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहाँ उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनो को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टांतर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। □□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनसे अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है। जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन

- समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण

३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
 ३८. प्रज्ञोपनिषद्
 ३९. नीरोग जीवन के महत्वपूर्ण सूत्र
 ४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
 ४१. जीवेम शरदः शतम्
 ४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
 ४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
 ४४. मरकर भी अमर हो गये जो
 ४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
 ४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
 ४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
 ४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
 ४९. शिक्षा एवं विद्या
 ५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
 ५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
 ५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
 ५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
 ५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
 ५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
 ५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
 ५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
 ५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
 ५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
 ६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
 ६१. गृहस्थ : एक तपोवन
 ६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
 ६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
 ६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
 ६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
 ६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
 ६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
 ६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
 ६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
 ७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)
- वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे-**
७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
 ७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय

७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. सकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में मुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सदगुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन : एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें